डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

मध्यकालीन हिन्दी सन्त
विचार और साधना

[प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

•

लेखक
डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया,
एम्० ए०, डी० फिल्०
हिन्दी-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

•

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

स्मृत्याञ्जलिः

नहि प्रजानामि किमत्रवाच्यं
अकालकालार्पितजीवितस्य
तस्यात्मजातस्य कथाप्रसङ्गे
सुशीलशीलस्य दिवङ्गतस्य ।
निमित्तमात्रेण मया ज्वलत्सु
निदाघयामेष्वयं प्रबन्धः
धियं समाधाय कृतः प्रपूर्णः
यस्यानुभूत्यातिनिविष्टचेतसा ॥

प्रकाशकीय

मध्यकाल में सन्तों का आविर्भाव भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। देश के प्रायः प्रत्येक भाग में भारतीय जीवन को नया अर्थ और नयी दिशा देने के लिये विलक्षणबुद्धि सन्त, मध्ययुग में उत्पन्न हुए और देश की सम्पूर्ण जनता को अधोगति के मार्ग से हटा कर परमार्थ के सोपान पर अग्रसर करा दिया। प्राकृत भाषाओं के रूप को निखारने में सन्तों का बहुत बड़ा योगदान है। हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माण में तो सन्तों का महती योग है। डॉक्टर केशनीप्रसाद चौरसिया ने बड़े मनोयोग से मध्यकालीन हिन्दी सन्तों के विचार तथा उनकी साधना पद्धति का अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई है। डॉक्टर चौरसिया ने भारतीय दर्शन और इतिहास की पृष्ठभूमि में सन्तों के विचार और साधना पद्धति की मीमांसा की है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी को "मध्यकालीन हिन्दी सन्त—विचार और साधना" प्रकाशित करते हुए हर्ष है। विश्वास है, यह ग्रन्थ विषय के अध्येताओं और सर्वसाधारण पाठकों, दोनों के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

अप्रैल, १९६५
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद।

विद्या भास्कर
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

भूमिका

यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी साहित्य के उन अध्यायों पर अध्ययन होना प्रारम्भ हो गया है जिनके सम्बन्ध में अभी तक जिज्ञासुओं के मन में अनेक भ्रान्तियाँ रही हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के शोध-छात्रों ने इस दिशा में विशेष कार्य किया है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर मेरे प्रिय शिष्य और सहयोगी डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया ने मध्यकालीन हिन्दी सन्त-साहित्य पर एक नवीन दृष्टि से अध्ययन करते हुए यह प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।

सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में पिछले अनेक वर्षों तक एक उपेक्षा-भाव ही रहा है। सम्भवतः इसका कारण यह हो कि सन्त-काव्य में काव्य की दृष्टि से विशेष सौन्दर्य नहीं है तथा अधिकांश साहित्य मौखिक परम्परा में होने के कारण पाठ-निर्धारण की दृष्टि से सन्दिग्ध रहा है। उसमें जीवनगत साधना, नीति और उपदेश का इतना अधिक अंश रहा है कि वह सहज रूप से विद्वानों और मनीषियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका। पिछले कुछ वर्षों से ही जब सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अध्ययन की प्रवृत्ति उभर कर आई तब विद्वानों और विद्यार्थियों का ध्यान साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंश की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सन्त-साहित्य साधना का साहित्य है और उसमें जितना प्रधान आध्यात्मिक दृष्टिकोण है उतना ही भौतिक अथवा वस्तुविषयक दृष्टिकोण का विश्लेषण भी। साथ ही साथ वर्ण-भेद और जाति भेद का तिरस्कार करते हुए सम्पूर्ण मानवता को एक समष्टि की दृष्टि से देखते हुए उसकी साधना में आशावाद की भाव-भूमि स्थापित की गई है।

सन्त-साहित्य वस्तुतः जीवन-साहित्य ही है। जीवन को कर्मकाण्डों से मुक्त कर उसकी अपरिमित सम्भावनाओं और आशावादी विकास की प्रतिष्ठा है। भक्ति और योग दोनों की उपादेयता श्वेताश्वतर उपनिषद् से चलकर साधनागत जीवन के लिये उपादेय भले ही समझी गई हो किन्तु साधनागत जीवन में इसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता सन्तों द्वारा ही प्रतिष्ठित की गई। इसी प्रकार साधनागत अन्तर्दर्शन जितना अधिक सन्त-साहित्य में हुआ है उतना सम्भवतः साहित्य के किसी अङ्ग में नहीं हुआ। सत्य ही इस अन्तर्दर्शन में सन्तों को अनेक रूपक, प्रतीक और उलटबाँसियों का प्रयोग करना पड़ा हो। इस प्रकार यह सन्त-साहित्य तो आत्म-दर्शन और जग-दर्शन दोनों का ही साहित्य है।

डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया अपनी प्रतिभा तथा अध्ययनशीलता की प्रखरता के कारण सन्त-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिये अधिक उपयुक्त व्यक्ति रहे हैं। उन्होंने विचार और साधना-पद्धति के परिप्रेक्ष्य में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। साधना-पद्धति को मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि में प्रस्तुत करने का सम्भवत: यह पहला प्रयास है जिसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अभी तक सन्त-साहित्य पर जितना कार्य हुआ है उसका इस ग्रन्थ में साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है और उस विवेचन पर लेखक के चिन्तन और मनन की गहरी छाप है। सन्त-साहित्य की जो विशिष्ट विचारधारा है, वह साधना की विविधता, विपुलता और सहजता के कारण प्राय: बिखरी हुई प्राप्त होती है। डॉ० चौरसिया ने उसका विधिवत् संयोजन करते हुए वैज्ञानिक ढङ्ग से विकासोन्मुखी सरणियाँ बनाकर उनकी वस्तुगत एकरूपता प्रस्तुत की है। इस दृष्टि से इस शोध-प्रबन्ध का विशेष महत्व है।

अगस्त सन् १९६० में लेखक का यह प्रयास प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया था और सभी परीक्षकों ने इसकी मुक्तकण्ठ से सराहना की थी। मुझे सन्तोष है कि मेरे निर्देशन में यह कार्य सन्त-साहित्य के एक विशिष्ट अङ्ग की पूर्ति करने में सहायक हुआ है। डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया का यह महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी के विद्वानों, मनीषियों तथा साधकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मैं विशेष प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। आशा है, हिन्दी-जगत् में इसका यथोचित मूल्य आँका जा सकेगा।

हिन्दी-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
२७-२-६५

रामकुमार वर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति और उसकी आध्यात्मिक विचारधारा के सम्यक् अनुशीलन के लिए मध्यकालीन साहित्य और उसकी साधना एक महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है किन्तु जितनी महार्घ यह सामग्री है उतना ही विवादग्रस्त यह काल है। सामासिक संस्कृति की पृष्ठभूमि का निर्माण करने वाला यह संक्रान्ति-काल इतिहासवेत्ताओं एवं समाज-शास्त्रियों की चिन्तना को अपनी उलझनों से चुनौती देता रहा है। सिद्धों, नाथों, सूफियों एवं सन्त-भक्तों की सम्मिलन-भूमिका का निर्माण इसी काल में होता है। अगणित अज्ञात नद-नदियों का जल लेकर पुण्यतोया भागीरथी की भाँति हिन्दी सन्त-साहित्य की साधना-धारा अपना निर्माण करती है। भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा के समस्त मूल्यवान तत्त्व इसमें अनुस्यूत हैं। सारग्राही स्वभाव के कारण इसने प्रायः समस्त आध्यात्मिक पद्धतियों के सार-भाग को आत्मसात कर लिया है। वस्तुतः हिन्दी सन्त कवियों का सारा साहित्य एक प्रकार से साधना का ही साहित्य है। समाज और जनता-जनार्दन के बीच सर्वप्रथम वे सन्त, साधक, सुधारक और उपदेशक के रूप में ही आये। उनके काव्य-पक्ष का उद्घाटन तो बहुत बाद में हुआ। गुरुदेव ने 'कबीर की सौ वाणियाँ' को अंग्रेजी भाषा में अनूदित करके पाश्चात्य जगत् के समक्ष उनकी अलौकिक अन्तश्चेतना, पारदर्शिनी प्रज्ञा एवं स्पृहणीय काव्य-प्रतिभा का उद्घाटन किया। सन्त-कवियों ने अपनी साधना-पद्धति के स्पष्टीकरण के लिए ही शब्दों का सहारा लिया, उनकी साखियों, सबद और पदों में अयत्न-साधित काव्य-रस छलक पड़ा है। सौभाग्यवश पहले से सन्त-साहित्य पर विविध शोध-कार्य सम्पन्न करके वन्दनीय विद्वानों ने मेरा पथ बहुत कुछ सुकर कर दिया है। 'तेहिं मग चलत सुगम मोहि भाई' के अनुसार मैंने अपने उन्हीं मान्य महाजनों के मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया है। आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय ने 'दादू,' डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर,' स्व० डॉ० पीताम्बर-दत्त बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' और पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' में प्रसङ्गवश हिन्दी सन्त साहित्य की साधना-पद्धति का निरूपण किया है किन्तु एक ही स्थल पर हिन्दी सन्त-साहित्य की विचारधारा एवं साधना-पद्धति को लक्ष्य बनाकर विस्तृत रूप से कार्य करने का यह प्रथम बाल-प्रयत्न है। इस प्रकार हिन्दी सन्त-साहित्य के सबसे आवश्यक एवं अनिवार्य अङ्ग : विचारधारा एवं साधना-पद्धति : पर एक विस्तृत

परिप्रेक्ष्य में कुशल निर्देशक गुरुवर डॉ० रामकुमार वर्मा के निर्देशन में कार्य करने का प्रयत्न मैंने इस शोध-ग्रन्थ में किया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आठ प्रकरणों में विभक्त है । आरम्भ में पृष्ठभूमि के अन्तर्गत मध्यकाल का निर्धारण करते हुए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है । प्रथम प्रकरण में सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दी सन्त साहित्य की विशिष्ट विचारधारा का विश्लेषण करते हुए, उसके दार्शनिक सिद्धान्तों में विविध स्रोतों से आये उपकरणों पर विचार किया गया है । साथ ही ब्रह्म, जीव, माया, जगत् सम्बन्धी सन्तों के विचारों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है । धार्मिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत विचारधारा के अन्तर्गत क्रमशः सन्तों के विश्वास एवं आचार, ऐक्य तथा सद्गुरु और प्रेम, भक्ति एवं रहस्यानुभूति पर अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है । द्वितीय प्रकरण में व्यावहारिक दृष्टि से सन्त-साहित्य की साधना-पद्धति को तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(क) परम्परा से प्राप्त—योग एवं भक्ति, (ख) युग-सम्भूत – मानसिक शुद्धि एवं प्रेम तथा (ग) प्रयोग—सहज-समाधि । प्रकरण तीन, चार, पाँच में योग, भक्ति और प्रेम की पूर्ववर्ती परम्परा और प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए हिन्दी सन्त-साहित्य की योग, भक्ति एवं प्रेम-साधना का विस्तृत अनुशीलन किया गया है । सन्त-साहित्य की साधना-पद्धति मूलतः धर्म की रचनात्मक अनुभूति, साधक की ही साधना है अतः अनुमान से अधिक इसमें अपेक्षाकृत विस्तार का हो जाना अस्वाभाविक नहीं । छठे प्रकरण में योग-भक्ति और प्रेम का समन्वय करते हुए प्रतीक-पद्धति की चर्चा की गयी है । सन्तों ने समझने के लिये आध्यात्मिक एवं निर्गुण के लिये व्यक्तिगत सहज प्रतीक चुने हैं, इस अलौकिक लोक में पहुँचकर कौतुकपूर्ण उलटबाँसियों एवं रूपकों के माध्यम से उन्होंने स्वानुभूति प्रेरित अन्तर्वेदना की अभिव्यक्ति देने की अथक चेष्टा की है । सातवें प्रकरण में सन्तों की साधना-पद्धति का समापन सहज-भाव में होता है । इस 'सहज' की एक अपनी दीर्घ परम्परा रही है जो सिद्ध, नाथ एवं सहजिया सम्प्रदाय के विविध रूपों के माध्यम से प्रतिफलित हुई है । किन्तु सन्तों की सहज साधना परम्परा से प्रभावित होती हुई भी अपने ढङ्ग की अनोखी है । सन्तों का सहज-भाव एवं सहज-समाधि की व्यावहारिक प्रक्रिया उनकी मौलिक समीक्षा से अंकित है । आठवें प्रकरण में सन्त-साहित्य की साधना-पद्धति के समन्वित रूप पर प्रकाश डाला गया है और यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि सन्त-कवियों ने अपनी विशिष्ट विचारधारा के अनुरूप योग-भक्ति प्रेम और सहज का कहाँ-कहाँ, किस-किस स्थान पर प्रयोग किया है ? इसी स्थल पर साधना सम्बन्धी वैयक्तिक

विशिष्टता की जानकारी के लिए हिन्दी सन्त-साहित्य में [illegible] कबीर, नानक और दादूदयाल की साधना-पद्धति का एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया गया है। उपसंहार के अन्तर्गत निष्कर्ष स्वरूप आधुनिक [illegible] दृष्टि-सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी सन्त-साहित्य की मानवतावादी सांस्कृतिक देन की विवेचना करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि आज की भौतिकतावादी शीत-युद्ध विभीषिका से सन्त्रस्त-कुण्ठित मानवता एवं उसकी अस्त-व्यस्त जीवनचर्या के लिये सन्त-साहित्य की विचारधारा एवं उसकी साधना-पद्धति एक प्रकाश-स्तम्भ का सा कार्य करती है। सन्तों ने अपनी उदार दूरदर्शी दृष्टि से मानव धर्म की सहज व्याख्या उपस्थित की है अतः उनकी देशकालातीत [illegible] वाणियों की महत्ता निर्विवाद है।

अन्त में मैं उन सभी विद्वज्जनों एवं महानुभावों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करता हूँ जिनके क्षीण सूत्र-सङ्केतों से भी मुझे प्रस्तुत अध्ययन की दिशा-दृष्टि मिली है। विशेष रूप से मैं आचार्यश्री डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति अपना अकिञ्चन आभार प्रकट करता हूँ जिनकी मौलिक चिन्तना से मैं विशेष लाभान्वित हुआ हूँ। आत्मीय पण्डित नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ? उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन की औपचारिक परम्परा का पालन करते हुए भी मुझे सङ्कोच होता है। शोध-छात्रों के शुभचिन्तक श्रद्धेय डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने मास्को प्रवास काल के अति व्यस्तता के क्षणों में भी समय-समय पर जो मुझे पत्रों द्वारा अविस्मरणीय प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दिया है, ऐसे सन्त-स्वभाव के प्रति मैं आन्तरिक श्रद्धा से नत हूँ। सम्मान्य आचार्य पण्डित परशुराम चतुर्वेदी के सुझावों से शोध-प्रबन्ध में जो अतिरिक्त परिष्कार हो सका है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। नामानुक्रमणिका बनाने में मुझे श्री [illegible] से निष्काम सहयोग मिला है।

आज मैं अपने उस दिवङ्गत पुत्र श्री सुशील कुमार के विषय में क्या कहूँ जो असमय में समय देवता की देहरी पर स्वयं को चढ़ाकर मुझे [illegible] की शक्ति दे गये, जिसके बल पर विगत ग्रीष्म ऋतु के [illegible] [illegible] में मैं निमित्त मात्र बनकर इस कार्य को सम्पन्न कर सका।

विनोबा जन्म दिवस
११ सितम्बर १९६०

केशनीप्रसाद चौरसिया

जो दरसन देख्या चाहिये, तो दरपन मांजत रहिये ।
जो दरपन लागे काई, तब दरसन किया न जाई ।।

—सन्त कबीर

पहिला मरण कबूलि करि जीवण की छाड़ि आस ।
होहु सभना की रेणुका तउ आउ हमारे पास ।।

—गुरु अर्जुन देव

रोम-रोम रस प्यास है, दादू करहि पुकार ।
रोम घटा दल उमंगि करि, बरसहु सिरजनहार ।।

—स्वामी दादूदयाल

अनुक्रम

अवतरणिका

प्रकरण १

●●

क. मध्यकाल का निर्धारण

अवतरणिका

इतिहास की रूपरेखा—मानव-जीवन के विकास के क्रमबद्ध आलेख का नाम इतिहास है। इतिहास में विभिन्न मानव-जातियों के अनेक कार्य-कलापों की विचित्र गाथाओं का उल्लेख रहता है, किन्तु इस अनेक्य में भी ऐक्य की भावना गुम्फित रहती है। आजकल की सर्व-सामान्य प्रणाली के अनुसार भारत के इतिहास को प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक युग में विभक्त किया जाता है। यदि किसी जाति की जीवनगत एकता एवं अविच्छिन्नता को न भुलाया जाय तो पूर्वोक्त विभाजन उचित ही है। वस्तुत: इतिहास मानवता की वह जययात्रा है जो पुनरुत्थान के बीच गतिशील होती हुई निरन्तर प्रगतिशील है एवं जिसका ज्वलन्त वर्तमान अपने अतीत एवं अनागत के साथ सम्बद्ध है।

काल-विभाजन—यद्यपि समय अप्रतिहत गति से आगे बढ़ता जाता है तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए उसका विभाजन आवश्यक है। भारतीय इतिहास में काल-विभाजन का क्रम विशिष्ट राजसत्ताओं एवं राजवंशों से सम्बद्ध है। मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्व-काल को इतिहासकारों ने प्राचीन काल ठहराया है तथा ब्रिटिश शासन की स्थापना के उत्तर-काल को आधुनिक काल की संज्ञा दी है। इन दोनों के बीच का युग मुस्लिम प्रभुत्व का काल मध्यकाल कहा जाता है।[1] डॉ० द्विवेदी इस प्रकार के विभाजन को पाश्चात्य विचारकों से प्रभावित मानते हैं। उनके कथनानुसार "वस्तुत: यह शब्द अंग्रेजी के 'मिडिल एजेज' के अनुकरण पर बना लिया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमीय विचारकों ने साधारणत: सन् ४७६ ईसवी से लेकर १५५३ ईसवी तक के काल को 'मध्य-युग' कहा है।[2]"

भारतीय इतिहासकारों में कुछ ने छठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के काल को 'मध्यकाल' माना है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' को ६०० ईसवी से १२०० ईसवी तक

[1] डॉ० अवधबिहारी पाण्डेय : पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० ३।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, द्वितीय संस्करण, १९५६ ई०, पृ० १०।

सीमित रखा है। सच तो यह है कि इस 'महामानव समुद्र' के निवासियों के जीवन में एक मौलिक एकता अनुस्यूत रही है। यद्यपि वे विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण से बने हैं फिर भी तथाकथित प्राचीन युग के अन्त तक उन्होंने अपनी चारित्रिक एकता तथा वैयक्तिक विशेषता को अक्षुण्ण रखा है। मध्ययुग में सामान्य रूप से हम अपने चरित्र की इस विशेषता को खो बैठे। इस समय से हमारे जीवन में एक नई प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ जो अब तक भी अपूर्ण बनी हुई है। हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) को युग-परिवर्तनकारिणी घटना कहा जा सकता है, क्योंकि यहीं से इतिहास एक नया मोड़ लेता है। इसके पूर्व भारतवर्ष पूर्ण रूप से हिन्दू बना रहा। आर्य, द्रविड़, शक, हूण, आभीर, पुक्कस आदि झुण्ड के झुण्ड इस देश में आये किन्तु उस समय भारतीय संस्कृति की पाचन-शक्ति इतनी तीव्र थी कि उसने आगत विजातियों को उनकी समस्त विशेषताओं सहित स्वीकार कर आत्मसात् कर लिया। अभी तक जितनी भी आक्रामक जातियाँ आई थीं, वे अपनी सांस्कृतिक सम्पन्नता में दरिद्र थीं। "अब तक कोई ऐसा समूह इसके द्वार पर नहीं आया था जिसको हजम करने की शक्ति यह नहीं रखता।"[1] इस प्रकार यह युग एक प्रकार से सांस्कृतिक संकट का युग कहा जा सकता है। द्विवेदी जी ने इस युग में एक खास प्रकार की 'पतनोन्मुख और जकड़ी हुई' मनोवृत्ति का होना स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार पाँचवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक के समय को मध्ययुग कहना बहुत कुछ रूढ़ हो गया है। मध्यकाल का उपर्युक्त काल-निर्धारण ऐतिहासिक दृष्टि से उपस्थित किया गया है। हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में इस मध्यकाल की सीमा अपेक्षाकृत और भी सीमित हो जाती है। यहाँ हमें उसी दृष्टि से हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का निर्धारण अपेक्षित है। यों तो ऐतिहासिक मध्ययुगीन परिस्थितियाँ बहुत अंशों तक हिन्दीसाहित्य के मध्यकाल को प्रभावित करती चलती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों एवं तत्कालीन विभिन्न रुचियों के रूप में संचारित और पोषित व्यवस्था के अनुसार हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है :—

आदि काल : वीरगाथा काल, संवत् १०५०—१३७५
पूर्वमध्यकाल : भक्तिकाल, संवत् १३७५—१७००
उत्तरमध्यकाल : रीतिकाल, संवत् १७००—१९००
आधुनिक काल : गद्यकाल, संवत् १९००—१९८४

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पाँचवाँ परिवर्धित संस्करण, १९५५, पृ० १७१।

[2] वही, मध्यकालीन धर्मसाधना, द्वि० सं०, १९५६, पृ० १०।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने किञ्चित् परिवर्तन के साथ वीरगाथाकाल को संवत् १०५०—१४०० तथा भक्तिकाल को संवत् १४००—१७०० तक माना है, शेष ज्यों का त्यों है।[1] डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में भक्ति-काल की सीमा संवत् १३७५—१७०० तक निर्धारित कर शुक्ल जी के कथन को युक्तियुक्तता सिद्ध की है।[2] यही भक्ति-काल : पूर्व मध्यकाल हमारा आलोच्यकाल है। उत्तर मध्यकाल, सन्त साहित्य की मौलिक मान्यताओं से मेल न खाने के कारण आलोच्यकाल की परिधि में नहीं रखा गया।

बारहवीं शताब्दी में ही लगभग समस्त उत्तर भारत पर मुस्लिम विजेताओं का स्वत्व स्थापित हो चुका था तथा पुनः केन्द्रीय सत्ता भारत व्यापी अधिकार-विस्तार के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। मुगल साम्राज्यशाही का प्रथम कठोर सैनिक-शासन एवं पुनः शिष्ट प्रशासन-व्यवस्था अनेक राजनीतिक सङ्घर्षों और उत्थान-पतन के साथ सत्रहवीं शताब्दी तक चलती रही किन्तु भारत के राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस का यह काल ही विलक्षण रूप से उस नवीन चेतना और सांस्कृतिक नव-निर्माण का काल है जिसमें भक्ति-आन्दोलन ने समस्त उत्तर भारत की आध्यात्मिक एकता, सामाजिक भावना और जीवन की सोद्देश्यता को नये मूल्य प्रदान किये थे। आगे चल कर जब चेतना की लहर मन्द पड़ गई तथा भावना रूढ़िगत और जड़ होने लगी तब निर्माण की शक्तियाँ क्षीण हो गयीं। "वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर मध्य से ही पुनः राजनीतिक विघटन, सामाजिक अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के उत्तर मध्ययुग का क्रम प्रारम्भ हो गया जो अठारहवीं शताब्दी तक चरम सीमा को पहुँच गया।"[3] परिस्थितियों के आन्तरिक सङ्घटन एवं सांस्कृतिक चेतना से ही युग-विशेष में एक विशिष्ट साधना का प्रादुर्भाव होता है, अन्य कोई प्रवृत्ति ऐसी नहीं होती जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में प्राक्काल में न हो चुका हो। आलोच्यकाल के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

'सन्त' किसी युग-विशेष की महानता के मुहताज नहीं, अतः सन्तों की सुदीर्घ परम्परा दिक्काल को भेद कर निरन्तर अक्षुण्ण बनी रहती है। आज विनोबा उसी परम्परा की विरासत सम्हाले हुए हैं और आगे भी इस पुनीत दायित्व को

[1] डॉ० श्यामसुन्दरदास : हिन्दी साहित्य, चतुर्थ संस्करण, सं० २००३, पृ० १८।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय सं०, १९५४, पृ० २१५।

[3] आलोचना (पत्रिका) अंक, १०, पृ० ७।

वहन करने वाले उपकरण किसी सबल सक्षम तपःपूत व्यक्तित्व में संकुचित हो रहे होंगे। सन्तों के इस असीम पुण्य क्षेत्र की यात्रा के लिए सम्पूर्ण जीवन भी अल्प और असहाय है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने हिन्दी सन्त साहित्य की परम्परा जयदेव से प्रारम्भ कर स्वामी रामतीर्थ तक पर्यवसित की है जिसमें साधना, त्रिलोचन, नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल, बाबालाल, रज्जब, सुन्दरदास, गुलाल, जगजीवन, दरिया-द्वय, चरणदास, शिवनारायण, पलटू साहब, तुलसीसाहब, शिवदयाल तथा रामतीर्थ आदि प्रमुख सन्त आते हैं। डॉ० बड़थ्वाल ने भी 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में जयदेव से लेकर शिवदयाल तक प्रमुख बाईस सन्तों का उल्लेख एवं चर्चा की है।[1] इस प्रकार सन्त-साहित्य के अध्येता सन्त-परम्परा को प्रायः नामदेव से प्रारम्भ कर शिवदयाल तक ले आते हैं। सन्त नामदेव का समय (संवत् १३२७—१४०७) माना जाता है। ज्ञानेश्वर या ज्ञानदेव के साथ उन्होंने अनेक पवित्र तीर्थों की यात्रा की थी। यात्रा से से लौटने पर जब सन्त ज्ञानेश्वर का देहान्त हो गया तब नामदेव का विक्षुब्ध मन दक्षिण से ऊब गया और वे अपने साथ कुछ वारकरियों को लेकर मथुरा वृन्दावन होते हुए पंजाब की ओर चले गए। उस समय इनकी आयु ५० वर्ष की हो चली थी तथा इन्हें अपने स्त्री-पुत्रादि से वैराग्य भी हो चुका था। उत्तरी भारत में आकर ये कुछ दिनों तक हरिद्वार में रहे और वहाँ से फिर पंजाब-प्रान्त के गुरुदासपुर जिले के घोमन गाँव में चले आए। इनकी अधिकांश कृतियाँ मराठी भाषा में अभङ्गों के रूप में हैं तथा शेष रचनाएँ हिन्दी भाषा में, जो उत्तर भारत की यात्रा के पश्चात् लिखी गई थीं। "यदि सूक्ष्म दृष्टि से नामदेव की रचनाओं का अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात पड़ेगा कि कबीर साहब ने अपनी भावना-सृष्टि एवं वर्णन-शैली दोनों में ही गोरखनाथ तथा नामदेव का स्पष्ट अनुकरण किया है।[2]" डॉ० रामकुमार वर्मा ने नामदेव की कविता को उनके जीवन-काल के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया है[3]—

१—पूर्वकालीन रचनाएँ, जब वे श्री पण्ढरीनाथ की मूर्ति की पूजा करते थे।

२—मध्यकालीन रचनाएँ, जब वे अन्धविश्वास से स्वतन्त्र हो रहे थे।

३—उत्तरकालीन रचनाएँ, जब वे ईश्वर का व्यापक रूप सर्वत्र देखने लगे थे। इसी तीसरे काल की रचनाएँ ग्रन्थ साहब में संगृहीत हैं।

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रथम संस्करण, संवत् २००७, पृ० ३२—९२।

[2] डॉ० मोहनसिंह : कबीर एण्ड द भक्ति मूवमेण्ट, भाग १, पृ० ४९, लाहौर १९३४।

[3] डॉ० वर्मा : हि० सा० आ० इतिहास, तृतीय सं० १९५४, पृ० २१८।

स्पष्ट है कि पहले नामदेव मूर्ति-उपासक थे। वारकरी (परिक्रमा करने वाले) सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण ये वर्ष में दो बार पण्ढरपुर की यात्रा भी करते थे किन्तु संवत् १३७७ में पचास वर्ष के नामदेव जब उत्तर भारत में आये और यहाँ की भयावह स्थिति तथा मूर्तियों का विध्वंश अपनी आँखों से देखा तो उनके हृदय से साकार के प्रति जो अटूट आस्था थी, वह मूर्तियों के साथ ही टूट गई और वे तीव्र आक्रोश से चीख उठे :—

"पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा-फोड़ा और पानी में डुबो दिया, फिर भी वे न क्रोध करते हैं, न क्रन्दन करते हैं। हे ईश्वर, मैं ऐसे देवताओं का दर्शन नहीं चाहता—(नामदेवगाथा १३८६)।"

इस प्रकार सन्तसाहित्य के प्रेरक तत्व नामदेव में उत्तरभारत की यात्रा करते समय आये थे और नामदेव का आगमन वहाँ सम्वत् १३७७ में हुआ था। अतः आलोच्यकाल का प्रारम्भ सम्वत् १३७५ मानना अनुचित न होगा। आचार्य शुक्ल एवं डॉ० वर्मा ने इस काल को 'भक्तिकाल' की संज्ञा दी है एवं इसका सूत्र-पात सम्वत् १३७५ से माना है। मध्यकालीन हिन्दी सन्तसाहित्य के आदि की सीमा निर्धारित हो जाने के पश्चात् अन्त की ओर दृष्टि डालनी चाहिए। भक्ति-काल की सीमारेखा सम्वत् १३७५ से सं० १७०० तक खींची गई है। सन्त-साहित्य की मौलिक मान्यताओं के माध्यम से चिन्तन करने पर पता चलता है कि सम्वत् १७०० तक का सन्त साहित्य अर्थात् मलूकदास तक साम्प्रदायिक भेद-भावना, गतानुगतिकता एवं बाह्य आडम्बरों से रहित, सहज भगवत्प्रेम से परि-चालित है। यद्यपि सम्वत् १७०० के आस-पास सन्तमत के प्रचारके लिए पन्थों का सङ्गठन प्रारम्भ हो जाता है किन्तु सन्त-सम्प्रदाय की मूल-भावना में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता। सम्वत् १७०० के पश्चात् सन्त बाबालाल के समय से सन्तों में साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति निरन्तर उग्र होती जाती है, गतानु-गतिकता की मात्रा बढ़ती जाती है। आडम्बरों को ध्वस्त करने के लिए जिस सन्त-साहित्य का जन्म हुआ था, वही अब साम्प्रदायिक, प्रतिद्वन्द्विता एवं शाब्दिक इन्द्रजाल में उलझता जाता है। सम्प्रदायों की स्थापना से स्वाधीन चिन्तन की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। साधन को ही साध्य मानना प्रारम्भ हो जाता है। सम्वत् १७०० तक जिन सन्तों का मूलस्रोत उनकी स्वानुभूति थी, जो 'कागद की लेखी' न कह कर 'आँखिन देखी' कहते थे उन्हीं के उत्तराधिकारी अब भागवतपुराण, उपनिषद्, आदि का आश्रय खोजते हैं। वेदादि से सङ्गतियाँ लगाते हैं। सन्त चरणदास श्रीमद्भागवत के आधार पर अपनी भक्ति साधना का निरूपण करते हैं, उपनिषदों द्वारा पथ-प्रदर्शित ज्ञानयोग की व्याख्या करते हैं। दूलनदास देवस्तुति की परिपाटी चलाते हैं। जिस

धर्मवीर कबीर ने अवतारवाद का आजीवनपर्यन्त खण्डन किया, अठारहवीं शताब्दी के दरियादास ने अपने को उनका अवतार तक घोषित कर दिया। कबीर-पंथ का 'बीजक', सिख धर्म का 'आदिग्रन्थ' गुरुओं की भाँति पूज्य माने जाने लगा। साधारण उपादेयता ने क्रमशः श्रद्धेयता का रूप ग्रहण कर लिया। 'आदि ग्रन्थ' स्वयं गुरु के समान 'गुरुग्रन्थ साहब' कहलाकर आदृत हुआ। उसमें उद्धृत बातें पत्थर की लीक मानी जाने लगीं। इस प्रकार सन्त-मत के दृष्टिकोण में स्वानुभूतिमय सरलता के स्थान पर क्रमशः जड़ता आती गयी। यहाँ तक कि कुछ सन्तों ने तत्कालीन शासन के विरुद्ध विरोध का केतु भी फहराया। आगे चल कर यही सन्त-परम्परा साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रभावित होकर इतनी संकीर्ण बन गई कि उसमें पौराणिक एवं तान्त्रिक पद्धतियों का समावेश होने लगा और वे उसी रास्ते जाने लगीं जिस ओर जाने के लिए पहले के सन्तों ने बार-बार चेतावनी दी थी। व्यक्तिगत साधना की उपेक्षा कर सामुदायिक उन्नति पर बल दिया जाने लगा। 'राधास्वामी सत्संग' की दयालबाग शाखा के तत्कालीन सत्गुरु ने व्यावसायिक-योजना का सूत्रपात किया। इस प्रकार पहले के सन्तों के दृष्टिकोण से अर्वाचीन सन्तों में एक मौलिक अन्तर आ गया।

माया को तीव्र फटकार बताने वाले स्वतः उस मायाविनी के पाश में बंध गये। कबीरादि सन्तों की जलती मशालों सी वाणियों में जिस साहसिक मनोभाव एवं जीवन-संघर्षों में जूझने की अदम्य प्रेरणा देने वाले तत्वों का समावेश मिलता है, उसका निरन्तर ह्रास होता गया और आगे चल कर वह निरर्थक वाग्जाल एवं भाराक्रान्त पदावलियों का संग्रहालय मात्र रह गया।

यद्यपि सन्तकाव्य के बीज हमें मध्ययुग के पूर्व भी दृष्टिगत होते हैं और उसका विस्तार मध्ययुग की सीमा को लाँघ कर भी परिलक्षित होता है, तथापि इस विषय के अध्ययन की प्रभूत सामग्री हमें मध्ययुग में ही पूर्णरूपेण प्राप्त होती है, अतः अनुसन्धान का कार्य 'मध्यकाल' ही परिनिश्चित किया गया है।

इस प्रकार सम्वत् १३७५ से लेकर सम्वत् १७०० तक का हिन्दी सन्त-साहित्य स्वानुभूति को लेकर अपने गन्तव्य पथ पर शुद्ध रूप से गतिशील रहता है। उसमें साम्प्रदायिकता, गतानुगतिकता एवं बाह्यिक आडम्बरों की मलीनता नहीं आने पाती। सामाजिक मङ्गलभावना से ओत-प्रोत यही सन्तसाहित्य हमारा आलोच्य-सन्धान है जिसके सुदृढ़ स्तम्भ सन्त-त्रय कबीर, दादू और नानक हैं तथा जिनकी सहज सात्विक काव्यश्री की सुरभि से भक्ति-काल का विराट वातावरण सुवासित है।

●●●

ख. हिन्दी सन्त-साहित्य

सन्तों के विराट-व्यक्तित्व की भाँति 'सन्त' शब्द भी बहुत व्यापक है। 'सन्त' शब्द से क्या तात्पर्य है ? सन्त-साहित्य के अन्तर्गत हमें किन-किन कवियों को लेना चाहिए ? क्या समस्त आस्तिक भगवान के आराधक सन्त कहलाने के अधिकारी हैं ? जनसाधारण तो 'उसके' मार्ग पर चलने वाले सबको सन्त मानते हैं, चाहे वे राम के दरबार के हों या ब्रह्म के खोजी।[1] कुम्भनदास के इस कथन से, 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' अथवा कबीर दास जी के— निर्वैरी निहकामता, साईं सेती नेह। विषया सूं न्यारा रहे, सन्तनि को अंग [illegible]' से यही प्रतीत होता है कि सन्त विरक्त, निर्वैरी, निष्काम, प्रभु-भक्त एवं विषयों से दूर रहते हैं। सन्त के इन व्यापक लक्षणों में किसी पन्थ-विशेष का आग्रह नहीं है। यदि तुलसीदास एक ओर भक्तकवि हैं तो दूसरी ओर सन्त-समाज के आकांक्षी भी हैं—

> मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू।
> राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥

दूसरी ओर—

> शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
> राम सनेही ना मरै, कहैं कबीर समुझाय॥

—के कथनानुसार कबीर विशुद्ध भक्त की कोटि में आते हैं। मूलतः सन्त और भक्त एक हैं। उनका अन्तस् मानवीय है। मानव मात्र की समानता, मानव मात्र के प्रति प्रेम, यही उनके व्यक्तित्व का मूल सूत्र है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'सन्त' शब्द का सूत्र ऋग्वेद में खोजा है। सन्त शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान्, पवित्रात्मा, सज्जन, परोपकारी, वा सदाचारी व्यक्ति के लिए किया गया मिलता है और कभी-कभी साधारण बोलचाल में इसे भक्त, साधु वा महात्मा जैसे शब्दों का भी पर्याय समझ लिया जाता है। कुछ लोग इसे पालि भाषा के शान्त शब्द—निवृत्ति मार्गी या विरागी अथवा सत् का बहुवचन अथवा एक मात्र सत्य पर विश्वास करने वाला या उसका पूर्ण अनुभव करने वाला मानते हैं। अतएव, 'सन्त' शब्द इस विचार से उस व्यक्ति की ओर

---

[1] डॉ० विनयमोहन शर्मा : साहित्यावलोकन, पृ० १६२।

सङ्केत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार, अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो।[1]

यदि इन कसौटियों को सही माना जाय तो सगुणवादियों को सन्तों की पंक्ति से क्यों निष्कासित कर दिया जाता है। इन लोगों ने भी तो व्यष्टि को समष्टि में अन्तर्भुक्त कर दिया था। डॉ० बड़थ्वाल ने सगुण के समानान्तर निर्गुण शब्द का प्रयोग किया है और सन्तों के मार्ग को निर्गुण-पन्थ बतलाया है, किन्तु सन्तों का ज्ञान तो 'निर्गुण सगुण से परे' होता है। यदि सन्त शब्द से संसार से विरक्त महात्मा का अर्थ लिया जाय तो सन्तों में बहुत से गृहस्थ भी थे। सन्तों ने पलायनवादी प्रवृत्ति की ओर भर्त्सना भी की है। प्रायः निर्गुणियों को 'सन्त' और सगुणियों को 'भक्त' कहने की प्रथा चल पड़ी है। इस प्रथा के प्रवर्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे जिनका अनुकरण परवर्ती लेखकों ने किया है। इन सन्तों और भक्तों की चिन्ताधारा में एक मौलिक अन्तर है। सगुणवादी भक्तों का साहित्य अवतारवाद की भावना से अनुप्राणित है किन्तु सन्त कवि अवतारवाद तथा तत्सम्बन्धी लीला गान और चरित की अवहेलना करते दिखाई देते हैं। वे स्वर्ग-नरक का विभेद भी स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं। सन्तों की समस्त साधना शास्त्रमूलक न होकर अनुभूतिपरक है। शास्त्रीय ज्ञान के भारवाहक को वे दयनीय गर्दभ की सी संज्ञा देते हैं। इस प्रकार सन्त 'सिद्धान्त वाक्यों' तथा 'वाचक ज्ञान' में विश्वास न कर आचरणमूलक व्यावहारिकता को प्रश्रय देते हैं, 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' पर विशेष बल देते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा के कथनानुसार हिन्दी साहित्य में भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली भाव-धारा के अन्तर्गत सन्त-काव्य का विशेष महत्त्व है। यद्यपि भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियों को सन्त कहा जा सकता है, तथापि सन्त-काव्य उन्हीं कवियों की कृतियों का नाम है जिन्होंने निर्गुण-सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य-रचना की है।[2] अतः रूढ़ि अर्थ में निर्गुणवादियों को ही सन्तों की संज्ञा दी गई है।

सन्त-साहित्य, जन-जीवन का साहित्य है। सन्त कवि लोकधर्म के संस्थापक एवं प्रतिष्ठापक हैं। हिन्दू-मुस्लिम-कर्मकाण्ड, बाह्याडम्बर, सङ्कुचित आचार-विचार तथा रूढ़िगत दुराग्रहों से ऊपर उठा हुआ सन्त साहित्य विशुद्ध मानवीय प्रेम की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित है जहाँ भगवान् वेदव्यास की यही अमर-वाणी सुनाई पड़ती है—न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

●●●

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरीभारत की सन्त परम्परा, प्रथम संस्करण, सं० २००८, पृ० ३,५।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, प्रथम सं० १९५७, पृ० ८८।

ग. मध्यकालीन हिन्दी सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि

राजनीतिक—सन्त-साहित्य का आविर्भाव काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था एवं सांस्कृतिक द्वन्द्व का काल है। आलोच्यकाल के प्रारम्भ में भारत की राजनीतिक सत्ता तुग़लक वंश के हाथ में थी। सन्त-साहित्य के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों ने कम योग नहीं दिया। मुहम्मदबीन तुग़लक (सन् १३२५-५१) की राजनीति धर्मनिरपेक्षिता की रही और इस प्रकार उसने लौकिक शासन स्थापित करने की चेष्टा की। उसने उलमाओं को कभी इस बात का प्रोत्साहन न दिया कि वे उसके राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करें किन्तु इस सुसंस्कृत उदार सम्राट् ने दोआब पर—जहाँ की अधिकांश जनता हिन्दू थी, भीषण अकाल के समय में भी आय का कुछ भी ध्यान न रखते हुए उत्पीड़क अब्वाब (दण्डकर) लगाये जिन्होंने रैयत की कमर ही तोड़ दी और उसको अत्यन्त असहाय बना दिया। ताम्र-सिक्कों के प्रचलन, राजधानी परिवर्तन एवं फारस विजय की कामना ने जनता की सुख, शान्ति एवं सुव्यवस्था छीन ली, फलस्वरूप सर्वत्र दु:ख-दैन्य, दुर्भिक्ष-क्लान्ति ही दिखायी पड़ने लगी।

राजपूतनी के रक्त से पालित फीरोजशाह तुग़लक (सन् १३५१-८८) अत्यन्त सङ्कीर्ण हृदय एवं कट्टर धर्मान्ध था। वह शासन-तन्त्र में कुर-आन के नियमों का अक्षरशः पालन करता था। मुल्ला-मौलवी उसे हमेशा घेरे रहते थे तथा गैरसुन्नी मुसलमानों एवं हिन्दुओं पर अत्याचार करने के लिए उसे उकसाया करते थे। उन्हीं की सलाह से उसने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगा दिया। जज़िया जिसका अर्थ होता है—बदले में दिया गया धन अथवा जीवनयापन की सुविधा का मूल्य। यह कर पहले-पहल मुहम्मद साहब ने ही लगाया था। उसने अपने धर्मानुयायिओं को आदेश दिया था कि जो लोग इस्लाम के सच्चे मत को अङ्गीकार नहीं करें, उनसे तब तक युद्ध करो जब तक कि दीनतापूर्वक अपने ही हाथों से जज़िया न चुका दें। फीरोज ने स्वयं को विशुद्ध मुसलमान सिद्ध करने के लिए शासन-सूत्र उलमाओं को सौंप दिया। वह छोटी-छोटी बातों में भी किस प्रकार उनके निर्देश पर चलता था, यह देख कर उस पर तरस आता है। इस नीति का कुपरिणाम यह हुआ कि शासन का सञ्चालन सङ्कीर्णता, पक्षपात एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर होने लगा।[1] फीरोज़ की धर्मान्धजनित अन्याय

---

[1] डॉ० अवधबिहारी पाण्डेय : पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० २६१।

की पराकाष्ठा तो वहाँ देखने को मिलती है जब कि उसने राजप्रासाद के सामने एक ब्राह्मण को जीवित जलवा दिया था। केवल इसी अपराध पर कि उसने अपने धर्म को इस्लाम के समान श्रेष्ठ बतलाया था तथा उसके जीवन और विचारों से प्रभावित होकर कुछ मुसलमान-स्त्रियाँ हिन्दू हो गयी थीं। इसके अतिरिक्त सुल्तान ने ज्वालामुखी और जगन्नाथ के मन्दिरों की मूर्तियाँ तुड़वायीं, नये मन्दिर गिरवा दिए तथा हिन्दुओं के धार्मिक मेलों पर रोक लगा दी। इस्लामी शासन के इतिहास में सर्वप्रथम इसी सुल्तान ने ब्राह्मणों पर पोल-टैक्स लगाया।[1]

यह आचरण-भ्रष्ट, असंयमी एवं अत्यन्त कामुक प्रकृति का था। कुरआन के प्रति अनन्य भक्ति-भाव भी इसे अपनी वासनाओं की तृप्ति से विरत न कर सका। एक युद्ध के अवसर पर तातार खाँ ने सुल्तान को उसके शिविर में अर्द्धनग्नावस्था में पड़ा पाया। मदिरा के प्याले उसके बिछौने में छिपाकर रक्खे हुए थे।[2] अतः स्पष्ट है कि जब ईश्वर के प्रतिनिधि सुल्तान का नैतिक स्तर इस प्रकार का था तब राजन्यवर्ग एवं उन विलासप्रिय दरबारियों का क्या रहा होगा। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' का सजीव उदाहरण हिन्दू प्रजा से किसी प्रकार के नैतिक मापदण्ड की आशा करना बुद्धि का दिवालियापन होगा। राज्य की ओर से वे इतने निस्सहाय एवं मूक पशुवत् जीवन बिताने के लिए बाध्य कर दिए जाते थे कि उनकी केवल साँसें चलती रहें। मुसलमान शासक उनको जीवित रहने का अधिकार केवल इसलिए दिये हुए थे कि उनके मर जाने पर राज्य-कर तथा जजिया-कर से कोष के खाली हो जाने का भय था।

इस प्रकार पठानी सल्तनत के समय तक आदरास्पद नागरिकता (सिटिज़नशिप) के समस्त अधिकारों से हिन्दू जनता सर्वथा वंचित थी। उसका निराशामय जीवन, विपत्ति की एक लम्बी गाथा मात्र रह गया था। अन्धकार की इस प्रगाढ़ता में प्रकाश की क्षीण से भी क्षीण रेखा दिखलाई नहीं पड़ती थी।[3]

देश और हिन्दू जाति के ऐसे दुर्भाग्य काल में सन् १३९८ में दिल्ली की नींव हिला देने वाला तैमूरलङ्ग का आक्रमण हुआ। भारत पर आक्रमण करने के पूर्व तैमूर ने उपस्थित सरदारों को सम्बोधित करके जो कुछ कहा था, उससे उसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

"भारत पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य यह है कि हम लोग विधर्मियों

[1] डॉ० ईश्वरीप्रसाद : मेडिवल इण्डिया, पृष्ठ २९०, ९१।

[2] डॉ० ईश्वरीप्रसाद : मध्ययुग का इतिहास, पृष्ठ २९५।

[3] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रथम संस्करण, सं० २००७, पृष्ठ २७४।

के विरूद्ध सेना ले जाकर मुहम्मद के सिद्धान्त के अनुसार उनको सद्धर्म में दीक्षित करें और देश की कुफ्र तथा बहुदेववाद के कलुष से मुक्त कर सकें और उनके देवालयों तथा मूर्तियों का विध्वंस करके खुदा के समक्ष गाज़ी और मुजाहिद के रूप में प्रकट हो सकें।[1]"

तैमूर के इस अमानुषिक संहारक आक्रमण से दिल्ली अर्थात् केन्द्र की राजनीति अस्त-व्यस्त हो उठी। राजधानी ध्वस्त, कोष रिक्त एवं सुलतान तथा वजीर पलायन कर गए। ऐसे निकम्मे शासकों के प्रति प्रजा की आस्था कैसे जमती ? सुलतान का प्रजा के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसकी उन्हें परवाह कहाँ थी ? यहाँ तक कि सिंहासन के स्थायित्व की भी उन्हें चिन्ता न थी। उनका सारा समय हरम में ही बीतता था।

विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में अफगान-साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हुआ। सिकन्दर लोदी (सन् १४८९-१५१७ ई०) ने शासन-तन्त्र में नवीन जीवन एवं उत्साह लाने का अथक प्रयत्न किया। दयालु सम्राट् प्रतिवर्ष गरीब एवं असहाय व्यक्तियों की सूचियाँ बनवाता था और उनको उनकी आवश्यकताओं के अनुसार ६ महीने की जीवन-यापन की सामग्री दी जाती थी। किन्तु खेद है कि धर्म के मामले में इसकी उदारता भी कुण्ठित हो गई। बादशाह उलमाओं के सङ्केत पर राजनीति की डोर को खींचता रहा। हिन्दुओं पर बलात् इस्लाम-धर्म लादा जाने लगा। अनेक मन्दिरों को तोड़ कर मस्जिदें बनवायी गयीं। सिकन्दर लोदी ने बोधन नामक ब्राह्मण को केवल इसलिए मृत्यु को सौंप दिया क्योंकि उसने हिन्दू धर्म को इस्लाम के समान श्रेष्ठ बताने का दुस्साहस किया था। उसके समय में धार्मिक पक्षपात सीमा को पार कर गया था। 'तारीख-ए-दाउदी' में लिखा है कि मूर्तियों को उसने कसाइयों को दे दिया जिन्होंने उन्हें मांस तौलने के बाट बना लिये।

विचारणीय है कि तुग़लक-वंश से लेकर लोदी-वंश के शासनकाल की सीमा दो-सौ वर्षों की है और इन दो-सौ वर्षों का उपयोग सोलह-शासकों ने शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के स्थान पर धर्मान्ध प्रचार एवं आक्रमणों—जो अनावश्यक राज्यविस्तार की भोगलिप्सा से किये जाते थे—में नष्ट किया। जनता में घोर असन्तोष एवं हीन-भावना की जो ग्रन्थि पड़ गयी थी, वह दो-सौ वर्षों के बाद भी न सुलझ सकी। 'स्वान्तः सुखाय' रचना करने वाले तुलसीदास जी की वाणी में विगत शताब्दियों की मूक जनता का आक्रोश मर्मस्पर्शी चीत्कारों में फूट पड़ा है। अव्यवस्था के उस युग में सर्वसाधारण की हित-चिन्ता कोई

[1] डॉ० अवधबिहारी पाण्डेय : पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २७४।

करता ही न था। राजा-महाराजाओं और सुलतानों के यहाँ उन्हीं की पूछ होती थी जो लक्ष्मी के द्वारा पूछे गए होते। अतः जनता का तीन-चौथाई भाग अपने आप को भुलाकर 'होइहै वहि जो राम रचि राखा' तथा 'कोउ नृप होइ हमें का हानी' के भाग्यवादी भुलावों में फँसकर राजनीति से उदासीन परलोक-चिन्तन में व्यस्त रहा। मानस के प्रारम्भ में जिन मोह-मदी अत्याचारी राक्षसों के अन्यायों का सजीव चित्रण तुलसीदास ने उपस्थित किया है, वह वस्तुतः तत्कालीन मोहम्मदी शासकों का ही है। इसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने कर दिया है—

जिनके यह आचरन भवानी। सो जानहु निसिचर सब प्रानी॥
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जे करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहि कवनि मिति॥[1]

साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी समझ सकता है कि तुलसी ने ऐसा समाज अपनी आँखों से देखा था। दिनदहाड़े ऐसे अत्याचार, भयङ्कर मारकाट देखकर उनकी सहृदयता काँप उठी थी। कवि की संवेदनशील दृष्टि को इसमें रावण राज्य की झाँकी मिली। पठानकाल में कुमारियों को बरजोरी से अपहरण करने की दुर्नीति का प्रतीक चित्र देखिए—

देव जच्छ गन्धर्व नर, किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर बरनारि॥

—बालकाण्ड, १८२ ख

दशरथ के स्वरों में तत्कालीन सामन्ती वर्ग की कामुकप्रवृत्ति मद्यप-प्रलाप कर रही है—

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा॥
जानेसि मोर सुभाव बरोरू। मन तव आनन-चन्द चकोरू॥

—अयोध्याकाण्ड, सोरठा २५ के पश्चात्

प्रिया प्रान-सुत सरबसु मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे॥

वही, अयोध्याकाण्ड

उपर्युक्त स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति तुलसी के आराध्यदेव के पिता दशरथ की कभी नहीं हो सकती। इसमें युग का प्रभाव अनजाने ही प्रतीक रूप में उभर आया है। मुसलमानों की मद्यपदृष्टि ही प्रिया के 'केलि-तरुन गुलबदन' वाली अङ्गाओं की मांसलता में अपनी रसिकता की चुटकियाँ लेती रही जो उसके मखूल मात्र पर जनता-जनार्दन के सारे सुखों को दाँव पर चढ़ाने में भी नहीं हिचकी। युग का संश्लिष्ट-चित्रण जैसा तुलसीदास जी की रचनाओं में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

---

[1] रामचरितमानस : बालकाण्ड १८३।

डॉ० रामकुमार वर्मा का यह कथन सत्य की सीमा को स्पर्श करते हुए ही मुखरित हुआ है कि "इस समय राजनीति कटी हुई पतङ्ग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड़ लेता, वह उसे भाग्याकाश की ऊँचाई तक खींच ले जाता। राज्यों के उत्थान और पतन होते रहे और जनता प्रेक्षक की भाँति सारे दृश्य बिना किसी 'आह' और 'वाह' के साथ देखती रही।[1]"

इस युग की राजनीति धर्म का अविभाज्य अङ्ग बनी रही एवं शासन-तन्त्र कुर-आन की धर्मविधियों—भले ही वे देशकाल-परिस्थिति के अनुसार जीवनी-शक्ति से हीन हो चुकी हों—से सञ्चालित होता रहा। धर्मान्धता के नशे में आकर ही उदार बादशाहों को अपनी नीति में अनिच्छापूर्वक परिवर्तन करना पड़ा। उलमाओं के हाथ में अपनी बुद्धि की बागडोर सौंपनी पड़ी।

इस काल में यह सरलता के साथ लक्ष्य किया जा सकता है कि जनता की राजनीतिक चेतना पर धार्मिकता हावी थी। 'भेड़ी की धसनि' की भाँति जनता असङ्गठित थी। सामन्ती वर्ग का एक अपना दर्शन था और उसके व्याख्याकार थे पण्डे-पुरोहित, मुल्ला-मौलवी। इस दर्शन ने जनता को धर्म की अफीम खिलाकर उसकी चेतना सुप्त कर देने की चेष्टा की। उनका कहना था कि संसार मिथ्या है, यहाँ की प्रत्येक वस्तु मिथ्या है। इसलिए हमें इस असार संसार की परवाह न करके परलोक की चिन्ता करनी चाहिए। हमारी दुःखप्रद स्थिति और निर्धनता का कारण सामाजिक व्यवस्था नहीं है, शासक-वर्ग द्वारा श्रम-फल का हड़पना नहीं है, वरन् हमारे पूर्व-जन्मों में किए गए कर्मों का फल है। सच पूछिए तो इसी कर्म-फल के सिद्धान्त के कारण ही हजारों वर्षों से भारतीय इतिहास में जन्म से नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव नहीं आया।[2]

इस प्रकार मध्यकालीन राजनीतिक-चेतना सुलतानों के रक्त-पिपासु दाँव-पेंचों एवं सामन्तवादी षड्यन्त्रों के सीमित क्रोड़ में ही पलती रही। विराट जन-जीवन के उन्मुक्त प्राङ्गण में साँस लेने का सौभाग्य इस युग में उसे न मिल सका।

सामाजिक पृष्ठभूमि—राजनीति की प्रयोग-भूमि समाज और समाज में रहने वाले सामाजिक होते हैं। प्रायः राजनीति, युग-धर्म से मन्त्रणा करके समाज

[1] डॉ० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, प्रथम सं० १९५७, पृ० १०३।
[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, चतुर्थ सं०, १९५५, पृ० ९८।

का सञ्चालन किया करती है। मध्ययुगीन धर्म-प्रेरित राजनीति की अव्यवस्थित छत्र-छाया में पलने वाली सामाजिक परिस्थिति किस अंश तक अपने सन्तुलन को बनाए रखेगी, यह सरलता से समझा जा सकता है। समाज का विभाजन प्रायः दो परस्पर विरोधी वर्ग—ब्राह्मण एवं अन्त्यज अथवा राजन्य और शूद्र में होता है। इस युग में इन दोनों वर्गों के बीच एक चौड़ी खाई निरन्तर बढ़ती जा रही थी। समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने में धर्म एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व निभाता है। आलोच्यकाल में जो धर्म ही ह्रासोन्मुखी सामन्ती समाज का स्वीकृत विधान था, वही समाज के समस्त कार्य-व्यापारों का नियमन करता था। यही कारण है कि दलित-पीड़ित, अधिकार वंचित वर्ग ने जब-जब सामन्तवादी आर्थिक-सामाजिक परतन्त्रता के प्रति विरोध किया तब-तब वे धर्म के कठोर-विधान को भी खरी-खोटी सुनाने से न हिचके। "इन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-संघर्ष धार्मिक स्तर पर जनता की लोक-परम्परा या उच्चवर्गों की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विविध मत-मतान्तरों के बीच धार्मिक दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था।"[1]

विचारणीय है, मध्ययुगीन सुलतानों ने उलमाओं के साथ समझौता रखने में ही अपना कल्याण समझा। उलमाओं का मुस्लिम समाज में वही स्थान था जो हमारे यहाँ पुरोहितों का था। उस समय उलमा और पुरोहित, दोनों अपनी-अपनी समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त थे। उलमाओं के समक्ष विरोधी तत्व वाली सामाजिक व्यवस्था में अपने प्रभुत्व को सुरक्षित रखने की समस्या थी। भारत के बाहर उलमाओं को अपने धर्मप्रचार में आशातीत सफलता मिली थी। उनके धर्म-प्रचार का इतिहास अग्नि और रक्त से लिखा गया था। देश के देश राजनीतिक पराजय के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी आत्म-समर्पण करते जा रहे थे, किन्तु भारत ऐसे धर्मप्राण देश में पहुँच कर उनके स्वप्न झूठे निकले। यहाँ उनको एक ऐसे धर्म से टक्कर लेनी पड़ी जिसकी सांस्कृतिक निधि प्रभूत थी। धर्म-प्रचार में सफलता न मिलने के कारण राजकीय पद, धन का आश्रय, उच्च सामाजिक मर्यादा तथा ऐश्वर्यपूर्ण जीवन आदि का लोभ दिखाने पर भी वे हिन्दुओं की आस्था को न डगमगा सके। दूसरी ओर हिन्दू-पुरोहितों के सम्मुख ध्वस्तप्राय सामाजिक परम्परा को बचाने की समस्या थी। विषयान्तर में यह भी समझना लाभप्रद होगा कि हाइवेल के कथनानुसार हिन्दुस्तान में "समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी। यह कुछ अजीब-सी बात जान

[1] शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन, पृ० ५६।

पड़ती है कि हिन्दुस्तान में जहाँ ऐसी वर्ण-व्यवस्था और पृथक् बने रहने की भावना है, विदेशी जातियों और संस्कृतियों को पचा लेने की इतनी समाई रही हो। शायद यही कारण है कि उसने अपनी जीवनी-शक्ति अक्षुण्ण रखा है और समय-समय पर अपना कायाकल्प करता रहा है।[1]" दुर्भाग्य से यहाँ उसकी जीवनी-शक्ति क्षीण होने लगी। जब नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जाने वाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ नहीं सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गई।[2] इसी समस्या पर पारदर्शी दृष्टिक्षेप करते हुए कविर्मनीषी रवीन्द्रनाथ ने भी कहा है कि "हिन्दुओं का धर्म मुख्यतः जन्मगत और आचार-मूलक होने के कारण उसका व्यवधान और भी कठिन है। इस्लाम-धर्म अङ्गीकार करके मुसलमानों के साथ बराबरी से मिला-जुला जा सकता है, मगर हिन्दूधर्म का यह रास्ता भी अतिशय सङ्कीर्ण है। विरोध के समय मुसलमान ने अपनी मसजिद में या अन्यत्र हिन्दू को जितने निकट खींचा था, उतने निकट हिन्दू ने मुसलमान को कभी नहीं खींचा। आचार को, मनुष्य-मनुष्य के बीच सेतु का काम देना चाहिए किन्तु उसी जगह हिन्दू ने पग-पग पर बाधाएँ खड़ी कर रखी हैं।......मनुष्य के मिलन-क्षेत्र में अन्य आचारावलम्बियों को अपवित्र समझने से बढ़कर भयङ्कर बाधा दूसरी नहीं हो सकती। भारतवर्ष का दुर्भाग्य ही कुछ ऐसा रहा है कि यहाँ हिन्दू और मुसलमान, दोनों एकत्र तो हुए हैं किन्तु जहाँ धर्म की ओर से हिन्दू की बाधा प्रबल नहीं है—है आचार की ओर से, वहाँ आचार की ओर से मुसलमान की बाधा प्रबल न होकर—प्रबल है धर्म की ओर से। एक पक्ष का द्वार जहाँ खुला है, वहीं दूसरे पक्ष का द्वार बिल्कुल बन्द है। फिर ये लोग मिलें भी तो क्योंकर?...... जिसे हम हिन्दू-युग कहते हैं, वह है प्रतिक्रिया का युग। इस युग में बड़ी सतर्कता के साथ ब्राह्मणधर्म की इमारत दृढ़तापूर्वक चुनी गयी थी। दुर्लंघ्य आचार की चहारदीवारी खड़ी करके उसे दुष्प्रवेश बना डाला गया था। यह बात उस समय भुला दी गयी थी कि किसी प्राणवान् वस्तु के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को कसकर जकड़ देना, उसकी सुरक्षा करना नहीं—वह है उसे मार डालना। मिलन के हर क्षेत्र में इस तरह सुनिपुण चतुराई द्वारा रखी हुई बाधा का उदाहरण संसार में

[1] पं० जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ३३।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पाँचवाँ परिवर्धित संस्करण, १९५५, पृ० १७२।

शायद ही कहीं और मिल सके ।[१]'' 'द हिस्टारिकल रोल्स आव इसलाम' के सुप्रसिद्ध लेखक श्री मानवेन्द्रनाथ राय का यह कथन भी कितना विचित्र एवं यथार्थ है कि ''संसार की कोई भी एक जाति इसलाम के इतिहास से उतनी अपरिचित नहीं है जितने कि हिन्दू हैं और संसार की कोई भी जाति इसलाम को उतनी घृणा से भी नहीं देखती, जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं ।''

मुस्लिम विजेताओं की धर्मप्रचारक नीति को देखकर हिन्दू समाज में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति बड़ी तीव्रता के साथ जाग पड़ी । धर्मभीरु पुरोहितों ने जाति-बन्धन के शिकञ्जे को इतना कसा कि हिन्दूधर्म का धर्मोत्पादन जाता रहा, कच्छपवृत्ति की तरह वह बाह्य-प्रसरणशीलता छोड़कर अपने आप में सङ्कुचित होती चली गयी । ऐसा होना अस्वाभाविक न था क्योंकि भारतीय समाज को पहली बार ही वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रतिद्वन्द्वी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था । आचारभ्रष्ट असहाय व्यक्ति, जो समाज से च्युत होकर निम्न एक नई जाति की रचना कर लेते थे किन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था की रचना-प्रक्रिया में आंच नहीं आने देते थे, उनके सामने एक सुसङ्गठित समाज था जो कि किसी भी व्यक्ति को अपना धर्म-विशेष स्वीकार कर लेने पर बराबरी का दर्जा देने को तैयार था । हिन्दूसमाज की जातिगत-संगठन यह अपरिवर्तनशीलता मुस्लिम धर्म के प्रचार-प्रसार के विरुद्ध ढाल बन गयी । कर्मणा पर आधारित वर्णाश्रम-व्यवस्था अब जन्मना में बदल गई, क्योंकि उदार कवि तुलसी को भी कहना पड़ा—

पूजिय विप्र शील गुन हीना । शूद्र न गुन-गन ज्ञान प्रवीना ।

फलस्वरूप जातियों में उपजातियों का जन्म हुआ । एक जाति परस्पर पूरक न बन कर प्रतिस्पर्धी बन बैठी । खान-पान, शादी-ब्याह एवं अन्य सामाजिक कार्यों में एक भयङ्कर आत्म-विघात व्याप्त हो गया । स्थिति इतनी शोचनीय हो गई कि निम्न समझी जाने वाली जातियों में ही लगभग १२०० उपजातियाँ बन चुकी थीं जिनका हिन्दूसमाज में कोई स्थान नहीं था । यह वह संक्रान्ति-काल था जब युगों-युगों से शोषित निम्नजातियों को कुछ शर्तें स्वीकार कर लेने पर समान सामाजिक प्रतिष्ठा मिल सकती थी । बड़ा विकट काल था वह । सन् १२०० से १५०० ई० तक का युग 'टीका-युग' के नाम से प्रख्यात है । उन दिनों भारत के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबन्ध-रचना में जुटे हुए थे । विज्ञानेश्वर, कुल्लूक भट्ट, चण्डेश्वर तथा विश्वेश्वर ने नए सिरे से सब कुछ को स्वीकार कर, सबके प्रति आदर का भाव बनाए रख कर, हिन्दू-स्मृतियों की युगसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की । उन्होंने

१ विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ५, अङ्क ४, पृष्ठ ५३८-३९-४० ।

बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की सङ्गति लगाई। सांस्कृतिक दृष्टि से इतना बड़ा सङ्घर्ष विश्व इतिहास के लिए अपरिचित ही था। दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों का यह द्वन्द्वात्मक सम्मिलन एक नवीन चेतना को जन्म दे सका। सर जान मार्शल का यह कथन सत्य है कि "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं दिखायी पड़ा जब इतनी महान्, इतनी सुविकसित और इतनी मौलिक संस्कृतियों का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो।"

उच्चवर्गीय समाज—इस युग का समाज सामन्तवादी पद्धति पर सङ्गठित था जिसमें सम्राट् या बादशाह प्रधान होता था। उसके नीचे शासकीय सामन्त होते थे, उच्च पदस्थ सेनाधिकारी होते थे जिनको विशिष्ट अधिकार एवं अनेकों सुविधाएँ मिली होती थीं। इन अमीर-उमराओं एवं राजन्य-वर्ग का जीवन सर्वसाधारण के जीवन से सर्वथा भिन्न, स्वच्छन्द भोग-विलास का जीवन होता था। इनके नीचे संयत जीवन व्यतीत करने वाला सकुलपङ्क्ती मितव्ययी मध्यम वर्ग था और सबके नीचे भाराक्रान्त सर्वहारा-वर्ग था। सामन्तों, छोटे-मोटे सैनिक वर्ग के कर्मचारियों से लेकर सुलतान तक के विलास का बोझ जर्जर निम्न-वर्ग पर पड़ता था और यह वर्ग इसे अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल मान कर सहे जा रहा था। दक्षिण तथा राजस्थान में जो हिन्दू राजे शेष बचे थे, वे अब अपना अतीतकालीन शौर्य भुलाकर मानसिक तथा राजनीतिक पराभव स्वीकार कर चुके थे। मुस्लिम आक्रमण की पहली चोट इन्हीं को सहनी पड़ी थी। ऐसे आत्म-समर्पण करने वालों के लिए आँचल का आसरा ही अवशिष्ट था। विलासिता उनके जीवन की बुभुक्षा बन चुकी थी और इस बुभुक्षा के शमनार्थ वे अबाध-गति से जनता का शोषण कर रहे थे। झूठे दर्प एवं खोखले आत्म-प्रदर्शन की ऐंठ में वे आपस में ही लड़-झगड़ रहे थे। इस आत्मलिप्सा के नारकीय सङ्घर्ष की चोटें जन-जीवन को सहनी पड़ रही थीं। मुस्लिम-हिन्दू राजाओं की चक्की के दो पाटों के बीच यह दयनीय वर्ग पिसा जा रहा था। वे अपने दुध मुँहे बच्चों के अश्रुओं से राजाओं के लिए मुक्ताहार पिरोया करते थे। हिन्दू राजा अपना हित मात्र इसी में समझते थे कि दिल्ली के शासकों को कर देकर विलास की बंशी बजाई जाय। प्रजा-पालन का ढोंग आत्म-प्रवञ्चना मात्र था। पं० चतुरसेन शास्त्री लिखित 'सोनी' नामक उपन्यास में हमें सामन्ती युग की एक विद्रूपपूर्ण झाँकी देखने को मिलती है। इस युग के उच्चवर्गीय समाज के जीवन में सबसे अधिक आकर्षण उद्दाम यौवन की अमिट बुभुक्षा थी। सुलतान तथा हिन्दू राजे बड़े कामुक प्रवृत्ति के होते थे। विशाल अन्तःपुर का होना उस युग का फैशन था। साधारण श्रेणी का सामन्त भी बहुसंख्यक स्त्रियों, दासियों एवं नर्तकियों से घिरा रहता था। उनका अधिकांश समय सुरा-सुन्दरियों

की भागभरी मनुहारों को शान्त करने में व्यय होता था । कुछ राजाओं का तो पृथक् से एक विभाग ही होता था जहाँ सौन्दर्य का क्रय-विक्रय होता रहता था । इस विभाग का काम यही था कि वह अपने कृपालु शासकों की सेवा में सौन्दर्य के नित नूतन नमूने पेश करता रहे । फीरोज तुगलक के मन्त्री खानेजहाँ ने अपने अन्तःपुर में विभिन्न जातियों की लगभग दो सहस्र स्त्रियाँ रख छोड़ी थीं । अकबर महान् के हरम में पाँच हजार स्त्रियाँ थीं । उनके भोजन-आच्छादन व विलास-सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था ।[1]

मुसलमान शासकों का अनुकरण करने में हिन्दू राजे भी अपनी शान समझते थे । मालवा के राजपूत मन्त्री के अन्तःपुर में दो हजार स्त्रियाँ थीं । उनमें कुछ मुसलमान भी थीं ।[2] सुन्दरी स्त्रियों की दासी के रूप में अच्छी कीमत वसूल होती थी । बरानी के अनुसार रूपवती स्त्रियाँ ५०० से लेकर १००० टंका तक में क्रय की जा सकती थीं और किसी-किसी सुन्दरी दासी की कीमत दो हजार टंका तक पहुँच जाती थी ।[3]

उच्चवर्गीय समाज की वेश-भूषा, भोजन, आमोद-प्रमोद, जीवन-चर्या सब में विलासिता की गन्ध आती थी । जरी के बेलबूटेदार कपड़े, रंगे हुए रेशमी एवं कीमती मलमल के महीन वस्त्र, सामन्तों की साधारण वेशभूषा थी । बादशाह तथा राजदरबारी बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनते थे । अबुलफज़ल के लेखानुसार प्रतिवर्ष बादशाह सलामत के लिए एक सहस्र पोशाकें बनती थीं । इनमें से अधिकतर दरबार में आने वाले व्यक्तियों में वितरित कर दी जाती थीं ।

इस वर्ग का भोजन अमित-व्ययी, विशिष्ट तथा स्वादिष्ट होता था । सुरक्षित फल, रहस्यपूर्ण उबाले हुए पदार्थ, पाकशास्त्रीय सूक्ष्म कला प्रदर्शित ईरानी पकवानों का प्रचार हिन्दू रईसों के यहाँ भी था । फल प्रायः बुखारा और समरकन्द से मँगाये जाते थे । मांस भोजन का आवश्यक खाद्य वस्तु था । वर्ष के बारहों मास उच्च वर्ग द्वारा बर्फ का प्रयोग किया जाता था । मद्यपान का दुर्व्यसन जोरों पर था । विदेशों से कीमती मदिरा मँगायी जाती थी ।

मध्यवर्गीय समाज—सामन्त एवं सर्वहारा के बीच यह समाज पल रहा

[1] सत्यकेतु विद्यालङ्कार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० ४६८ ।

[2] कुँवर मुहम्मद अशरफ : लाइफ एण्ड द कण्डीशन आव द पीपुल आव द हिन्दुस्तान, पृ० १४७ ।

[3] वही, पृ० ४३२ ।

था। इसमें निम्नवर्गीय राजकर्मचारी, समृद्धिशाली शिल्पी, व्यापारी, अध्यापक वर्ग, वैद्य आदि आते हैं। इतिहासकार मोरलैण्ड के अनुसार इस वर्ग के लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुख का जीवन था। व्यापारी लोग सुख का जीवन व्यतीत करते थे और अपने धन को छिपाकर रखते थे। क्योंकि इनको स्थानीय अधिकारियों का भय लगा रहता था कि वे कहीं धन का अपहरण न कर लें। इनको सरकारी कर्मचारियों को निर्धारित मूल्य पर वस्तुएँ देनी पड़ती थीं। भोगपरक चार्वाकी दृष्टि से यह वर्ग भी पथभ्रष्ट था। इसके सम्मुख कोई उच्चादर्श न था। युवावस्था को विलास-क्रीड़ा का काल माना जाता था। लोग यौवन-मय, धन-मय, और 'मादक-मद' के शिकार हो रहे थे। सूरदास ने ऐसे ही समाज को देखा था जो झूठी शान, थोथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन आचार-विचार में मग्न था। एक-दूसरे की निन्दा करना ही उनकी दिनचर्या का अङ्ग बन गया था। वाह्याडम्बरों का बोलबाला था। आन्तरिक अशुचिता की ओर किसी का ध्यान न था।[1]

निम्नवर्गीय समाज—इस वर्ग में हीन वर्ग, ग्रामीण-कृषक, कर्मकर, शिल्पी, श्रमजीवी एवं नौकर-चाकर आते हैं। इनका जीवन अत्यन्त दुखी एवं रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा था। ये अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति बड़ी कठिनाई से कर पाते थे। इनका जीवन विलासी उच्चवर्ग की सेवा में व्यतीत होता था। इनसे अधिकतम काम लिया जाता था और निम्नतम पारिश्रमिक दिया जाता था। छोटे-मोटे राजकर्मचारी इन्हें पकड़ लेते थे। इस वर्ग का समाज में कोई सम्माननीय स्थान न था यद्यपि समाज के स्तम्भ ये ही थे। अमीर खुसरो के कथनानुसार दरिद्र किसानों की आँखों से उमड़ने वाले रक्तिम आँसुओं की बूँदें राजकीय मुकुट की मणियाँ थीं। निर्धनता तथा विपन्नता के कारण निम्नवर्ग के लोगों का जीवन दुर्व्यसनों से मुक्त था, किन्तु आय कम होने से इनकी ईमानदारी बहुत सस्ती थी। छोटे-मोटे कर्मचारी अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए उत्कोच का सहारा लेते थे। भाग्यवादी तथा धर्म के प्रति अन्धश्रद्धालु होने के कारण इस वर्ग के लोगों का जीवन दुर्व्यसनों से मुक्त था, किन्तु आय कम होने के कारण इनकी ईमानदारी बहुत सस्ती थी। इस वर्ग के लोगों का धन इनकी औकात से अधिक जन्म-मरण, श्राद्ध और विवाहोत्सव में व्यय होकर धर्ममूढ़ पुरोहितों की थैलियों में जाता था। कुल मिलाकर इस वर्ग की स्थिति

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : सूरसागर सार. पद ३२।

बहुत ही शोचनीय थी। कभी-कभी तो इसे फाकेकशी में दिन बिताने पड़ते थे।[1]

अकबर महान् के सुव्यवस्थित काल में भी सामान्य आर्थिक स्थिति का स्तर बहुत नीचे गिर चुका था। भारतीय जीवन में जो यत्किञ्चित, त्याग की भावना थी, वह इस अर्थसङ्कट के युग में मुरझा गयी थी। ऐसा कुसमय आ पड़ा था कि किसान की खेती नहीं होती थी, भिखारी को भीख नहीं मिलती थी, बनिये के पास वाणिज्य का साधन नहीं था और नौकरों के लिए कहीं नौकरी नहीं थी, इस प्रकार जीविकाविहीन होने से सब लोग दुःखित थे और शोक के वश होकर एक-दूसरे से कह रहे थे कि कहाँ जा मरें? क्या करें?[2] पेट की ज्वाला बड़ी भयङ्कर होती है। इसी ज्वाला को बुझाने के लिए मजूर, किसानों का समूह, बनिये, भिखारी, भाट, नौकर, चञ्चलनट, चोर, हलकारे बाजीगर पढ़ते हैं, अपने मन से अनेक गुणों को गढ़ते हैं, पहाड़ों पर चढ़ते हैं, शिकारी लोग घने वनों में दिन-रात भटकते फिरते हैं। भले-बुरे सब प्रकार के कर्म और धर्म-अधर्म कर के पेट के लिए मरे मिटते हैं। यहाँ तक कि पेट के लिए लोग अपने बेटा-बेटियों तक को बेंच देते हैं। यह दुर्भारी पेट की आग बड़वाग्नि से भी बड़ा है।[3] पेट की इस अग्नि को शान्त करने के लिए मानव वैध-अवैध सभी काम करता है। भूखे होने पर तो भजन भी नहीं होता। इसी लिए कबीरदास दो सेर आटा, आधा सेर दाल, पाव भर घी और थोड़ा नमक माँगते हैं। उन्हें चाहिए चार पैरों वाली चारपाई, सिरहाने रखने के लिए तकिया, ओढ़ने के लिए कम्बल और एक मोटी खिथा।[4] स्मरण रहे, यह कबीरदास जी (सर्वहारा वर्ग के प्रतीक) की काल्पनिक चाहना है, उन्हें मिल क्या पाता था, यह चिन्त्य है। हाँ, यदि कहीं दाल के साथ घी मिल जाय तो फिर क्या पूछना? त्योहार हो मन जाय उस दिन।[5]

पारिवारिक एवं नैतिक स्थिति—भारतीय समाज में परिवार का स्थान विशेष महत्व का है। इसे आदर्श नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला

[1] कुँवर मुहम्मद अशरफ : लाइफ एण्ड कण्डीशन आव द पीपुल आव द हिन्दुस्तान, पृ० २०४।

[2-3] तुलसीदास : कवितावली, उत्तर काण्ड का ९७, ९६ वाँ कवित्त।

[4] डॉ० रामकुमार वर्मा : सन्त कबीर, पृ० १४०।

[5] आदि ग्रन्थ धन्ना, पृ० ६४ 'दालि सीधा मागउ घीउ, हमरा खुसी करै नित जीउ।'

के रूप में भी स्वीकार किया गया है। नीति की प्रारम्भिक व्यवहारोपयोगी शिक्षा हमें परिवार से ही प्राप्त होती है। त्याग एवं सहिष्णुता के बल पर अनेकत्व में एकत्व का समावेश यहीं देखने को मिलता है। आलोच्यकाल में उच्च एवं निम्न, दोनों वर्गों की पारिवारिक एवं नैतिक स्थिति में अस्त-व्यस्तता आ गई थी। उच्चवर्गीय समाज में बहुपत्नीत्व प्रथा के कारण उत्पन्न सपत्नी-डाह से परिवार गृह-कलह के निवास-स्थल बन गये थे—"नैहर जनमु मरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई॥" (रामचरित मानस : अयोध्याकाण्ड दोहा २०। १) सुख-शान्ति दूभर हो गयी थी। अमीर घरानों में नैतिकपतन के चिह्न सुस्पष्ट परिलक्षित होने लगे थे। निम्नकुलोद्भवा स्वैरिणी अपने यौवन-मद से रानियों की प्रतिद्वन्द्वी बन कर रखैलों के रूप में महलों में रहती थीं। अनियन्त्रित व्यभिचार, मदिरा पान एवं द्यूत के दुर्गुणों से परिवार नरक बन गए थे। निम्नवर्गीय परिवार धन के अभाव में इन दुर्व्यसनों से मुक्त थे किन्तु दरिद्रता की आँच में तपने के कारण असन्तोष की आर्द्रता इन्हें और भी यन्त्रणा दे रही थी। इस वर्ग से उच्चवर्गीय समाज की कोई तुलना नहीं हो सकती—"एकनि दीना पाट पटम्बर एकनि सेज निबारा। एकनि दीना गर गूदरी, एकनि सेज पगारा॥" (नानक)। रहने के लिए उनके पास जो जर्जर घर थे। उनकी बड़ेरी भी वृद्ध होने के कारण झुक गयी थी और औलती ऐसी चरमरा रही थी कि पता नहीं, कब गिर पड़े।[1] घर में नून-तेल लकड़ी का अभाव रहने पर माँ-बेटे, पति-पत्नी में सदा नोंक-झोंक चलती रहती।[2] इसलिए बैरी पेट को लोग कोसते। इसी विश्वासघाती पेट ने तपस्वियों और सन्यासियों तक को झुका दिया है। जिसे बिस्तर नहीं मिलता, वह गले के नीचे अपनी बाँह का उपधान कर पृथ्वी पर सो जाता है। जिसके आँख नहीं होती, वह अन्धा ही जीवन बिता लेता है। जो गूँगा होता है बिना वाणी के काम चला लेता है। बहरा सुनता ही नहीं। ये सब चल जाते हैं पर पेट अपने स्वाभाविक गुण को कभी नहीं छोड़ता। पेट की क्रिया सबको चलानी पड़ती है।[3] दरिद्रता के कारण घरेलू जीवन में कलह और वैमनस्य का वातावरण छाया रहता है। पति-पत्नी, सास-बहू, ननद-भौजाई, और पिता-पुत्र में नित्य तू-तू, मैं-मैं चलती रहती है। यदि दुर्भाग्य से पुत्र अकर्मण्य

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली, पद २२ : 'घट जाजरौ बलीडौ टेढ़ो, औलावी अरराइ।'**

[2] **सन्त कबीर : रागु बिलावलु ४, ताना बाना कछु न सूझै। जब की मालालई निपूत, तबते सुखु न भइओ॥**

[3] **जायसी ग्रन्थावली : पद्मावत, बनिजारा खण्ड ८०।**

निकल जाता तो माँ के सिर चिन्ताओं का पहाड़ टूट पड़ता ।[1] पति-गृह की दरिद्रता झेलते-झेलते स्त्रियाँ कर्कशा हो जातीं । स्नायु-संस्थान के विकृत हो जाने पर उनका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता, सहनशीलता एवं विनम्रता के स्थान पर अहम्मन्यता एवं उजड्डता आ जाती । फलतः पति और बच्चों का जीवन रौरव नरक की-सी यातना का अनुभव करता । प्रेम का स्वाभाविक स्रोत सूख जाने पर कपटी साधु और वञ्चक योगियों की बन आती । टोने-टोटकों, गण्डा-तावीजों पर अमित विश्वास होने के कारण ऐसे वञ्चकों का परिवार में अत्यधिक सम्मान किया जाता, वे अवसर पाकर स्त्रियों को भगा ले जाते । सन्तों का प्रायः ऐसे ही स्त्री-समाज से पाला पड़ा था जिसकी उन्होंने घोर भर्त्सना की थी ।

समाज में धन का विशेष महत्व था जिसके पास जितना ही अधिक धन होता, उतना ही उसका आदर होता । वही व्यक्ति कुलीन, पण्डित, गुणज्ञ, दर्शनीय एवं श्रुतमान् माना जाता । धन, राज सम्मान और नीति-धर्म-कर्म का एक मात्र आधार समझा जाता । "दरब तें निरगुन आई गुनवन्ता"—जाय० ग्र० । माता-पिता अपने बालकों को बुलाकर उचित-अनुचित रूप से उदर भरने का पाठ पढ़ाते ।[2] उच्च और निम्नवर्ग में धन का असन्तुलित विभाजन नैतिकता को भ्रष्ट करने में विशेष उत्तरदायी है । कनक और कामिनी के विरोध में सन्त कवियों ने जो प्रखर चेतावनी दी है, वह प्रकारान्तर से तत्कालीन समाज की ओर ही अङ्गुलि-निर्देश करता है ।

इस भाँति आलोच्यकाल की सामाजिक स्थिति नितान्त अव्यवस्थित थी । राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों की विषमता और अव्यवस्था ने समाज को जर्जर कर दिया था । सन्त कबीर इसलिए तत्कालीन समाज की अनिश्चित परिस्थितियों के प्रति उदासीन नहीं रह सके और वे सांसारिकता से विरक्त होते हुए भी समाज-सुधार के अग्रणी बने ।

३. **धार्मिक पृष्ठभूमि :** बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का स्तूप निर्मित हुआ । सातवीं और आठवीं शताब्दियों में पौराणिक धर्म का पुनर्गठन हो रहा था और उस समय बौद्ध विचारधारा के साथ शैव, सात्वत, पाञ्चरात्र तथा भागवत-मत चल रहे थे । बौद्धधर्म से महायान का विकास हुआ । महायान के विरति और विवेक सम्बन्धी तत्वों को शैवों ने और भक्ति सम्बन्धी तत्व

---

[1] **सन्त कबीर : राग गूजरी, मुसि मुसि रोवै कबीर की माई ।**
ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई ।। (पृ० १२९)

[2] **रामायण उत्तरकाण्ड : मातु पिता बालकन बोलावहि, उदर भरे सोइ पाठ पढ़ावै, दोहा ९८।८ ।**

को वैष्णवों ने ग्रहण कर लिया। बौद्ध धर्म गिरते-गिरते भारत में अपनी विरासत को सन्त साधना के रूप में छोड़ गया। पता भी नहीं चला कि इतना विराट् बौद्ध सङ्घ कहाँ अदृश्य हो गया। वस्तुतः वह मध्ययुगीन भक्ति साधना में अन्तर्निहित हो गया। बुद्ध, विष्णु के रूप में समाविष्ट हो गये। बौद्धों का सहजयान वैष्णवों के सहजिया सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया। मध्यकालीन सन्त साधना, बौद्ध साधना की ठीक उत्तराधिकारिणी ठहरती है। बुद्ध के पश्चात् मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तक कबीर हुए। भगवान् बुद्ध बार-बार कहते थे कि वे उसी को कहते हैं जिसका उन्होंने स्वयं साक्षात्कार कर लिया है। जो-जो मैंने स्वयं देखा है उसे कहता हूँ। 'यं मया सामे दिट्ठं वदामि' बुद्ध के ही स्वरों में स्वर मिलाते हुए कबीर ने कहा है कि "मैं कहता हूँ आँखिन देखी" या "आपुहिं आपु बिचारिए तब केता होय अनन्द रे।" महात्मा बुद्ध भारत में बुद्धिवाद के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। जब वे कभी देखते थे कि भिक्षु किसी बात को बिना समझे उनके गौरव से उनकी हाँ में हाँ मिला रहे हैं तो वे उन्हें टोकते थे। "भिक्षुओं! जो तुम्हारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया हुआ है उसी को ही तुम कह रहे हो न ?"[१]

जिस प्रकार कबीर ने कहा था कि "जिसने दशरथ के घर जन्म लिया था। जिसने धनुष तोड़ कर सीता से व्याह किया था और जिसने रावण का संहार किया था, वे पुराण-प्रतिपादित अवतारी राम हमारे आराध्य नहीं।[२] बिलकुल यही बात महायानी आचार्यों ने कही थी कि "हम उस बुद्ध को नहीं मानते, जिसने शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, जिसने तपस्या की थी, जिसने ज्ञान प्राप्त किया था, जिसने उपदेश दिया था। हमारे बुद्ध तो वे हैं जिनका कभी इस लोक में आना ही नहीं हुआ है जिन्होंने कभी कोई उपदेश ही नहीं दिया है। जो आए और जिन्होंने उपदेश दिया, वे तो हमारे बुद्ध के मायानिर्मित रूप हैं। वस्तुतः बुद्ध तो धर्मशून्य हैं, तथतास्वरूप हैं, निःस्वभाव हैं और इस लोक में जो दिखाई पड़ता है वह उनकी छाया मात्र है। जगत् तथागत का प्रतिबिम्ब-मात्र है।[३]

---

[१] भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम संस्करण, सं० २०११, पृ० ३५५।

[२] कबीर ग्रन्थावली : बारहपदी रमैणी, पंचम संस्करण, संवत् २०११, पृ० २४३।

[३] भरतसिंह उपाध्याय : बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० १०५२।

यदि हम मध्यकालीन सन्तों की जीवन-प्रणाली की ओर दृष्टिपात करें तो हमें वहाँ गौतमबुद्ध के चार आर्य सत्य—दुःख, दुःख समुदाय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोध मार्ग और अष्टांगिक मार्ग—सम्यक्-दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति, समाधि—का क्रियात्मक रूप देखने को मिलता है। आचरणपरक आध्यात्मिक जीवन में जिस प्रकार मध्यकालीन सन्तों की दृढ़ आस्था रही है, उसका प्रमुख प्रेरणा-स्रोत गौतमबुद्ध का जीवन और उनकी शिक्षाएँ ही रहीं जो विरासत के रूप में नाथपन्थी साधुओं से सन्तों को मिलीं। "उन्होंने सबके सामने एक नैतिक जीवन का ही आदर्श रखा। वे मोक्ष या निर्वाण को ईश्वरीय ज्ञान या भगवत्कृपा पर निर्भर नहीं मानते थे, प्रत्युत् उनके लिए नियमों की नित्यता ही सब कुछ थी और सदाचार का अनुशीलन ही उनके विचार से सबसे बढ़कर श्रेयस्कर मार्ग था तथा उसी के द्वारा वे अमरत्व का होना भी निश्चित मानते थे।[1]"

गौतमबुद्ध के निर्वाण के अनन्तर बौद्ध-धर्म दो दलों में विभक्त हो गया—हीनयान और महायान। हीनयान को हम व्यष्टिपरक साधना का मार्ग कह सकते हैं जब कि महायान समष्टिपरक है। यह केवल अपनी ही मुक्ति नहीं चाहता बल्कि सारी मानवता की मुक्ति का आकांक्षी है। महायान सम्प्रदाय वाले इसीलिए हीनयान (संकरे रथवालों) की हँसी उड़ाते हुए कहा करते हैं कि जो केवल अपनी मुक्ति चाहता है वह स्वार्थी और संकीर्ण विचार का है। ये अपनी संकरी गाड़ी में केवल सन्यासियों और विरक्तों को आश्रय दे सकते हैं। "महायान अर्थात् बड़ी गाड़ी के आरोहियों का दावा है कि वे नीचे-ऊँचे, छोटे-बड़े, सबको अपनी विशाल गाड़ी मे बैठाकर निर्वाण तक पहुँचा सकते हैं।[2] इस प्रकार महायान, सन्यासियों और विरक्तों के सीमित घेरे से निकल कर सर्वसाधारण गृहस्थों का—सारी जनता का धर्म बन गया। 'हीनयान' का साधक जहाँ पर केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होता था वहाँ 'महायान' अपने को सभी प्राणियों के उद्धार के हेतु उद्योगशील होने वाला प्रदर्शित करता था। इसी कारण 'हीनयान' के अनुयायी जहाँ अधिकतर नैतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ही हो पाते थे वहाँ 'महायान' में सभी वर्ग, विचार एवं मत के लोगों का प्रवेश होने लगा।[3] महायान के विकास की मूल प्रेरणा बौद्ध धर्म को लोक-जीवन

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरीभारत की सन्त परम्परा, प्रथम सं० २००८ वि , पृ० ३१।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ७।

[3] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उतरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ३३।

के निकट पहुँचाने और ऐसे पथ का विकास करने की थी जिसमें केवल सम्बुद्ध व्यक्ति ही नहीं वरन् समस्त लोक का कल्याण हो सके।[1]

इस प्रकार "बौद्ध धर्म का चिन्तन-पक्ष हीनयान में रहा और व्यावहारिक-पक्ष महायान में।[2] कालान्तर में जब महायान द्वारा बुद्ध देवत्व प्राप्त कर बोधिसत्व बन गए तब उनके उपदेशों को भी असाधारण महत्व प्राप्त हो गया और उनके प्रति जनता की अमित श्रद्धा बढ़ चली। किन्तु उनका आकार वृहद् होने के कारण दैनिक पाठ के लिए असुविधा होने लगी अत: उनके आधार पर छोटे-छोटे सूत्रों की रचना की जाने लगी और यही सूत्र अन्धश्रद्धालु जनता के लिए मन्त्र बन गए। इन मन्त्रों का अर्थरहित होना ही श्रेयस्कर समझा गया। मन्त्रों को महत्व देने वाला महायान का उप सम्प्रदाय आगे चल कर 'मन्त्रयान' के नाम से विख्यात हुआ। मन्त्रों द्वारा सिद्धि पाने का मार्ग बतलाने वाले साधक सिद्ध कहलाए। महायान की सरल साधना मन्त्रयान में परिवर्तत होकर ४०० से ७०० ई० के आस-पास अपना व्यापक प्रचार करती रही। "धर्म ज्यों-ज्यों योग और मन्त्र में सिमटता गया जनता त्यों-त्यों रूढ़ि और अन्धविश्वासों में और भी ग्रसित होती गयी और जिस धर्म ने हिन्दुओं को पुरोहितवाद के चक्कर से छुड़ाने का बीड़ा उठाया था खुद वही अब जनता को भरमाने के लिए योगाचार और मन्त्रों का सहारा लेने लगा।'[3] मन्त्रयानीसाधकों में नागार्जुन मन्त्रयान के प्रसिद्ध आचार्य हुए। मन्त्रयान का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मञ्जुश्री मूलकल्प है जिसमें अनेक मन्त्रों का विधान है। इन तन्त्र-मन्त्रों का व्यापक प्रचार होने से मन्त्रयानीसाधकों को जनता से पर्याप्त श्रद्धा एवं श्री मिली। धन के आने से विलासिता का आ जाना अस्वाभाविक नहीं। अब मन्त्रयानी साधक मन्त्रों तक ही अपनी साधना को सीमित न रखकर मुद्रा एवं मैथुन की भोगपरक साधना में प्रवृत्त हुए। भैरवीचक्र की स्थापना करके इन साधकों ने सदाचार को तिलाञ्जलि दे दी और इस प्रकार मन्त्रयान वज्रयान में बदल गया।

इस वज्रयान का विकास ई० ८०० से ११७५ तक होता रहा और तत्पश्चात् धीरे-धीरे इसका पतन हुआ। इन वज्रयानी साधकों में ही प्रसिद्ध ८४ सिद्धों की गणना की जाती है। महायान मत का 'शून्य' वज्रयानियों में 'वज्र' के रूप में विकसित हुआ। 'अद्वय वज्रसंग्रह' में वज्र को शून्य, दृढ़, अविभाज्य, अच्छेद्य, अदाह्य एवं अविनाशी बताया गया है। अत: वज्रयान का आराध्य देवता

---

[1] **डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १०१।**

[2] **डॉ० रामकुमार वर्मा : हि० सा० का आलो० इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५४, पृ० ५१।**

[3] **श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १९०।**

वज्रसत्व है । तन्त्रों में इसकी महिमा का गान किया गया है । यह वज्रसत्व एक प्रकार से उपनिषदों के ब्रह्म के समान शक्तिशाली है । यही सम्पूर्ण प्राणियों में 'आत्मा' के रूप में निवास करता है । यही जागतिक प्रपञ्च के पीछे छिपी शक्ति है जिसे 'बोधिचित्' के रूप में भी पुकारा गया है । महायान में 'शून्यता' और करुणा के सम्मिलित रूप को "बोधिचित्" की संज्ञा दी गयी है । वज्रयानियों ने महायान की शून्यता और करुणा को क्रमशः 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का नाम दे दिया और इन दोनों के मिलन का 'युगनद्ध' की दशा बतलाकर उसे ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य ठहराया । "निष्क्रिय ज्ञान मात्र प्रज्ञा के स्वरूप को स्त्री मान कर सक्रिय तत्व उपाय को पुरुष माना गया और इन दोनों का अन्तिम मिलन, शक्ति एवं शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा गया ।[1]"

विटर निटज ने कहा है कि "जिस प्रकार रतिक्रीड़ा में अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है उसी प्रकार परम तत्व के साक्षात्कार से अनुपम आनन्द मिलता है ।[2]" डॉ० हर्बर्ट ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए कहा कि "लौकिक रति को केवल प्रतीक रूप में वर्णित नहीं किया गया अपितु साधना में भी उसे व्यवहारिक रूप से सम्मिलित कर उसकी दार्शनिक महत्ता को भी स्वीकार किया गया है ।[3]" इस प्रकार भुक्ति-मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यक अङ्ग मानी जाने लगी । भुक्ति के साथ पुरुष और स्त्री के लौकिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए सिद्धों ने कहा, पुरुष और स्त्री पृथक्-पृथक् रहने पर अपूर्ण हैं । पुरुष स्त्रीत्व से मिल कर पूर्णता को प्राप्त कर सकता है और स्त्री पुरुष तत्व को पाकर । इसी आन्तरिक पूर्णता को पाने के लिए दोनों तत्व व्यग्र रहते हैं । बाह्य लौकिक रति दो विरोधी तत्वों को एकता की ओर ले जाती है । 'आन्तरिक एकता' प्राप्त करने के लिए बाह्य एकता की उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? आन्तरिक एकता से तात्पर्य यह है कि मनुष्य के निर्माण में जिन तत्वों का प्रयोग हुआ है, उनमें स्त्रीत्व की कमी है । इसी प्रकार स्त्री के निर्माण में स्त्रीत्व तो रहता है पर उसे पुरुष तत्व की आवश्यकता होती है, अतः दोनों के पारस्परिक सन्तुलन से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है । स्मरण रहे यह लौकिक रति अन्तिम लक्ष्य नहीं है, अन्तिम लक्ष्य तो है आन्तरिक एकता प्राप्त करना । यह बाह्य रति उस

[1] डॉ० एस० दास गुप्त : आबसक्योर रेलिजस कल्टस, कल० युनि० १९४६, पृ० ३०-३१ ।

[2] वही पृ० १८ ।

[3] डॉ० हर्बर्ट : युगनद्ध, पृ० २८ ।

आध्यात्मिक रति की सहायिका है। स्त्री और पुरुष तत्व दोनों के पारस्परिक मिलन की अन्तिम धारा को 'समरस' या 'महासुख' के नाम से पुकारा जाता है। 'समरस' प्राप्त करना वज्रयानियों का अन्तिम लक्ष्य है। वज्रयानी साधकों ने प्रज्ञा तथा उपाय को केवल स्त्री-पुरुष के रूप में ही नहीं माना अपितु उसे शक्ति और शिव के प्रतीक रूप में भी स्वीकार किया। जो-जो ब्रह्माण्ड में हैं वही सब कुछ हमारे पिण्ड में है, ऐसी कल्पना करके सत्य को संसार में न खोजकर अपने भीतर खोजने की चेष्टा की गयी। सुषुम्ना के बाँयी ओर की नाड़ी इड़ा को प्रज्ञा और दाहिनी ओर की नाड़ी पिङ्गला को उपाय से सम्बन्धित कर दिया गया। आध्यात्मिक साधना में सहायक नाड़ी सुषुम्ना को वज्रयानियों ने 'अवधूतिका' नाम दिया है जिसमें बोधिचित् नीचे से ऊपर को उठकर, क्रमशः निर्माणचक्र, धर्मचक्र एवं सम्भोगचक्र को पार करते हुए शीर्ष में स्थित कमल पर पहुँचता है और उसे वहाँ अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है।

"वज्रयानियों की व्याख्या के अनुसार बोधिचित् व्यक्ति पुरुष और छब्बीसवें लोक का शून्य स्त्री का प्रतीक है। अतएव बोधिचित् को शून्य से मिलने में वही आनन्द होता हैं जो आनन्द नर-नारी के समागम में है। यह उदाहरण शायद इसलिए दिया गया था कि लोग निर्वाण के आनन्द की कल्पना आसानी से कर सकें। किन्तु नर-नारी समागम की इस उपमा ने धर्म के बिगड़ने का मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया और शून्यवाद को सुखवाद से एकाकार करने की चेष्टा से वे बातें अनायास ही फूट निकलीं जिनके कारण वज्रयान, सहजयान और वामाचार इतने बदनाम हो गए।[१]" हीनयान से महायान, महायान से मन्त्रयान, मन्त्रयान से वज्रयान और वज्रयान से सहजयान का क्रमिक विकास ही यह सूचित करता है कि तपस्या और संयम के अस्वाभाविक जीवन से ऊबकर लोग धीरे-धीरे भोग में ही चरमसत्य के दर्शन करने लगे थे। वज्रयान का अनुयायी साधक, सर्वप्रथम किसी नीच जाति की सुन्दरी स्त्री को चुन लिया करता था और अपने गुरु के निकट जाकर उसके आदेशानुसार उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। तब से उसकी प्रत्येक साधना उस महामुद्रा के सहवास में रह कर चलती थी और दोनों की मनोवृत्तियों में पूरी साम्यावस्था लाने के प्रयत्न भी होते थे। तदनुसार, "अनेक तीव्र एवं कठिन नियमों के पालन से जितनी शीघ्रता से सिद्धि नहीं होती उससे कहीं शीघ्र सभी प्रकार के कामोपभोगों से हो जाया करती है जैसे, सिद्धान्तों के आधार पर वे बहुधा भिन्न-भिन्न प्रकार के दुष्कर्मों में भी प्रवृत्त हो जाते थे और

---

[१] श्री दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, १९५६, पृ० १६२।

उसका परिणाम समाज के लिए बुरा हो जाता था।[1]" वज्रयानियों की 'कमल-कुलिश की साधना' में स्त्रीन्द्रिय पद्म तथा पुंसेन्द्रिय वज्र का प्रतीक मानी जाती थी और इस प्रकार वे भैरवी चक्र में प्रवृत्त हो जाया करते थे।

इन वज्रयानियों में भी कुछ ऐसे साधक थे जो उपर्युक्त प्रतीकों का अर्थ भोगपरक न लेकर आध्यात्मिकता से जोड़ते थे और निर्लिप्त भाव से अपनी साधना में लगे रहते थे। अपनी इस साधना को वे 'सहज' की संज्ञा देते थे उनका कहना था कि हमारी साधना इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो सके, क्योंकि चित्त-रत्न के क्षुब्ध हो जाने पर किसी भी प्रकार की सिद्धि सर्वथा दुर्लभ है। 'सहज' शब्द के दो अर्थ हैं—'सहज' अन्तिम सत्य को कहते हैं अतः सहजयान में परमसत्य का उपदेश किया गया। सहज का द्वितीय अर्थ स्वाभाविक भी होता है। सह-गमन या कामभावना जीवन की स्वाभाविक गति है, अतः सहज-मार्ग वह मार्ग है जो कामवासनाओं को यौगिक क्रिया में बदल कर सत्य प्राप्ति का सरल स्वाभाविक पथ बदलता है। उन्हें दमित करने की शिक्षा नहीं देता। सहजयानियों ने अपने पथ को रागमार्ग कहा है। प्रसिद्ध सहजयानी सरहपाद का कहना है कि "हे योगी! इस सरल मार्ग को छोड़ कर वक्र और अस्वाभाविक मार्ग की ओर मत जाओ। 'बोधि' तुम्हारे भीतर स्थित है, लङ्का जाने की आवश्यकता नहीं। हाथ कङ्कन को आरसी क्या! स्वयं अपनी अनुभूति में डूब जाओ? यदि एक बार 'बोधि' प्राप्त हो जाय तो मन्त्र, तपस्या, यज्ञ, आदि सारी क्रियायें व्यर्थ हैं। इस प्रकार सहजयानी मार्ग वह मार्ग है जिसमें कृच्छ्रता न हो, जिसमें संसार को छोड़ कर वन में जाकर हठयोग की क्रियाओं द्वारा शरीर को सुखाना न पड़े, जो मार्ग गृहस्थ का मार्ग हो, जिस मार्ग पर चल कर मनुष्य अपना दैनिक कार्य करता हुआ भी आध्यात्मिक प्रगति कर सके।[2]"

सहजयान के साधक वज्रयान की भोगपरक बाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करने की चेष्टा करते हैं और अपने पूर्ववर्ती यानों के मूल पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करते हुए भी उसकी अध्यात्मपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जैसे, सहजयान में पुंसेन्द्रिय का प्रतीक वज्र अब बोधिचित् का सारस्वरूप 'प्रज्ञा' के रूप में ग्रहण किया गया। सरहपाद ने वज्रयानियों की कमल-कुलिश साधना को नितान्त सांसारिक एवं गर्हित माना और उसे केवल 'सुरत विलास' कहा जिससे सांसारिक प्राणी अपनी तुच्छ वासना

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उतरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ३५।
[2] सरहपाद : दोहा कोष, पृ० १८।

की तृप्ति करता है। उनका कहना था—हमें उसके द्वारा वास्तव में निर्मल परम महासुख के आनन्द का अंश-मात्र क्षणानन्द के रूप में प्राप्त होता है। वास्तविक रहस्य तो सभी लक्ष्य व लक्षणों से रहित है। सहजयान बतलाता है कि सभी साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य शुद्धि है जिसके द्वारा हमें सहजावस्था की प्राप्ति होती है। 'सहज' ही हमारे परमार्थ का आदर्श रूप है। सहज का परित्याग करके जो निर्वाण प्राप्त करने का स्वप्न देखता है, उसकी कोई भी परमार्थ की साधना सफल नहीं हो सकती। सहज-जीवन बिताने की ओर विशेष सङ्केत करते हुए सरहपाद ने कहा कि यदि साधक ध्यानहीन और प्रव्रज्या से रहित भी होकर अपने घर पर भार्या के साथ निवास करता हुआ तथा भलीभाँति विषय भोगों में लीन रहते समय अपने बन्धन का परित्याग नहीं कर सका तो उसका मोक्ष होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता।

सहजयानी साधना—सहजयान में काया-साधना को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया। शरीर को सत्य-प्राप्ति का साधन माना गया। सरहपाद ने कई स्थानों में कहा है कि इसी देह में बुद्ध का वास है। यही देह सुरसरि, यमुना, गङ्गासागर, प्रयाग और वाराणसी है। इसी में सूर्य, चन्द्र एवं समस्त धर्मक्षेत्रों का वास है। मूर्ख! तू कहाँ-कहाँ व्यर्थ भटकता है। शरीर के समान सुखप्रदान करने वाला तीर्थ अन्यत्र कहीं नहीं है। इड़ा और पिङ्गला को प्रज्ञा तथा उपाय कहा गया है और सुषुम्ना या अवधूतिका सहज का मार्ग है। प्रज्ञा और उपाय अर्थात् इड़ा और पिङ्गला के मेल से बोधिचित् की उत्पत्ति होती है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं—१—संवृत २—विवृत। सम्वृत अवस्था सांसारिक स्थूल काम-भोग की परिचायक है और विवृत पारमार्थिक सत्य की प्रतीक। अतः यह आवश्यक है कि बोधिचित् को जगाकर सम्वृत सत्य की उपलब्धि की जाय और तत्पश्चात् उसे पारमार्थिक सत्य में परिवर्तित कर दिया जाय। अतः सहजयान में काम-भोग की साधना उस परम सत्य को पाने की साधना-मात्र थी।

सहजयान को मध्यम मार्ग भी कहा गया है, क्योंकि यह भाव और अभाव दोनों स्थितियों के मध्य की वस्तु है। सिद्धशान्तिपा का कथन है कि इस मार्ग में वाम व दक्षिण नामक दोनों पार्श्वों का परित्याग कर आँखों देखी हुई राह से सीधे चलना है क्योंकि इस प्रकार अग्रसर होने से तृण कण्टकादि या ऊबड़-खाबड़ स्थलों की अड़चनें किसी प्रकार बाधा नहीं डाल सकतीं। सिद्ध डोंबीपा ने कहा है कि वह मातङ्गी (डोमिन वा नैरात्मा) गङ्गा-यमुना अर्थात् इड़ा एवं पिङ्गला के मध्य नाव खे कर बिना कोई कौड़ी वसूल किये बड़े सुभीते के साथ हमें पार कराकर जिनपुर पहुँचा देती है। सरहपाद ने अपने सहजयान की विशेषता बतलाते हुए कहा है कि जब नाद, बिन्दु अथवा चन्द्र और सूर्य मण्डलों का अस्तित्व

नहीं है और चितराज भी स्वभावतः मुक्त है तब फिर सरलमार्ग का परित्याग कर बङ्क मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। "सहज मार्ग ग्रहण करने वाले के लिए, ऊँचा-नीचा, बाँया-दाहिना सभी एक भाव हो जाते हैं। इस मार्ग की प्रक्रिया चाहे सीधे चित्त-शुद्धि के ढङ्ग से की जाय अथवा बोधिचित् एवं नैरात्मा के पारस्परिक मिलन वा समरस के रूप में, दोनों ही दशाओं में वह स्वयं वेदन अथवा एक प्रकार की स्वानुभूति ही कही जा सकती है।[1]"

जैन धर्म की साधना पद्धति बौद्ध धर्म के अतिरिक्त जैन मुनियों के सुधारक सम्प्रदाय की भी एक परम्परा है। जैनधर्म के मानने वाले, ऋषभदेव नामक एक पौराणिक महात्मा को इस परम्परा का आदि-प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। ऋषभदेव जी के पश्चात् जैनधर्म के २३ अन्य तीर्थंकर (धर्म-प्रचारक) हुए जिन्होंने ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म को आगे बढ़ाया। नेमिनाथ बाइसवें, पार्श्वनाथ तेइसवें, महाबीर स्वामी (संवत् ५२१-४६६ वि० पूर्व) अन्तिम तीर्थंकर हुए जिन्होंने जैन धर्म को सुव्यवस्थित रूप देकर उसका सङ्गठन किया। उन्होंने मुख्यतया इन्द्रिय-निग्रह, संयमशील कठोर जीवन तथा मानवीय शक्तियों के विकास पर विशेष बल दिया और शुष्क आत्मदर्शन की अपेक्षा 'निर्वाण' अथवा 'अर्हत्' पद को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्नशील रहे। "इस धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार जीव का मूल स्वभाव शुद्ध-बुद्ध एवं सच्चिदानन्दमय है किन्तु केवल पुद्गल वा कर्म के आवरण से वह आच्छादित हो जाता है। अतएव जीव का प्रधान लक्ष्य अपने उक्त पौद्गलिक भार को पूर्णतः हटाकर अपने को उच्चातिउच्च स्थिति तक पहुँचा देना है।[2]" 'प्रत्येक जीव अपनी साधना से, अपने पौरुष से, परमात्मा हो सकता है। उसे उस परमात्मा से मिलने की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा की भावना में तो केवल एक ऐसे आदर्श की कल्पना है जिसे प्रत्येक जीव अपने कार्यों से प्राप्त कर सकता है।[3]" जैन धर्म आचरण प्रधान है और उसमें आध्यात्मिक जीवन की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है। जैनाचार की समस्त क्रियाओं का मूलाधार अहिंसा है। जैन धर्म जड़ पदार्थों में आत्मा की स्थिति मानता है।

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, प्र० सं०, २००८ वि०, पृ० ४७।

[2] वही, पृ० ४६।

[3] डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय संस्करण, १९५४, पृ० ७०-७१।

इस प्रकार मानवीय शक्तियों के अपरमित विकास एवं जीव की उन्नति विषयक अनेक सम्भावनाएँ इस धर्म में निहित हैं। जीव शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वह अपने पुरुषार्थ बल एवं सदाचरण से परमात्मपद को भी प्राप्त कर सकता है। जैन साधकों ने अनुमान की अपेक्षा जीवनगत यथार्थता को स्वीकार किया। आचार को अनुशासित रख कर नगण्य जीवों के प्रति दया का व्यवहार करना एवं अहिंसा को परम धर्म मानना जैनियों की साधना का अनिवार्य अङ्ग है। आगे चल कर जैनधर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा दिगम्बर साधु नग्न रहते हैं। कालान्तर में जब जैन धर्मानुयायी पौराणिक प्रभाव में पड़कर आत्मसाधना और आचरणशीलता को भुलाकर यज्ञादि अनुष्ठान, तीर्थ यात्रा, भेष धारण, तीर्थङ्करों की भक्ति, प्रतिमा पूजा आदि वाह्याचारों में उलझ गए, तब सच्चे साधक अपने सदोपदेशों से सुधारवाद की प्रवृति लेकर अवतरित हुए और पुनः आदर्श आध्यात्मिक जीवन की ओर जन-साधारण का ध्यान आकृष्ट किया।

आठवीं-नवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध जैन मरमी सन्त हुए। उन्होंने वाह्याडम्बर का विरोध करते हुए चित्त शुद्धि पर जोर दिया। शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार माना और सामरस्य भाव—जिससे जीव पौद्गालिक भार को हटाकर शुद्ध-बुद्ध शिव हो जाता है– से तादात्म्य भाव स्थापित करने के लिए कहा। जैन साधक इन्दु ने कहा कि देवता न तो देवालय में हैं न पाषाण में, न चन्दनादिक सुगन्धित पदार्थों में, न चित्र में, वह अक्षय निरञ्जन ज्ञानमय शिव तो सम-चित्त में निवास करता है।[1]—"अतः हे योगी, अपना मन निर्मल कर लेने पर ही शान्त शिव के दर्शन प्राप्त होते हैं और वह अन्धरहित आकार में सूर्य को भाँति प्रकाशित होता है।[2]" जब मन परमेश्वर से और परमेश्वर मन से मिल जाता है और दोनों में पूर्ण सामञ्जस्य भाव स्थापित हो जाता है, उस स्थिति में साधक को पूजा और उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वह स्वयं परमेश्वर बन जाता है, जब जीव और परमेश्वर का पूज्य-पूजक भाव समाप्त हो जाता है तो फिर कौन किसकी पूजा करे।[3]—"बिना चित्त-शुद्धि के सामरस्य भाव की उपलब्धि नहीं की जा सकती। इसलिए जैन साधु मुनिराम सिंह कहते हैं कि "हे मूँड़ मुड़ाने वालों

---

[1] परमात्म प्रकाशः पद्य १२३, रामचन्द्र जैन, शास्त्रमाला, बम्बई :

[2] वही, पद्य ११६।

[3] वही, पद्य १, १२३, २।

में श्रेष्ठ मुण्डी, तूने सिर तो मुड़ाया पर चित्त को न मूँड़ सके। जिसने अपने चित्त का मुण्डन कर डाला उसने संसार का ही खण्डन कर डाला।[१] हे मूढ़! यह समस्त कर्मजाल है तू प्रकट भूसे को मत कूट। घर परिजन को शीघ्र छोड़ कर निर्मल शिव पद में प्रीति कर। देहरूपी देवालय में जो शक्तियों सहित देवता निवास करता है, हे जोगी! वह शक्तिमान् शिव कौन है? इस भेद को शीघ्र ढूँढ़। जब भीतर चित्त मलिन है तब बाहर तप करने से क्या लाभ? चित्त में उस विचित्र निरञ्जन को धारण कर, जिससे मैल से छुटकारा हो। विषय-कषायों में जाते हुए मन को जिसने निरञ्जन (आत्मा) में रोक लिया, बस मोक्ष का कारण यही है और कोई तन्त्र है न मन्त्र। जिसके मन में सब विकल्पों को हनन करने वाला ज्ञान विस्फुरित नहीं हुआ, वह सभी कुछ को धर्म कहता हुआ नित्य सुख कैसे पा सकता है।" इस प्रकार मुनिराम सिंह भी तीर्थ-सेवन, शास्त्रीय ज्ञान एवं बाह्य वेषादि की उपेक्षा करते हुए सदाचरण युक्त मनोमारण के द्वारा विशुद्ध शिवपद प्राप्त करने की शिक्षा देते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जब बौद्धधर्म महायान, मन्त्रयान, वज्रयान तथा सहजयान में क्रमशः विकसित होकर निम्नकोटि की भोगपरक साधना में लीन हो गया और अपने मूलस्वरूप से दूर हट गया तब उसकी प्रतिक्रियास्वरूप योगमार्गी नाथ-सम्प्रदाय का विकास हुआ और उससे इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, मन-साधना आदि एक त्रिविध साधना के प्रेरणामूलक तत्त्वों को अपनाकर निर्गुण सम्प्रदाय ने अपने स्वरूप का निर्माण किया। इस भाँति यह लक्ष्य किया जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्धधर्म से लेकर नाथ-सम्प्रदाय तक जो-जो जीवन के तत्व मनोभावों के धरातल पर उभर सके, उन सब का समाहार अन्त में चल कर सन्त-सम्प्रदाय में प्रतिफलित हुआ। "बौद्धधर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ-सम्प्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की सन्धाभाषा की उल्टवासियों से लेकर नाथ-सम्प्रदाय की अवधूत भावना तक सन्त-काव्य की विचार सरणियाँ पोषित हो सकीं।[२]"

बौद्धधर्म की विकसित विचारधारा का अनुयायी होने के कारण सन्त-साहित्य, अपने वेद-विरोधी स्वर को बुलन्द कर सका तथा वैष्णवधर्म के प्रमुख आचार-अवतारवाद, तीर्थ-व्रत सेवन एवं मूर्ति-पूजा आदि के विधानों को न अपना सका। दूसरी ओर बौद्धों के शून्य, सहज समाधि, नाथों के काया-तीर्थ, षट्चक्र भेदन,

---

[१] पाहुड़ दोहा : हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा बरार, १९६० : दोहा नं० १३५, १३, ५३, ६१, ६२, ६५।

[२] डॉ० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृ० ९१।

इंद्रियनिग्रह, कुंडलिनी जागरण एवं त्रिविध-साधना को उसने सहज ढंग से आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार बौद्धधर्म के मौलिक विचारों से अपनी नींव का निर्माण कर नाथ-संप्रदाय की योगजनित आचरणपरक साधना से सन्त साहित्य ने अपने रूप का निर्धारण किया किन्तु तत्कालीन वैष्णव धर्म के प्रभावों से वह अपने को अक्षुण्ण न रख सका। इसी वैष्णवी तत्व के प्रभाव से सन्तसाधना में नाथ-सम्प्रदाय की यौगिक शुष्क साधना के स्थान पर भक्ति-भावना की सरसता का संचार हो सका और वह अधिक लोकग्राह्य हो सकी।

विक्रम की चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में रामानन्द जी के उदार व्यक्तित्व का प्रभाव उत्तर भारत पर विशेष रूप से पड़ा। स्वामी जी ने सामयिक रूढ़ियों के प्रति क्रियात्मक विरोध करके सामान्य जीवनक्रम को अपने ढंग से सुधारने की चेष्टा की। निस्सन्देह रामानन्द जी मध्यकालीन उत्तर भारत की प्रगतिशील चिन्ताधारा के एक मात्र कर्मठ नेता और सबल प्रेरणास्रोत थे। भक्ति की वेगवती धारा जो दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई और जिसने समस्त उत्तर भारत को भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया, उसके मूल में आड्वार गायकों की सहृदयता और मार्मिक तल्लीनता का मधुर पुट था। भारत की भक्ति परंपरा के विकास-प्रवाह में इन आड्वार भक्तों का महत्वपूर्ण स्थान है। तमिल में आड्वार का अर्थ होता है—भगवान् के अनन्त गुणवारिधि में आत्म-विभोर होकर सदैव मग्न रखने वाला वैष्णव सन्त। ये आड्वार पहुँचे हुए भक्त एवं आध्यात्मिक थे। उत्तर भारत में जब सिद्ध-साधक वेद की निन्दा कर रहे थे, जन सामान्य को मूर्ति-पूजा, तीर्थव्रत, यज्ञ-याग और वर्णाश्रम धर्म से विमुख बना रहे थे, उस समय दक्षिण नायनार और आड्वार भक्त शिव तथा विष्णु की भक्ति में विभोर होकर जनता को प्रेम का सन्देश सुना रहे थे। डॉ० भण्डारकर के कथनानुसार इनकी संख्या १२ बतायी जाती है।[1] इन भक्तों ने अपने चरित्रगत मोहक चमत्कारों से दक्षिण में भक्ति की पताका को बहुत ऊँचा उठा दिया और उनकी वाणी जन-जन के हृदय की वाणी बन गयी। इन आड्वार भक्तों की मूर्तियाँ आज भी दक्षिण के देवमन्दिरों में प्रतिष्ठित हैं और जनता द्वारा बड़ी पूज्य दृष्टि से देखी जाती हैं। आड्वार सन्त प्राय: निम्नजातियों के होने के कारण शिक्षा-दीक्षा, वेश-वैभव से हीन होने पर विनम्र हुआ करते थे और वे सब प्रकार से दीन-हीन होकर भगवान् के चरणों में बड़ी ही दैन्य भावना से अपनी भक्ति निवेदित करते थे—"मेरा जन्म द्विजातिकुल के उच्चवंश में नहीं हुआ न मैं चारों

[1] डॉ० आर० सी० भांडारकर : वैष्णवइज्म, शैवइज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स (पूना १९२८), पृष्ठ ६६।

वेदों का ज्ञाता हूँ और न अपनी इंद्रियों को ही जीत सका हूँ, अतः हे प्रभु ! मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के सिवाय अन्यत्र कहाँ ठौर है ? मुझे तो एक मात्र आपका ही भरोसा है।" 'जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे' की सी विनम्र दास्य-भक्ति इस कथन में मुखरित हुई है। आत्मसमर्पण भाव, भगवान् नारायण के प्रति अनन्य भावना, अत्यंत सादा जीवनयापन, सांसारिक विभवों के प्रति विरक्ति, कृष्णावतार की विविध लीलाओं का गायन—यही इन आड्वार सन्तों की साधना के प्रमुख अंग हैं। इस प्रकार प्रपत्ति, शरणागति, आत्मसमर्पण और एकान्त निष्ठा से परिपूर्ण भक्ति का सम्यक् विकास, इन आड्वार सन्तों की वाणियों में भलीभाँति देखा जा सकता है। आड्वार सन्त कवि समय-समय पर भक्ति के आवेग में आकर हृदय की मधुर अनुभूतियों को सुन्दर गीतों में व्यक्त करते-रहते थे। सब ने मिलकर चार सहस्र मधुर गीतों की रचना की जिन्हें सर्वप्रथम नाथमुनि द्वारा दशवीं शताब्दी में 'नालायर प्रबन्धम्' में संकलित किया गया। वैष्णव-धर्म में इस प्रबन्धम् को वेदों से भी बढ़कर महत्व दिया जाता है। तमिल प्रान्त में इसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और इतना बड़ा होने पर भी यह वहाँ के अनेक वैष्णवों को कंठस्थ है। 'प्रबन्धम्' के गीतों में सबसे अधिक संख्या नम्म आड्वार के गीतों की है जो संख्या में लगभग १३०० हैं। आड्वार कवियों में विष्णु चित्त की पौष्यपुत्री गोदा आंदाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये जन्म से ही अपना सर्वस्व भगवान् कृष्ण को अर्पित कर चुकी थीं। उनके पिता, श्री विल्लिपुत्तूर के विष्णुमन्दिर के पुजारी थे। मीराबाई की भाँति इन्होंने भी अपना व्याह रंगनाथ से कर लिया था और बाद में उन्हीं की प्रतिमा में लीन हो गयी थीं। भवबन्धनों से छुटकारा पाने के लिए विशुद्ध भाव से भगवान् के प्रति की गयी श्रद्धा-भक्तिपूर्ण कातर पुकार ही आड्वारों के गीतों में व्यक्त हुई है। उनके सच्चे वैष्णव हृदय की जानकारी, उनकी रचनाओं की प्रत्येक पंक्ति से मिलती है जिसमें उनकी भगवान् के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति भावना समाई है। आड्वारों की परम्परा में प्रसिद्ध भक्त शठकोप उच्चकोटि के भक्त थे। उन्होंने अपने पौरुष को बड़े ही दैन्य-भाव से भगवान् के चरणों में समर्पित कर दिया है। जिस प्रकार स्त्री को एक मात्र अपने पति का ही सहारा होता है उसी प्रकार भक्त को भी भगवान् के आश्रय में रहना चाहिए। सर्वस्व समर्पित की उत्कट रागात्मक भावना उनकी दृष्टि में पार्थिव पूजा से कहीं अधिक श्रेष्ठतर है। शठकोप प्रभु-प्रेम को अहैतुक मानते हैं जो भक्त को बिना किसी आयास के ही मिल जाता है। प्रभु-सामीप्य के सुख को पाकर वे मोक्ष की भी परवाह नहीं करते। उनके पदों में प्रभु के वियोग की तीव्र अनुभूति व्यक्त हुई है। अपनी समस्त अन्तः प्रवृत्तियों को वे अगाध श्रद्धा के साथ भगवान् के दिव्य-दर्शन की

ओर केन्द्रित कर देते हैं। कुलशेखर की भक्ति में अनन्यता की उत्कट भावना है। भगवान् के प्रति संकलित वाणी में वे निवेदन करते हैं कि "यद्यपि अग्नि अपनी समस्त ऊष्णा के साथ प्रकट होती है फिर भी कमल को विकसित करने में वह असमर्थ है। कमल तो तभी प्रफुल्लित होगा जब उसे प्रखर किरणों वाले सूर्य का प्रकाश प्राप्त होगा। इसी प्रकार मेरा हृदय आपके (प्रभु के) चरण कमलों के प्रेम के बिना अन्य किसी भी साधन से द्रवित नहीं हो सकता। जैसे निखिल झरनों और सरिताओं का जल दौड़ लगाता हुआ अन्त में समुद्र में विश्राम पाता है वैसे ही मेरा हृदय हे घनश्याम ! आपके अन्दर ही शान्ति प्राप्त कर सकता है।"

आड्वार भक्त प्रभु के जिस प्रेम का वर्णन करते हैं वह शाश्वत, नित्य-स्वरूप, साधन एवं सान्द्र है। अपनी चरम अनुभूति में पहुँच कर इसकी संज्ञा अनिर्वचनीय हो जाती है तथा इस प्रेम का साधक भी मूक एवं नीरव बन जाता है। इस प्रकार आड्वारों की भक्ति में दास्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य—इन तीनों भावों का सरस संगम उपस्थित है। वे अपने प्रभु को वासुदेव, नारायण, राम, नन्दनन्दन आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं तथा भगवद्भक्तों की सेवा को भी वे भगवान् की सेवा का पर्याय समझते हैं।

सर्वसाधारण के लिए भी वेदविहित याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा आड्वारों की सरल भक्ति का मधुर-मार्ग अधिक सुकर था। किन्तु आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कुमारिल और प्रभाकर जैसे मीमांसकों का प्रादुर्भाव हुआ, तब उनके प्रयत्नस्वरूप पुन: याज्ञिक कर्मकाण्ड को प्रतिष्ठा मिली। स्वामी शंकराचार्य (सं० ८४५-८७७) ने श्रुति को मूलतः स्वीकार करके बौद्ध एवं जैन जैसे अवैदिक धर्मों का वहिष्कार करते हुए, 'स्मार्तमार्ग' की साधना का प्रवर्तन किया। इनका कहना है कि "श्रुति के मूल सिद्धान्तों द्वारा एक नित्य, सत् एवं आनन्द स्वरूप मुक्त स्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, जिसके सिवाय अन्य कुछ भी सत्य नहीं और जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है।" इनका प्रधान उद्देश्य वैदिक आर्य धर्म का पुनरुद्धार था किन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण होने के कारण इन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग अधिकांशत: उक्त मत के सिद्धान्त निरूपण व प्रतिपादन में ही किया और इसके लिए इन्होंने स्वभावत: खण्डन-मण्डन की तर्कप्रणाली का ही अनुसरण किया जिसका अधिक प्रभाव केवल शिक्षित वर्ग पर ही पड़ सका।[1]

आचार्य शंकर ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या बतलाकर जीव और ब्रह्म के बीच एकता स्थापित करते हुए अपने प्रसिद्ध मत अद्वैतवाद के

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ३७।

सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अद्वैतमत से प्रायः सभी वैदिक संप्रदाय प्रभावित हुए। अद्वैत सिद्धान्त का मूलमन्त्र है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:"—ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, जीव ब्रह्म से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, यही चार सिद्धान्त अद्वैत मत की आधारशिला हैं।[१] निर्विकल्पक, निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। यही ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। वह सत्, चित् तथा आनन्द रूप होने के कारण सच्चिदानन्द कहलाता है। यही ब्रह्म माया के वशवर्ती होने पर सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करता है। वह चैतन्य जो अन्तःकरण के द्वारा अवछिन्न होता है, जीव कहलाता है। जीव की प्रवृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। जब वे वर्हिमुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और अन्तर्मुखी होने पर अहंकर्ता को प्रकट करती हैं। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध स्थापित करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि "ईश्वर उपकारक है और जीव उसके द्वारा उपकार्य है। ईश्वर अंशी है और जीव उसका अंश है। अंग में पीड़ा होने से हमारा सारा शरीर उस पीड़ा का अनुभव करने लगता है।" ऐसी स्थिति में जीव के दु:ख का प्रभाव ईश्वर पर भी पड़ना चाहिए। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि "जीव को दु:ख की अनुभूति मिथ्याभिमानजनित भ्रम के कारण होती है। जीव अज्ञानवशात् अपने को देह, इंद्रियों और मन से अभिन्न समझ लेता है, इसलिए शरीर के मिथ्या दु:खों को भी वास्तविक समझ कर वह दुखी होता है" अत: जीव के इस अज्ञान का फल ईश्वर कैसे भोग सकता है? इसी अज्ञान अथवा अविद्या को वे माया कहते हैं। उनका यह माया-तत्व अनिर्वचनीय है। यह सत्, असत् दोनों से परे है। जिस प्रकार जल में पड़ने वाला सूर्य, बिम्ब जल से हिलता हुआ दिखाई पड़ता है परन्तु सूर्य में किसी प्रकार का कंपन नहीं होता, उसी प्रकार अविद्याजनिता क्लेशों से दु:खित होने वाले जीव के क्लेशों से ईश्वर किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता। आचार्य शंकर के द्वारा जीव-ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार कर लेने पर भक्ति का मार्ग रुद्ध हो जाता है क्योंकि जब वे दोनों अभिन्न हैं तो कौन किसके प्रति भक्ति करेगा?

दसवीं शताब्दी में तमिल प्रान्त में वैष्णव-धर्म की विशेष उन्नति हुई। एक ओर जहाँ उपनिषदों के आत्मवादी सिद्धान्तों का प्रचार करने वाला ज्ञानकाण्डी सन्यासी धर्म बढ़ रहा था, वहीं आड्वारों की भक्ति-साधना में संसार के समस्त वाह्य उपभेदों एवं विषमताओं को नष्ट करने में प्रयत्नशील जनता का मानवतावादी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसमें शूद्र से लेकर ब्राह्मण तक सबको भगवान् की

---

[१] श्री बलदेव उपाध्याय : शंकराचार्य, द्वितीय संस्करण, पृ० २८७।

भक्ति करने एवं सांसारिक दुःखों से मानव-मात्र को परित्राण दिलाने की चेष्टा की जा रही थी। इसमें किसी प्रकार की विद्वेष भावना न होकर पारस्परिक सहानुभूति के साथ हृदय की कोमल वृत्तियों को भगवान् के चरणों में अर्पित करते हुए अपने आराध्य को रिझाने का विधान था। भक्ति का यह नैसर्गिक प्रवाह विशुद्धरूप से जनता के हृदय से निस्सृत था। इसमें जनसाधारण के हृदय की तीव्र पुकार थी, अतः जन-चेतना की इस तीव्रता ने आभिजात्य संस्कारों में पोषित संस्कृत के विद्वान्-आचार्यों का भी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इन आचार्यों ने जनसाधारण के इस भक्ति-आन्दोलन को स्वीकार कर भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की। नम्म आड्वार की शिष्य परम्परा में प्रथम माने जाने वाले आचार्य रंगनाथ मुनि ने आड्वारों द्वारा रचित तमिल भाषा में निबद्ध लुप्तप्राय भक्तिपूरित 'प्रबन्धम्' का पुनरुद्धार किया। इनका 'न्याय-तत्व' नामक ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का मान्य ग्रन्थ माना जाता है। इन आचार्यों ने आड्वारों की भक्ति के साथ वेद प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुन्दर समन्वय स्थापित किया और भक्ति आन्दोलन की एक नई दिशा प्रवर्तित की। इनके सामने वस्तुतः एक जटिल और गंभीर समस्या थी, शंकर का मायावाद। बिना इसके वहिष्कार के भक्तिवाद की प्रतिष्ठा किसी प्रकार संभव न थी।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद — ग्यारहवीं शती में श्री रामानुजाचार्य ने शंकर के मायावाद के प्रतिक्रिया स्वरूप विशिष्टाद्वैतमत का प्रवर्त्तन किया। उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' और 'विष्णुसहस्रनाम' पर श्रीभाष्य तथा आड्वारों के 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका लिखकर वैष्णव समाज का बड़ा उपकार किया, धर्म को सरल बनाते हुये शूद्रों के लिये भक्ति का अधिकार दिया तथा आड्वारों की भक्ति के साथ श्रुति प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का समन्वय कर 'प्रपत्तिवाद' के सिद्धान्त का आविष्कार किया। द्विजों के साथ शूद्रों को भी वैष्णव-धर्म में दीक्षित होने का अधिकार प्रदान करके उन्होंने शूद्र नम्म आड्वार की शिष्य-परम्परा में हुए अपने गुरु नाथमुनि के ऋण को पूरी तरह चुकाया। प्रपत्ति—अर्थात् भगवान् की शरण में अपने को समर्पित कर उन्हीं की कृपा का आश्रय लेकर जीवनयापन करना—को रामानुज ने शूद्र भक्ति के लिए विशेष रूप से श्रेयस्कर एवं विहित समझा। इस प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम धर्म और विराट् मानवतावाद के बीच सराहनीय सन्धि कर ली। रामानुज के द्वारा प्रवर्तित भक्ति के अजस्र-प्रवाह में समस्त उत्तरी एवं दक्षिणी भारत निमग्न हो गया। शास्त्रीय, अशास्त्रीय, शूद्र और ब्राह्मण, सभी अपनी अहमन्यता एवं भेदभावना को भूल कर भक्ति-रस में डूब कर तृप्त हो गए। शंकराचार्य के अद्वैत के भीतर ही विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से रामानुज ने अपने मत को 'विशिष्टा-

द्वैतवाद' के नाम से पुकारा। शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध की है। जीव को ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब मानकर ब्रह्म के समान उसे नित्य-मुक्त होना बताया है, किन्तु रामानुज ने इस मत का खंडन किया है। उनके मत से जीव न तो ब्रह्म का आभास या प्रतिबिंब है और न नित्यमुक्त है। जिस प्रकार आग से निकलने वाली चिनगारी उसका अंश है पर दोनों के रूप में महान् अंतर है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निर्गत होता है तथा उसका अंश है और दोनों के रूप में महान् अंतर है। जीव, अणु अर्थात् क्षुद्र है तथा ब्रह्म, विभु अर्थात् अति महान् है। ब्रह्म के साथ उसका ऐक्य होना किसी प्रकार संभव नहीं। "संसारी दशा में जैसे जीव ब्रह्म से पृथक् है, मुक्त दशा में भी वह वैसा ही बना रहेगा। हाँ, इस दशा में वह ब्रह्मानंद का अनुभव करेगा, यही उसका वैशिष्ट्य है।[१]" शंकर तत्वमसि जनित ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानते हैं किन्तु रामानुज के मतानुसार भक्ति ही मुक्ति का एक मात्र साधन है। ज्ञान तो मुक्ति का सहायक मात्र है। भक्ति सेवित भगवत्प्रसाद से ही जीव को मुक्ति लाभ होता है। अनन्यभाव से भगवान् का कैंकर्य तथा उनके प्रियपात्र भगवद्भक्तों की सेवा जीव का परम धर्म है। भक्ति का सार है प्रपत्ति। आत्मनिवेदन के बिना भक्ति की अनन्य साधना केवल बहिरंग-मात्र है। भगवान् के चरणों में अपने को अर्पित कर देना, आत्माभिमान छोड़कर सब धर्मों का परित्याग कर शरणापन्न होना ही प्रपत्ति का स्वरूप है। प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा और भगवत्कृपा से भगवान् की प्राप्ति होती है। रामानुज द्वारा प्रवर्तित भक्ति एवं इस प्रपत्ति का मध्यकालीन संतों की साधना पर गहरा प्रभाव पड़ा है। रामानुज के पश्चात् मध्व, निम्बार्क और विष्णु स्वामी ने भक्तिपक्ष को पुष्टता प्रदान की।

इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करते हुए अद्वैतवादी दर्शन के आधार पर शंकर ने जो भक्ति की महत्ता समाप्त कर दी थी, वह पुनः नवीन ढंग से इन आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित हुई तथा भक्त को एक सबल दार्शनिक आधार प्रदान किया गया और वह अद्वैतवादियों के ज्ञान-योग से अधिक व्यावहारिक एवं शक्तिशाली सिद्ध हुआ। किन्तु खंडन मंडन की बौद्धिक परम्परा से अनुस्यूत होने और अभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत होने के कारण उन दार्शनिक मतवादों से जनसाधारण को अधिक लाभ नहीं पहुँच सका। अतः जनता निराश होकर पुरोहितों द्वारा निर्देशित मार्ग पर ही चलती रही। अवसरवादी पुरोहितों ने भी पांडित्य प्रदर्शनार्थ आडम्बरों की वृद्धि करके

---

[१] पं० बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, प्रथम सं० २०१० वि०, पृ० २१३-१४।

धर्म के रूप को बहुत विकृत कर दिया जिसकी प्रतिक्रिया कबीर की वाणी में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है ।

शंकराचार्य का ज्ञान और योग, भक्ति की प्रतिद्वन्द्विता में न ठहरकर शैव-धर्म का आश्रय ग्रहण कर नाथ-संप्रदाय के रूप में अपने को अन्तर्मुक्त कर लिया । आचार्य के दार्शनिक मतवादों से जनता को पूर्णतः आध्यात्मिक तुष्टि न मिली । उनका दर्शन जनता की साधारण बुद्धि से परे केवल विद्वत्समिति तक ही सीमित रहा । कालान्तर में रामानुजाचार्य की परम्परा में उत्पन्न रामानन्द जी ने अपनी व्यावहारिक लोकदृष्टि से इस समस्या का गहराई से मनन किया । धर्म-परिवर्तन के इस संक्रान्ति काल में जब कि सत्तारूढ़ इस्लाम, खड्ग बल से आतंक जमाने में तत्पर था, उस समय देश की त्रस्त-जनता को किसी गंभीर तत्ववाद की आवश्यकता न थी । उसे एक ऐसा आडम्बर शून्य निर्विघ्न जीवन-मार्ग अपेक्षित था जिस पर चल कर वह अपने संघर्षपूर्ण जीवन को सरस बनाते हुए स्वधर्म की रक्षा कर सके । इसीलिए स्वामी जी ने तत्ववाद के पीछे अपना मस्तिक नहीं खपाया है और न अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति प्रस्थान-त्रय पर भाष्य लिखकर किसी नए मत की प्रतिष्ठा की, क्योंकि वे मतवाद की अपेक्षा जनता के जीवन-क्रम की रक्षा करना अधिक आवश्यक समझते थे । उन्होंने भक्ति-मार्ग में ज्ञान और कर्म को भी अधिक महत्व नहीं दिया । उनके विचार से भक्त के लिए पूर्ण निष्ठा के साथ भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण कर देना ही अलम् है । उन्होंने उपासना के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया । रामानन्द ने देखा कि भगवान् के शरणागत होकर जो भक्ति-पथ का पथिक बन गया, उसके लिए वर्णाश्रम का बंधन व्यर्थ है, अतः उन्होंने भक्ति-मार्ग में वर्ण-व्यवस्था को हेय ठहराकर सभी जातियों के लिए उसका द्वार खोल दिया ।[१] यदि व्यक्तियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों द्वारा पूजित परमेश्वरों के नाम पर सब का परिचय अवश्य दिया जाना चाहिए । इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में किसी प्रकार के भेदभाव को प्रश्रय न दिया जाना चाहिए क्योंकि श्रेष्ठता भक्ति से होती है जन्म से नहीं । भक्ति के क्षेत्र में तो सभी सगे हैं, सभी सवर्ण हैं ।

रामानन्द जी की शिष्यपरम्परा में जाट, जुलाहे, नाई आदि से लेकर तुलसीदास ऐसे आभिजात्यवर्गीय शिष्य थे । रामानन्द जी अपनी असीम उदारता से मुसलमान बना लिए गए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू-धर्म की गोद में स्थान

---

[१] **फर्कुहर : एन आउटलाइन आव रिलीजियस लिट्रेचर आव इंडिया, पृ० ३२५ ।**

दिया। उन्होंने यह वातावरण उपस्थित कर दिया जिसमें हिन्दूधर्म एक निष्क्रिय संस्था मात्र नहीं रहा गया प्रत्युत् विश्वबन्धुत्व की ओर सक्रिय रूप से अग्रसर होने वाली सजीव पुष्ट संस्था के रूप में परिवर्तित हो गया। उनके शिष्य नीच हिन्दू जाति के ही नहीं, मुसलमान भी हैं। स्वामी जी उन लोगों में थे जो अपने प्रयत्नों को अन्याय के निष्क्रिय विरोध ही तक सीमित नहीं रखते, प्रत्युत् उनके निराकरण में सक्रिय सहयोग देते हैं। खान-पान के नियमों में भी उन्होंने शिथिलता दिखलायी। उनके शिष्य सुरसुरानन्द के संबंध में नाना जी ने कहा है कि "उनके मुख में म्लेच्छ की रोटी भी तुलसीदल हो जाती थी।[1]" हीन-वर्ण वालों के प्रति स्वामी जी ने जिस उदारता का प्रदर्शन किया और जिस सहृदयता का परिचय दिया, इसके अनेक उदाहरण 'प्रसंग पारिजात' में प्राप्त हैं। एक दिन काशी के कुछ विद्वानों ने स्वामी जी से कबीर के कंठी-माला, तिलक-छाप धारण करने एवं स्वयं को रामानंद का शिष्य घोषित करने की शिकायत की। उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि "वह सत्य कहता है, मैंने उसे शिष्य रूप में स्वीकार किया है। भगवान् सब के हैं और भगवद् शरणागति का अधिकार सदा सबको है। भगवान् अपनी कृपा से कभी किसी को वंचित नहीं करते।" एक दिन स्वामी जी ने रैदास तथा कबीरदास को संबोधित करके यह बतलाया कि "इस युग में हीनवर्ण वाले ही वास्तव में उपदेश के अधिकारी हैं। अतः हे मेरे शिष्यों! लोकसंग्रह कार्य में प्रवृत हो जाओ।" अंतिम समय के उनके प्रवचन इस प्रकार हैं—"देखो, सब शास्त्रों का सार भगवत्स्मरण है जो सच्चे सन्तों का जीवनाधार है। शिखासूत्र के अधिकारी पादज और अन्त्यज हैं। भाई, पैरों को काट कर समाज को पंगु मत बनाओ।[2]" यहाँ तक कि उन्होंने स्त्रियों के लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया। उनकी शिष्याओं में एक वेश्या का भी होना सुना जाता है। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का मूलोच्छेद करने में रामानन्द जी ने कोई कसर नहीं उठा रखी। उनके पूर्व के आचार्यों ने अपने मतों का प्रतिपादन संस्कृत के द्वारा किया था किन्तु स्वामी जी ने युग की नाड़ी पहचान कर बहुजनहिताय संस्कृत को सुलभ न समझ कर बोल-चाल की भाषा हिन्दी में अपने उपदेशों का प्रसार किया। यह सूझ भी उनके महान् व्यक्तित्व की परिचायक है कि उनमें लोकहितकारी तत्त्व कितनी अधिक मात्रा में सन्निहित थे। "इस भाँति मध्ययुग में रामानन्द जी ने 'सीताराम' को अपना परमोपास्य मान

---

[1] डॉ० बड़थ्वाल : रामानंद संप्रदाय, पृ० २८।

[2] श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव : स्वामी रामानन्द और प्रसंग पारिजात, 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका, अक्तूबर १९३२, अंक ३, पृ० ४०३।

कर ऐसी भक्ति पद्धति का प्रचार किया जिसका द्वार मानव मात्र के लिये उन्मुक्त था। उनकी इस प्रगतिशील विचारधारा ने संतों एवं भक्तों का एक दल-सा तैयार कर दिया जो सभी प्रकार के विभेदों को दूर कर एक सामान्य जीवन पथ का निर्माण करने में जुट गया।[1]"

स्वामी रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भक्ति-सिद्धान्त को उत्तर भारत में तद्जन्य परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत किया तथा उन्हें इस दिशा में पर्याप्त सफलता मिली। रामानन्द द्वारा प्रचारित यह जनसुलभ भक्तिमार्ग हिन्दुत्व की रक्षा के लिये एक अमोघ कवच सिद्ध हो सका जिस पर विधर्मियों के धर्मप्रचार के खड्ग प्रहार का कोई प्रभाव न पड़ा। प्रसिद्ध है कि भक्ति का जन्म सुदूर दक्षिण में हुआ और उसे उत्तरभारत में लाने का श्रेय रामानन्द जी को है तथा बाद में इसी भक्ति को उनके सुयोग्य शिष्य कबीर ने सप्त-द्वीप नवखण्ड में प्रकट कर दिया। किन्तु रामानन्द जी को उत्तर-भारत में आकर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय यहाँ शैव-धर्म की ज्ञान और योगपरक साधना नाथ-संप्रदाय की साधना में अन्तर्मुक्त होकर अपना विकास कर रही थी।

शैव-धर्म—जिस प्रकार वैष्णव भक्ति, आड्वार कवियों के मधुर मानस का मंथन कर और शास्त्रीय आचार्यों के चिन्तन का विषय बन कर दर्शन के स्तर तक पहुँची, उसी प्रकार शिव की भक्ति भी दक्षिण के शैव सन्तों और कवियों की वाणी में अपना विकास करती रही। इन भक्त कवियों को 'नायनार' कहा जाता है और उनकी संख्या तिरसठ बताई जाती है। आड्वार भक्तों की भाँति इनकी प्रतिमाओं का भी पूजन दक्षिण के शैव-मन्दिरों में होता है। 'तमिल प्रबन्धम्' की भाँति 'तिरमुरइ' शैव गीतों और पदों की पवित्र पुस्तक है जिसका संकलन शैवाचार्य नाम्बि-आन्दार नम्बी के द्वारा किया गया था। शैव-धर्म में शिव को ही सर्वश्रेष्ठ सत्य, सृष्टि का अध्यक्ष और परम आराध्य माना गया है। वह अनादि, अकारण और स्वतः संपूर्ण है। वह अपनी साधनस्वरूपा शक्ति के द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पन्न करते हैं। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है और वास्तव में उनसे अभिन्न है। अपनी शक्ति के द्वारा शिव समस्त विश्व में इस प्रकार व्याप्त हैं कि वह उससे भिन्न नहीं प्रतीत होते।[2] शैव-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा असंख्य और शाश्वत है। वे सब परम शिव के अंश हैं। इनमें और शिव में

---

[1] डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानंद संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० ४८८।

[2] डॉ० यदुवंशी : शैवमत, प्रथम संस्करण, सं० २०१२, पृ० १६८।

ज्वाला और ताप के समान भेदाभेद संबंध है। अपने मूर्तरूप में यह जीवात्मा कुछ काल के लिए भौतिक शरीर से मिल जाता है जो स्वयं अचेतन है परन्तु जिसे जीवात्मा चेतना मुक्त करता है। इस प्रकार शरीर से संलग्न होकर जीवात्मा अविद्या, काम और माया के त्रिविध बंधनों में फँस जाता है और परम शिव के अनुग्रह से इस बंधन से उसकी मुक्ति होती है। आत्मा का कर्म बंधन ही पाप है और परम शिव के अनुग्रह से ही इससे छुटकारा मिलता है। आवागमन के चक्कर से मुक्त होकर आत्मा परम शिव के सानिध्य में जाकर और परमानन्द को प्राप्त होकर उन्हीं के समान हो जाता है। मुक्ति की साधना के लिए, शैव-सिद्धान्त विहित पद्धति को निश्चित करता है और गुरु तथा शिव की कृपा को आवश्यक बतलाया है। शैव-सिद्धान्त वस्तुतः शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टद्वैत के बीच का मत है। संक्षेप में शैव-मत की यही मौलिक मान्यताएँ हैं।

पिछले पृष्ठों में यह निर्देश किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म कालान्तर में मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान में परिवर्तित होकर किस प्रकार अपने मूल लक्ष्य से दूर हट कर विरूप हो चुका था। प्रज्ञोपाय की साधना वज्रयानियों में आ कर कमल (स्त्रीन्द्रिय), कुलिश (पुंसेन्द्रिय) की भोगजन्य गर्हित कुचेष्टा में परिवर्तित हो चुकी थी। प्रज्ञोपाय की युगनद्ध को स्थिति में परिणत कर बोधिचित्त को संवृत अवस्था से विवृत दशा में पर्यवसित कर जिस पारमार्थिक सत्य का साक्षात्कार किया जाता था, वही आगे चल कर शारीरिक सहवास में बदल कर सारे समाज को भ्रष्ट बना रहा था, अतः वज्रयान का गुह्य गर्हित साधनाओं की प्रतिक्रियास्वरूप नवीं शताब्दी में नाथ-संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। नाथपंथ, दार्शनिकता की दृष्टि से शैव मत के अन्तर्गत आता है और व्यावहारिक दृष्टि से पातंजलि के हठयोग से संवंध रखता है।

नाथ-मत में सब नाथों में प्रथम आदिनाथ शिव माने जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ इन्हीं के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ के कई शिष्य बहुत बड़े पंडित और सिद्ध हुए जिनके प्रभाव से यह मत सारे भारत में प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्यों में सबसे प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ थे जिनका प्रादुर्भाव काल ११-१२ वीं शताब्दी माना जाता है। नाथ-संप्रदाय में नाथ शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से किया जाता है। कुछ लोग नाथ का अर्थ मोक्ष प्रदाता और कुछ 'ना' का अर्थ अनादिरूप और 'थ' का अर्थ भुवनत्रय से ग्रहण कर उसे अनादि धर्म का सूचक और तीनों भुवनों की स्थिति का कारण बतलाते हैं। नाथ-संप्रदाय को वज्रयान और सहजयान का ही परिष्कृत रूप माना जाता है। महा-महोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और

बाद में शैव हो गये, इसीलिए तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। गोरखनाथ ने ही इस अभिनव रूप को प्रतिष्ठित कराया। सिद्धों की भोगपरक तामसिक साधना की प्रतिक्रियास्वरूप नाथ-संप्रदाय का जन्म हुआ, इसीलिए नाथ-मत में सदाचरण, इंद्रिय निग्रह एवं योगादि साधना को विशेष महत्व दिया जाता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने नाथ-संप्रदाय को सिद्ध-सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप स्वीकार किया है। उनका कथन है कि सिद्धों की विचारधारा और उनके रूपकों को लेकर ही नाथवर्ग ने उनमें नवीन विचारों की प्रतिष्ठा की और उनकी व्यंजना में अनेक तत्वों का समिश्रण किया। "सिद्धों ने जिस पथ की ओर संकेत किया था, उसे राजमार्ग बनाने का कार्य नाथसंप्रदाय के संतों ने किया। सिद्धों की विचारधारा को अपनाकर उसे व्यापकता देते हुए नाथ-संतों ने उसे नवीन और प्रगतिशील सिद्धान्तों से समन्वित किया।[1]"

नाथ-मत के सशक्त प्रचारक गोरखनाथ ने ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर शंकराचार्य के देशव्यापी प्रभाव को हस्तगत कर लिया। मध्यकालीन विचारधारा के प्रवर्तकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। शंकराचार्य को छोड़ कर कोई ऐसा महापुरुष नहीं जो उनकी समानता में टिक सके। नाथ-संप्रदाय ने चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया। इसमें अनूभूति और हठयोग का प्रधान स्थान है और इन्हीं विशेषताओं ने कबीर के निर्गुण पंथ का बहुत कुछ साधना का रूप निर्धारित किया।[2] इस प्रकार नाथ-मत मूलत: शैवमत ही था जिसने बौद्ध तांत्रिकों से प्रभाव ग्रहण कर अद्वैत और योग को अपनाकर अपना पथ निर्दिष्ट किया। जिस प्रकार आचार्य शंकर ने उपनिषद् के ज्ञानवाद को लेकर और बौद्धदर्शन के अनेक तत्वों को अपनाकर वेदान्त को समन्वयात्मक रूप दिया था, वैसा ही गोरखनाथ ने भी किया, किन्तु समन्वयात्मक प्रवृत्ति को अपनाते हुए भी गोरखनाथ ने वेद की परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह किया और ब्राह्मणों के आचार-विचार, धार्मिक क्रियाओं आदि पर आक्षेप किये तथा यौगिक माहात्म्य की प्रतिष्ठा की। 'शंकर' के पश्चात् दूसरा महान् व्यक्तित्व जिसने उत्तरी भारत को सबसे अधिक प्रभावित किया, जिसने सुधारक प्रवृति से वाममार्ग और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध अपनी एक विशिष्ट परम्परा स्थापित कर जनता को चमत्कृत किया, नाथपंथ का सबल प्रचारक गोरखनाथ ही था।

---

[1] डॉ रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय सं०, पृ० १०२।

[2] वही, पृ०१०८।

नाथपंथियों की त्रिविध-साधना—नाथ सम्प्रदाय में संसार के बन्धनों से मुक्त होकर शिवत्व की प्राप्ति करने का विधान है। नाथपंथी योगियों की मान्यता है कि सहस्रार-चक्र में स्थित गगनमंडल में औंधे मुँह का एक अमृत-कुण्ड है जिसे प्रकारान्तर से 'चन्द्रतत्व' भी कहा जाता है, इससे निरन्तर अमृत स्रवित होता रहता है। जो योगी इस अमृत का पान कर लेता है वह मृत्युंजय हो जाता है किन्तु बिना गुरु के इस अमृत का पान दुर्लभ है—"सगुरा होय तो भर-भर पीवे, निगुरा जाय पियासा।" इस अमृत तत्व की प्राप्ति के लिये मन में वैराग्य भावना का होना अनिवार्य है किन्तु वैराग्य की भावना गुरुकृपा से ही दृढ़ हो सकती है। गुरु, शिष्य की कष्टसाध्य नैतिक आचरणों के द्वारा परीक्षा करने के पश्चात् ही उसे दीक्षित करता है। कष्टसाध्य नैतिक आचरणों की अनिवार्यता के ही कारण यह संप्रदाय जनसाधारण के लिये आकर्षण का केन्द्र न बन कर व्यापक सम्प्रदाय का रूप न धारण कर सका। गुरु-कृपा से वैराग्य की भावना दृढ़ हो जाने पर नाथयोगी को तीन साधनाएँ करनी आवश्यक हैं—१—इन्द्रियनिग्रह २—प्राणसाधना और ३—मनसाधना।

इंद्रिय निग्रह—वज्रयानियों की 'कमल-कुलिश' की साधना के प्रतिक्रिया स्वरूप नाथ सम्प्रदाय का उद्भव होने से इसमें इंद्रियनिग्रह पर विशेष बल दिया गया और इंद्रियपतन को कारण-स्वरूपा नारी को त्याज्य माना गया है। गोरखनाथ ने उसे अपना गुरु घोषित किया जो योनिमुख में बिन्दु की रक्षा कर सके। इसीलिए तो वे दोनों भुजाएँ उठाकर घोषणा करते हैं कि "मूल म हारौ म्हारा भाई"—विन्दु धारण से आसन में दृढ़ रहने की शक्ति आती है और इस प्रकार साधक उत्तरोत्तर अपनी साधना में बढ़ता जाता है।

प्राणसाधना—प्राणसाधना का तात्पर्य शरीर के अन्तर्गत प्राणवायु के नियमित संचालन और कुंभकादि से है। प्राणायाम की साधना प्राण विजय की अभिलाषा से की जाती है। गोरखनाथ का कहना है कि "शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय, तो उसका व्यापार ६४ संधियों में होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणत हो जायगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।[१]" शरीर के रोम-रोम में असंख्य छिद्र हैं। इनके द्वारा शरीर में पवन आता-जाता रहता है। इन्हें बन्द करने के लिए नाथपंथियों में भस्म-स्नान करना

---

[१] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित गोरखबानी, हि० सा० स० प्रयाग, पृ०, ६६।

आवश्यक माना जाता है, क्योंकि नाथपन्थी के लिए समस्त द्वारों को बन्द करना परमावश्यक है।[1]

मनसाधना—प्राणसाधना में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् साधक, मनसाधना में प्रवृत्त होता है। इसमें वह संसार की विविध मायिक प्रवृत्तियों से मन को खींचकर अपने अन्त:करण की ओर उन्मुख कर देता है। मन स्वभावत: हीं संसार की विविध वस्तुओं में भ्रमण करता रहता है। अत: उसे बहिर्जगत् की ओर से बलात् खींचकर अन्तर्जगत् की ओर उन्मुख करना पड़ता है और इस प्रकार के विपर्यय से सांसारिक कार्य-व्यापारों में विरोध परिलक्षित होने लगता है। इंद्रियनिग्रह, प्राणसाधना और मनसाधना, इन तीनों का सम्मिलित रूप नाथ-पन्थ में 'त्रिविधसाधना' के नाम से अभिहित किया जाता है। इंद्रिय निग्रह से आसन, प्राणसाधना से प्राणायाम और मनसाधना से प्रत्याहार की साधना सफल होती है। तत्पश्चात् साधक में नाड़ी साधन और कुंडलिनी जागरण की शक्ति का आविर्भाव होता है। नाथपन्थियों की साधना-पद्धति को हठयोग की संज्ञा दी जाती है।

योग के चार प्रकार—हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग। हठयोग के आदि उपदेशक आदिनाथ शिव कहे जाते हैं। हठयोग के लिए यम-नियम का पालन आवश्यक है। हठयोग की साधना का चरमलक्ष्य है राजयोग की उपलब्धि। हठयोग के चार अंग हैं—१—आसन, २—प्राणायाम, ३—मुद्रा ४—नादानुसंधान। अंतिम अंग लययोग के अन्तर्गत आता है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य और 'ठ' का अर्थ चंद्र बतलाया गया है। इस प्रकार सूर्य और चंद्र के योग को ही हठयोग कहते हैं। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चंद्र से अपानवायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चंद्र पिंगला को, इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोक कर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु के संचरित करने को भी हठयोग कहते हैं।[2]

मन्त्रयोग में श्वासोच्चारण करते समय 'ह' और 'स' वर्णों का निस्सरण होता है। कुंडलिनी जागरण के समय यही मन्त्र सुषुम्ना में 'सोऽहं' में परिवर्तित हो जाता है और योगी परमतत्व के साथ अभेदावस्था का अनुभव करने लगता है। चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए हठयोग की कष्टसाध्य क्रियाएँ निम्नकोटि की मानी गयी हैं। विशेष युक्ति के साथ प्राणायाम की साधना करते हुए मन्त्र या नाम-जप के द्वारा मन को शनै:-शनै: स्थिर करने की क्रिया मन्त्रयोग है। जप

[1] योगांक : नाथपंथ में योग, पृ० ७००।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३।

के साथ प्राण और मन, दोनों का निरोध सहज में हो जाता है और चित्त वासना-सुख का तिरस्कार कर समाधिजन्य सहज सुख का आनन्द लेने लगता है, अतः इसे सहजयोग भी कहा जाता है।

हठयोग-प्रदीपिका में लय-योग के विषय में लिखा है, "लयोविषय विस्मृतिः" अर्थात् विषयों की विस्मृत लय है। लययोग की साधना में 'भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते' अर्थात् त्रिकुटी में मन को केन्द्रित करना आवश्यक है। मानसिक वृत्तियों के निरोध की समस्त अन्तर्मुखी प्रक्रियाओं का समाहार राजयोग में होता है। योग के इस उच्चतम सोपान में पहुँचकर किसी प्रकार के वाह्य क्रियाकलाप की आवश्यकता नहीं रह जाती। यथास्थान इन योग प्रकारों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायगा। प्राणायाम के अभ्यास के लिए स्थिर या दृढ़ होकर बैठने की क्रिया का नाम आसन है। आसन प्रधानतः चार हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और सद्रासन। इनमें सिंहासन का विशेष महत्व है क्योंकि इसे बहत्तर हजार नाड़ियों का शोधन करने वाला और मोक्ष-कपाट का भेदन करने वाला बतलाया गया है। आसन के द्वारा स्थिर चित्त होने पर मन को स्थिर करने के लिए वायु निरोध अर्थात् प्राणायाम आवश्यक है। इसके तीन अंग हैं—पूरक, रेचक, कुंभक। आसन में दृढ़ होकर प्राणवायु को धीरे-धीरे भीतर की ओर ले जाना पूरक है और कुछ समय भीतर रोक रखना कुंभक तथा फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल देने को रेचक कहा जाता है। शरीर में वैसे वो बहत्तर हजार नाड़ियाँ मानी गई हैं परन्तु तीन उनमें सर्वप्रधान हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना। इनमें प्रथम और द्वितीय संसारी और तीसरी आध्यात्मिक नाड़ी है। प्राणसंचार की क्रिया संसारी नाड़ियों से होती है और सुषुम्ना नाड़ी प्रायः सुप्त पड़ी रहती है। इड़ा बांई ओर की और पिंगला दाँई ओर की नाड़ी है। दोनों के बीच में सुषुम्ना है। इसी से होकर कुंडलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। प्राणायाम का प्रमुख उद्देश्य प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर प्रवेश कराना है, तभी प्राण स्थिर होता है। तत्पश्चात् मन भी स्थिर होकर सूक्ष्म परमतत्व की ओर उन्मुख होता है। प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रवेश कराने से लिए कुंडलिनी को जागृत करना पड़ता है। नाथसिद्धों के अनुसार महाकुंडलिनी नामक एक शक्ति है जो समस्त सृष्टि में विख्यात है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुंडलिनी कहते हैं। "पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता हैं, वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण-चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े-तीन बलयों या वृत्तों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुंडलिनी अवस्थित

है।[1]" सुषुम्ना के मार्ग में कमल पुष्पवत् षट्चक्र क्रमशः इस प्रकार हैं—मूलाधार (चार दल), स्वाधिष्ठान (छः दल), मणिपूरक (१० दल), (अनाहत) (बारह दल), विशुद्ध (सोलह दल), आज्ञा (दो दल)। इन चक्रों का स्थान क्रमशः गुदाउपस्थका मध्यभाग मेढ्र, नाभिदेश, हृदय, कंठ, और त्रिकुटी पर है। कुंडलिनी इन षट्चक्रों का भेदन करती हुई अन्त में सहस्रदल कमल में पहुँच जाती है। यहीं शून्य-चक्र है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरमलक्ष्य है।

कुंडलिनी जब जागृत होकर ऊपर की ओर उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। यह नाद वास्तव में अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनहद-नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। प्राणवायु, जब सुषुम्ना-पथ से षट्चक्रों का भेदन करता हुआ तालु मूल से सिर तक स्थित सहस्रसार के ब्रह्मरन्ध्र की ओर उन्मुख होता है, उस समय शरीर के भीतर अनेक विचित्र ध्वनियाँ सुनायी पड़ती हैं। प्राण स्थिर होकर शून्य पथ से निरंतर उस अनहद-नाद का श्रवण करने लगता है। प्रारम्भ में शरीर के भीतर मेघ गर्जन अथवा भेरी झर्झर आदि की ध्वनि सुनाई पड़ती है, तदनन्तर मर्दल, शंख, घंटा, की हलकी-सी आवाज सुनाई देती है। अंत में किंकिणी, मुरली, वीणा और भ्रमर-गुंजन की मधुर ध्वनि योगी साधक सुनने लगता है। आज्ञाचक्र को भेदने के पश्चात् मन, प्राण और नाद, तीनों का लय हो जाता है। जिस प्रकार मकरन्द पान में तन्मय भ्रमर, गंध की ओर ताकता भी नहीं उसी प्रकार योगी का नाद में आसक्त चित्त नाद में ही खो जाता है, मन निर्विषय हो जाता है। ज्ञाता-ज्ञेय का भेद मिटने पर निर्विकल्प समाधि में लीन योगी, सहज आत्म-सुख का अनुभव करने लगता है। योगसिद्धि में मुद्राओं का महत्व भी कम नहीं है। मुद्रा का प्रमुख उद्देश्य शक्ति को निम्नगामी विपरीत दिशा से हटाकर ऊपर की ओर चलाना है। मुद्रा अभ्यास से ही कुंडलिनी-जागरण होता है। मुद्राएँ दस मानी गई हैं परन्तु इसमें खेचरी मुद्रा प्रधान है। इसमें दृष्टि को त्रिकुटी में स्थिर रख, योगी जिह्वा को उलट कर तालु-विवर में प्रविष्ट कराता है। इसे ही 'गो-मांस-भक्षण' करना कहते हैं, क्योंकि 'गो' का अर्थ है जीभ और उसे उलट कर तालु-प्रदेश में प्रविष्ट कराने को ही 'गो-मांस-भक्षण' कहते हैं। बड़ी साधना और अभ्यास के पश्चात् साधक इस मुद्रा में सफलता पाता है। यदि एक पल के लिए भी योगी इसे प्राप्त कर सका तो सारी सांसारिक विष-व्याधियों से मुक्त होकर वह शुद्ध-बुद्ध निर्मल स्वभाव हो जाता है। ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रदल कमल के मूल में जो योनि नामक त्रिकोण के आकार का शक्ति-केन्द्र है, उसमें चंद्रमा का वास बतलाया गया है, जहाँ पर निरन्तर अमृत स्रवित होता रहता है। यही 'अमर-वारुणी' है जिसका

[1] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर, पाँचवां परिवर्धित संस्करण १९५५, पृ०४४।

पान कर योगी जरा-मरण की अवस्थाओं से परे होकर अमर हो जाता है। इस युक्ति से अपरिचित रहने पर नाभि-प्रदेश में स्थित सूर्य, उस चंद्रस्रवित अमृत को सोख लेता है और इस प्रकार साधक पुनः सांसारिक विषय-कषायों में ग्रस्त हो जाता है। अनुभवी लोगों का कथन है कि खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर यदि कोई रमणी योगी को बाहु-पाश में भर भी ले, तो वह उसके आलिंगन निबद्ध से अप्रभावित रहता है। योग क्रिया की इस अनवरत साधना में रसायनादि की सहायता से शरीर की दुर्बलताओं और विकारों को दूर कर कायाकल्प का विधान योगी के लिए आवश्यक है। गोरखनाथ जी ने भी छठे-छमासे काया पलटने की बात कही है। रसायन (Alchemy) एक प्राचीन विद्या है। 'रस' का सेवन कर साधक मृत्युंजय होकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है। पारे को औषधादि विधानों से शुद्ध कर उसके सेवन से अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। पारद-सेवन से साधक संसार के उस पार शिव-लोक को पहुँच जाता है। अभ्रक को पार्वती की रज और रस को शिव का वीर्य बतलाया गया है। इन दोनों के सम्मिश्रण से अपार शक्ति उत्पन्न होती है जो साधक को दिव्य-देह प्रदान कर अमरपद तक पहुँचा देती है। किन्तु नाथयोगी संप्रदाय का प्रधान लक्ष्य रस-प्रयोग की अपेक्षा सहस्रदल कमल में स्थित चंद्रमा से स्रवित होने वाले अमृत का पान करना ही मुख्यतः जान पड़ता है।

नाथ-मत सिद्धान्ततः अद्वैतवादी है परन्तु शंकर के अद्वैत से भेद बताने के कारण वे अपने को 'द्वैताद्वैत विलक्षणाकार' कहा करते हैं, क्योंकि उनका परम शिव न द्वैत है, न अद्वैत, और न द्वैताद्वैत, अतः उसे द्वैत और अद्वैत—इन दोनों से विलक्षण कहना ही युक्तिसंगत है। इस प्रकार नाथ-मत का विश्वास अवाङ्मय, मनसागोचर परमब्रह्म की सत्ता में ही सिद्ध होता है। इस प्रकार "गोरखनाथ ने नाथ-संप्रदाय को जिस आंदोलन का रूप दिया, वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई, वहाँ दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोर आघात भी किया गया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।[१]" उन्होंने अपनी अपूर्व संगठन शक्ति से उन दिनों प्रचलित शुद्ध सात्विक जीवन से शून्य भारतीय धर्मसाधना को अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण का संदेश दिया। "गोरखनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की

[१] डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृ० सं० १९५४, पृष्ठ ११७।

कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोकजीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे उन्होंने नयी प्राण शक्ति से अनुप्राणित किया।[१]"

दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का समय सांस्कृतिक द्वन्द्व का काल माना गया है। मुसलमानों के आगमन से जाति प्रथा की कठोरता के कारण संकोचन-शील प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई। जाति-पाँति तोड़ने वाले धर्म सम्प्रदाय के संपर्क में आने से हिन्दुओं ने कच्छप वृत्ति अपना ली और वे अपने आप में सिमट कर संकीर्ण और कठोर होते गए। विचारों की दृष्टि से इसे टीकाओं का युग माना गया है। इस युग के स्वाधीन चिंतन में गत्यावरोध उत्पन्न हो गया तथा यह स्वीकार कर लिया गया कि जो कुछ भी चिंतनीय था, वह तो पूर्वज महर्षियों और आचार्यों द्वारा पहले ही लिपिवद्ध हो चुका है और अब हमारा कार्य केवल उसकी युगजनीन व्याख्या कर अर्थ समझाना है। "टीकाओं की टीका और उसकी भी टीका लिखने में इस काल के पंडितों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। ऐसी ही स्वाधीन चिन्ता की कुंठा के समय बौद्ध और नाथ सिद्धों ने अपनी अक्खड़ शैली में वाह्याचार और निरर्थक रूढ़ियों का प्रचार किया परन्तु उनके पास देने लायक कोई नयी सामग्री नहीं थी। वे केवल अर्थहीन आचारों का विरोध भर करते रहे।[२]" उस समय के वाह्याचारों का उल्लेख कबीर ने भी किया है। सारे देश में नाना प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। कोई वेद का पाठ करता था, कोई उदासी बनकर भ्रमण करता था, कोई दिगम्बर था तो कोई सुरापान में ही मुक्ति की खोज कर रहा था। कोई तंत्र मंत्र औषध्योपचारादि में ही मस्त था, कोई तीर्थव्रती था, कोई धूम्रपान से ही शरीर को काला बना रहा था। अनेकों प्रकार के जंजालों की विकटवाहिनी थी, किन्तु कोई राम नाम में लीन नहीं था।[3] 'ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति की नयी धारा उत्तर भारत की ओर आई। दक्षिण से आया हुआ भक्तिवाद समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था और ऊँच-नीच मर्यादा को स्वीकार करके भी उसकी कठोरता को शिथिल करने में समर्थ हुआ। इनके पास अनन्त शक्ति, ऐश्वर्य और प्रेम के आकर लीलामय भगवान् की शक्ति का संबल था। एक बार भगवान की शरण गहने पर नीच से नीच व्यक्ति अनायास भवसागर पार कर सकता था। इस युग के हिन्दू-

---

[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ १८८-८६।

[२] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, प्र० सं० १९५२, पृष्ठ १०१।

[3] कबीर ग्रन्थावली, पद ३८६।

गृहस्थ के लिए यह एक महत्वपूर्ण निधि थो। इसे बौद्ध और नाथ सिद्ध नहीं दे सके थे, टीका और निबन्धों के लेखक, शास्त्रज्ञ विद्यवान नहीं बता सके थे और अलंकारों से लदी हुई कविता भी नहीं दिखा सकी थी।[1]"

गोरखनाथ की शिष्य परम्परा में आगे चल कर गैनीनाथ—निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वरी के प्रसिद्ध रचनाकार महाराष्ट्रीय भक्त ज्ञानेश्वर हुए। उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' की रचना श्रीमद्भगवतगीता को आधार मान कर की। किन्तु उसके तत्व-निरूपण में नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को ही प्रमुखता दी। 'ज्ञानेश्वरी' में ज्ञानेश्वर ने विट्ठल जी की मूर्ति की ओर स्पष्ट संकेत किया है जिसके मस्तक पर शिवलिंग स्थित है। ज्ञानेश्वर के पिता सन्यासाश्रम त्याग कर पुनः गृहस्थ बने थे, अतः पैठण के ब्राह्मणों ने ज्ञानेश्वर बन्धुओं को ब्राह्मण मानने से अस्वीकार कर दिया। ब्राह्मण समाज और ब्राह्मण पुरोहितों के कारण उन्हें बड़ा अपमानित जीवन व्यतीत करना पड़ा। महाराष्ट्र में उस समय उच्चवर्णियों के कारण शूद्र जाति के अनेक लोग विषमता की बलि बन रहे थे और उद्धार के लिए छटपटा रहे थे। अपनी विशिष्ट हीन-जाति में जन्म लेने के कारण वे अत्यन्त दुखी थे और उस दुख को मिटाने के लिए ईश्वर की आराधना करने लगे थे। पंढरपुर के विठ्ठल इन दीन अंत्यजों के अनन्य उपासक थे। प्रत्येक पक्ष की एकादशी को वे पंढरपुर की यात्रा करते थे और विट्ठल का दर्शन करते थे। 'वारी' एवं 'करी' के समिश्रण से वारकरी सम्प्रदाय बना है जिसका अर्थ है परिक्रमा करने वाला। वारकरी सम्प्रदाय का प्रत्येक अनुयायी प्रतिपक्ष की एकादशी को विट्ठल मूर्ति के दर्शन करता था और आषाढ़ या कार्तिक में पंढरपुर के मन्दिर की परिक्रमा। इन अवसरों पर वारकरी भक्त सात्विक जीवन व्यतीत करते हुए विट्ठल के भजन-कीर्तन में तन्मय रहते थे। और कभी-कभी भावावेश में आकर नृत्य भी करने लगते थे। यह सम्प्रदाय एक प्रकार से स्मार्त्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत आता है जिसमें पंचदेवों की पूजा प्रचलित है किन्तु प्रधानता विट्ठल को ही दी जाती है जिनकी मूर्ति पंढरपुर में भीमा नदी के किनारे बनी हुई है। विट्ठल वस्तुतः बाल-कृष्ण के ही प्रतीक हैं। वारकरी साधक विट्ठल को निर्गुण ब्रह्म मानते हुए और अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए भी भक्ति-साधना को सर्वोत्तम मानते हैं। यह भक्ति वाणी से परे, अनुभवगम्य, अद्वैत या अभेद भक्ति मानी गई है। ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' नामक ग्रन्थ के नवें प्रकरण में लिखा है कि "जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता, देवालय एवं भक्त-परिवार का निर्माण खोद कर

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १०२।

किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी निस्सन्देह एकत्र के रहते हुए भी सम्भव है।" ऐसी ही स्थिति में देव, देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त, भक्तिपन में विलीन हो जाता है और दोनों का अंत हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनन्त होकर प्रकट होता है। जिस प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तादात्म्य हुए बिना भक्ति का होना असम्भव है।[1] निर्गुण की इस अद्वैत भक्ति के लिए ये लोग सगुण रूप को भी एक साधन मानते हैं और उसके साथ तादात्म्य का भाव प्राप्त करने के लिए उसके नाम का निरन्तर स्मरण तथा उसके अलौकिक गुणों का सदा कीर्तन किया करते हैं। इनके यहाँ इस प्रकार भक्ति का और ज्ञान का एक सुन्दर सामंजस्य लक्षित होता है जिसे साधना के रूप में स्वीकार कर किसी भी जाति या श्रेणी का मनुष्य कल्याण का भागी बन सकता है।[2] वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त नामदेव (जन्म सन् १२७०) जाति के दर्जी थे। जाति-हीनता से दुखी नामदेव ने विट्ठल वैद्य को पुकारा और उनकी शरण में गये। उन्होंने एक अभंग में स्पष्ट संकेत किया है कि संसार में दुःखी हुआ इसलिए हे देवराज, मैं आपकी शरण में आया। जब मैं आपकी शरण में आया तब आपने मेरा कुल और जाति नहीं देखी।

हीन जात मोरी पंढरी के राया। ऐसा तुम ने नामा दरजी कायकुं बनाया॥
ताल बिना लेकर नामा राउल में आया। पूजा करते बम्हन उन्ने बाहेर ढकाया॥

इन उल्लेखों से स्पष्ट जान पड़ता है कि वे जन्मतः जाति व्यवस्था की आहुति थे। वर्णव्यवस्था का यह अत्यन्त कटु स्वरूप, उस समय की प्रतिमाओं के लिए कितने बड़े निकष की अपेक्षा रखता था। नामदेव के समसामयिक सेना नाई, सावंता माली, गोरा कुम्हार, चोखा महार आदि भी सन्त इस कुव्यवस्था के ग्रास थे। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए नामदेव ने पुरोहितों के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि "ये शुष्क ज्ञान के मद में चूर दंभी हैं, गर्वोन्नत हैं। भेदाभेद और विधि-निषेध के बंधनों में फँसे हुए हैं। इनसे ईश्वर ज्ञान की क्या अपेक्षा की जा सकती है। इनसे दूर रहना ही अच्छा है।" अतः नामदेव ने स्वयं विट्ठल का भजन और भक्ति करनी प्रारम्भ कर दी। विट्ठल सामान्य हीन जनता के ईश्वर समझे जाते थे। विट्ठल की भक्ति करने में पुरोहितों के माध्यम की आवश्यकता नहीं। डा० वि० मि० कोलते के मतानुसार "पुरोहितों की इस दलाली को वर्ज्य करने के लिये ही महाराष्ट्र

[1] **श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर : श्रीज्ञानेश्वर चरित्र, पृष्ठ २३१ गीता प्रेस, गोरखपुर।**

[2] **पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ६०।**

किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी निस्सन्देह एकत्र के रहते हुए भी सम्भव है।" ऐसी ही स्थिति में देव, देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त, भक्तिपन में विलीन हो जाता है और दोनों का अंत हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनन्त होकर प्रकट होता है। जिस प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तादात्म्य हुए बिना भक्ति का होना असम्भव है।[1] निर्गुण की इस अद्वैत भक्ति के लिए ये लोग सगुण रूप को भी एक साधन मानते हैं और उसके साथ तादात्म्य का भाव प्राप्त करने के लिए उसके नाम का निरन्तर स्मरण तथा उसके अलौकिक गुणों का सदा कीर्तन किया करते हैं। इनके यहाँ इस प्रकार भक्ति का और ज्ञान का एक सुन्दर सामंजस्य लक्षित होता है जिसे साधना के रूप में स्वीकार कर किसी भी जाति या श्रेणी का मनुष्य कल्याण का भागी बन सकता है।[2] वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त नामदेव (जन्म सन् १२७०) जाति के दर्जी थे। जाति-हीनता से दुखी नामदेव ने विट्ठल वैद्य को पुकारा और उनकी शरण में गये। उन्होंने एक अभंग में स्पष्ट संकेत किया है कि संसार में दुःखी हुआ इसलिए हे देवराज, मैं आपकी शरण में आया। जब मैं आपकी शरण में आया तब आपने मेरा कुल और जाति नहीं देखी।

हीन जात मोरी पंढरी के राया। ऐसा तुम ने नामा दरजी कायकुं बनाया।।
हाल बिना लेकर नामा राउल में आया। पूजा करते बम्हन उन्ने बाहेर ढकाया।।

इन उल्लेखों से स्पष्ट जान पड़ता है कि वे जन्मतः जाति व्यवस्था की आहुति थे। वर्णव्यवस्था का यह अत्यन्त कटु स्वरूप, उस समय की प्रतिमाओं के लिए कितने बड़े निकष की अपेक्षा रखता था। नामदेव के समसामयिक सेना नाई, सावंता माली, गोरा कुम्हार, चोखा महार आदि सभी सन्त इस कुव्यवस्था के ग्रास थे। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए नामदेव ने पुरोहितों के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि "ये शुष्क ज्ञान के मद में चूर दंभी हैं, गर्वोन्नत हैं। भेदाभेद और विधि-निषेध के बंधनों में फँसे हुए हैं। इनसे ईश्वर ज्ञान की क्या अपेक्षा की जा सकती है। इनसे दूर रहना ही अच्छा है।" अतः नामदेव ने स्वयं विट्ठल का भजन और भक्ति करनी प्रारम्भ कर दी। विट्ठल सामान्य हीन जनता के ईश्वर समझे जाते थे। विट्ठल की भक्ति करने में पुरोहितों के माध्यम की आवश्यकता नहीं। डा० वि० मि० कोलते के मतानुसार "पुरोहितों की इस दलाली को वर्ज्य करने के लिये ही महाराष्ट्र

[1] श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर : श्रीज्ञानेश्वर चरित्र, पृष्ठ २३१ गीता प्रेस, गोरखपुर।

[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ९०।

सन्तों ने विट्ठल सम्प्रदाय या वारकरी सम्प्रदाय खड़ा किया।[1] विट्ठल की उपासना में भक्तियुक्त नाम-स्मरण का विशेष महत्व है। इसके आगे उन्होंने तीर्थ-सेवन, व्रतोपवास, दानादि को तुच्छ ठहराया। एक निश्चित समय पंढरपुर क्षेत्र में हीन जाति के सन्त एकत्रित होते थे और विचार-विमर्श करने के उपरान्त अपने कार्य-क्षेत्रों में जाकर विट्ठल-भक्ति का प्रचार करते थे। बालकृष्ण स्वरूप विट्ठल के उपासक होते हुए भी वे उसी निष्ठा से राम की भी उपासना करते थे। यही नहीं, इस सम्प्रदाय में विष्णु और शिव दोनों का ऐक्य भाव माना जाता है। इस प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव और शैव-सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है। इसकी साक्षी स्वयं विट्ठलनाथ की मूर्ति है जिसके मस्तक पर शिव आसीन हैं। इस भाँति विट्ठल सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतीक बनकर सारे महाराष्ट्र में आराध्य मान लिये गये। इस सम्प्रदाय में दक्षिण भारत के शैवों और वैष्णवों के बीच चलने वाले संघर्ष का सर्वथा समाहार कर लिया गया। इसका एक ऐतिहासिक कारण भी है। इस सम्प्रदाय के आदिप्रवर्तक ज्ञानेश्वर ने स्वयं नाथसम्प्रदाय में दीक्षा ली थी और नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक स्वयं भगवान शंकर माने जाते हैं। इस प्रकार शैव धर्म का वैष्णव मत से समझौता विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में हुआ। अद्वैतज्ञान तथा भक्ति का पूर्ण सामञ्जस्य विट्ठल सम्प्रदाय की समन्वयवादी प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है।

वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों ने लोक-परलोक को सुधारने का सुगम उपाय नाम कीर्तन को बताया है। नाम-स्मरण की साधना का विट्ठल सम्प्रदाय में विशेष महत्व है। तुकाराम ने स्पष्ट कहा है कि "हरि का नाम ही बीज और हरि का नाम ही फल है। साधन और साध्य, दोनों हरि का नाम ही है। नाम ही सारा पुण्य तथा सब कलाओं का सार है। जहाँ हरि के दास लोकलाज त्याग कर हरि-कीर्तन तथा नाम-स्मरण किया करते हैं, वहीं करुणा रस आकर भर जाता है और संसार के बाँध को लाँघ कर बहने लगते हैं। वेदों के नारायण, योगियों के शून्य ब्रह्म तथा मुक्त जीवों के परिपूर्णात्मा, तुकाराम की दृष्टि में भोले-भाले जीवों के लिये सगुण तथा साकार बाल कृष्ण हैं।[2]"

ज्ञानदेव और नामदेव, दोनों सन्तों ने भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए उत्तर भारत की ओर भी पर्यटन किया था। उस समय समस्त उत्तरभारत मुसलमानों के आतंक से त्रस्त था। इन दोनों सन्तों ने हिन्दुओं के तीर्थस्थानों

---

[1] डॉ० वि० भि० कोलते : मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, पृष्ठ ४६।

[2] पं० बलदेव उपाध्याय: भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५८६।

सन्तों ने विट्ठल सम्प्रदाय या वारकरी सम्प्रदाय खड़ा किया।[१] विट्ठल की उपासना में भक्तियुक्त नाम-स्मरण का विशेष महत्व है। इसके आगे उन्होंने तीर्थ-सेवन, व्रतोपवास, दानादि को तुच्छ ठहराया। एक निश्चित समय पंढरपुर क्षेत्र में सब हीन जाति के सन्त एकत्रित होते थे और विचार-विमर्श करने के उपरान्त अपने कार्य-क्षेत्रों में जाकर विट्ठल-भक्ति का प्रचार करते थे। बालकृष्ण स्वरूप विट्ठल के उपासक होते हुए भी वे उसी निष्ठा से राम की भी उपासना करते थे। यही नहीं, इस सम्प्रदाय में विष्णु और शिव दोनों का ऐक्य भाव माना जाता है। इस प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव और शैव-सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है। इसकी साक्षी स्वयं विट्ठलनाथ की मूर्ति है जिसके मस्तक पर शिव आसीन हैं। इस भाँति विट्ठल सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतीक बनकर सारे महाराष्ट्र में आराध्य मान लिये गये। इस सम्प्रदाय में दक्षिण भारत के शैवों और वैष्णवों के बीच चलने वाले संघर्ष का सर्वथा समाहार कर लिया गया। इसका एक ऐतिहासिक कारण भी है। इस सम्प्रदाय के आदिप्रवर्तक ज्ञानेश्वर ने स्वयं नाथसम्प्रदाय में दीक्षा ली थी और नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक स्वयं भगवान शंकर माने जाते हैं। इस प्रकार शैव धर्म का वैष्णव मत से समझौता विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में हुआ। अद्वैतज्ञान तथा भक्ति का पूर्ण सामन्जस्य विट्ठल सम्प्रदाय की समन्वयवादी प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है।

वारकरी सम्प्रदाय के भक्तों ने लोक-परलोक को सुधारने का सुगम उपाय नाम कीर्तन को बताया है। नाम-स्मरण की साधना का विट्ठल सम्प्रदाय में विशेष महत्व है। तुकाराम ने स्पष्ट कहा है कि "हरि का नाम ही बीज और हरि का नाम ही फल है। साधन और साध्य, दोनों हरि का नाम ही है। नाम ही सारा पुण्य तथा सब कलाओं का सार है। जहाँ हरि के दास लोकलाज त्याग कर हरि-कीर्तन तथा नाम-स्मरण किया करते हैं, वहीं सब रस आकर भर जाते हैं और संसार के बाँध को लाँघ कर बहने लगते हैं। वेद के नारायण, योगियों के शून्य ब्रह्म तथा मुक्त जीवों के परिपूर्णात्मा, तुकाराम की दृष्टि में भोले-भाले जीवों के लिये सगुण तथा साकार बाल कृष्ण हैं।[२]"

ज्ञानदेव और नामदेव, दोनों सन्तों ने भारत के प्रमुखतीर्थ स्थानों को देखते हुए उत्तर भारत की ओर भी पर्यटन किया था। उस समय समस्त उत्तरभारत मुसलमानों के आतंक से त्रस्त था। इन दोनों सन्तों ने हिन्दुओं के तीर्थस्थानों

---

[१] डॉ० वि० भि० कोलते : मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, पृष्ठ ४६।

[२] पं० बलदेव उपाध्याय: भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ५९६।

का विध्वंश एवं मूर्तियों का खंडित किया जाना अपनी आँखों से देखा था। पत्थर के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा-फोड़ा और पानी में डुबो दिया फिर भी वे न क्रोध करते हैं, न क्रन्दन करते हैं। हे ईश्वर ! मैं ऐसे देवताओं का दर्शन नहीं चाहता।—(नामदेव गाथा १३८६)। अतः नामदेव के हृदय में इन देवताओं की साकारोपासना के प्रति कोई श्रद्धा शेष नहीं रही। नामदेव ने पुन: जब अकेले उत्तर भारत की यात्रा की, उस समय स्थिति और भी बिगड़ चुकी थी। मन्दिरों की जगह मस्जिदों का निर्माण होने लगा था। धार्मिक जोश में आकर इस्लाम मतानुयायी मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे थे, अतः नामदेव ने इस विकट समस्या का हल इस प्रकार खोजा—"हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमानु मसीहु। नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीहु।" इस प्रकार उन्होंने इस कथन के द्वारा स्पष्टत: हिन्दुओं के मन्दिरों की भाँति मुसलमानों की मस्जिद का महत्व नष्ट करने के लिये प्रयत्न किया। यह भी लक्ष्य करने की बात है कि विट्ठल सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी उन्होंने मूर्तिपूजा पर बल न देकर नाम-स्मरण की भावना पर ही विशेष जोर दिया। इस भाँति उन्होंने सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर दो परस्पर विरोधी विजातीय मतों के बीच के अन्तर को कम करने का सराहनीय प्रयास किया। नामदेव और उनके समसामयिक सन्तों के प्रयत्न स्वरूप महाराष्ट्र में आयी दक्षिण की भक्ति में परिस्थिति के अनुकूल कतिपय संशोधन किये गए। विट्ठल को ब्रह्म का प्रतीक मानकर कर्मकाण्ड की अपेक्षा हृदय की पवित्रता और मानसिक शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया। नामस्मरण की उत्कट प्रेम-भावना की आँच में जाति और वर्गगत समस्त दोष दग्ध हो गए तथा वैष्णव-भक्ति में लीन किसी भी जाति का साधक उस विशिष्ट धरातल पर पहुँच कर सारे वाह्य उपादानों से मुक्त, शुद्ध-बुद्ध 'सन्त' मात्र रह गया।

इस भाँति महाराष्ट्र में प्रचलित विट्ठल सम्प्रदाय ही पन्द्रहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में प्रचारित होने वाले निर्गुण सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। साथ ही उसमें परिस्थिति-जन्य कुछ संशोधन भी किया गया। दक्षिण की भक्ति जब पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द का प्रेरणा पाकर उत्तर भारत में पहुँची, उस समय उसे नवीन ढंग से व्यवस्थित एवं पर्यवसित किया गया। स्वामी रामानन्दजी प्रपति-मार्ग के अनुयायी थे। यद्यपि प्रपत्ति-मार्ग के मूल व्यवस्थापक रामानन्द नहीं थे। उनके पूर्व, दक्षिण के आचार्यों ने तीन उच्चवर्ग वालों को विष्णु की आराधना का अधिकारी ठहरा कर शूद्रों के लिए 'प्रपत्ति' की व्यवस्था कर दी थी, जिसका मुख्य अभिप्राय निश्शेष भाव से अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देना था। कालान्तर में यही प्रपत्ति-मार्ग दो मतों में विभक्त हो गया—(१) वाड कटाइ (२) टेन कटाइ। प्रथम मतवालों के अनुसार भक्त और

भगवान् का सम्बन्ध किसी बन्दरी की गोद में चिपके हुए बच्चे की भाँति होना चाहिए। वह अपनी माँ के द्वारा कहीं भी ले जाया जाय, कहीं भी उठाकर रख दिया जाय, उसे अपनी ओर से किंचित प्रयास न करना पड़े। इस प्रकार वह अपना सर्वस्व प्रभु को ही समर्पित कर दे।

अतः रामानन्द जी के मत से प्रपत्ति ही एक ऐसा मार्ग था जहाँ कुल-बल, शक्त, अशक्त आदि का कोई भेद-भाव नहीं। यहाँ का द्वार स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच सभी के लिए उन्मुक्त था। परम दयालु भगवान् केवल भाव के भूखे हैं। वे भक्तों की अनन्य शरणागति के वश में हैं। दक्षिण की इस वैष्णवी भक्ति को लेकर जब रामानन्द उत्तर भारत में आये तो यहाँ मूर्तिपूजा की कटु विरोधिनी इस्लामी सत्ता अपना धार्मिक प्रभाव यथेष्ट बढ़ा चुकी थी। सूफी सम्प्रदाय भी अपनी सौम्य मनोवृत्ति एवं प्रेम की पीर को जगा कर विभिन्न वर्गों में व्यवस्थित हो चला था और परोक्षरूप से यहाँ के धार्मिक वातावरण से प्रभावित हो रहा था। इस भाँति रामानन्द की प्रपत्तिपरक वैष्णवी भक्ति के संशोधित प्रयाग, मुसलमानों की मूर्तिपूजा के प्रति विरोधिनी प्रवृत्ति एवं सूफियों की विनम्र भावना, ये तीनों वस्तुएँ निर्गुण सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में सचेष्ट थीं। मध्ययुगीन चिन्ताधारा के सामर्थ्यवान् प्रेरणास्रोत रामानन्द जी ने 'राम' को अपना आराध्य बनाकर ऐसी भक्ति-पद्धति का प्रचार किया जिसका द्वार मानव-मात्र के लिए उन्मुक्त था। उनकी यह सार्वजनिक भक्ति ढाल बनकर विजातीय इस्लाम धर्म की आतंक पूर्ण कृपाण से संघर्ष लेने के लिए पूर्ण सक्षम थी।

सूफ़ी-मत—सूफ़ी-मत का प्रवेश भारत में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२वीं शताब्दी) के समय से माना जाता है। इस देश में आने के पूर्व ही यह मत पश्चिमी देशों में पर्याप्त विकसित हो चुका था। यों तो व्यापार के लिए मुसलमानों का आगमन भारत में ७वीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था और तेरहवीं शताब्दी की अवधि तक बहुत से धर्म-प्रचारक यहाँ आये किन्तु यह शास्त्रीय मुसलमानों (बा-शरा) की साधना-धारा नहीं थी बल्कि बे-शरा (अशास्त्रीय) सूफियों की साधना थी। शास्त्रीय मुसलमान हिन्दू धर्म के धर्म-स्थान पर आघात नहीं कर सकते थे। वे केवल उसके शरीर को नोच-खसोट कर दुःख भर पहुँचा सकते थे पर इन सूफियों ने भारत के हृदय पर प्रभाव जमाया। कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना पद्धति का अविरोधी था।[1] सूफ़ियों के ये चार सम्प्रदाय संगठित रूप में समय-समय पर आकर यहाँ अपना प्रचार करते गये।

[1] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य, पृष्ठ ४७।

१—चिश्ती सम्प्रदाय (बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचारित) सर्वप्रथम प्रचारक : मुउनुद्दीन चिश्ती

२—सुहरावर्दी सम्प्रदाय (तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संगठित) सर्वप्रथम प्रचारक: जियाउद्दीन अबुल नजीब, अब्दुल कादिर, इब्न अबुल्ला

३—कादरी सम्प्रदाय (पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पोषित) सर्वप्रथम प्रचारक: शेख अब्दुल कादिर जीलानी

४—नक़्शबन्दी सम्प्रदाय (सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित) सर्वप्रथम प्रचारक: ख्वाजा बहाउद्दीन 'नक़्शबन्द'

सूफियों के ये चारों सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न प्रचारकों को अपना प्रवर्तक मानते हुए भी मूल-सिद्धान्तों में समान थे। धार्मिक और सामाजिक पक्ष में सभी सम्प्रदाय अत्यन्त उदार और विनम्र थे। चारों सम्प्रदायों में 'जिक्र' (नाम-स्मरण की साधना) का महत्वपूर्ण स्थान था। केवल आचरणपरक दृष्टिकोणों में किंचित् भेदभाव था। उदाहरणार्थ, चिश्ती-सम्प्रदाय के अनुयायी 'जिक्र' के समय 'कलमा' के शब्दों का उच्चारण जोर से करते हैं। जबकि नक़्शबन्दी सम्प्रदाय के साधक ध्यानपूर्वक नतमस्तक होकर 'कलमा' का उच्चारण अत्यन्त मद्धिम स्वरों में करते हैं। ये लोग संगीत को बड़ी उपेक्षित दृष्टि से देखते हैं किन्तु चिश्ती और कादरी सम्प्रदाय वाले धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ते समय गाते-गाते भावावेश में झूमने लगते हैं। इन चारों सम्प्रदायों में चिश्ती सम्प्रदाय का प्रचार भारत में विशेष हुआ। हिन्दी के अधिकांश सूफ़ी कवि इसी सम्प्रदाय के हैं। सूफ़ियों में इस्लामी कट्टरता की तीव्र गन्ध नहीं थी, अतः ये सरलता के साथ हिन्दू समाज की बहुत-सी बातों को अपनाकर बड़ी प्रेमभावना से उन्हें अपनी बातें बता देते थे। वाह्य एवं आन्तरिक आचरण में सूफ़ (ऊन) की-सी निर्मलता और पवित्रता होने के कारण 'सूफ़ी' कहलाये। ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण-जनित प्रेमसाधना, पारस्परिक संवेदनशीलता और विश्वबंधुत्व की भावना पर ये विशेष बल देते थे।

उद्भव—सूफ़ीमत का उद्भव क्रिया-प्रधान, रूढ़िवादी इस्लाम की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। इस्लाम धर्म का मूल मन्त्र है—'ला इलाह इल्लिलाह् महम्मदुर्रसूलिल्लाह्' अर्थात् अल्लाह के सिवा और कोई पूज्य नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल (मार्ग-दर्शक) हैं। अतः पक्का मुसलमान बनने के लिए अल्लाह और उसके रसूल पर पूर्ण विश्वास लाना नितान्त आवश्यक है। इस्लाम ने मूलरूप में जिस ईश्वर की कल्पना की थी, वह शक्तिशाली और निरंकुश प्रभु की कल्पना थी। 'अल्लाह' शब्द का अर्थ ही शक्तिशाली पुरुष होता है।

इस्लाम ने ईश्वर के गुणों में प्रेम को कम किन्तु श्रद्धा और भय को अधिक स्थान दिया है। सनातनी इस्लाम के अनुसार परमात्मा एक है, वह बहुत समीप से सब कुछ देख रहा है। उसी का पूर्व और पश्चिम है। हम जिस ओर भी अपनी दृष्टि घुमाते हैं, उधर हमें अल्लाह का चेहरा दिखाई पड़ता है।[१] छोटे से छोटा गुनाह भी उससे छिपा नहीं और उसका दण्ड अवश्य भोगना पड़ता है। कुरान के अनुसार परमात्मा एक और अद्वितीय है। कोई दूसरा उसके समान नहीं हो सकता। काल और स्थान के बन्धनों से वह परे है। वह अपने आप में पूर्ण और निरपेक्ष है। उसके न्याय में कोई रुकावट नहीं डाल सकता। उसका न्याय उसी का न्याय है। सारी सृष्टि का सिरजनहार और भले-बुरे का बनाने वाला वही है। वह अवतार नहीं लेता। उसकी सृष्टि और उसके बीच और कोई नहीं है। उसकी शक्तिमत्ता एवं निरंकुशता के बारे में कहा गया है कि ऐ पैगम्बर ! तू कह कि खुदा मुल्क का मालिक है। जिसको चाहे राज्य दे और जिससे चाहे राज्य छीन ले और तू जिसको चाहे इज्जत दे और जिसे चाहे बर्बादी दे। खूबी तेरे ही हाथ में है। बेशक तू हर चीज पर सर्वशक्तिमान् है।[२] वह अनन्त इच्छाशक्ति वाला है। जब वह किसी काम का करना ठान लेता है तो बस उसे फर्मा देता है कि हो (कुन) और वह हो जाता है।[३] अल्लाह के सिवाय कोई पूजा के काबिल नहीं, वह महान् और सर्वोपरि है।[४] यों तो कुरान का हर सूरा—शुरू अल्लाह के नाम से (जो) निहायत रहम वाला मेहरबान है—से प्रारम्भ होता है किन्तु स्थान-स्थान पर कयामत के बड़े कठिन दिनों की याद दिलाने के कारण उसे भय और आतङ्क की भावना से ही देखा जाता था। इस में बन्दा खुदा की ओर आँख उठा कर देख भी नहीं सकता था। वह एक दयालु पिता के समान नहीं चित्रित किया गया जो अपने अज्ञानी बच्चों के अपराधों पर ध्यान दे अपितु एक न्यायप्रिय, भावुकता रहित शासक के रूप में है। उसकी कृपा के पात्र वही हैं जो उसकी आज्ञा का पालन करते और उस पर ईमान लाते हैं। कुरान के अल्लाह से कभी कोई वैयक्तिक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता और न बराबरी का दावा करने का साहस कर सकता है। इसी अपराधपूर्ण साहस पर प्रसिद्ध सूफी मंसूर हल्लाज को सूली दे दी गई क्योंकि उसने अन-अल-हक्क (सोऽहम्) का नारा बुलन्द किया

---

[१] श्री बशीर अहमद, एम० ए०, तर्जुमा कुरान शरीफ, पहला पारा, सूरेबकर १२४ (श्री प्रभाकर, साहित्यालोक, लखनऊ)।

[२] वही, तीसरा पारा, सूरे आल इमरान, २५, ४६।

[३] वही।

[४] वही, तीसरा पारा, सूरे बकर, २५४।

था। कुरान शरीफ का इस्लामी चिन्तन एकेश्वरवादी था। इसके विपरीत सूफी-मत की साधना, जीव और ईश्वर की तात्विक एकता और उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास करती थी। अखिल सृष्टि के कण-कण में ईश्वर के सौन्दर्य की झलक देखती थी। नियम पालन और क्रिया के स्थान पर उसमें आन्तरिक अनुराग, आत्म समर्पण की उत्कट आकांक्षा एवं परमात्म-मिलन की तीव्र विरहाकुलता थी। इस्लामी साधना शरीअत (कर्म-मार्ग) तरीक़त (भक्ति-मार्ग) और हक़ीक़त (ज्ञान-मार्ग) से सम्बन्धित थी, किन्तु सूफ़ियों में इन साधनाओं के अतिरिक्त अन्य विशेषता थी और वह थी मारिफ़त अर्थात् ईश्वर से पूर्णतः मिलकर अन-अल-हक्क की स्थिति में पहुँच जाना। उन पर इस्लाम विहित बातों के अतिरिक्त 'मादन-भाव' की भी छाप थी जिसका उदय शामी जातियों के बीच में हुआ और फिर अपनी पुरानी भावना तथा धारणा की रक्षा के लिए सारग्राही सूफियों ने अन्यजातियों के दर्शन तथा अध्यात्म से सहायता ले धीरे-धीरे एक नवीन मत का सृजन किया।[1] और अन्त में उसे शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे डाला। सूफ़ी मत की परिभाषा करते हुए मारुफ़ अल कररवी ने कहा है—परमात्मा विषयक सत्यासत्य का ज्ञान और सांसारिक वस्तुओं का परित्याग ही, सूफ़ी मत का सार है।

अलनूरी के अनुसार सांसारिक वस्तुओं से शत्रुता और परमात्मा से प्रेम करना ही सूफी धर्म है। परम सत्ता के साथ महत्व के बोध की भावना का सूफियों में क्रमशः विकास होता गया। उन्होंने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखा। उसे पाने के लिये उनके हृदय में प्रेम की आकुलता तरंगें मार रही थी। उनके लिये एकमात्र प्राप्य वस्तु परमात्मा का प्रेम था। जैसे-जैसे यह विह्वलता बढ़ती गई, उसी क्रम से उनका धार्मिक आचार-व्यवहारों और अन्ध भाव से किये जाने वाले कार्य-कलापों से पीछा छूटता गया। 'उनके लिए सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों का उद्देश्य उस प्रियतम का प्रेम पाना हो गया। प्रेमातिरेक से ये बेसुध हो जाया करते थे। इस प्रकार की आत्मविस्मृति की अवस्था ध्यान, स्मरण, आदि के द्वारा बहुत अभ्यास के बाद ही सम्भव है। उनके अनुसार ध्यान, स्मरण तथा अन्य क्रियाओं द्वारा अपने अहं को भुला कर ही परमसत्ता के साथ जो व्यवधान हैं, उसे दूर किया जा सकता है।—पहले जहाँ इन साधनों का आदर्श एकान्तिक जीवन, फकीरी, दीनता और विनम्रता था, वहाँ अब परमात्मा को प्रेम द्वारा पाना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। केवल वाह्याचार का यन्त्रवत् पालन सूफियों की दृष्टि में बेकार था। वे अन्तर की शुद्धि तथा हृदय से धर्म के

---

[1] श्री चन्द्रबली पांडेय, तसव्वुफ या सूफ़ीमत, पृष्ठ ९।

नियमों को समझना और उनका पालन करना ही असली धर्म का पालन करना मानते थे।[1]

भारतीय सूफियों के मुख्यतः दो सम्प्रदाय—वुजूदिया और शुहूदिया हैं जो क्रमशः शुद्ध अद्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी हैं। इनका विकास आचार्य शङ्कर और रामानुज के बाद हुआ है,[1] अतः इनके दार्शनिक सिद्धान्तों पर सूफ़ी या इस्लामी प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इनका प्रभाव परवर्ती निर्गुणी तथा सुधारवादी सन्तों पर पड़ा। इन सूफ़ी सम्प्रदायों के ऊपर भारतीय प्रेमानुगा भक्ति-साधना और योग का पूरा प्रभाव पड़ा और अद्वैतवेदान्त से तो ये पहले से ही प्रभावित थे। प्रारम्भिक काल के सूफी सन्तों को वाणियों में हमें उनके सिद्धान्तों को समझने में सरलता होगी—प्रसिद्ध सूफी साधिका राबिया अल अदाबिया अपने साथियों के साथ एकबार एक हाथ में मशाल और दूसरे में पानी लेकर आ रही थी। उन वस्तुओं के लेने का उद्देश्य पूछने पर उसने बताया कि वह मशाल से स्वर्ग को जलाकर भस्म कर देना चाहती है और नरक की आग को पानी से बुझा देना चाहती है जिससे परमात्मा और उसके चाहने वालों के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाय। उसके चाहने वालों के लिए ऐसी कोई वस्तु न रह जाय जिसे पाने की आशा से वे उससे प्रेम करें और न कोई ऐसी ही वस्तु रह जाय जिसके भय से त्रास पाने के लिए वे उसकी आकांक्षा करें। एक बार उससे पूछा गया कि क्या वह परमात्मा से प्रेम करती है? उसने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। तब तो तुम शैतान से अवश्य घृणा करती होगी? उसने तुरन्त कहा कि परमात्मा के प्रेम ने उसके हृदय में शैतान से घृणा करने के लिए स्थान ही नहीं छोड़ा है। इसी प्रकार मुहम्मद साहब से प्रार्थना करते हुए राबिया ने कहा—हे रसूल! भला ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे आप प्रिय न हों पर मेरी तो दशा ही और है। मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है।

जूल नून का कथन है कि परमात्मा का स्मरण ही हमारे प्राणों का आहार है। उनका गुण-गान हमारे प्राणों का जल है। उनसे लज्जा पाना ही हमारे प्राणों का परिच्छद है। उसकी दृष्टि में मारिफत का सम्बन्ध खुदा की मुहब्बत या प्रसाद से है। सर्वस्व समर्पण कर जो परमेश्वर का वरण करता है, परमेश्वर का वही प्यारा है। अबू यजीद के मत से सर्वस्व त्याग से ही उसकी प्राप्ति की जा सकती है। यदि परमात्मा के पाने की इच्छा का भाव भी साधक में हुआ तो, भी

---

[1] श्री रामपूजन तिवारी : सूफी मत—साधना और साहित्य, पृष्ठ २०१, २,३।

उसे पाना कठिन है। तसव्वुफ के प्राण मंसूर हल्लाज का कथन है कि "मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ, जिसे प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राण हैं। यदि तू मुझे देखता है तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है तो हम दोनों को देखता है।" ताजकरतुल औलिया के लेखक ने लिखा है कि "अन-अल-हक्क कहने से उन्हें मौत की सजा तजवीज की गई। पहले उनके हाथ काट डाले गये। वे हँसकर बोले, मेरे इन बाहरी हाथों को काट देना आसान है पर मेरी आत्मा के उन हाथों को जो स्वर्ग के शिखर पर से गौरव का मुकुट उतारने के लिए आतुर हो रहे हैं, काटने में कौन समर्थ हैं? बहुत ज्यादा रक्त बह जाने से उनके चेहरे के फीकेपन से लोग यह न समझ बैठें कि वे वीरता से उस तकलीफ को नहीं सह सके। उन्होंने अपने हाथों से बहते हुए खून को मुँह पर पोत लिया था। अपने ही खून से अपने दोनों हाथ लाल करके उन्होंने कहा था कि यह एक प्रभु-प्रेमी की वजू है। जब उनकी दोनों आँखें निकाल ली गईं तो लोगों में हाहाकार मच गया, बहुत से लोग रोने लगे। जल्लाद जब जीभ काटने लगा तो उन्होंने कहा—जरा ठहर जाओ, मैं एक बात कहना चाहता हूँ। जल्लाद के रुक जाने पर उन्होंने कहा—हे परमेश्वर, जिन्होंने मुझे इतनी पीड़ा पहुँचाई है उन्हें तू सुख से वञ्चित न करना। उन पर नाराज न होना। उन्होंने मेरे हाथ-पैर काट कर, तय करने की मेरी मञ्जिल को कम कर दिया है। अभी ये मेरा सिर काट देंगे तो मैं सूली पर से तेरे दर्शन को समर्थ हो सकूँगा। प्राण निकलने के पहले उन्होंने क़ुरान की दो आयतें पढ़ीं। उनके शव का अग्निदाह किया गया था।[1]" हल्लाज के बारे में शिबली का कथन है कि वह और मैं एक ही बात पर ईमान लाते हैं लेकिन मेरे पागलपन ने मुझे बचा लिया और उसकी बुद्धिमता ने उसका विनाश कर दिया। सचमुच शहीद-शिरोमणि मंसूर का वध 'रक्त बीज' का वध था जो तसव्वुफ के लिए खाद बन गया।

सिद्धान्त और साधना—सूफी मत के सिद्धान्त मूलतः आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद के समान थे। वेदान्तियों और योगियों की भाँति सूफी भी ब्रह्म और जीव के अद्वैतभाव (अन-अल-हक़्क) में पूर्ण विश्वास करता है। योगियों की भाँति पिंड में ही ब्रह्मांड की झांकी देखता है और इस प्रकार निर्मल आचरणों से शरीर को पवित्र बनाते हुए शरीर के भीतर ही अद्वैतानुभूति का आनन्द प्राप्त करता है। इह प्रकार सूफी साधना का चरम लक्ष्य परम सत्ता के साथ 'एकमेक' होना है। सर्वात्मवादी सूफ़ी की दृष्टि से ब्रह्म (हक़) सर्वत्र व्याप्त

[1] **श्री गोपाल नेवटिया : मुस्लिम सन्तों के चरित्र, प्रथम भाग, पृष्ठ १८८-९।**

है और जीव (बन्दा) उसका अंश (जात) होकर उसी में शाश्वत जीवन (बक़ा) के लिए इन्द्रियजन्य वाह्य अस्तित्व (नफ्स) को खो (फना) कर मिल जाता है। सूफियों के विचार से आध्यात्मिक जीवन एक यात्रा (तरीक़ा) है और साधक एक यात्री (सालिक)। सूफ़ी-साधना के चार अवस्थाएँ या सोपान इस प्रकार हैं :—

शरीअत (कर्मकाण्ड) इसके अंग हैं तोबा (किये गये गुनाहों के लिए प्रायश्चित), सब्र (सन्तोष), शुक्र (अहंभाव का नाश) रिजा (आत्म समर्पण), खौफ़ (दण्ड का भय), तवक्कुल (अपरिग्रह), रजा (निर्लिप्त होकर अल्लाह का ध्यान), जिक्र (नाम-स्मरण) तथा मोहब्बत आदि। शरीअत की सामान्य विधि पालन से यह आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, उससे केवल प्रियतम प्राप्ति की उत्सुकता में तीव्रता का संचार होता है। जब उपासक (आबिद) को शरीअत से सन्तोष नहीं मिलता तब वह किसी मुरशिद (गुरु) की सहायता से जेहाद (चित्तवृत्तियों को नियंत्रित करने) की शिक्षा पाकर परम प्रियतम के मिलन के लिए वियोगी बन कर प्रेम मार्ग पर चल पड़ता है और शरीअत को छोड़ कर तरीक़त (उपासना कांड) के क्षेत्र में विचरण करने लगता है और समस्त धर्मों का त्याग कर वह पवित्रता के साथ प्रिय की वियोग भावना में घुलने लगता है। जेहाद से सालिक में मुआरिफ (प्रज्ञा) का जन्म होता है और वह सालिक से आरिफ बन जाता है। इस स्थिति में पहुँच कर वह परमात्म-स्वरूप का चिन्तन करता हुआ वियोग को ही अपना साध्य बना लेता है और वह मारिफत (ज्ञान कांड) एवं हक़ीकत प्रिय में पूर्णतः लीन हो जाना, के क्षेत्रों में पहुँच जाता है।

इस स्थिति में पहुँचने पर वह कर्मकांड के बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसे अपनी ओर से अब कुछ करना शेष नहीं रह जाता। 'हक़ीकत' में उतरने से उसे अपने महबूब (प्रियतम) के जमाल (सौन्दर्य) का दीदार (दर्शन) होने लगता है और वह धीरे-धीरे उस सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वस्ल (मिलन) के क्षेत्र में पहुँच जाता है, फिर अन्त में वस्ल से फना (निर्वाण, परम पद) की दशा तक पहुँच जाता है। उसे इस बात का भान भी नहीं होता कि वह अपने प्रिय से भिन्न है। वह द्वन्द्वों से मुक्त होकर अन-अल-हक्क (मैं ईश्वर हूँ) चिल्लाने लगता है, और इस प्रकार अपने अहं या अस्तित्व का विसर्जन कर 'वक़ा' का आनन्द प्राप्त करता है। वस्तुतः फ़ना और वक़ा की स्थितियों में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। जो परमात्मा की दृष्टि से 'वक़ा' है वही जीव की दृष्टि से 'फ़ना' कहलाती है। अन्तिम स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को मंजिलों की आवश्यकता पड़ती है। वे मंजिलें इस प्रकार हैं। १—नासूत (जाग्रत अवस्था,

नर लोक), २—मलकूत (स्वप्न०, देवलोक), ३—जबरूत (सुषुप्ति, ऐश्वर्य लोक) ४—लाहूत (तुरीय०, माधुर्य लोक)। कुछ सूफियों ने एक अन्य लोक हाहूत (तुरीयातीत, सत्य लोक) की भी कल्पना की है। 'मोमिन शरीअत का पालन कर नासूत में विहार करता है, मुरीद तरीक़त का सेवन कर मलकूत में विचरता है, सालिक मारिफत का स्वागत कर जबरूह में विराम और आरिफ हकीकत का चिन्तन कर लाहूत में तल्लीन होता है। यही सूफ़ियों की पराकाष्ठा और तसव्वुफ की परागति है।'[1]

निकलसन के मतानुसार सूफियों की कोई एक साधना-पद्धति नहीं है। वे विभिन्न पद्धतियों से ईश्वर के समीप पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। सालिक को यात्रा करने से पूर्व नफ्श चित्तवृत्ति को मारकर कल्व, रूह (आत्मा) का विकास करना चाहिए। शुद्ध स्वानुभूति मूलक मारिफत के ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। पुस्तकीय ज्ञान की यहाँ उपेक्षा की गई है। मारिफत के भावावेगमय रूप का नाम ही प्रेम है जिसे पाने के लिए प्रत्येक सूफी व्यग्र रहता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रत्येक साधक के लिए भावातिरेकता को ग्रहण करना पड़ता है तथा हृदय को शुद्ध करने के लिए उसे सात मुकामात से गुजरना पड़ता है। ये क्रमशः प्रायश्चित, अकिंचनता, सन्तोष, अपरिग्रह, ईश्वर विश्वास, धैर्य तथा निरोध हैं।[2]

सूफी साधकों का यह विश्वास है कि भावाविष्टावस्था (वज्द) ही एक ऐसा जरिया है जिससे आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है और उससे एकत्व लाभ कर सकता है। भावाविष्टावस्था में सूफियों ने फना (लय प्राप्त होना), वज्द (भाव), समां (संगीत), जौक़ (स्वाद) शर्ब (पीना), गैबत (अहं से बेखबर होना), जज्बात तथा हाल आदि शब्दों का प्रयोग किया है। एक मात्र सत्य परमात्मा के ध्यानादि से मन के भीतर एक आलोडन पैदा होता है और धीरे-धीरे वह अपने अहं को खो बैठता है। साधक की चेष्टा की यह अन्तिम अवस्था है जिसको प्राप्ति के बाद उसे अपनी ओर से करने के लिए कुछ नहीं रह जाता।[3] भारतीय दृष्टि से सूफी मत की प्रेम साधना, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही है। वैष्णव भक्ति से सूफियों की केवल कर्मकाण्ड की विहीनता है। उनका लक्ष्य जिक्र (जप) और तसव्वुफ (ईश्वरानुभूति) है। यों तो रहस्यवाद के दर्शन विट्ठल सम्प्रदाय के सन्त नामदेव

[1] श्री चन्द्रबली पांडेय : तसव्वुफ या सूफ़ीमत, पृष्ठ ६४।

[2] निकलसन : मिस्टिक्स आव इस्लाम, पृष्ठ ६६, ११२, ४५।

[3] श्री रामपूजन तिवारी : सूफ़ी मत साधना और साहित्य, पृष्ठ २६२।

के काव्य में भी होते हैं किन्तु उसमें भक्ति के बल पर ब्रह्मानुभूति का आनन्द और उल्लास है। प्रेम पियाला पीने वाले खुमार का वर्णन नहीं है।

निष्कर्ष—इस भाँति रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में निर्गुण भक्ति की प्रतिष्ठा करके अमूर्त ब्रह्म को व्यक्तित्व सम्पन्न गुणों से युक्त कर निष्ठापरक मानसिक भक्ति में प्रेम एवं मादकता की स्पष्ट व्यंजना हुई। अन्तिम प्रभाव सूफ़ीमत का पड़ा। डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन यथार्थ है "भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता सूफी मत से ही आई हुई ज्ञात होती है।[1]" इस प्रकार सामान्य धर्म की एक ऐसी भाव-भूमि तैयार हुई जिसमें यायावर की भाँति भटकती जन साधारण की आस्थाओं को आश्रय मिला।

●●●

[1] डा० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृष्ठ १०१।

विषय-सुख तुच्छ है। संसार के सभी कार्य-व्यापार माया के द्वारा सम्पन्न होने वाला मिथ्या अभिनय है। आदितत्व परमात्मा, घट-घट वासी और सर्वत्र रमण करने वाला है इसीलिए योगी उसे 'राम' कह कर पुकारते हैं। जीव, परमात्मा से पृथक् न होकर उसी का अंश है। आत्मा अजर, अमर और अविनाशी है। जब तक जीव माया के वशवर्ती रहता है तब तक उसका भव-चक्र से निस्तार होना कठिन है। अतः ठगिनी माया के जाल से जीवात्मा को मुक्त करना, साधक का प्रथम कर्त्तव्य है। माया का कुहासा दूर होने पर ही जीव को ब्रह्म के दर्शन होते हैं। कर्मकाण्ड के आडम्बर, भस्मधारण, तीर्थ सेवन, तुलसी-माला, चन्दन, व्रत-उपवास एवं शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देने से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वाक्य-ज्ञान की निपुणता से भी उसकी प्राप्ति असम्भव है। शुष्क ज्ञान, चमत्कार-प्रदर्शन, कुण्डलिनी-जागरण, प्राणायाम एवं कोरे तर्क अथवा वाद-विवाद से भी वह आत्माराम वश में होने का नहीं। उसे बाहर खोजने की भी आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अखिल प्राणी-मात्र के अन्तर में विद्यमान है। एकमात्र भक्ति या प्रेम से ही वह वश में किया जा सकता है। भक्ति ही मानव-जीवन का सर्वस्व है। हरि-भक्ति के बिना संसार में जीवित रहना व्यर्थ है। सांसारिक जीवन को तो धुएँ के महल की भाँति नष्ट होते देर नहीं लगती !

कबीर हरि की भगति बिनु, ध्रिग जीमण संसार।
धूँवाँ केरा धोलहर, जात न लागे बार॥

—क० प्र० चितावणी को अंग २७

जिस कुल में भगवान् के भक्त उत्पन्न नहीं होते, वह कुल ढाक पलास की भाँति है। भक्ति के आवेग में कबीर यहाँ तक कह देते हैं कि "राम-भक्ति की साधना से विमुख रहने वाले व्यक्ति को जन्म लेते ही मर जाना चाहिये था।" इस प्रकार सन्तों की साधना प्रधानतः भक्ति की साधना है। भक्ति को ही सभी सन्त एक स्वर से इस निस्सार संसार में सार-वस्तु समझते हैं और वही मनुष्य की श्रेयस्करी उपलब्धि का साधन होनी चाहिए। कबीरदास जी अपने युग की विचित्र स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि" उस समय सारा देश विभिन्न प्रकार की साधनाओं से भरा हुआ था। कोई वेद-पाठ को ही सब कुछ समझ रहा था। कोई संसार से उदासीन बना भटक रहा था। कोई योग के युक्ति साधन में शरीर को क्षीण बना रहा था कोई दान-पुण्य में लगा हुआ था, कोई सुरापान को ही चरम लक्ष्य माने बैठा था, कोई तंत्र-मंत्र औषधादि के चमत्कार दिखला कर सिद्ध बना फिरता था, कोई धूम्र पान कर शरीर को काला बना रहा था, किन्तु राम-नाम के प्रति किसी का अनुराग नहीं था और इस प्रकार

बिना राम-नाम के वे सब मुक्ति से कोसों दूर थे।[1] अल्लाह और दशरथ-सुत राम का झगड़ा भी मनुष्य-मनुष्य के बीच साम्प्रदायिक दीवाल खड़ी करने वाला था, अतः कबीरदास की लौ इन दोनों से परे परम-तत्व पर लगी हुई थी—
"अलह राम की गम नहीं, तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय।"

सन्त-साहित्य में हमें एक ऐसी विशिष्ट वस्तु मिलती है जो उनके पूर्ववर्ती न तो सिद्धों और नाथों में मिलती है, और न कर्मकाण्डी पण्डितों या मुल्लाओं में। जिस अनमोल पारस को पाकर निम्नवर्गी सन्त वन्दनीय बन गए, वह राम की भक्ति ही थी। सन्तों की यह भक्ति-साधना ही सन्त-साहित्य की विशिष्ट विचारधारा है और यही भक्ति की देन भारतीय समाज को सन्तों की अभूतपूर्व देन है।

सन्त कवि और उनका साहित्य, देशकालातीत है। उन्हें किसी स्थान और समय विशेष की सीमा के बीच नहीं बाँधा जा सकता। सन्तमत उस प्रकार का सम्प्रदाय नहीं है जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुष द्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं। वह एक धारा है। (अविच्छिन्न धारा) जो आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अब तक बह रही है। भक्ति मार्ग ने मुमूर्षु हिन्दूजाति में जान डाली, सन्त मत ने सक्रियता प्रदान की।[2]

सन्त कवियों ने 'कागद की लेखी' की अपेक्षा 'आँखिन देखी' को सहज बोल-चाल की भाषा में व्यक्त किया। शास्त्र का अन्धानुकरण न कर स्वानुभूति पर ही विशेष बल दिया। सन्त-साहित्य में किसी प्रकार के शाब्दिक चमत्कार या साहित्यिक सौन्दर्य की खोज करना व्यर्थ है। यह बात दूसरी है कि ये तत्व उनकी वाणी में अनायास ही आ गये हैं। सन्तों के पूर्व नाथ-सम्प्रदाय ने भी जनवाणी को अपना कर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, किन्तु यौगिक सिद्धान्तों के नीरस विवेचन से बोझिल होने के कारण वह भाषा, जनता को रुचिकर न हो सकी। सन्तों ने मानव-धर्म-तत्व का निरूपण जिस सहज-भाषा में किया, वह विराट् जन सरिता के दोनों कूलों को छूकर बह रही है। उसमें जन-जीवन के कटु-मिष्ट क्षणों की रम्यभाव-लहरियाँ तरंगित हो रही हैं, अतः उसमें काव्यगत सौंदर्य की सृष्टि स्वतः हो गई। इसी नैसर्गिक सुषमा के

[1] डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली', पाँचवाँ संस्करण, २०१२ वि०, पद ३८६।

[2] 'कल्याण' साधनांक, प्रथम खण्ड, सौर श्रावण १९९७, श्री सम्पूर्णानन्दः सन्त-मत में साधना, पृष्ठ ३७७।

कारण सन्त-साहित्य हिन्दी भक्ति साहित्य के बीच स्पृहणीय ढंग से समादृत हो सका।

सन्त-साहित्य में सन्तों के अनुभवगम्य ज्ञानानुभूति की ही चर्चा है। उन्हें अपनी स्वानुभूति पर दृढ़ विश्वास था, अतः उन्होंने निगमागम पुराण की साक्षी देकर अपने कथन की पुष्टि करने का किंचित् प्रयास नहीं किया वरन् कबीर ने आक्रोश के साथ 'पुस्तक देइ बहाइ' तक की बात कही है। सन्त-साहित्य में शास्त्र-सम्मत पौराणिक परम्पराओं के प्रति उपेक्षा प्रगट की गई है। इस साहित्य की प्रखर तेजस्वी धारा पौराणिक हिन्दूधर्म के आचार बाहुल्य को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई प्रवाहित हुई है किन्तु विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि सन्तकवियों ने प्रायः इन आचार-विचारों के उपरले स्तर को ही देखा है। स्तर-पटल को भेद कर तत्ववाद की गहराई में पहुँचने की इन सन्तों ने आवश्यकता नहीं समझी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन सत्य ही है कि "शायद ही किसी दार्शनिक तत्ववाद या पौराणिक रहस्य-व्याख्या का उल्लेख उनके ग्रन्थ में पाया जाय।[1]" वेद-पाठ, तीर्थ-स्नान, अवतारोपासना, व्रतोपवास, स्पृश्यास्पृश्य, स्वर्ग-नरक आदि के बारे में कबीरदास जी ने जलते हुए प्रश्न बेचारे विवेक शून्य पत्राधारी अधकचरे पण्डित या पाण्डे से पूछे हैं, पर उस सीधे जबाब को प्रश्नकर्ता ने एकदम भुला दिया है। "ग़लत हो या सही 'पण्डित' यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्म-प्रवाह का फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्म के एक दुर्वार प्रवाह में बहे जा रहे हैं। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्म प्रवाह की युक्ति के भीतर से समझाना चाहिये या फिर जन्म-कर्म प्रवाह के इस विश्वास को ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिये। यह अत्यन्त मोटी-सी बात है। पर कबीरदास के निकट 'पण्डित' या 'पाण्डे' इतना अदना-सा और उपेक्षणीय जीव था कि उन्होंने कभी इस रहस्य को समझने की कोशिश नहीं की।[2]"

वेद-शास्त्र का विरोध, बाह्याडम्बर का प्रत्याख्यान, आचरण-शुद्धता का विमोह, जन्मगत उच्चता की अमान्यता आदि मुस्लिम प्रभाव के फल नहीं बल्कि इनकी सुदीर्घकालीन परम्परा है।[3] डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के कथनानुसार आर्यजातियों के अधिकार प्रतिष्ठा के बाद ही यह धारा प्रवाहित होने लगी

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १३०।

[2] वही, पृ० १३१।

[3] पाटल, सन्त साहित्य विशेषांक, पृष्ठ १५१।

थी। वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणों की उच्चता के विरोध का स्वर उपनिषदों में भी स्पष्ट है। उपनिषदों में उल्लेख प्राप्त करने वाले विदेह जनक, याज्ञवल्क्य और अजातशत्रु का सम्बन्ध भारत के पूर्वीय भू-भाग से है और उसी भूमि में बौद्ध-धर्म का उद्भव और विकास हुआ जिसमें आचरण की पवित्रता की प्रतिष्ठा और जातिगत उच्चता का विरोध है। बौद्ध धर्म का उत्तर-विकास भी इस क्षेत्र को प्रभावित करता है। सिद्धों और नाथों का सम्बन्ध इस क्षेत्र से बना रहता है। इस परम्परा का नव-विधान ही कबीर की वाणियों में प्राप्त होता है। ये धारणाएँ इस्लामी प्रभाव के कारण नहीं, इस प्रभाव के कारण थोड़ी बहुत स्पष्टता इन धारणाओं को अवश्य मिली।[1] अतः सन्त-साहित्य की मूल प्रवृत्ति खोजते हुए हमारी दृष्टि सिद्धों और नाथों के साहित्य तक पहुँचती है। वज्रयानी-सिद्ध सामाजिक विद्रोही थे। उन्होंने अपने समय के धार्मिक विचारों और अन्ध-रूढ़ियों का निर्ममता के साथ खण्डन करते हुए जीवन के प्रति एक सहज अनुभूति की प्रतिष्ठा की थी। वज्रयानी चौरासी सिद्धों में सरहपाद या सरहपा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने शास्त्र को मरुस्थल कहा है जिसके फेर में पड़ कर मनुष्य का निस्तार होना असम्भव है तथा गुरु-वचन रूपी अमृत रस से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

गुरु बअण अमिअ रस, धवड़िण पिबि अउ जोंहि।
बहु सात्तात्थ मरुस्थलेंहि, तिसिअ मरिब्बोत्तोंहि॥[2]

सरह ने मन्त्र-जाप को भी व्यर्थ बतलाया है, इससे शान्ति मिलने की नहीं। जो दीवाल गिर चुकी, वह क्या उठ सकती है। जाति-भेद पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे, पहले कभी हुए होंगे किन्तु आज प्रत्यक्ष में तो वे भी दूसरे लोगों की भाँति योनि से ही पैदा होते हैं, तब फिर ब्राह्मणत्व कैसा? और यदि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो अन्त्यज भी संस्कार लेकर ब्राह्मण हो सकता है।[3] पण्डितों की खबर लेते हुए कहते हैं—
''पंडित सयल सत्य बक्खाणअ। देहहिं पुद्ध वसन्त न जाणअ। ७४
इसी प्रकार'' किन्तह तित्थ तपोवण जाई। मोक्ख कि लब्भह पाणी न्हाइ॥
घर छोड़कर वन में जाना वे ठीक नहीं समझते। साधु होना भी बेकार है।

---

[1] पाटल, सन्त साहित्य विशेषांक, पृष्ठ १५२।

[2] सिद्ध सरहपाद, दोहा कोश संख्या ४, सम्पादक राहुल सांकृत्यायन, प्रथम स०, वि० २०१४।

[3] श्री वियोगीहरि द्वारा सम्पादित, 'सन्त सुधासार', सिद्ध सरहपाद, दोहा ४।

उनका कथन है कि घर में रहो या वन में, सर्वत्र तो निरन्तर बोधि (परम ज्ञान) स्थित है, फिर कहाँ भव (संसार) और कहाँ निर्वाण ? न घर में बोधि है न वन में। इस भेद को अच्छी तरह से समझ लो। चित्त का निर्मल होना असली बात है, इसका बराबर ध्यान रखो। सरह सहज जीवनयापन पर विशेष जोर देते हैं। वे सहज जीवन के भोगों को त्याज्य नहीं मानते। हाँ, उनमें आसक्ति त्याज्य है। उनका कथन है कि विषयों में रमण करते हुए भी विषयों में लिप्त न हो। सहज की साधना से चित्त को तू अच्छी तरह विशुद्ध कर ले। इसी जीवन में तुझे सिद्धि प्राप्ति होगी और मोक्ष भी।[1] न तीर्थ सेवन करो, न तपोवन को जाओ। तीर्थों में स्नानादि करने से मोक्ष लाभ होने को नहीं, न देव-प्रतिमा की पूजा करो, न तीर्थ यात्रा। देवाराधन से तुझे मोक्ष मिलने का नहीं। अपूर्व आनन्द के भेद को जो जानता है, उसे सहज का ज्ञान एक क्षण में प्राप्त हो जाता है।[2] जैनी सन्त मुनि देवसेन भी जाति-भेद को नहीं मानते। उनके मत से जो भी धर्म का आचरण करता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वही श्रावक है। श्रावक के सिर पर क्या कोई मणि चिपकी रहती है।[3] मुनि रामसिंह ने कहा है कि हे मुण्डियों में श्रेष्ठ ! तूने मस्तक तो मुँड़ा लिया पर चित को नहीं मुँड़ाया। संसार का खण्डन चित्त को मुँड़ाने पर ही होता है। अनेक तीर्थों में भ्रमण करने वालों को भी कुछ फल नहीं मिला। बाहर तो पानी डाल कर शुद्ध हो गया पर अभ्यन्तर ? वह तो वैसा ही रहा।[4] गुरु गोरखनाथ ने भी इन्हीं सिद्ध-जैनियों के कथन की पुष्टि की—

देवल जात्रा सुंनि जात्रा तीरथ जात्रा पाणीं
अतीत जात्रा सुफल जात्रा बोलै अमृत वाणीं।
अवधू मन चङ्गा तो कठौती ही गङ्गा। बान्ध्या मेल्हा तौ जगत्र चेला।[5]

इस प्रकार इन सिद्धों, जैनियों और नाथ-गुरुओं ने वेद-शास्त्र, तीर्थ-सेवन, वाह्याचार एवं जन्मगत उच्चता के विरोध में जो तीव्र व्यंग्य किये हैं, लगभग इसी शैली और इसी तीव्रता के साथ आगे चलकर सन्त कवियों ने भी किया। आगे के पृष्ठों में विस्तार से उस पर विचार करने का अवसर मिलेगा।

---

[1] श्री वियोगी हरि द्वारा संपादित, 'संत सुधासार,' तिल्लोपाद, दोहा संख्या २।

[2] वही।

[3] वही, मुनि देवसेन १। ५, ६, ८।

[4] वही, मुनि रामसिंह २२, २६।

[5] वही, 'सन्त सुधासार,' गोरखनाथ २२, २८।

उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा का जो उत्थान वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ था, उसकी पूर्वपीठिका का निर्माण महाराष्ट्र में विट्ठल सम्प्रदाय के सन्तों द्वारा प्रशस्त हो चुका था। विट्ठल सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त ज्ञानदेव और नामदेव ने उत्तरी भारत की यात्रा भी की थी. इस प्रकार उक्त सन्तों ने हिन्दी सन्तसाहित्य की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। नामदेव और कबीर की विचारधारा एक ही भूमि पर प्रवाहित हुई है। पूर्ववर्ती होने के नाते वे उनके प्रेरक शक्ति रहे हैं। स्वानुभूतिजन्य सत्यान्वेषण, सद्गुरू के महत्व का प्रतिपादन, सुमिरन या नाम स्मरण का आग्रह तथा वाह्याडम्बर की व्यर्थता आदि के उद्धरण देकर आचार्य विनयमोहन जी ने नामदेव को सन्त-मत का प्रवर्तक होना सिद्ध किया है। उनका कथन है, यह सत्य है कि "कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में नहीं मिलतीं परन्तु जो कुछ प्राप्य हैं उनमें उत्तर भारत की सन्त परम्परा का पूर्व आभास मिलता है और उनके परवर्ती सन्तों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है—जिसे उन्होंने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। सम्भवत: हिन्दी जगत् तक उनके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी न पहुँच सकने के कारण उन्हें वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका, जिसके वे अधिकारी हैं।"[1] निस्सन्देह अपनी विचारधारा के लिए कबीरदास जी सन्त नामदेव के अवश्य ऋणी हैं किन्तु प्रभूत सामग्री के अभाव में उन्हें प्रवर्तक का पद नहीं मिल सका। एक प्रकार से वे नींव की प्रौढ़ शिला हैं जिन पर सन्त-मत का विशाल प्रासाद खड़ा हुआ है। परवर्ती सन्त कवियों ने नामदेव जी के ऊपर श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हुए उनकी इस देन को (तन्मयतामूलक भक्ति को) स्पष्ट स्वीकार किया है।[2] उत्तरी भारत की यात्रा करते हुए नामदेव ने जिस निर्गुण मत का प्रचार किया था, वह वस्तुत: महाराष्ट्र का वारकरी पन्थ था। इस पन्थ के अनुयायी वेद की प्रामाणिकता तथा वर्णव्यवस्था को स्वीकार करते हुए वाह्याडम्बरों से विगत होकर सर्व सुलभ भक्तिमार्ग का प्रचार कर रहे थे। वाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा वे आन्तरिक तन्मयतामूलक भावना को प्रश्रय देते थे। इस पन्थ की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सर्वतान्मुखी व्यापकता थी जिसमें धनी-निर्धन, सवर्ण-असवर्ण, गृहस्थ-विरक्त तथा ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक का स्थान था। पन्ढरीनाथ का द्वार

---

[1] आचार्य विनयमोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, प्रथम संस्करण ५७, पृष्ठ १२६।

[2] कबीर ग्रन्थावली ३२८, श्री वियोगीहरि द्वारा सम्पादित 'सन्त सुधासार', पृ० १८३, ४४१, ५२०, ५६०।

स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान-भाव से खुला हुआ था। नामदेव के समसामयिक सभी सन्त प्रायः हीन-जाति के थे। सेन नाई, सावन्ता माली, बङ्का और चोखा महार, नरहरि सुनार, गोरा कुम्हार और दासी जनाबाई आदि सब वारकरी-सम्प्रदाय के विट्ठल भक्तों में सम्मिलित हुए थे। जातिहीनता के दुःख से मुक्ति पाने के लिए ये विट्ठल भक्ति में लीन हुए थे, क्योंकि विट्ठल सामान्य हीन जनता के आराध्य थे। इनकी भक्ति के लिए पुरोहितों के माध्यम की आवश्यकता न थी। पुरोहितों की इस दलाली को वर्ज्य करने के लिए ही महाराष्ट्र सन्तों ने विट्ठल सम्प्रदाय या वारकरी सम्प्रदाय खड़ा किया।[1] नामदेवादि सन्तों ने क्षुद्र देवताओं की उपासना, तीर्थक्षेत्र, व्रत दान एवं आचार-धर्म की निन्दा करते हुए भक्ति युक्त नामस्मरण को ही विहित बतलाया। कहा जाता है कि नामदेव अपनी तरुणावस्था में सगुणोपासक थे किन्तु तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् वे निर्गुणवादी हो गए और किसी मूर्ति-विशेष में अपने 'विट्ठल' को सीमित न मान कर सर्वत्र और समस्त प्राणियों में उसकी छवि देखने लगे—"इमें वीठल, ऊमें वीठल, वीठल बिन संसार नहीं।" मूर्तिपूजा के विरोधी इस्लाम धर्म के अनुयायी शासकों द्वारा मूर्ति का निर्मम भंजन नामदेव ने अपनी आँखों से देखा था और उसकी इन पर बड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई। 'पत्थर' के देवताओं को मुसलमानों ने तोड़ा-फोड़ा और पानी में डुबो दिया फिर भी वे क्रोध करते हैं न क्रन्दन—'हे ईश्वर! मैं ऐसे देवताओं के दर्शन नहीं चाहता।' इन देवताओं और उनके निवास स्थानों के प्रति नामदेव की कोई आस्था न रही। इस्लाम-धर्म के प्रचार के कारण मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण होने लगा था, अतः नामदेव ने मन्दिर-मस्जिद की भेद-भावना का निराकरण करने के लिए यह आवाज बुलन्द की—"हिन्दु पूजै देहुरा मुसलमाणु मसीत। नामें सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत।" इस प्रकार हिन्दुओं के मन्दिरों की तरह मस्जिद का भी महत्व नष्ट करने का उनका यह अल्प प्रयत्न था। ईश्वर मन्दिर में भी नहीं और मस्जिद में भी नहीं। मस्जिद में अल्लाह है, यह समझ कर धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं।

वारकरी सम्प्रदाय पर नाथ-मत का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। क्योंकि नाथ-सम्प्रदाय की भाँति वारकरी भी अद्वैत-तत्व को मान्यता देते हैं। गोरखनाथ की शिष्य-परम्परा में ही नामदेव के गुरु नाथपन्थी विसोबा खेचर हुए हैं। नाथ-सम्प्रदाय की मानसिक आचारनिष्ठा, अनाहदनाद का श्रवण, पवन बँध एवं परम्परागत कर्मकाण्डों के प्रति उपेक्षा की भावना तथा अन्ध विश्वासों को तोड़ने

---

[1] डॉ० वि० मि० कोतले, मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य, पृ० ४६।

की उग्रता, वारकरी सन्तों में ज्यों की त्यों उतर आई और इनके द्वारा सन्त-साहित्य को विरासत के रूप में प्राप्त हुई। इस प्रकार वारकरियों ने नाथ-सम्प्रदाय की आन्तरिक भावना को ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में ही भक्ति की साधना का प्रचार किया। नामदेव ने तो स्पष्ट स्वरों में कहा—

इडा पिंगला अउरु सुखमना, पऊनै बाँधि रहाऊगो।
चन्दु सूरजु दुइ समकरि राखऊ ब्रह्म ज्योति मिलि जाऊगो ॥
तीरथ देखि न जल महि पैसउ जीम्र जन्त न सतावऊगो।
अठसठि तीरथ गुरू दिखाए, घट ही भीतर नहाउगो ॥

इस भाँति सिद्धों और नाथों द्वारा जिन विचारों की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी, उन्हीं स्वरों में नामदेव ने भी अपनी बात जनता तक पहुँचाई। आठवीं शताब्दी में होने वाले सरहपाद ने कहा था—

मोक्ख कि लब्भइ ज्झाण पविट्ठो। किन्तह दीवें किन्तह णिवेज्जं।
किन्तह किज्जइ मन्तह सेव्वं। किन्तह तित्थ तपोवण जाइ।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाइ।

नामदेव की उक्ति है—

होम नेम ब्रत तीरथ साधो, क्या हुआ बन खंड बासा रे।
चरन कमल उर मा उपजै नहिं, तौ लग झूठी आसा रे ॥

गुरु द्वारा दिखाये गए अड़सठि तीर्थों में घट में ही स्नान करने के द्वारा नामदेव ने नाथपन्थ की 'काया-तीर्थ' परक साधना को ही अपनाया। गुरु-महिमा का गुणगान तथा अनन्त वेद, पुराण, शास्त्रों की उपेक्षा कर अनहद-वेणु बजाने की कल्पना पूर्णतया नाथ-मत के अनुकूल है।

हिन्दू और मुसलमान, इन दो धर्मों की सम्मिलन भूमिका स्थापित करने के विचार से नामदेव की दृष्टि धर्म के सामान्य तत्व मानसिक भक्ति और नाम-स्मरण की ओर रही। नामदेव की विचारधारा और उनके आराध्य विट्ठल की स्पष्ट छाप कबीर पर परिलक्षित होती है। प्रवृत्ति में निवृत्ति का समन्वय, जाति-भेद विहीनता, ब्रह्म की निर्गुणता, अनन्य प्रेम भावना, निर्गुण और नामसाधना आदि के तत्व, नामदेव और कबीर दोनों ही में समान रूप से मिलते हैं। 'मन मेरो सुई तन मेरा धागा' आदि जातिपरक उपकरणों के माध्यम से नामदेव ने भगवद्-भजन के साथ-साथ सांसारिक कर्म करना भी उचित समझा है। "नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दुध, तुम कहा के बम्हन हम कहा के सुद" आदि आक्रोशमयी उक्तियों के द्वारा उन्होंने जाति-भेद विहीनता का समर्थन किया है। वारकरी सन्तों की मान्यता है कि जिस प्रकार गङ्गा, सागर से भिन्नरूप होने से कभी नहीं मिल सकती, वैसे ही परमात्मा के साथ तद्रूप हुए बिना भक्ति का होना असम्भव है।

निर्गुण की अद्वैत भक्ति में तादात्म्य की भावोपलब्धि के लिए वारकरी-पन्थ में आराध्य के प्रति अनन्य प्रेम भावना, नाम का निरन्तर स्मरण एवं उसके अलौकिक गुणों का नित्य गायन आवश्यक है। इस प्रकार वारकरी सन्तों में भक्ति और ज्ञान का सुन्दर सामञ्जस्य परिलक्षित होता है और यही सामञ्जस्य हमें परवर्ती सन्तों में भी मिलता है।

स्वामी रामानन्द द्वारा भक्ति में दीक्षित शिष्य अपनी विचार-निष्ठा में पूर्ण स्वतन्त्र थे। परम्परा और युग के प्रभाव को लेकर वे सगुण और निर्गुण उपासना के सन्धि-स्थल में खड़े थे और क्रमशः उनका झुकाव निर्गुणोपासना की ओर होता जा रहा था।[1] कबीर के पूर्ववर्ती इन सन्त कवियों में हमें सन्त-साहित्य की विशिष्ट-विचारधारा का एक क्षीण सङ्केत मिलता है। सन्त सेन नाई, धना, पीपा, और रैदास जी की गणना स्वामी रामानन्द के शिष्यों में की जाती है। इन सबकी विचारधारा तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर एक ही भाव-भूमि पर प्रवाहित हुई है। उच्च आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करते हुए इन सभी सन्तों ने अपनी जाति कुल क्रमानुसार गृहस्थाश्रम में रहकर जीविकोपार्जन किया तथा सरल, शान्त, आडम्बर शून्य जीवन बिताते हुए सब प्रकार के प्रपंचों से दूर रहे। नाथ योगी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से अनुप्राणित होने के कारण ही वारकरी-पन्थ में योग और भक्ति का समन्वय लक्षित होता है।

इन सन्तों के अतिरिक्त सुदूर कश्मीर में लल्ला या लालदेद नामक एक भ्रमणशील भगिनी भी थी जो धार्मिक मतभेदों से दूर रहकर सरल और समन्वयात्मक विचारों का प्रचार किया करती थी। यह सन्त नामदेव के समकालीन कही जाती हैं और इनके पदों का संग्रह 'लल्ला वाक्यानि' के नाम से डॉ॰ ग्रियर्सन द्वारा प्रकाशित हो चुका है। शैव-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण इसके पदों में शैव-मत की योग-साधना का पुट पाया जाता है। डॉ॰ ग्रियर्सन के मतानुसार लालदेद की अनेक महत्वपूर्ण बातों से कबीर भी प्रभावित हुए थे। यद्यपि लालदेद मूर्ति-पूजा की विरोधिनी नहीं थीं किन्तु विचारों के क्षेत्र में वे कबीर की ही भाँति क्रांतिकारिणी थीं। जिस प्रकार कबीर ने राम-रहीम, केशव-करीम की एकता प्रतिपादित कर हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की थी उसी प्रकार लालदेद ने भी कहा था कि "शिव, केशव, जिन वा नाथ में कोई भी वास्तविक अन्तर नहीं, किसी एक के प्रति हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है।[2]" कबीर की भाँति

---

[1] डॉ॰ रामकुमार वर्मा, अनुशीलन, पृष्ठ १२१।

[2] पं॰ परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ १०३।

लालदेद ने भी उलटवासियों के प्रयोग किये हैं किन्तु इन दोनों के बीच की कड़ी को जोड़ने वाले प्रमाणों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

इस प्रकार इन सन्तों की रचनाएँ सन्त-साहित्य की भूमिका-निर्माण का कार्य करती हैं। इसी पृष्ठभूमि पर आगे चलकर सन्त कबीर ने उत्तरी भारत में सन्त साहित्य का प्रवर्तन किया तथा नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, चरणदास, गरीबदास और तुलसी साहब आदि तत्वदर्शी कवियों ने, जगजीवनदास, गुलाबसाहब, दूलनदास, दरिया साहब (बिहार वाले) तथा यारी साहब आदि भावना-सम्पन्न कवियों के साथ मिल कर इसे वह व्यापकता प्रदान की जिसकी शीतल-सुखद-काव्यधारा में अवगाहन करने से एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक तुष्टि की उपलब्धि होती है।

यहीं पर सूफ़ीमत के उन तत्वों की चर्चा करना असङ्गत न होगा जिनकी प्रेम-साधना के समन्वय से सन्त-साहित्य की साधना में एक अनुपम मधुरता का समावेश हो सका। दो विजातीय धर्मों की टकराहट मे जो समस्या उत्पन्न हुई, उसका हल खोजने का प्रयत्न भी उसी ने किया। डॉ० बड़थ्वाल का कथन है कि "सम्मिलन की भूमिका का मूल आधार हिन्दुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफ़ी-मत ने प्रस्तुत किया।[१]" निर्गुण सम्प्रदाय को प्रभावित करने वाली सूफ़ियों के आचार की पवित्रता विशेष उल्लेखनीय है। सुफ (ऊन) की भाँति निष्कलुष वाह्याचरण की पवित्रता, आध्यात्मिक रङ्गीनियों से सराबोर हृदय की शुद्धता एवं प्रकृति के कण-कण में अपने प्रियतम का दीदार तथा प्रेम और उसकी मादकता जिससे प्रतीकों के द्वारा रहस्यवाद (तसव्वुफ) की पूर्णाभिव्यक्ति हो सके, यही सूफ़ियों की कतिपय विशेषताएँ हैं जिन्होंने सन्त-साहित्य को प्रभावित किया। इस नवीन समन्वय की अभिव्यक्ति मुस्लिम दम्पति पालित एवं रामानन्द जी द्वारा दीक्षित कबीर के द्वारा हुई जिन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि परमात्मा अभिन्न और अमूर्त है। बाहरी कर्मकाण्डों के द्वारा उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। प्रेमानुभूति के सहारे उसे अपने भीतर पाया जा सकता है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न कर्मकाण्ड वस्तुतः हमें परमात्म-पथ से हटाकर लक्ष्य-भ्रष्ट करते हैं। सृष्टि में सर्वत्र उसकी सत्ता व्याप रही है। मनुष्य का हृदय भी उसका पवित्र निवास स्थान है, अतः बाहर न भटक कर उसे अपने भीतर ढूँढ़ना चाहिए। सूफ़ियों की पारस्परिक सहानुभूति एवं विनम्रता की छाप हमें सन्त दादूदयाल में विशेष देखने को मिलती है। उनके स्वभाव में विनयमिश्रित मधुरता का समावेश प्रभूत

---

[१] **डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दीकाव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ २७।**

मात्रा में वर्तमान है। सामाजिक-कुरीतियों एवं धार्मिक बाह्याडम्बरों के मूलोच्छेदन में दादूदयाल कबीर की भाँति कभी उग्र नहीं होते, वरन् सहज नम्रता एवं द्रवणशील विनम्रता के द्वारा वे अपनी बात कहते हैं। 'इनके पदों में जहाँ निर्गुण, निराकार, निरञ्जन को व्यक्तिगत भगवान् के रूप में उपलब्ध किया गया है, वहाँ वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये हैं। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफीभावापन्न कवियों की याद आ जाती है। सूफियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान् का रूप और जाति बताया है। विरह के पदों में सीम का असीम से मिलने के लिए तड़पना, सहृदय को मर्माहत किए बिना नहीं रह सकता।'[१] दादू के पदों और साखियों में सूफी-साधना के शब्दों का प्रचुर प्रयोग, उनका सूफियों के संसर्ग में आ चुकने का सबल परिचायक है।

इस प्रकार सन्त कवियों में अग्रगण्य कबीर ने मानसिक पवित्रता को आधार मान कर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, नाथ एवं सूफी सम्प्रदाय से क्रमशः तत्वज्ञान, भक्ति, योग और प्रेम की पीर लेकर एक ऐसे पन्थ का प्रवर्तन किया जिसमें भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण सार-भाग तथा भारत की समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों का रस निचुड़ कर आ गया था। अपने नवीन निर्गुण सम्प्रदाय में उन्होंने सीमा एवं सम्प्रदाय से परे ऐसे सामान्य धर्म-तत्वों को प्रश्रय दिया जिससे निर्गुण-सगुण से परे ब्रह्म की योग और भक्ति समन्वित प्रेमपूर्ण उपासना का समन्वय सहज रूप में हो सका।

सन्त-साहित्य की सांस्कृतिक चेतना का आधार स्वसंवेद्य ज्ञान है। भक्ति-प्रचारक आचार्यों की भाँति वेदादि धर्म-ग्रन्थों का आश्रय सन्त कवियों ने नहीं ग्रहण किया और न उनकी प्रामाणिकता ही स्वीकार की। वे किसी प्राचीन व्यवस्था के बँधन में न बँधकर अपनी वैयक्तिक अनुभूति एवं स्वतन्त्र पद्धति से अपने समय की सामाजिक विकृतियों को सुधारने की चेष्टा करते रहे। सन्त-कवियों ने बड़े विश्वस्त भाव से कहा कि हमें आत्मस्वरूप का अन्वेषण करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। सत्य के श्रेष्ठतम प्रतिष्ठान हमारे इसी शरीर में ही वह तत्व निहित है जैसे मृगनाभि में कस्तूरी—:

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढ़े बन मांहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ जानत नांहि॥

प्रयत्नपूर्वक खोज करने पर वह दुर्लभ वस्तु यहीं स्वतः स्फुरित हो जाती है। इस अन्वेषण में यौगिक-साधनाओं को सम्बल के रूप में सन्त कवियों ने

---

[१] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४४।

अंशतः ग्रहण किया है। सहजयानी सिद्धों ने इसी शरीर में गंगा, यमुना, गंगा-सागर, प्रयाग, वाराणसी आदि तीर्थों की स्थिति एवं सूर्य-चन्द्रादि का होना घोषित किया है। स्वसंवेद्य ज्ञान को प्रधानता देने वाले इन सन्त कवियों ने धर्म-कर्म, विविध वाह्याचार-विधान एवं पूजोपासना-पद्धति की ओर उपेक्षित भाव से अनास्था ही प्रकट की। सन्तों की आध्यात्मिक चेतना शास्त्रीयता से परे जीवन के प्रति सहज, व्यापक और उदार दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। वह न तो ग्रहण की पक्षपातिनी है और न त्याग की विरोधिनी। जीवन के साधारण कार्य-व्यापारों के प्रति वह एक सुसंगत सन्तुलन खोजकर तद्वत् आचरण करने पर विशेष बल देती है।

सन्त कवियों का प्रमुख लक्ष्य सामान्य धर्म को विषाक्त बना देने वाली विविध बिडम्बनाओं का मूलोच्छेदन कर जनता-जनार्दन का ध्यान मूल प्रश्न की ओर दिलाना था। उनकी चेतना जन सामान्य के आत्मविकास की आदर्श भूमिका का निर्माण करती है। समान्य धर्म को सन्तों ने जीवन का मूल्यांकन और उसके आदर्श की प्रतीति के साधन रूप में स्वीकार किया है। सन्त कवि धर्म के नाम पर किये जाने वाले वाह्याचरणों को निरर्थक समझते हैं, क्योंकि वे आदर्श जीवन की प्रतीति में सहायक न बन कर भारस्वरूप बन जाते हैं और उसे लक्ष्य की ओर से हटा कर पथ-भ्रष्ट कर देते हैं। उनके विचार से निजत्व बोध अथवा आत्म-प्रतीतिजन्य चैतन्य की उपलब्धि के लिए किसी एक जन-समुदाय का सदस्य होना भी अनिवार्य नहीं। वे प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक तत्व का होना स्वीकार करते हैं। व्यक्तिगत चिन्तक के द्वारा उस परम तत्व के चरम सौन्दर्य का साक्षात्कार होना असम्भव नहीं है। क्योंकि वैयक्तिक पहुँच के अनुपात से ही उसकी अनुभूति सबको होती है, अतः उस अध्यात्मतत्व की उपलब्धि के लिए किसी वर्ग या जनसमूह का सहारा लेना व्यर्थ है। जीवन-गत सुदृढ़ वैयक्तिकता के कारण ही सन्त-साहित्य शाश्वत शक्ति एवं नूतनता से स्नात है। प्रवृत्तिजन्य उल्लास एवं निवृत्तिजन्य सन्तोष का समावेश होने के कारण सन्त साहित्य की दृष्टि, जीवन के प्रति स्वस्थ एवं सन्तुलित है। सन्तों ने प्रभावोत्पादक ढङ्ग से सरल, सदाचारपूर्ण, लौकिक जीवन बिताने का उपदेश दिया और स्वयं भी उसे अपने आचरण में ढालने के कारण जनता के श्रद्धेय बन गये।

सन्त कवियों ने चुनौती के स्वरों में कहा कि जीवन विवशता नहीं है। भाग्यवादी निराशा को भी इन कवियों ने एक क्षण के लिए प्रश्रय नहीं दिया। सन्तों ने अन्तरात्मा को जीवन का विधेयक मानते हुए मानवीय वृत्तियों के परिष्कार को ही सहज और स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया। कृत्रिमता एवं

वाह्याडम्बर के वे घोर विरोधी थे। सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता का खण्डन करते हुए तथा रूढ़ विधि-विधानों के जंजाल को काट कर ही वे सहज सत्य के दर्शन कर सके थे। सन्त कबीर ने स्पष्ट कहा था कि परम तत्त्व के दर्शन के लिए अन्तरात्मा रूपी दर्पण की स्वच्छता आवश्यक है। दर्पण के मलीन होने पर सत्य के सहज आलोक की झाँकी मिलना असम्भव है, अतः इस दर्पण की शुद्धि सन्त-जीवन की एक अनिवार्य चर्या होनी चाहिए :—

जौ दरसन देख्या चाहिये, तौ दरपन मांजत रहिये।
जौ दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई॥

● ● ●

सन्त-साहित्य के दार्शनिक सिद्धान्त

[१—क]

दर्शन का अर्थ एवं प्रयोजन— साक्षात्कारमूलक अनुभव राशि को दर्शन कहा गया है। दूसरे शब्दों में 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' के आधार पर वस्तु के सत्यभूत तात्विक स्वरूप की सम्यक् जानकारी ही दर्शन है। हम कौन हैं ? यहाँ क्यों आये हैं ? कहाँ से आये हैं ? मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जाता है ? इस दृश्यमान् जगत् का निर्माता कौन है ? वह अदृश्य क्यों है ? इस प्रकार की प्रश्न-शृंखला का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रयोजन है।

प्रसिद्ध जर्मन-दार्शनिक हीगेल के मतानुसार दर्शन ज्ञान की यात्रा, बुद्धि का विकास और विचारधारा की प्रगति है। ज्ञान की प्रगति 'रिक्त या केवल सत्' से प्रारम्भ होकर 'असत् में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई सदसत् में व्याप्त रहते हुए भी सदसद्विलक्षण 'विशुद्ध या पूर्ण सत्' की ओर होती हैं। अपरोक्ष इन्द्रियानुभूति से प्रारम्भ होकर तर्क और बुद्धि के विस्तृत वाग्जाल में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई विशुद्ध और आत्मानन्द युक्त स्वानुभूति की ओर होती है। अंग्रेज दार्शनिक ब्रेडले दर्शन आभास और छाया अथवा प्रतिबिम्ब और माया को समझ कर इनके पीछे छिपे हुए और इनके आधारभूत तत्व का अनुसन्धान करना मानते हैं। दर्शन मिथ्या को छोड़कर सत्य की खोज करता है, द्वैत में सूत्रात्मक अद्वैत का पता लगाता है, अनेक में एक और असत् में सत् का अन्वेषण करता है।

इसी स्थल पर हमें प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त और बहुचर्चित स्वानुभूति पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है। क्या यह ज्ञान से पृथक् तत्व है और यदि है तो उससे बढ़कर या घटकर ? साक्षात्कारजन्य होने के नाते स्वानुभूति भले ही अभिव्यक्ति की अपेक्षा न रखती हो किन्तु दार्शनिक होने के नाते व्यावहारिक दृष्टि से तो अनुभूति की भी व्याख्या करनी ही पड़ेगी। परमार्थ या तत्व जो विशुद्ध ज्ञानमूलक है, स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है किन्तु यह मात्र अनुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है। वाणी या बुद्धि द्वारा कहा या सोचा नहीं जा सकता। दर्शनशास्त्र बुद्धिनिर्मित होने के कारण तत्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता फिर भी हम व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ को समझ कर उसे अनुभव करने के प्रयत्न में लग सकते हैं। व्यवहार में बुद्धि की शक्ति कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ज्ञान भी बुद्धि का अत्यन्त विशुद्ध रूप

है। यही दर्शन का महत्व है। वास्तव में मौन ही उच्चतम दर्शन है। यह मौन मूक और मूर्खों का मौन न होकर विद्वानों की चूड़ान्त विद्वत्ता का गम्भीरताजन्य मौन है। इस मौन की महिमा महान् है जिसके आगे भिक्षुणी भाषा भीख माँगती हुई परिलक्षित होती है। जब वाष्कलि मुनि ने आचार्य बाध्व से आत्मा के विषय में प्रश्न किया तो वे मौन रहे। पुनः पूछने पर वे पूर्ववत् मौन रहे। बार-बार पूछे जाने पर उन्होंने खीझ कर कहा—"मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मौन द्वारा दे तो रहा हूँ तुम समझते ही नहीं। यह आत्मा सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित पूर्ण शान्त है—"ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मेति" यह तत्व वाणी और बुद्धि-विलास के सर्वथा परे है—"यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

दर्शन और धर्म—दर्शन तथा धर्म का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दर्शन-शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तत्ववाद के ऊपर ही भारतीय धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा है। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है।[१] क्रोसे (Croce) के शब्दों में धर्म और दर्शन, जीवन और विचार, व्यवहार और सिद्धान्त, ये सब आत्मा के शाश्वत छन्द हैं। हम लोग जीवन से उठकर विचार पर पहुँचते हैं और विचार से पुनः जीवन पर लौट आते हैं। यह ऐसी क्रमिक समृद्धि है जो परम सत्ता के सतत ऊर्ध्वगामी धरातलों तक पहुँचाती रहती है।[२] भारतीय दर्शन, वैयक्तिक चेतना के सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक परिष्कार की ओर विशेष जागरूक रहा है, मानव-जीवन की भौतिक समृद्धियों में सुधार करने की ओर इसने विशेष रुचि नहीं दिखलाई। यदि दर्शन-शास्त्री समाज-व्यवस्था में रुचि दिखलाते हैं तो इसलिए कि व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रस्तुत कर दी जाँय। धर्ममूलक व्यवहार को गौरव देने का कारण स्वार्थवृत्तियों के उन्मूलन तथा निम्न-प्रवृत्तियों के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि करना है। एक सामान्य बुद्धिमान् हिन्दू गृहस्थ भी परमात्मा, प्रारब्ध, माया, मुक्ति आदि शब्दों से सुपरिचित है और उसने स्थूल रूप से एक व्यावहारिक सिद्धान्त गढ़ लिया है कि इन सब का उसके भावी-जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?[३]

दर्शन का स्वरूप—भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र 'आत्मानं विद्धि'—आत्मा को जानने की ओर रहा है। तत्व की व्याख्या करने में यहाँ के

---

[१] पं० बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन,' तृतीय सं०, १९४८, पृ० १२।

[२] डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् : हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, पृष्ठ १६।

[३] सर हर्बर्ट रिजले : द पीपुल ऑव इण्डिया, १९१५।

दार्शनिकों ने अनुभव-गम्य विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अनुभवकर्ता विषयी की ओर। शुष्क तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परोक्ष न होकर अपरोक्ष होना चाहिए।[1] भारतीय दर्शन की छान-बीन करने से दो सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगत होते हैं—पहला है नानात्मक प्रपञ्च की पारमार्थिक एकता और दूसरा है ध्यान-धारणा-समाधि के द्वारा इस अनुस्यूत एकता के मूलतत्व आत्मा का साक्षात् अनुभव। इसी को प्रकारान्तर से तार्किक सिद्धान्त-वेदान्त और व्यवहारिक सिद्धान्त-योग कहा जाता है।

डॉ० देवराज ने दर्शन को सांस्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या एवं मूल्यांकन करने का प्रयत्न माना है।[2] दर्शन के अन्तर्गत दृश्यमान् जगत् का निर्माण करने वाली क्रियाएँ न आकर आन्तरिक जीवन की सृष्टि करने वाली क्रियाएँ आती हैं, इसीलिए दर्शन को पर्याय स्वरूप 'आत्म ज्ञान' की संज्ञा दी जाती है। दार्शनिक वक्तव्यों का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक जगत् से होने के कारण उन्हें वाह्य अनुभूतियों से प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। दर्शन एक प्रकार से समस्त ब्रह्मांड को अथवा समस्त अनुभव-जगत् को एक साथ देखने का प्रयत्न करता है। दार्शनिक की रुचि उन अनुभवों तथा क्रियाओं में होती है जिनमें मूल्य निहित रहते हैं। वह अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों का अन्वेषण इसलिये करता है कि उन जीवन सम्भावनाओं का उद्घाटन कर सके जिनमें मनुष्य मूल्यों की उपलब्धि करता है। दर्शन अस्तित्व अथवा सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है जिसे अनन्त मूल्य का अधिष्ठान माना जा सके। दर्शन की दृष्टि मनुष्य की सौंदर्यमूलक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्भावनाओं की ओर होती है। मनुष्य अपनी सृजनशील प्रवृत्ति की प्रेरणा से अनवरत उच्चतम मूल्यों का अन्वेषण करता-रहता है। दर्शन इस अन्वेषण को व्यवस्थित प्रयत्न का रूप देने और उसकी दिशा-निर्देश का कार्य सम्पन्न करने की ओर सचेष्ट रहता है। इस प्रकार दर्शन उस आन्तरिक बेचैनी की अभिव्यक्ति है जो एक उच्चकोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना में निहित होती है, उन आत्माओं में जो अपने को विश्व की समग्रता से सम्बन्धित करना चाहती हैं। इस प्रकार की आत्माएँ साधारण सफलताओं तथा उपलब्धियों से सन्तुष्ट नहीं होतीं। वे अपने सामने ऊँचे लक्ष्यों को रखती हैं और यह जानने की कोशिश भी करती हैं कि उन लक्ष्यों तक किस तरह पहुँचा जा सकता है। "दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत् के असंख्य रूपों को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओं एवं दृष्टियों की उद्भावना करता है और जीवन तथा जगत् के असंख्य सम्बन्धों की

---

[1] **पं० बलदेव उपध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ १६।**

[2] **डॉ० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ २५८।**

ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियों से ऊपर उठा कर विश्व-ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है।...दर्शन हम में जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है।[1]"

दर्शन का लक्ष्य—भारतीय दार्शनिकों ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से विश्व की पहेली को समझाने का स्पृहणीय प्रयास किया है। क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाले अनेक रूपात्मक पदार्थों के अन्तस्तल में विद्यमान एकरूपता का अन्वेषण दर्शन का प्रमुख लक्ष्य रहा है। "जिस प्रकार परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्व विद्यमान है, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्व की सत्ता विद्यमान है – ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम है ब्रह्म तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा है आत्मा। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है।[2]" ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए आत्मा को पहचानना और उसका साक्षात्कार करना नितान्त अनिवार्य शर्त मानी गई है। वृहदारण्यकोपनिषद् २।४ में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आध्यात्मिक उपदेश देते हुए आत्मा की श्रेष्ठता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा, "पति के लिए पति प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिए। पत्नी के लिए पत्नी प्यारी नहीं है बल्कि आत्मा के लिए। पुत्र के लिए पुत्र प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिए। संसार कीं सारी वस्तुएँ अपने लिए प्यारी नहीं होतीं बल्कि आत्मा के लिए। अतः आत्मा ही सबसे प्रिय वस्तु है। इसलिए हे मैत्रेयी, इस आत्मा का ही प्रत्यक्ष करना चाहिए। इसी का श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, सतत ध्यान करना चाहिए क्योंकि इसी के दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति २।४।५

जीवन की अनित्यता, भोगों की अस्थिरता एवं मृत्यु-भय तथा वित्तादि साधनों की अपूर्णता के कारण भारतीय मनीषा आत्मविद्या की ओर उन्मुख हुई। कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता-यम-सम्वाद से इस कथन की भलीभाँति पुष्टि हो जाती है।[3]

---

[1] डॉ० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ २७६, २७८, २७९, २८०।

[2] पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ १८।

[3] कठोपनिषद् : अध्याय १, बल्ली १, २६-२७-२८।

उपनिषद्—भारतीय दर्शन की सम्पूर्ण उपलब्धि उपनिषदों में सन्निहित है। सचमुच "भारतीय ज्ञानरूपी वृक्ष पर उपनिषद् से बढ़कर कोई कमनीयतर कुसुम न खिला और न वेदान्त-दर्शन से बढ़कर कोई मधुतर फल ही लगा"—(पालडाय सेन)। उपनिषदों की रचना कर्मकाण्ड प्रधान ब्राह्मण-साहित्य की प्रतिक्रिया स्वरूप हुई। इन्हें वेदान्त अर्थात् ज्ञान की चरम सीमा कहा जाता है। इनमें अध्यात्म तत्व के गूढ़तम रहस्यों का विशद विवेचन किया गया है। ये वेद का जीवन, रस या सार तत्वरूप हैं। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में ऐसी कोई महत्वपूर्ण विचार-धारा नहीं जिसका मूल स्रोत इनमें प्राप्त न हो। उपनिषदों में सूक्ष्म तत्वज्ञान को इतनी बारीकी से काता गया है कि कहीं-कहीं दिमाग फट पड़ने की आशङ्का होने लगती है। उतने प्राचीन काल में ऐसे प्रचण्ड चिन्तन को देखकर हृदय निस्तब्ध हो जाता है। वेदान्त की महिमा महान् है। कहा भी गया है—

तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्तकेसरी॥

सन्तों की पाखण्ड-खण्डिनी विचारधारा और ब्रह्म-निरूपण पद्धति पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने ब्रह्म-तत्व का वर्णन बड़ी गम्भीरता एवं पूर्णता के साथ किया है। वे बार-बार घोषणा करते हैं कि तत्व, वाणी और बुद्धि की पहुँच के परे है। मन और वाणी, तत्व तक न पहुँचकर वापस लौट आती हैं—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" गार्गी के अतिप्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने रोकते हुए कहा था कि "हे गार्गी! अधिक मत पूछ, अधिक मत पूछ, अन्यथा तेरा सिर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। सब कुछ इस अद्वय और अक्षर तत्व के भीतर और बाहर ओत-प्रोत है। ब्रह्म आत्म स्वरूप है और उसका साक्षात्कार विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा सम्भव है। यह आत्मा न तो प्रवचन से जाना जा सकता है न मेधा से और न बहुश्रुत से क्योंकि वह अतर्क्य, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय और निष्प्रपञ्च है।"[१]

उपनिषद् मुख्यतः ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा एक ही है। जिस प्रकार अग्नि एक ही है किन्तु तत्तद्-वस्तुओं का आकार ग्रहण करके वह अनेक रूपों में प्रकट होती है, उसी प्रकार एक आत्मा अनेक भूतों में अनेक रूप धारण करता है और जो उसका दर्शन कर लेते हैं, वे ही शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं अन्य नहीं।[२] उपनिषदीय ऋषियों के

---

[१] केन ३। ६। १, २। ३; कठ १। २। २३; बृहदारण्यक ४। ४। २१।
[२] कठोपनिषद् २। ५। ६।

अनुसार मुक्ति या मोक्ष का अभिप्राय आनन्त्यभाव है जिसे मनुष्य आत्मानुभूति की अवस्था में प्राप्त करता है और जिसे प्राप्त कर वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[1] इस प्रकार बहुदेववाद के अभ्यन्तर एक परम दैवत की कल्पना से अद्वैतवादी ब्रह्म की धारणा का जन्म हुआ। एक ओर तो वेदों को प्रमाणस्वरूप मानने वाली शास्त्रीय धारा उपनिषद्, भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में प्रवाहित होती रही और दूसरी ओर उसी के समानान्तर लोकजीवन से सम्पृक्त बौद्धधर्म, सिद्ध एवं नाथ-साहित्य के रुप में विकसित होती रही। इन दो विभिन्न मतवादों का बीच-बीच में सम्मिलन भी होता रहा। निरीश्वरवादी बुद्ध, ईश्वरत्व की कोटि में प्रतिष्ठित होकर पौराणिक हिन्दू धर्म में एक अवतार के रूप में माने जाने लगे। आचार शुद्धि पर विशेष बल देने से बौद्ध धर्म की विकृति भारतीय साधना के इतिहास का एक मनोरञ्जक अध्याय है। बौद्धों की आचार प्रधान कठिन साधना के स्थान पर सिद्ध-साहित्य में मानव जीवन के सहज भोगमय रूप को स्वीकार किया गया। सिद्धों ने शास्त्रानुशीलन की अपेक्षा सहजानुभूति को लक्ष्य रूप में स्वीकार किया। वर्णाश्रम-व्यवस्था का तिरस्कार कर निम्न जाति की स्त्री को महामुद्रा बनाकर उसके सहवास द्वारा 'अद्वय' की प्राप्ति सम्भव मानी। व्रत, उपवास, जप-तप, ध्यान-धारणा का तिरस्कार कर सहज-जीवन बिताने पर जोर दिया। सिद्धों का प्रमुख प्रयोजन बौद्धधर्म के निवृति-मूलक कठोर आचारधर्म का निराकरण कर अपनी साधना को सहज, प्रवृत्ति मूलक और लोकोपयोगी बनाना था। सिद्ध-दर्शन महाराग द्वारा संशोधित भव के उपयोग करने का उपदेश देता था। सिद्ध तिलोपा ने कहा है कि—"जिम विस भवखइ विसहि पलुत्ता, तिम भव भुंजहि भवहिं ण जुत्ता।" जैसे नियमित रूप से विष का सेवन करने वाला पुनः विष के प्रभाव में नहीं आता, उसी प्रकार भव का भोग करने से मनुष्य भव में लिप्त नहीं होता। इस प्रकार सिद्धों द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन चित्त की विशुद्धता के साथ-साथ भव के उपभोग पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाता। डॉ० धर्मवीर भारती के कथनानुसार "परम्परागत पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा वे जीवन की भावात्मक अनुभूतियों को अधिक महत्व देते थे। इस प्रकार सिद्धों ने निस्सन्देह लोक-धर्म की प्रतिष्ठा बौद्ध-परम्परा में की और एक नया जीवन-दर्शन सम्मुख रक्खा।[2]" परन्तु यही सहज की साधना गुह्य आवरणों में लिपट कर जब मात्र काम-पिपासा-तृप्ति का साधन बन गई तब उसके विरुद्ध नाथ-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ और इसमें

---

[1] दास गुप्त : हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी वाल्यूम १, पृष्ठ ५८।

[2] डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध-साहित्य, पृष्ठ २३४।

सदाचरण, वीर्य-साधना एवं मानसिक दृढ़ता को विशेष महत्व दिया गया और इस प्रकार "कबीर ने उपनिषदों से अद्वैतवाद, शङ्कर से मायावाद, वैष्णव आचार्यों से भक्ति, अहिंसा और प्रपत्ति के सिद्धान्त, तान्त्रिक शैवों, बज्रयानी बौद्धों और नाथपन्थी योगियों से हठयोग, रहस्यवाद तथा जातपाँत एवं कर्मकाण्ड के विरुद्ध पैनी उक्तियाँ, वैष्णव भक्तों और सूफी सन्तों से माधुर्यमय भक्तिवाद.........इन मकरन्द विन्दुओं का सञ्चय करके उन सबके मेल से आचार, दर्शन एवं आस्तिकता का एक ऐसा विचित्र और मौलिक समन्वय प्रस्तुत किया जिसे 'सन्तमत' अथवा 'निर्गुणमत' की सामान्य उपाधि मिली।"[1]

सन्त-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा—सन्त-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा किसी विशेष शास्त्र पर आधारित नहीं क्योंकि सन्त-दृष्टि शास्त्रों की अपेक्षा आत्मानुभूति पर विशेष आस्थावान् थी। ऐसी दृष्टि संसार की सीमित अस्थायी उपलब्धियों के प्रति पूर्णतया उदासीन रहती है तथा अनन्त रहस्यमय सत्ता के अन्वेषण में सतत व्यग्र रहती है। जिस सीमा तक मनुष्य निम्नकोटि के मूल्यों के अन्वेषण से विरत होता है वहीं तक वह अपने को उच्च सांस्कृतिक मूल्यों के प्रत्यक्षीकरण और उत्पादन के योग्य बनाता है।[2] सांसारिकता और शास्त्रों के प्रति उदासीनता सन्त-प्रकृति की निजी विशेषताएँ हैं। किसी एक दृष्टिकोण-विशेष से लिखे जाने वाले शास्त्र साम्प्रदायिकता के संक्रामक दोषों से लिप्त होकर हमें उस परमतत्व के निकट न पहुँचकर पथभ्रष्ट कर देते हैं। शास्त्रों का पठन-पाठन वाक्य-ज्ञान में निपुणता तो अवश्य ला देता है, किन्तु अहङ्कार के बोझ से आक्रान्त साधक साधना-क्षेत्र में पहले डूबता है। कबीर ने संकेत भी किया है—"हलके-हलके तिर गये, डूबे जिन सिर भार।" दर्शन का दर्पण जब तक अनुभूति की आभा से आलोकित नहीं होता तब तक साधक को आत्म-स्वरूप का प्रतिबिम्ब देख पाना दुर्लभ है। सन्त-साहित्य की दार्शनिक विचारधारा ने उपनिषदों, सिद्धों, नाथों और सूफियों की प्रेममयी अनुभूतिशील चिन्तनशीलता को आधार-स्वरूप मान कर अपने रूप का निर्माण किया है। किन्तु "ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आये, वरन् शताब्दियों की अनुभूति-तुला पर तुल कर, महात्माओं की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर, सत्सङ्ग और गुरु के उपदेशों से संगृहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बूँद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धि मधु में नहीं है, उस मधु-निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्प-तीर्थों की यात्रायें सन्निविष्ट

---

[1] डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी : सन्त कवि दरिया, भूमिका भाग, पृष्ठ ६६।

[2] डॉ० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ ३४।

हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियाँ मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं, उसी प्रकार सन्त-सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।[1]

सन्त कवियों ने सत्यान्वेषण के क्षेत्र में किसी भी धर्म-ग्रन्थ की प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की। उनकी मान्यता है कि "जिन वेद, कुरान आदि धर्म-ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण कर सर्वसाधारण अपने-अपने मतों का अनुसरण करते हैं, वे तो स्वयं ही विभिन्न भ्रमात्मक बातों से परिपूर्ण हैं और उनके भाष्यकारों ने उन्हें और भी पेचीदा बना दिया है। अतः चार वेदों के ज्ञाता पण्डित उसके भीतरी तत्व से अपरिचित रहकर मरते-पचते रहते हैं, 'षड्दर्शन' और 'छानबे पाखण्डों' के आधार पर तर्क-वितर्क करने वाले कभी भी शान्ति नहीं पाते। न तो उन्हें सच्चे ज्ञान की ही प्राप्ति होती है और न उनके संशय का निराकरण होता है।"[2] अतः सत्य की उपलब्धि के लिये यदि साधक धर्म-ग्रन्थों के जाल में न उलझकर स्वानुभूति के बल पर विचार करे तो उसका अनुभव अधिक स्थायी, गम्भीर और सच्चा होगा और उसे एक अनुपम आनन्द की प्राप्ति होगी— "आपुहि आपु विचारिये तब केता होय अनन्द रे।" कबीरदास जी की स्वानुभूतिजन्य विचार-पद्धति पराश्रय ग्रहण अथवा वेद-शास्त्रादि अनुशीलन का परिणाम नहीं वरन् "उनके स्वयं विचार करते-करते वह सत्य उनके मन में स्फुरित हो उठा। इसके लिए उन्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ा। इस अनिर्वचनीय तत्व की उपलब्धि की कथा भी अकथनीय है क्योंकि जिनके हृदय में यह 'सहज-भाव' से उत्पन्न होता है, वह उसमें रमण करता हुआ उसी में लीन हो जाता है।"[3]

सन्त-साहित्य के दार्शनिक सिद्धान्त—प्रधानतः ब्रह्म, जीव, माया और जगत्, इन चार तत्वों पर आधारित हैं। इन तत्वों के निरूपण में सन्त-कवियों ने स्वसंवेद्य ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है। यही कारण है कि उसमें पर्याप्त समानता है। ब्रह्म के स्वरूप-निर्धारण में लगभग सभी सन्त कवि एक से जान पड़ते हैं और सभी अपने प्रवर्तक कबीर के मत का ही अनुगमन करते परिलक्षित होते हैं। यत्किञ्चित् अन्तर वैयक्तिक चेतना और दीक्षा के कारण भले ही आ गया हो परन्तु कुल मिलाकर वे एक ही पथ के पथिक हैं। कबीर के आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य क्षिति मोहन सेन ने लिखा है कि "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्व-ग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं

---

[1] डॉ० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृष्ठ ७७।

[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३६, साखी १०, पृष्ठ ६६, पद ३४।

[3] वही, पृष्ठ ६६, पद २३, तथा पृष्ठ ६३ पद १४।

चाहती, इसीलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।"[१] आचार्य जी का उपरोक्त कथन प्रायः सभी सन्तों के ऊपर लागू होता है। 'नैना बैन अगोचरी' ब्रह्म के साक्षात्कार से सम्बन्धित उक्तियाँ 'परचा और जर्णा को अङ्ग' में संगृहीत हैं। 'आप पिछानै आपै आप' अथवा 'पूरे सो परचा भया' के रूप में उन सन्तों की सत्यानुभूति मुखरित हुई है। उनका ब्रह्म-निरूपण इसी अनुभूतिमूलक परचा का परिणाम है।

परमतत्त्व का स्वरूप—सन्त कवियों के अनुसार परम तत्व के वास्तविक स्वरूप की जानकारी सामूहिक न होकर व्यक्तिगत साधना से ही सम्भव है और यह जानकारी मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है जितना उसके निजी अनुभव के पात्र में समाविष्ट हो सके। सन्त कवियों ने पूर्ण सत्य को पूर्णरूप से जान लेने का कहीं दावा नहीं किया और न दूसरों द्वारा ऐसा किया जाना ही उन्हें पसन्द है। कबीर ने स्पष्ट कहा है कि "जस तू तस तोहि कोई न जान। लोग कहैं सब आनहि आंन।"[२] वह जैसा है, वस्तुतः किसी को भी ज्ञात नहीं। सब अपनी-अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के ही बल पर उसका निरूपण किया करते हैं। फिर भी इस व्यक्तिगत विभिन्नता के होते हुए भी एक अद्‌भुत साम्य पाया जाता है। कबीर के कन्त दादू के भी उपासक हैं, इसे उन्होंने इन दो साखियों में स्पष्ट स्वीकार किया है:—

> **जो था कंत कबीर का सोई बर बरिहूँ।**
> **मनसा बाचा कर्मना मैं और न करिहूँ॥**
> **साँचा सबद कबीर का, मीठा लागै मोहि।**
> **दादू सुनता परम सुख, केता आनन्द होहि॥**

परम तत्व की गूढ़ता पर प्रकाश डालते हुए कबीरदास जी ने एक स्थल पर कहा है कि "रामनाम की चर्चा करने वाले तो सभी हैं परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को वे नहीं जानते। इसलिए जो लोग उस अवर्णनीय तत्व का निरूपण हल्के तौर से ऊपर ही ऊपर करते हैं उनकी बात मुझे नहीं जँचती। उसका आनन्द तो वही पाता है जो प्रत्यक्षानुभूति से उसे हृदयंगम कर ले। यह बात केवल कहने-सुनने की नहीं है। उस तत्व को बिना उसका परिचय प्राप्त किये जानना परम दुर्लभ है" कबीर के ही स्वरों में स्वर मिलाते हुए स्वामी रामतीर्थ ने भी कहा था कि "सत्य को सत्य तुम केवल इसीलिए मत समझो कि उसे कृष्ण, बुद्ध अथवा

---

[१] **कल्याण : योगांक, पृष्ठ २९९।**

[२] **कबीर ग्रन्थावली; पद ४७।**

ईसा मसीह ने कहा है। उसे अपने निजी अनुभव की कसौटी पर परख कर भी देख लो।'' सन्त कवियों के परम तत्व के विवेचन में वैज्ञानिक पद्धति का अभाव है क्योकि वे तार्किक न होकर स्वानुभूति पर बल देने वाले सीधे-सादे भावुक भक्त थे। उन्होंने 'अपरम्पार का नाउँ अनन्त' के अनुसार उसके अनेक नाम दिये हैं। राम, रहीम, खुदा, खालिक, केशव, करीम, बीठुलराइ, सत्, सत्तनाम, अपरम्पार, अलख, निरञ्जन, पुरुषोत्तम, निरगुन, निराकार, हरि, मोहन आदि असंख्य नाम हैं। उन्होंने सत् अथवा सत्य को परम तत्व के अस्तित्व के बोधक रूप में स्वीकार किया है। सन्तों ने सर्वत्र नाम की महिमा का गान करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन किया है, क्योंकि नाम उस वस्तु के उस अंश-विशेष की ओर संकेत करता है जिसकी अनुभूति साधक के व्यक्तिगत जीवन में हो चुकी है। इसीलिए सन्त कवि सत् की अनुभूति को निरन्तर एक सी बनाये रखने के लिए बहुत जोर देते हैं। जब वे परम तत्व का निरूपण करने लगते हैं तब उसके समस्त लक्षण अनुभूत्यात्मक होने के कारण एक सुसङ्गत दार्शनिक व्याख्या करने में असमर्थ रहते हैं और वे किसी मूर्तभाव की स्पष्ट अनुभूति नहीं करा पाते। सन्तों ने इस असमर्थता की ओर भी संकेत कर दिया है। वह अवर्णनीय वाणी के सीमित बन्धनों में नहीं बँध पाता। चाहे कितने ही प्रयत्न क्यों न किये जाँय, उसके विराट् स्वरूप के एक क्षुद्र अंश का ही हमें बोध हो पाता है। सामान्य रूप से सिद्धान्ततः ब्रह्म, जीव, जगत् और माया के निरूपण में सन्त कवि, शङ्कर के अद्वैतवाद से प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं और साधना के क्षेत्र में उनकी सीमा-रेखा सूफियों की इश्क भावना, नाथ-सम्प्रदाय के हठयोग और विशिष्टाद्वैत की भक्ति-सिद्धान्त को स्पर्श करती है।

सर्वव्यापी—यदि उस अविगत, अकल, अनुपम ब्रह्म के साक्षात्कार-जन्य सुख को साधक अभिव्यक्त करना चाहे तो उसे निराश होना पड़ेगा, क्योंकि वह गूँगे के लिए मिठाई के स्वाद के समान है जिसका माधुर्य वह स्वयं तो ले लेता है किन्तु किसी दूसरे पर प्रकट नहीं कर पाता। मात्र सङ्केत करके मन ही मन प्रसन्न होता रहता है।[१] वह एक है, साथ ही अनेक भी है। वह सर्वत्र समाया हुआ है, जिधर दृष्टि जाती है उधर वही दृष्टिगत होता है। माया की चित्र-विचित्र बातों द्वारा चकाचौंध होने पर कोई बिरला व्यक्ति ही इस तत्व को पहचान पाता है। सर्वत्र गोविन्द का वास है, बिना उसके किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं। एक धागे में जैसे सैकड़ों-हजारों मणियाँ गूँथी जा सकती हैं, वैसे ही परमात्मा जगत् की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक वस्तु उसमें समायी हुयी है। जिस प्रकार

---

[१] **कबीर ग्रन्थावली, पद ६।**

जल की लहरें, फेन और बुलबुले जल से भिन्न नहीं, उसी प्रकार प्रपञ्च और ब्रह्म की लीला है। जब तक भ्रम के कारण स्वप्न में पड़ा हुआ था तब तक सत्य से अपरिचित था, किन्तु गुरु के उपदेश से जग गया और मन पूर्ण रूप से स्थिर हो गया। नामदेव का कथन है कि "इसको भली भाँति हृदय में समझ लो कि मुरारी ही एक मात्र प्रत्येक प्राणी में और सर्वत्र निरन्तर व्याप्त हैं।"[1] ब्रह्म की सर्व-व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए एक अन्य पद में उन्होंने कहा है कि मुझे तो इधर-उधर सर्वत्र बीठल ही बीठल दिखलाई पड़ रहा है, उससे सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही है। मैं इसी में पूर्ण आनन्द का अनुभव करता हूँ। कोई उसे निकट बतलाता है और कोई उसे दूर, किन्तु जिसने उसको पहचान लिया है वह उसे अपने में छिपाये रहता है। वस्तुतः वह हमारी आत्मा में समाया हुआ है और जैसे-जैसे हमें उसका अनुभव होने लगता है वैसे-वैसे स्वतः ध्वनि निकल पड़ती है। तब भक्त और भगवान्, दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हो जाते हैं, जिस प्रकार किसी घड़े का जल, जल में डूबकर एकाकार हो जाता है और उस स्थिति में—

> आप देव देहुरा आपन, आप लगावे पूजा।
> जल ते तरंग-तरंग ते है जल, कहन सुनन को पूजा॥
> आपहि गावे आपहि नाचे, आप बजावै तूरा।
> कहत नामदेव तूँ मेरो ठाकुर, जन ऊरा तूँ पूरा॥

सब घट में राम बोल रहे हैं। राम के बिना और कौन बोल सकता है? हाथी और चींटी में वही निवास कर रहा है, भले ही शारीरिक आकार-प्रकार में भेद हो। स्थावर-जङ्गम, कीट-पतङ्ग, सब में वह समान भाव से विराजमान् है। जैसे दर्पण में मुखाकृति प्रतिबिम्बित होती है वैसे ही प्रत्येक घट में वह वर्तमान है किन्तु प्रत्यक्ष होता नहीं जान पड़ता—

> ऐसो राम राइ अन्तरजामी। जैसे दरपन माहि बदन परवानी॥रहाउ॥
> बसै घटाघट लीपन छीपै। बन्धन मुकता जात न दीसै॥ १ ॥
> पानी माहि देखु मुखु जैसा। नामे को सुआमी बीठलु जैसा॥ २ ॥[2]

इस प्रकार नामदेव के ब्रह्म-निरूपण की भावना सर्वात्मवाद और द्वैतवाद के सम्मिलित स्वर में मुखरित हुई है। उनकी भक्ति का स्वरूप भी हिन्दू और और मुसलमान दोनों से भरे विशुद्ध निर्गुण भक्ति का है।

> हिन्दू पूजै देहुरा, मूसलमान मसीत।
> नाभा सोई सेविया, जहँ देहुरा न मसीत॥

---

[1] सन्त सुधासार : नामदेव महाराज, पद १।

[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सन्तकाव्य : पृष्ठ १४५, १४६।

एकेश्वरवाद—निर्गुणवादी कवियों ने युग की आवश्यकतानुसार हिन्दू और मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया क्योंकि उस समय हिन्दू वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्धान्त से परिचित होने पर भी बहुदेववादी हो रहे थे और मुसलमानों का 'एक मात्र परमेश्वर' अल्लाह संकुचित होकर काफिरों का भगवान् बनने में असमर्थ था। अतः सन्त कवियों ने बड़ी उग्र भाषा में बहुदेववाद का खण्डन किया। प्यारे राम को छोड़कर अन्य देवी देवताओं के उपासक को वेश्या-पुत्र की उपाधि दी तथा मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "तुम्हें किसने भरमा दिया। दो भगवान् कहाँ से आए? अल्लाह-राम, करीम-केशव, हरि-हजरत, वस्तुतः दोनों एक हैं। एक ही सोने से बने हुए विभिन्न नाम-रूपधारी गहने है, उनमें किसी प्रकार की द्वैत-भावना लाना व्यर्थ है। उनमें कहने-सुनने भर के लिए पार्थक्य भावना है, नमाज और पूजा की पृथक्-पृथक् उपासना-पद्धतियाँ है, मूलतः वे दोनों एक और अद्वैत हैं।"[1] सन्त कवियों ने बारम्बार हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक ही कर्ता-धर्ता परमात्मा होने की घोषणा की है जिसकी गति लिखी नहीं जा सकती।

> हमारे राम रहीम करीमा केसो, अलह राम सति सोई।
> बिसमिल मेटि बिसम्भर एकै, और न दूजा कोई॥
> तुरक मसीति देहुरे हिन्दू, दहूठां राम खुदाई।
> हिन्दू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥[2]

गुरु नानकदेव के कथनानुसार वह एक ही है। वह सत्य स्वरूप, सबका स्रष्टा, परम समर्थ, निर्भय, निर्वैर, अजन्मा, स्वयंभू तथा कालातीत अस्तित्व वाला है।[3] वह भूत, वर्तमान भविष्य तीनों कालों में केवल सत्य स्वरूप रहने वाला है। चिन्तन करने से वह समझ में नहीं आता, भले ही लाखों बार फिर-फिर उसका चिन्तन किया जाय। सन्त दादूदयाल भी अपनी विनम्र उक्ति से उसी अभेदत्व की ओर संकेत करते हैं—

> बाबा, नाहीं दूजा कोई।
> एक अनेक नांउ तुम्हारे, मोपै और न होई॥
> अलह इलाही एक तूं, तूं ही राम रहीम।
> तूं ही मालिक मोहना, केसो नाउं करीम॥[4]

---

[1] कबीर शब्दावली : भाग ४, पृष्ठ ७५।

[2] कबीर ग्रन्थावली : पद ५८।

[3] ओमृकार सति नामु करता पुरखु निरभउ, निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि जपु जी।१।

[4] सन्त सुधासार : स्वामी दादूदयाल, पृष्ठ ४३१, ४३८।

सन्त सुन्दरदास 'राम अलाह' से साक्षात्कार तभी सम्भव मानते हैं जब हिन्दू और मुसलमान धर्म की संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण कर साधक सहज भाव से उसे खोजने की चाह मन में जगा ले।[१] सन्त कवि परम तत्त्व के उपासक हैं जो निर्गुण-सगुण, सत्-असत्, भाव-अभाव सबसे परे है। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है और सगुण होते हुए भी निर्गुण। वह न द्वैत का विषय है न अद्वैत का, वह एक होते हुए भी अनेक है। इस प्रकार सन्त कवियों की दृढ़ आस्था ऐसे ब्रह्म के प्रति केन्द्रित है जो तीनों गुणों से परे, द्वैत-अद्वैत से अतीत, भावाभाव विनिर्मुक्त अवाङ्मनस गोचर है। कबीरदास जी ने सर्वसाधारण के लिए सगुण की सेवा तथा निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करने की बात कही है किन्तु उसका ध्यान तो 'निर्गुन सगुन के परे' ही है। वह अनुभव में आ जाने पर भी अनिर्वचनीय है। उसे किसी एक वर्ग में सीमित करना मानो असली मार्ग को छोड़कर पथ-भ्रष्ट होना है। यद्यपि उसे सब लोग अजर-अमर कहते हैं किन्तु वह 'अलख' वर्णनातीत है। वह बिना रूप और वर्ण के सर्वत्र व्याप्त है। जब उस का आदि और अन्त नहीं हैं तब उसे पिंड और ब्रह्माण्ड के रूप में भी कहना उचित नहीं। हरि के वास्तविक रूप का वर्णन तो वही कर सकता है जो उसे पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों के परे बतलाता है।[२] इस प्रकार सत्य के वर्णन में हम उसे निश्चित रूप से 'है' मात्र ही कह सकते हैं और इसके सिवाय उसे 'केवल', 'नित्य', 'पूर्ण', 'एक रस' वा 'सर्वव्यापी' आदि बतलाना भी उसके उक्त परिचय की व्याख्या कर उसे अधिक स्पष्ट करना मात्र है।[3] वेदान्त की भावनानुसार सन्तों ने उसे जल-थल सभी में परिव्याप्त बताया है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं जो उसकी सत्ता से शून्य हो। वह फूल में महक, काष्ठ में छिपी अग्नि, दूध में अव्यक्त घी, तथा मेंहदी में लाली की भाँति अदृश्य रूप में सब में समाया हुआ है।[४] दादू ने उसे 'घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर' बतलाया है तथा गुरु नानक का कथन है—

जेते जीव जन्त जलि थलि माहीं, अली जत्र कत्र तू सरब जीआ।
गुरु परसादि राखिले जन कउ, हरि रस नानक भोलि पीआ।

परमात्मा की यह व्याप्ति कहीं न्यूनाधिक मात्रा में नहीं, वह सर्वत्र अपनी

---

[१] हिन्दू की हदि छाड़ि कै, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हिया, एकै राम अलाह॥
—सन्त सुधासार, पृष्ठ ५९७।

[२] कबीर ग्रंथावली, पद १८०।

[३] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ १९६।

[४] सन्त कबीर : रागु गउड़ी ५२, ६७, ७५।

पूर्ण सत्ता के साथ सम-भाव से व्याप्त है। पूर्णरूप से व्याप्त होने पर भी वह पूर्णरूप से उसके परे भी है। ऐसी अद्भुत गणित-गणना पर प्रकाश डालते हुए वृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि ने कहा था।

ओम् पूर्ण है वह पूर्ण है यह, पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है।
पूर्ण में से पूर्ण को यदि लें निकाल, शेष तब भी पूर्ण ही रहता सदा॥[1]

परमात्मा की इसी अद्भुत व्याप्ति पर कबीर ने आशंका प्रकट करते हुए कहा था—

सुनु सखी पिउ महि जिउ बसै, जिय महि बसै कि पीउ।
जीउ पीउ बूझौ नहीं, घट महि जीउ कि पीउ॥ क० ग्रं०, साखी ८९ परि०।

जब साधक में इस प्रकार की आत्म-परमात्मा सम्बन्धी व्याप्तिजनित अभिन्नता आ जाती है तभी पूर्ण सत्य की उपलब्धि होनी सम्भव है और तभी साधक अधिकारपूर्ण स्वरों में कहने लगता है—

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि बिलग।
लूंण बिलगा पाणियां, पांणीं लुंण बिलग॥ वही, परचा को अंग १६।

निर्गुण ब्रह्म :

कबीर—सन्त कवियों के आराध्य निर्गुण ब्रह्म हैं, उन्हीं की उपासना निर्गुण-वादी कवियों को इष्ट है किन्तु 'रूप रेख गुन जाति जुगति बिन' होने के कारण उसकी उपासना आश्चर्य में डाल देने वाली है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कबीर' के ११२ वें पृष्ठ में विद्यालय स्वामी की 'पञ्चदशी' का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने निर्गुण तत्व की उपासना को मान्य बताया है—"यदि कहो कि जो वाणी और मन से गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है, तो उल्टे तुम्हीं से प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु वाणी और मन के परे है, अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच सकती है और न मन, उसका अनुभव भी तो सम्भव नहीं है, उसका जान लेना भी तो सम्भव नहीं दिखता। फिर यदि यह सम्भव है तो उपासना क्यों नहीं सम्भव है? इसीलिए कबीरदास जी ने सांसारिक जीवों को निर्गुण राम के जपने का उपदेश दिया है 'निर्गुण राम का जप करो। उस अज्ञेय की गति लखी नहीं जा सकती'।[2]" यद्यपि वे उस निर्गुण ब्रह्म को अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं—माधव जल की पियास न

---

[1] श्री सियारामशरण गुप्त द्वारा बृहदारण्यक २, ५, १९ के 'पूर्ण मदः पूर्णमिदम्' का अनुवाद।

[2] कबीर ग्रन्थावली : पद ४९ निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगति की गति लखी न जाई।

जाइ। (सन्त कबीर, रागु गउड़ी २) कहि कबीर मंजु सारिंग पानी (वही ४), अलह राम जीवउ तेरे नाई (रागु विभास २), दुआदस दल अभअंतरि मंत, जह पकड़े श्री कमलाकंत। (रागु भैरउ १६) किन्तु इन सब नामों में उन्हें राम नाम ही विशेष प्रिय हैं। कहीं-कहीं वे 'राजाराम' शब्द का भी प्रयोग करने लगते हैं किन्तु इसमें उनका दाशरथि-राम से तात्पर्य न होकर ऊपरी व्यवहारों से परे संसार में व्याप्त अगम, अपार परंब्रह्म राम से होता है जो सारे शरीर में रम रहा है। ब्रह्म के स्वरूप को समझाने के लिए वे उपनिषदों की 'नकारात्मक पद्धति' को भी अपनाते हैं—

रूप सरूप न आठो बोला, हरू गरू कछु जाइ न तोला।
भूष न त्रिषा धूप नहीं छाहीं, सुख दुख रहित रहै सब माहीं।
वो है तैसा वही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै।
नैना बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार।
बोलन कै सुख कारनैं, कहिये सिरजनहार॥
कहै कबीर विचारि करि, तासूं लावो हेत।
बरन बिबरजित ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत॥[1]

कबीर ने ब्रह्म को एक कहने के साथ-साथ उपनिषदों के ढङ्ग पर उसकी अद्वैतता भी सिद्ध की है तथा उसकी अखण्डता एवं एकरसता पर विशेष जोर दिया है। उसे आदि, मध्य और अन्त तक सदा अविहड़ और अभङ्ग बतलाया है।[2] ऐसा तत्त अनूपं द्वारा तत्व रूप में वर्णन करते हुए[3] उसे रूप-अरूप न कह कर पुष्प की सुगन्ध से सूक्ष्म ठहराया है—

जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पुहुप वांस थै पातरा, ऐसा तत्त अनूप।[4]

सन्त साहित्य में शून्य और शब्द तत्व : (पूर्ववर्ती प्रभाव)—सन्त-साहित्य में शून्य का प्रयोग सिद्ध और नाथ परम्परा के अनुसार हुआ है। नाथपन्थियों के अनुसार सन्त कवियों ने भी शून्य का प्रयोग परम तत्व, ब्रह्मरन्ध्र और परम लोक आदि के रूप में किया है।

परम तत्व के रूप में—**उदक समुन्द सलिल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे।**
सुनहि सुन्नु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिगे॥
बहुरि हम काहे जावहिगे॥—सन्त कबीर रागु भारू ४

---

[1] कबीर ग्रन्थावली : रमैणी बारह पदी, पृष्ठ २४२-३।
[2] वही, अबिहड़ को अंग ३।
[3] वही, पदावली २२०।
[4] वही, पीव पिछांणन कौ अंग ४।

सदा अतीत ज्ञान धन वर्जित, निरबिकार अविनासी।
कह रैदास सहज सुन्न सत, जिवन मुक्तनिधि कासी ।।—सं० का०, पृ० २१३
उलटे मनु जबि सुन्नि समावै। नानक शब्दे शब्द मिलावै ।।
—नानक : प्राणसङ्गली, पृष्ठ १३७

ब्रह्म सुन्न तहं ब्रह्म हैं, निरञ्जन निराकार।
नूर तेज जहं जोति है, दादू देखनहार ।। दादूदयाल की बानी १, पृष्ठ ५८

ब्रह्मरन्ध्र के रूप में—उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डण्ड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुन्नि समांना, बाजे अनहद तूरा ।।
—क० ग्रं०, पृष्ठ ९०

सुन्नि सरोवर सुरति समानी। नानक चूकी आवन जानी ।।—प्राण० पृ० १३०
सुन्न सरोवर मन भँवर, तहाँ कंवल करतार।
दादू परिमल पीजिये, सनमुख सिरजनहार ।।
—दादूदयाल की बानी ९, पृष्ठ ५१-५२

परमलोक के रूप में—जो खोजहु सो उहवां नाहीं, सो तो आहि अमर पद माहीं।
कहहिं कबीर पद बूझै सोई, मुख हृदया जाके एकै होई ।।
—बीजक, शब्द ७९

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुन्नि ल्यौ घाट।
तहां कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवे बाट ।।—क० ग्रंथावली, पृष्ठ १८
सम्भू की नगरी सुन्न ते होई। नानक जो बसे सो जोगी होई ।।
सम्भू की नगरी सुन्न परगासी। को जोगी बसे अतीत उदासी ।।
प्राण० पृ० १८३

सिद्ध सरहपाद ने चित्त को जिस मन-पवन के सञ्चरण से निषिद्ध स्थान में विश्राम करने को कहा है, वही सहज निर्माण सन्तों का परम पद है। सन्तों द्वारा प्रस्तुत सहज स्वरूप के अगम अगोचर रूप वर्णन पर सिद्धों की छाप स्पष्ट है—

कबीर—जिहि बन सीह न सञ्चरै, पंषि उड़े नहिं जाइ।
रैनि दिवस का गम नहीं, तहं कबीर रह्या ल्यौ लाइ ।।
— क० ग्रं० लैको अंग १

दादू—चलु दादू तहं आइये, जहं चन्द सूर नहिं जाइ।
राति दिवस का गम नहीं, सहजैं रहा समाइ ।।
—दादूदयाल की बानी १, मधि को अंग २४

सिद्धों और नाथपन्थियों के अनुकरण पर कबीर ने ब्रह्म को 'द्वैताद्वैत विलक्षण' कहा है। उसके रूप-अरूप का वर्णन नहीं हो सकता। वह हल्का या भारी भी नहीं जो तौला जा सके। आगे वे कहते हैं—

भूख न त्रिषा धूप नहिं छाहीं, सुख दुख रहित रहै सब माहीं ।।
अरचित अविगत है निरधारा, जांण्यां जाइ न वार न पारा ।।
लोक बेद थै अछै नियारा, छाड़ि रह्यो सबही संसारा ।।
कहै कबीर विचारि करि, तासूं लावो हेत ।
बरन बिबरजत ह्वै रहा, नां सो स्याम न सेत ।।
—क० ग्र०, रमैणी, पृष्ठ २४१-३

नाथ पन्थियों के शब्द तत्व का भी प्रभाव सन्त साहित्य पर पड़ा है ।

अव्यक्तं नादै विन्दु गगन गाजे सबद अनहद बोलै ।
अन्तरिगति नहि देखै नैड़ा, ढूंढ़त बन बन डोलैं ।। —क० ग्रं० पृ० १५४

यहाँ पर उन्होंने नाथों के साहश्य पर नाद को ईश्वरांश और विन्दु को शरीरांश के रूप में परिकल्पित किया है । गोरखनाथ जी ने अदृश्य ब्रह्म को चित्त में रखकर ध्यानावस्थित होकर देखने और उस पर विचार करने को कहा है । परब्रह्म का निवास शून्य—ब्रह्मरन्ध्र में ही है, यहीं से तीनों लोकों की रचना हुई है । इस अनिवर्चनीय ब्रह्म का ठीक-ठीक निरूपण न वेद कर पाये हैं न धार्मिक पुस्तकें । ये सब तो उसे आच्छादन के नीचे ले आये हैं । सत्य को प्रकट करने के बदले उसके ऊपर आवरण डाल दिया है, उसका यथार्थ ज्ञान तो ब्रह्मरन्ध्र में समाधि द्वारा शब्द-प्रकाश के रूप में ही सम्भव है ।

शब्द-तत्व मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिये शब्द का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि शब्दरूपी ताले में परम तत्व बन्द रहता है । सद्गुरु के उपदेश और मनन-चिन्तन से अन्तरी शब्द (नाद) का जागरण होता है । स्थूल शब्द के माध्यम से सूक्ष्म शब्द का परिचय हो जाने पर स्थूलता सूक्ष्मता में तिरोहित हो जाती है ।[1] उस आत्म तत्व को आकाश, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी यानी पञ्चभूतों का कोई भी तत्व प्रभावित नहीं कर सकता । इसकी इस अविश्वसनीय महिमा का परिचय स्वानुभूति के द्वारा मिलता है । यदि मैं कहूँ भी तो कौन विश्वास करेगा ।

गगने न गोपंत, तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई ।
महो भारे न भाजंत उदके न डूबन्त कहौं तो को पतियाई ।।—गो० पृ० २४

उसी ब्रह्म की सुगन्धि से समस्त जगत सुवासित है, उसी के स्वाद से सारा संसार मीठा है । जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद्य मिल जाता है उसको संसार के आत्यन्तिक दुःख की कटुता मिट जाती है और जगत् आनन्दमय हो जाता है ।[2]

---

[1] गोरखबानी, बानी संख्या, २, ३, ४, २१ ।

[2] गोरखबानी, बानी सं० २५ ।

कबीर नाथपन्थियों के अनुकरण पर द्वैताद्वैतविलक्षण ज्योति स्वरूप हृदयस्थ ब्रह्म का भी वर्णन करते हैं और उसकी स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में ध्वनित करते हैं—

सरीर सरोवर भीतरे, आछे कमल अनूप ।
परम जोति पुरषोतमो, जाके रेख न रूप ।।

—सन्त कबीर—रागु बिलावलु १०

हृदयस्थ ब्रह्म पर ही अधिक बल देने से वे मन को मक्का, देह को किबला और बोलने वाले को परम गुरु ब्रह्म बतलाते हैं तथा उसकी प्राप्ति के लिए 'काया-गढ़' जीतने का उपक्रम करते हैं।[१]

सगुण—निर्गुण ब्रह्म के निरूपण में पूर्ण तृप्ति न होने पर वे उसे सगुण विराट रूप में दिखलाने लगते हैं। उसके ऐश्वर्य, माधुर्य और परमानन्द रूप का चित्रण करते हैं। कभी उसे सृष्टिकर्ता बतलाते हुए कहते हैं कि उसने स्वयं कर्ता बनकर कुम्हार की भाँति विविध सृष्टि की रचना की—'आपन करता भये कुलाला। बहु विधि सृष्टि रची दर हाला।' और कभी उसे चित्ररूपिणी सृष्टि की रचना करने वाला सूत्रधार भी मानने लगते हैं। वही बनाने, सुधारने और बिगाड़ने वाला भी है।[२] विराट रूप में अङ्कित करते हुए कबीर कहते हैं—

कोटि सूर जाके परगास। कोटि महादेव अरु कबिलास ।।
दुरगा कोटि जाके मरदनु करै। ब्रह्मा कोटि बेद उचरै...।।[३]

यही नहीं अष्टकुल पर्वत उसके पग की धूल हैं तथा सातों समुद्र उसके नेत्रों के लिए अञ्जनतुल्य है। अनेक मेरु पर्वत उसके नखों पर स्थित हैं और धरती तथा आकाश को उसने अधर में रख छोड़ा है।[४] कभी वे 'जाकै नाभि पदम सुउदित ब्रह्म, चरन गंग तरङ्ग रे' के रूप में विष्णु के पौराणिक रूपक की कल्पना करते हैं और कभी 'महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रकट कियो भगति भेव' के रूप में नरसिंहावतार की चर्चा करते हैं। कभी 'अबरन हरि' के गुण वर्णन के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं।

सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाई ।।—समर्थाई कौ अङ्ग ५

---

[१] सन्त कबीर : रागु भैरउ ४—मनु करि मका किबला कर देही। बोलनहार परम गुरु एही ।। रागु भैरउ १७—किउ लीजै गढु बंका भाई। दोवर कोट अरु तेवर खाई ।।

[२] कबीर ग्रंथावली : पद २७३ —कहै कबीर सुनहु रे लोई। भांनड़ घड़ण संवारण सोई ।।

[३] सन्त कबीर : रागु भैरउ २० ।

[४] कबीर ग्रंथावली; पद ३३५ ।

कभी सगुण-निर्गुण कुछ भी न कह कर इन दोषों से परे बतलाते हैं। उनका निर्गुण राम वही है जो अजर अमर दोनों से अतीत, पिंड-ब्रह्माण्ड दोनों से ऊपर तथा अरूप और अवर्ण दोनों से ऊपर उठा हुआ है।[1] वह भाव-अभाव दोनों से परे 'भावाभावविनिर्मुक्त' है।

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान् को कबीरदास ने 'निर्गुण राम' कहकर सम्बोधन किया है। वह अनुभवैकगम्य है—केवल अनुभव से जाना जा सकता है। इसी भाव को बताने के लिये कबीरदास ने बार-बार 'गूंगे का गुड़' कह कर उसे याद किया। वह किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है, यही कबीरदास का निर्गुण राम है।[2]

रैदास—सन्त रैदास ने सत्य के रूप में ब्रह्म का परिचय देते हुए उसे अनिर्वचनीय बताया है तथा उसे विमल, एकरस, कभी उत्पन्न-विनष्ट न होने वाला, उदय-अस्त से परे, सर्वव्यापी निश्चल, निराकार, अज, अनुपम, अगम, अगोचर, अज्ञेय एवं निर्विकार कहा है—

> **निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।**
> **अगम अगोचर अच्छा अतरक, निरगुन अंत अनंदा॥**
> **सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित, निरविकार अविनासी।**
> **कह रैदास सहज सुन्न सत, जिवन मुक्त निधि कासी॥[3]**

वही एक स्थावर-जङ्गम में मणिमाला में गुँथे सूत्र की भाँति ओत-प्रोत है। सारा जगत् जल में लहरों की भाँति उसी में समाया हुआ है। जैसे एक ही सोने से बने हुए आभूषण पृथक्-पृथक् जान पड़ते हैं और किसी पत्थर में गढ़ दी गई अनेक प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न जान पड़ती हैं किन्तु मूलतः वे एक होती हैं; जिस प्रकार दर्पण में प्रतिविम्ब दिखलाई पड़ता है, समुद्र में नभस्थित वस्तुओं की छाया प्रतिभासित होती है तथा वायु से विभिन्न प्रकार की गन्ध का अनुभव हुआ करता है किन्तु इन सबके होते हुए भी उक्त दर्पण, समुद्र व वायु प्रतिबिम्ब, छाया एवं गन्ध से अप्रभावित रहा करते हैं उसी प्रकार सांसारिक विकारों से वह ब्रह्म निर्विकार रहा करता है। इस नित्य वस्तु में प्रतिभासित होने पर भी

---

[1] **कबीर ग्रंथावली, पद १८० : संतौ धोखा कासूं कहिये। गुन मैं निरगुन, निरगुन मैं गुन बाट छाड़ि क्यूं बहिये॥**

[2] **डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ १२७।**

[3] **रैदास जी की बानी : पद ५३।३-४।**

वे मिथ्या हैं। कभी 'सत्त सरूप' का विचार करते हुए वे कबीर के-से स्वरों में कहने लगते हैं—

जस हरि कहिये तस हरि नाहीं, है अस जस कछु तैसा।
जानत जानत जान रह्यो सब, मरम कहो निज कैसा॥
करत जान अनुभवत आन, रस मिलो न बेगर होई।
बाहर-भीतर प्रगट गुप्त, घट घट प्रति और न कोई॥[१]

नानक—गुरु नानकदेव के अनुसार वह एक मात्र सत्य स्वरूप, सबका स्रष्टा, समर्थ, निर्भय, काल की पहुँच से परे, निर्वैर, अजन्मा, स्वयंभू है।[२] कोई भी अंश किसी भी रूप में उस एक मात्र सत्य से अलग नहीं। यदि हुकम है तो वही है, हुकम देने वाला है तो वही है और जिसे हुकम दिया जा रहा है, वह भी वस्तुत: उससे किसी भी प्रकार भिन्न नहीं। इस प्रकार गुरु नानकदेव का मूल दार्शनिक सिद्धान्त सर्वात्मवाद के उस रूप की ओर सङ्केत करता है जिसके अनुसार उस नित्य, निर्विशेष, एक मात्रसत्य एवं व्यावहारिक समीप सत्ता में कोई अन्तर नहीं और उक्त प्रकार का वर्णन केवल हमारे कथन की सुलभता को ही व्यक्त करता है।[३] वह (सत्य) चिंतन करने से समझ में नहीं आता, भले ही लाखों बार, बारम्बार उसका चिन्तन किया जाय। लाखों सयानपन हों, उस सत्य तक एक भी नहीं पहुँचता। हमारे और उसके बीच के व्यवधान को हटाने का एक सुगम उपाय 'परमेश्वर के आदेश' पर चलना है।[४] वह स्वामी 'सत्य' है, उसका नाम भी सत्य है और उसके बखान करने के ढंग अगणित हैं। न वह किसी के द्वारा स्थापित होता है और न बनाया जाता है। वह स्वयं ही है, निरञ्जन है, माया से परे है—'था पिआ न जाइ कीता न होइ। आपे आपि निरजनु सोइ।' सुन-सुन कर सब कोई कहते हैं कि तू बड़ा है, कि तू बड़ा है, पर क्या किसी ने देखा भी है कि तू कितना बड़ा है? हे मेरे महान् स्वामी! हे अथाह गम्भीर! हे सर्वगुणवंत! कोई नहीं जानता कि तेरी रूपरेखा का कितना बड़ा विस्तार है? सारे ध्यानी मिलकर तेरा ध्यान करें और सारे मोल आँकने वाले मिलकर तेरा मोल आँके तो भी तेरी बड़ाई का एक अणु भी वे वर्णन नहीं कर सकेंगे।[५]

---

[१] रैदास जी की बानी : पद ५४।१-२।

[२] ओंकार सति नामु करता पुरखु निरभउ, निरवैरू अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

[३] पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृष्ठ ३४४-५।

[४] जपु जी : छन्द १ हुकमि रजाई चल्लणा नानक लिखिआ नालि।

[५] संत सुधासार : पृष्ठ २४०।

उसके विषय में हम चाहे जितना भी कहते चले जाँय परन्तु उसका अन्त नहीं मिलता। हम जैसे-जैसे उसका वर्णन करते जाते हैं वैसे-वैसे वह और भी व्यापक होता हुआ प्रतीत होने लगता है यानी जितना उसके विषय में कहा जाता है उससे भी कहीं अधिक कहने को रह जाता है—एक अन्त न जाणै कोइ बहुता कहिए बहुता होइ।—परमात्मा ही सब कुछ है। वही स्वयं रस है और वही उसका भोगने वाला है। वही अपने रङ्ग में ही रमा हुआ सर्वत्र व्याप्त है। वही मछली है, वही मछली पकड़ने वाला है। वही पानी है, वही जाल है और वही चारा भी है—आपे पाणी जालु आपे जाल मणकड़ा, आपे अन्दरि लालु। वही गुण है, वही उन गुणों का वर्णन करने वाला है और वही उन पर विचार करने वाला है। वही रत्न, जौहरी और वही उस रत्न का मूल्य है। वही निर्मल हीरा है, मजीठ का रङ्ग है, उज्जवल मोती है। गुरु के उपदेश से मैंने उस अदृश्य को घट-घट में देखा है। वही एक मल-रहित है और तो सब सांसारिक विषयों में आसक्त हैं। अन्त में वे कहते हैं—

ऊँचा ऊँचउ आखिऐ, कहउ न देखि आ जाइ।
जहं देखा तहं एक तूं, सति गुरि दीआ दिखाइ॥
जोति निरन्तर जाणीऐ, नानक सहज सुभाइ॥[1]

उस परमात्मा के अज्ञेय बने रहने का निराकरण कहते हुए नानक ने कहा है कि समुद्र में यदि बूँद है और बूँद के भीतर समुद्र है तो उसे कोई कैसे जान सकता है। यह तो आत्मस्वरूप को जान लेना है। इसी प्रकार के आत्म-ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है।[2] कबीर की भाँति नानकदेव भी उस विराट की विराट आरती का आयोजन करते हुए कहते हैं कि आकाश मण्डल थाल है, सूर्य-चन्द्रमा दीपक हैं और उसमें ताराओं के मोती जड़े हैं, मलयानिल धूप है, पवन चवँर डुलाता है और सारे कानन फूल हैं उस ज्योतिस्वरूप के, जहाँ अनहद-नाद की तुरही बज रही है उस भव-खण्डन की आरती के बारे में क्या कहना ?

गगन मैं थालु रविचन्दु दीपक बने तारिका मण्डल जनक मोती।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ फूलत जोती॥
कैसी आरती होइ भवखण्डना तेरी आरती। अनहदा सबद बाजत भेरी॥[3]

दादूदयाल—जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है कि सन्त दादूदयाल

---

[1] सन्त काव्य : पृष्ठ २४२।

[2] सागर माहि बूंद बूंद महिसागरु, कवणु बुझै बिधि जाणै।
उतभुज चलत अगम करि चीने आपै तनु पछाणै॥

[3] सन्त सुधासार, पृष्ठ २३९।

ने किसी दार्शनिक मतवाद के फेर में न पड़कर मनसा, वाचा, कर्मणा कबीर के द्वारा अपनाये गये परमतत्व को ही स्वीकार किया। कबीर द्वारा वरण किये गये कन्त को ही अपना प्रियतम माना। कबीर की भाँति वे भी उस परमतत्व को सर्वव्यापी और अद्वितीय समझते हैं। उनके अनुसार, वह दयालु सर्वत्र समाया हुआ है, रोम-राम में रमा हुआ है, उसे दूर नहीं समझना चाहिए। बाहर-भीतर और सब दिशाओं में एक वही प्रियतम व्याप्त है, मैं उसी को देखता हूँ। जिस ओर दृष्टि डालता हूँ, वहा सिरजनहार दिखाई पड़ता है। पानी में प्रवेश कर यदि आँखें खोलकर देखा जाय तो चारों ओर जलविम्ब ही दिखाई देता है ऐसे ही वह ब्रह्म सब ठौर विद्यमान है। जो निरन्तर आनन्द स्वरूप बना रहता है, सर्वत्र सहज भाव से समाया रहता है, दादू उसी एक को देखता है, दूसरे को नहीं।[1] उस 'तेज पुञ्ज' के स्वरूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

> दह दिसि दीपक तेज के, बिन बाती बिन तेल।
> चहुँ दिसि सूरज देखिये, दादू अद्‌भुत खेल॥
> बादल नहिं तहँ बरसत देख्या, सबद नहीं गरजंदा।
> बीज नहीं तहँ चमकत देख्या, दादू परमानंदा॥[2]

दादू ने उस अविनाशी सहज स्वरूप अनूप तत्व के अङ्गों के तेज का साक्षात्कार स्वयं आँखों भर कर किया है। जो उसके नेत्रों के समक्ष है, वही अन्तर में भी है। जहाँ परम तेज का आविर्भाव हुआ है, वहाँ उनका मन समाया हुआ है, जो कहीं आता जाता नहीं, दादू ऐसे प्रिय के साथ क्रीड़ा कर रहा है। उस 'अलख अलाह' का नूर सीम-असीम से परे सर्वत्र परिपूर्ण है। वह खण्ड-खण्ड न होकर सर्वत्र अखण्ड भाव से एक रस होकर परिव्याप्त है, जैसा वह है वैसे ही उसका तेज भी है।[3] उस परमतत्व को सरोवर का रूपक देते हुए वे कहते हैं—

> हरि सरवर पूरन सबै, जित तित पाणी पीव।
> जहां तहां जल अंचतां, गई तृषा सुख जीव॥

उस 'सुन्न सरोवर' में 'नीर निरञ्जन' भरा हुआ है जिसमें 'मीन-मन' क्रीड़ा कर रहा है। दादू उसी अलख, अभेद तत्व के रस में विलस रहे हैं। अखण्ड सरोवर के अथाह जल को पाकर आतम हंस क्रीड़ा कर रहा है, मुक्ति रूप मोती चुन रहा है। वह बड़े सौभाग्य से अपने घर को पा गया है, ऐसे स्थान को

---

[1] दादूदयाल की बानी : भाग १, परचा को अंग ७८-८४।

[2] दादूदयाल की बानी : भाग १ परचा को अंग ८७, ८८, ९०, ९१।

[3] वही : ९४,९६,१०३,१०६।

छोड़कर अब वह कहाँ जाय ?[१] इसी तत्व को 'सहज' के नाम से भी पुकारते हुए दादू कहते हैं कि वह सुख-दुख के पक्षों से परे, मरण-जीवन से अतीत निर्वाण पद-नाम से प्रख्यात है, इसमें रम जाने से मन की द्वैत-भावना नष्ट हो जाती है और उष्ण-शीत दोनों में एक ही समान बनकर मन उसके साथ तद्वत् हो जाता है ।[२] इसीलिए दादू सीख देते हुए कहते हैं—

हद्द छाड़ि बेहद्द में, निर्भय निर्पष होइ ।
लाग रहै उस एक सों, जहाँ न दूजा कोइ ।।

दादूदयाल उस देश को जाने की तैयारी करते हैं जहाँ चन्द्र, सूर्य नहीं रात-दिन का जोर नहीं, सुख-दुख का विकार नहीं अपितु सर्वत्र सहज भाव से वह अविनाशी समाया हुआ है । उस 'देश' को वह देख भी चुके हैं जहाँ एक सी ऋतुएँ बनी रहती है, जहाँ न उजाड़ है न बस्ती, जो न निकट है न दूर, जहाँ न वेद का वश चलता है न कुरान का, और आश्चर्य की बात तो यह कि उस दुर्लभ देश की प्राप्ति के लिए साधक को श्रम नहीं करना पड़ता, सद्गुरु की कृपा से वह अपने आप मिल जाता है—

ना घरि रह्या न बनि गया, ना कुछ किया कलेश ।
दादू मन ही मन मिल्या, सतगुर के उपदेश ।।

इस प्रकार दादू ने उस परमतत्व को सर्वव्यापी, शून्य, सहज, परमपद, निर्वाण आदि कई नामों से पुकारा है । कहीं उन्होंने नकारात्मक भाव से भी उसे अभिव्यक्त किया है । दादू का राम ऐसा है जिसे न हल्का कह सकते हैं न भारी, जिसकी न नाप है न तौल, आगा है न पीछा, कितने ही पारखी प्रयत्न करते-करते थक गए पर उसकी परख न कर सके—आदि अन्त मधि लखै न कोइ । दादू देखे अचिरज सोइ ।।[३] उस विराट के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दादू कहते हैं—

दादू सबै दिसा सों सरिखा, सबै दिसा मुख बैन ।
सबै दिसा स्रवनहु सुणै, सबै दिसा कर नैन ।।
सबै दिसा पग सीस हैं, सबै दिसा मन चैन ।
सबै दिसा सनमुख रहै, सबै दिसा अंग ऐन ।।[४]

कहीं उसे साकार के से भावों से विभूषित करते हुए कहते हैं कि हे मोहन,

---

[१] दादूदयाल की बानी : भाग १, परचा को अंग ६२,६५,६८,६९ ।

[२] वही : मधि को अंग २-३ ।

[३] वही : भाग २, पृष्ठ २३, पद ५५ ।

[४] वही : पृष्ठ २४, साखी ४,२१४,२१५ ।

तुमने समस्त ब्रह्माण्ड, पवन, पानी, रवि, शशि, सह सागर, मुनि-जन, धरणी-आकाश, तीनों लोक, सिव विरञ्चि, नारद आदि को मोह लिया है और अन्त में वे कहते हैं—

> **अगम अगोचर अपार अपरंपरा, को यहु तेरा चरित न जाने।**
> **ये सोभा तुमकों सोहै सुन्दर, बलि बलिजाऊं दादू न जाने ॥[1]**

उस 'पूरे सौ परचा' होने पर दादू में पूर्ण प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है और वे समझ जाते हैं कि—'जीव-पीव न्यारा नहीं सब सङ्गि बसेरा। उस निरञ्जन के सहज निवास में रात-दिन, धरती-अम्बर, धूप-छाया और पवन-पानी का अन्त्याभाव है, वहाँ मात्र वही विराज रहा है। न तो वहाँ सूर्य-चन्द्र का उदय होता है न काल की तुरही बजती है। उस अगम अगोचर में सुख-दुख का जोर नहीं चलता। वह अलख निरञ्जन पाप-पुन्य से परे प्रत्येक घट में निवास कर रहा है। दादू उसी के सम्पर्क-सुख में निमग्न हैं।[2]

उस अनुपम तत्व का माहात्म्य-गान करते हुए दादूदयाल कहते हैं कि न तो वह अग्नि में जल सकता है, न जल में डूब सकता है, न मिट्टी में मिल सकता है न आकाश में लीन हो सकता है, वह एक रस होकर घट-घट व्याप्त है।[3] एक वही है जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। वही अलख-इलाही, राम-रहीम, केशव-करीम, मालिक-मोहन, साइँ-सिरजनहार, कादिर-कर्ता सब कुछ है। अन्त में वे कहते हैं—

> **अविगत अल्लह एक तूं, गनी गुंसाई एक।**
> **अजब अनूपम आप है, दादू नाउं अनेक ॥[4]**

उस 'पीव' से दादू का मन इस प्रकार समाया रहता है जैसे पुष्प में सुगन्ध और दूध में घी छिपा रहता है। उस 'हरि रस' का पान करते हुए कभी अरुचि नहीं होती। नित्य नूतन प्यास बढ़ती जाती है और पीने वाला कभी नहीं छकता। इसीलिए दादू उस तेज पुञ्ज सुख के सागर के 'झिलमिल नूर' में नहाने के लिए व्यग्र हो उठते हैं।

स्वामी गरीबदास ने भी सन्त दादूदयाल की भाँति उसे सर्वव्यापी बतलाते हुए और अद्वैतवादी विचारधारा का समर्थन करते हुए स्पष्टता के साथ कहा है।

सुन्दरदास—स्वामी सुन्दरदास सर्वात्सवाद की पद्धति से परमब्रह्म का निरूपण

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २ : पद ६३।
[2] वही : पद २०८।
[3] वही : पद २२८।
[4] वही : पद २३३।

करते हुए कहते हैं कि निश्चित रूप से वह 'दिलदार' दिल में है किन्तु दृष्टि को विषयों की ओर से पराङ्मुख करके अन्तर्मुखी करने पर ही वह दिखाई देता है। वह जल, स्थल, वायु, अग्नि, प्रकाश, तेज और ज्योति में तद्रूप बनकर समाया हुआ है। उसका वर्णन करते नहीं बनता और यदि वर्णन करने का प्रयत्न भी किया जाता है तो लज्जित होना पड़ता है।[1] बड़ी विचित्रता उस समय उपस्थित होती है जब—

जासों कहूँ, 'सब में वह एक' तौ सो कहै, कैसो है, आँखि दिखइये।
जौ कहूँ 'रूप न रेख तिसै कछु' तौ सब झूठ कै माने कहइये॥
जौ कहूँ सुन्दर 'नैननि मांझि' तौ नैनहूँ बैन गये पुनि हइये।
क्या कहिये कहते न बनै कछु जो कहिये कहते ही लजइये॥[2]

यदि उसे एक कहा जाता है तो वह असत्य सिद्ध होता है क्योंकि वह एक सा होकर भी अनेक दिखता है। आदि कहने से वह अन्त का भी स्पर्श करता है और फिर आदि, अन्त, मध्य, किसी भी सीमा में नहीं आता। यदि उसे गुप्त कहा जाता है तो सारी सृष्टि में वही तो प्रकाशित हो रहा है अतः—'जोइ कहूँ सोइ है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसो को तैसो।' सुन्दरदास ने ब्रह्मतत्व को विश्वमय और विश्व को ब्रह्ममय कह कर सर्वात्मवाद की पुष्टि की है। तथा 'तोही में जगत यह तूही है जगत मांहि, तौ मैं अरु जगत में भिन्नता कहाँ रही' कह कर एक प्रकार से 'खालिकु खलकुखलकु महि खालिकु' की ही पुनरावृत्ति की है। अभिन्नता बतलाने के लिए उन्होंने एक ही मिट्टी से निर्मित अनेक बर्तनों, जल से उत्पन्न विविध लहरियों, ईख के रस से बने विविध मिष्टान्नों, काठ की पुतलियों, लोहे के बने अस्त्रों, तथा सोने के बने विविध गहनों के दृष्टान्त दिये हैं और भेद बतलाने के लिए कहा है कि उन दोनों में अन्तर मात्र इतना है जितना जमे घी और द्रवित घी में होता है। इस प्रकार का भेद-भाव अज्ञानजनित ही है क्योंकि ब्रह्म इस विश्व का निमित्त एवं उपादान दोनों प्रकार का कारण है और सर्वत्र एक समान व्यापक है। वे विश्व को ब्रह्म का ही पर्याय समझते हैं—'सुन्दर कहत यह एकई अखण्ड ब्रह्म, ताहीं कौ पलटि कै जगत नाम धर्यौ है'।

मलूकदास—अद्वैतपरक शब्दावली में मलूकदास भी कबीर के विचारों से साम्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि तीनों लोक में हमारी ही माया व्याप्त है, छत्तीस पवन हमारी ही जाति के हैं। हम्हीं तरुवर, कीट-पतंग, दुर्गा, गङ्गा, पण्डित-बैरागी, तीर्थ-व्रत, देव-दानव हैं, जिसको जैसा अच्छा लगे वैसा समझ

---

[1] सन्त सुधासार : पृष्ठ ६३१।

[2] वही।

लो। हम्हीं दशरथ हैं और हम ही राम के रूप में अवतरित हुए। जहाँ-तहाँ सर्वत्र हमारी ही ज्योति छिटकी हुई है, हम ही पुरुष और नारी हैं। इस प्रकार से जो कोई लव लगाता है, वह अज्ञेय उसका दास हो जाता है।[1] अनुभव पद की स्थिति में आ जाने के उपरान्त मलूकदास की उक्ति है—

सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई।
चेला गुरु दोनों सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई॥[2]

इस अपरम्पार स्थिति को उन्होंने चौथा पद कहा है। प्रथम स्थिति में देवी-देवताओं का पूजन, द्वितीय में नियम-आचरणादि का पालन और तृतीय स्थिति में जगत के बन्धन स्वरूप शास्त्रीय ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी भ्रान्ति का उन्मूलन नहीं होता। उसका मूलोच्छेदन तो चौथे पद में ही होता है। कोई 'जाग्रत जोगी' ही संसार से पृथक् रहकर इस रस का स्वाद ले सकता है जहाँ अनहद की तुरही बजती है और साधक की लगन उस अनिवर्चनीय के प्रति सहज भाव से लग जाती है। 'गगन गुफा' में बैठकर वह उस जगमग ज्योति का दर्शन करता है। उस आत्म-अनुभव के उत्पन्न होने पर उसका सारा भय दूर हो जाता है तथा वह ससीम से निस्सीम हो जाता है और द्विविधा भाव को छोड़ कर समभाव से सब रङ्गों के खेल में मस्त बना रहता है।[3] आत्मतत्व के जान लेने पर सब प्रकार की भ्रान्ति मिट जाती है और ऐसे सिद्ध साधक को तीनों भुवनों का ज्ञान हो जाता है। जो मन है वही परमेश्वर है, इस अद्वैत भाव को कोई बिरला अवधूत जानता है। जो सब के घट का रहस्य जानता है, वही उसका रूप भी बतला सकता है। जहाँ से अनाहद नाद सुनाई पड़ रहा है वहीं पर ब्रह्म का निवास है और वह परमज्योति स्वरूप गगन-मण्डल में क्रीड़ा कर रहा है, अन्त में वे कहते हैं—

कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़भागी गावै।
क्या गिरही और क्या बैरागी, जिहि हरि देयं सो पावै॥[4]

इस प्रकार सभी सन्त कवि अपने परमब्रह्म को शून्य, सर्वव्यापी, अलख, अगोचर, निर्गुण, सगुण से परे और अभेद भाव से युक्त समझते हैं। सर्वत्र वही है, उसी का प्रसार है, अनेक वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर वही आभासित होता है। वह कहने-सुनने में नहीं अभिव्यक्त हो पाता और न वाणी में बँध

---

[1] मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ २४।
[2] वही, मिश्रित शब्द १, पृष्ठ २३।
[3] वही, पृष्ठ २१।
[4] वही, पृष्ठ १७।

पाता है। प्राय: सभी-सन्त कवि उसको निराकार मानते हुए भी साकार भाव वाले संकेतों से उसे सम्बोधित करने लगते हैं और सम्भवत: ऐसा भावावेश की चरम सीमा पर पहुँच कर ही करते हैं। कबीर, दादू, सुन्दरदास और मलूकदास जहाँ विशुद्ध अद्वैतवाद के समर्थक हैं वहाँ नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदी विचारधारा के पोषक हैं। गुरु नानकदेव के मूल दार्शनिक सिद्धान्त सर्वात्मवाद की ओर भी संकेत करते हैं, 'सुन्न' और 'सहज' शब्दों का प्रयोग भी लगभग सभी सन्त-कवियों ने किया है और इस विचार-परम्परा के लिए वे सिद्ध और नाथों के आभारी कहे जा सकते हैं। यह बात दूसरी है कि ठीक उसी अर्थ-विशेष में इन सन्त-कवियों ने इन शब्दों का प्रयोग न किया हो जिनमें इनके पूर्ववर्ती कवियों ने किया है।

जीव—आचार्य शङ्कर ने अन्त:करण के द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य को जीव की संज्ञा प्रदान की है। उन्होंने शरीर तथा इन्द्रिय समूह के ऊपर शासन करने वाले तथा कर्मों के फल भोगने वाले आत्मा को जीव बतलाया है। उनके मत में जीव चैतन्य स्वरूप है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार परब्रह्म और आत्मा में नितान्त एकता है। ब्रह्म ही उपाधि के सम्पर्क में आकर जीव भाव से विद्यमान रहता है। इस प्रकार दोनों में एकता होने पर यही सिद्ध होता है कि आत्मा चैतन्य रूप ही है। जीव की प्रवृत्तियाँ उभयमुखीन होती हैं। बाहर भी होती हैं, भीतर भी होती हैं। जब वे बहिर्मुख होती हैं तब विषयों को प्रकाशित करती हैं। जब वे अन्तर्मुख होती हैं तो अहंकर्ता को प्रकट करती हैं। ईश्वर उपकारक है तथा जीव उनके द्वारा उपकार्य है। ईश्वर अंशी है और जीव उनका अंश है। प्रश्न उठता है कि अङ्ग के दुख से अङ्गी का दुखित होना लोक-व्यवहार में सिद्ध है। ऐसी दशा में जीव के दु:ख से ईश्वर को भी दुखी होना चाहिए। समाधान : जीव का दु:ख का अनुभव करना मिथ्याभिमानजनित भ्रम के कारण होता है।... जिस प्रकार जल में पड़ने वाला सूर्य-बिम्ब जल के हिलने से हिलता हुआ दिखलाई पड़ता है परन्तु सूर्य में किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता, उसी प्रकार अविद्याजनित क्लेशों से दु:खित होने वाले जीव के क्लेशों से ईश्वर किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता।...जीव न तो साक्षात् ईश्वर ही है न वह वस्त्वन्तर है। वह ईश्वर का आभास उसी प्रकार है जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब। इस प्रकार जीव, ईश्वर के अंश के समान है। वह परमेश्वर का आभास है, प्रतिबिम्ब है। अविद्या के कारण ही जीव शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण नाना प्रकार के क्लेशों का अनुभव करता है परन्तु ईश्वर का उससे कोई सम्पर्क नहीं रहता।[1] सन्तों ने ब्रह्म और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है, वे दोनों

[1] बलदेव उपाध्याय : शङ्कराचार्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५३, २५४, २५५।

में अन्तर न मानकर उनकी एक ही सत्ता स्वीकार करते हैं। चराचर सृष्टि में परमात्मा से पृथक् किसी भी वस्तु की वे सत्ता स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं तुच्छ से तुच्छ पदार्थों में भी वे परब्रह्म का निवास मानते हैं। कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्मा का निवास है, लेकिन भ्रमवश वह इस ज्ञान से अनभिज्ञ है। किन्तु जब वह इस भ्रम को दूर कर देता है, तब वह समझ जाता है कि 'जीव ब्रह्म नहिं भिन्न।' जो लोग ब्रह्म और जीव को पृथक् समझते हैं, उनकी स्थूल बुद्धि पर तरस खाते हुए कबीर उन्हें नरकगामी समझते हैं।[1] जीव अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति के कारण ही स्वयं को ब्रह्म से पृथक् मान लेता है और आत्मतत्व को भूलकर पञ्चतत्वों को ही अपना चरम तत्व मानकर उन्हीं में अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्णता मानता है और इस प्रकार दर्पन के आगे की ओर न देखकर उसके पृष्ठ भाग की ओर देखता है।[2]

जीव और ब्रह्म की अद्वैतता—कबीर के मतानुसार "सब घटि अंतरि तूं ही व्यापक, धरै सरू पैं सोई" है परन्तु 'माया मोहै अर्थ देखि करि काहे कूं गरबांनां" के कारण जीव और ब्रह्म की अद्वैतता को हम नहीं पहचान पाते किन्तु जब हम दृश्य-आवरणों के भ्रम में न पड़कर, नाम और रूप की सीमा को पारकर अपने अन्तरतम की ओर देखते हैं तब "ज्यूं दरपन प्रतिव्यंब देखिए, आप दवासूं सोई। संसौ मिट्यो एक को एकै" के आधार पर ज्ञात होता है कि मैं अब तक भ्रम में था। मैं तो पूर्ण ब्रह्म स्वरूप था ही, मेरा कभी उससे पार्थक्य नहीं रहा। मैं ही क्या अखिल सृष्टि उसी में रमण कर रही है—"खालकु खलिकु...।" एक अद्वैततत्व के भिन्न-भिन्न रूपों में परिलक्षित होने के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवन में व्याप्त एक ही अग्नि और वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो गया है और उसके बाहर भी है वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप होते हुए भी उसके बाहर विराज रहा है।[3] उपनिषद् के इस कथन का समर्थन करते हुए कबीरदास जी ने भी कहा है—"ज्यूं जल में प्रतिव्यंब, त्यूं सकल रोमहि जांणीजे" अर्थात् जिस प्रकार जल में बिम्ब विविध प्रतिबिम्बों में

---

[1] कबीर ग्रन्थावली : पृष्ठ १०५—"हम तो एक एक करि जानां।
दोह कहें तिनहीं को दो जग, जिन नाहिन पहिचानां।"

[2] सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १०७, सुन्दरदास : "सूधी ओर न देखई, देखे दर्पण पृष्ठ।"

[3] कठोपनिषद् २।५।८-६।

दिखाई पड़ता है वैसे ही एक ही आत्मतत्व संसार में उसी प्रकार अनेक रूपों में आभासित होता है।

सन्त कवियों के अनुसार ब्रह्माण्ड और पिण्ड में ब्रह्म की ही सर्वगत, स्वयंभू चेतना परिव्याप्त है। स्वजातीय विजातीय, किसी प्रकार का भी भेद-भाव आत्मा-परमात्मा में नहीं। सर्वगत चैतन्य प्रवाह ससीम में जब अंतःकरण द्वारा अविच्छिन्न होता है तब उसकी जीव संज्ञा होती है। संतों ने आत्मा और जीव के भेद को स्पष्ट करने का बहुत कम प्रयास किया है। आत्मा और परमात्मा विषयक भिन्नता वास्तविक न होकर व्यावहारिक है। संसार में जो आकाश चारों ओर परिव्याप्त है वही एक घड़े में प्रतिविम्बित होता है, उसी प्रकार असीम ब्रह्म ससीम जीव में अपने को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार ब्रह्म विम्ब है और संसार प्रतिविम्ब। कुम्हार ने एक ही मिट्टी से अनेक रूपों की रचना की है—"माटी एक अनेक भाँति करि, साजी साजन हारे" तथा "माटी एक भेख धरि नाना ता महि ब्रह्मु पछाना।"—सन्त कबीर, पृष्ठ १०७। कबीरदास का कथन है कि यह जीवात्मा, परमात्मा का अंश है और यह उसी प्रकार नहीं मिट सकता जिस प्रकार कागज पर स्याही का चिह्न नहीं मिट सकता।[१] और कभी जीव-ब्रह्म की अद्वैतभावना से आशंकित हो वे प्रश्न कर बैठते हैं कि हे सखी, सुनो मेरा हृदय प्रियतम में निवास करता है अथवा प्रियतम ही मेरे हृदय में निवास करता है। मुझे तो हृदय और प्रियतम की पृथक् पहिचान ही नहीं होती कि मेरे शरीर में मेरा हृदय है या मेरा प्रियतम।[२] अन्यत्र उन्होंने बूँद और समुद्र का दृष्टान्त देकर एक-दूसरे में पूर्णतः दोनों (ब्रह्म-जीव) का एकाकार हो जाना सिद्ध किया है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
बूँद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराइ।
समुद्र समाना बूँद में, सो कत हेर्या जाइ॥[३]

सन्त दादूदयाल के अनुसार भी "जहं आतम तहं परमात्मा, दादू सहजि समाइ" एवं "परआतम सो आतमा, ज्यों जल उदक समान। तन मन पाणी लौंण ज्यों, पावै पद निर्बाण॥" दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जीव का सम्बन्ध ब्रह्म से आदि, अंत और मध्य में एक रस और अविच्छिन्न भाव से होता है और वे केवल एक ही रह जाते हैं—

---

[१] सन्त कबीर : रागु गौड़ ५।

[२] वही : सलोकु २३६।

[३] कबीर ग्रन्थावली : लांबी को अङ्ग ३, ४।

आदि अंत मधि एक रस, टूटे नहिं धागा।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा॥
ये दून्यूं ऐसी कहै, कीजै कौण उपाइ।
ना मैं एक न दूसरा, दादू रहु ल्यौ लाइ॥[1]

परमात्मतत्व के छिपा होने के कारण भ्रमवश जीव व्याकुल हो जाता है और जब तक वह प्रत्यक्ष नहीं हो जाता तब तक उसे पास में रहने पर भी परदेश में बसा समझता है और जब तक वह उसे प्रत्यक्ष रूप से नेत्र भर कर देख नहीं लेता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। एक शय्या में साथ रहने पर भी इस विचित्र विछोह की असह्य यंत्रणा उससे नहीं सही जाती और वह निकट रहकर भी दूर बना रहता है और दादू की विरहिणी आत्मा अपने 'पीव' के कारण तड़पती रहती है।[2] लेकिन जब आत्मनिष्ठ होकर पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से देखते हैं तब सर्वत्र एक ही आत्मतत्व का प्रसार दिखता है किन्तु शरीरादि की दृष्टि से अनेकत्व का आभास मिलता है और हमारे सामने अनेक नामरूपादि के भेद खड़े हो जाते हैं—

जब पूरण ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिये, तौ नाना वरण अनेक॥[3]

किन्तु जीव में जब पूर्ण अद्वैत-भावना आ जाती है तो वह अपने अहं का विसर्जन करके स्वयं को समर्पित कर देता है और उसका तन-मन, पिण्ड-प्राण—यहाँ तक कि सब कुछ उसके आराध्य का हो जाता है। अपना सर्वस्व समर्पित करने पर भी वह यह समझता रहता है कि जिसे मैंने अपना सर्वस्व अर्पित किया है, वह मुझसे भिन्न नहीं अपितु वह 'मेरा' स्वयं 'मैं' ही हूं, अतः देने और पाने वाले के बीच का अन्तर मिट जाता है और देने वाला भी खोने की जगह अपने को और भी अधिक पूर्ण मानने लगता है। इस प्रकार की साधना के लिए उसे किसी वाह्याचार के करने की आवश्यकता नहीं, इसके समस्त साधन उसके अपने भीतर ही मिल जाते हैं। गुरु की कृपा से प्रियतम का प्रत्यक्ष दर्शन अपने आप हो जाता है और इस प्रकार की प्रज्ञा का प्रादुर्भाव हो जाता है कि माँगने वाले और जिससे माँगा जा रहा है, और जो वस्तु माँगी जा रही है, इन तीनों में कोई अन्तर नहीं। वे तीनों वस्तुतः एक ही हैं। 'दुई' का पर्दा उठ जाने पर मन में किसी प्रकार की भ्रांति शेष नहीं रह जाती और आत्मस्वरूप

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, लय को अङ्ग ४३, ४५।
[2] सन्तसुधा सार : पृष्ठ ४२८।
[3] दादूदयाल की बानी : साच को अंग १३०।

का बोध होने लगता है। इसी स्थिति में पहुँचकर दादू कहते हैं कि हे अलह, राम, मेरा सारा भ्रम जाता रहा। अब मैं तुझे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। तूने मेरी दृष्टि बदल दी और मुझे भिन्नता के स्थान पर सर्वत्र अभिन्नता ही दिखाई पड़ती है। ऐसे ही गहन अनुभूति के क्षणों में दादू पुकार उठते हैं—

जब दिल मिला दयाल सों, तब अंतर कछु नाहिं।
जब पाला पानी कौं मिला, त्यों हरिजन हरि माहिं ॥[1]

नित्यानन्द में लीन दादूदयाल को एक मात्र सहज रूप परमतत्व को छोड़कर और कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता।[2] इस कथन की पुष्टि करते हुए मलूकदास ने कहा है कि 'साहब' से मिलकर अब स्वयं साहब हो गये और किसी प्रकार की द्वैत भावना शेष नहीं रही, अब हम उस स्थिति को पहुँच गये हैं जहाँ पवन की भी पहुँच नहीं है।[3] अद्वैत भाव की इस अभिन्न स्थिति की व्यंजना करते हुए सुन्दरदास जी ने भी कहा है—

एकहि ब्रह्म रह्यौ भरिपूरि तौ, दूसर कौन बतावनि हारौ।
जो कोउ जीव करै जु प्रमान तौ, जीव कहा कछु ब्रह्म तैं न्यारौ ॥
जो कहै जीव भयो जगदील तै, तौ रवि मांहि कहां कौ अंधारौ।
सुन्दर मौन गही यह जानि कै, कौनहूँ भाँति न होत निधारौ ॥[4]

वाह्यावरण-भेद और आकार-प्रकार के गुरु-लघु होने का निराकरण करते हुए वे कहते हैं कि जिस घट की जैसी सीमा है, उसी के अनुरूप वह चेतन-तत्व उसमें दिखता है। हाथी के शरीर में इतना विराट और चीटी में अत्यंत लघु दिखाई पड़ता है। इस प्रकार जैसी उसकी वाह्य उपाधि है, तदनुरूप नख से शिखा तक वह वैसा ही दिखाई पड़ रहा है। अन्य उदाहरणों द्वारा इस उलझन को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए व्यावहारिक शब्दावली में वे कहते हैं—

एकहि कूप के नीर तें सीचत, ईक्ष अफीमहि अम्ब अनारा।
होत उहै जल स्वाद अनेकनि, मिष्ट कटूक षटा अरु षारा ॥
त्यौंहि उपाधि संयोग ते आतम, दीसत आहि मिल्यौ सो विकारा।
काढ़ि लिये जु विचार विवस्वत, सुन्दर शुद्ध स्वरूप है न्यारा ॥[5]

---

[1] संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९२।

[2] **सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर।**
दादू देखन एक को, दूजा नाहीं और ॥

[3] सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १०४।

[4] सन्तकाव्य, पृष्ठ ३९१।

[5] वही, पृष्ठ ३९०।

सुन्दरदास की अद्वैतवाद की जानकारी सुनी-सुनाई न होकर पूर्ण शास्त्रीय थी। वेदान्तादि का उन्होंने गम्भीर मनन किया था। ब्रह्म-जीव की एकता के विषय में उनका स्पष्ट मत है कि मूलतः दोनों एक हैं किन्तु अज्ञानतावश इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि दोनों पृथक्-पृथक् हैं और फिर सद्गुरु की कृपा से पुनः यह सुबुद्धि उत्पन्न होती है कि जिन्हें मैं भेदभाव की भ्रमात्मक दृष्टि से देख रहा था, वे तो दोनों एक हैं।[1]

अंशांशि सम्बन्ध—जीव-ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार करते हुए भी सन्त-कवि दोनों में सूक्ष्म भेद कर देते हैं। उनके मतानुसार जीवात्मा परमात्मा तो है परन्तु पूर्ण नहीं। परमात्मा अंशी है और जीवात्मा उसका अंश। कबीर ने भी 'कहु कबीर यहु राम को अंश' तथा 'बूँद और समुद्र'[2] के दृष्टान्त देकर इस कथन की पुष्टि की है। वेदान्त सूत्र २।३।४३ में कहा गया है कि जीव ब्रह्म का अंश और तन्मय भी है। आचार्य शङ्कर ने अग्नि और स्फुलिङ्ग का दृष्टान्त देकर दोनों के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। जिस प्रकार चिन्गारी अग्नि से निकल कर पुनः उसी में समा जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से निकलकर पुनः उसी में लीन हो जाती है। इस प्रकार उक्त सूत्र में आभास या प्रतिबिम्ब के माध्यम से अंशांशिभाव को समझाने की चेष्टा की गई है। कबीर ने अंशांशिभाव का निरूपण वेदान्तपरक ही किया है। 'बूँद समानी समुद्र में' तथा 'ज्यूँ दरपन प्रतिव्यम्ब देखिए' के उदाहरण आभास या प्रतिबिम्बवाद की ही पुष्टि करते हैं।

सन्त बाबालाल के अनुसार परमात्मा एक अपूर्व आनन्दसागर के समान है जिसका प्रत्येक जीव एक विन्दु के रूप में वर्तमान है। उसके साथ वियोग-दशा के अनुभव का एक मात्र कारण हमारी 'अहंता' है जिसकी साधना द्वारा क्षय होते ही एकता की अनुमति आप से आप होने लगती है। दाराशिकोह के प्रश्न, 'जीवात्मा व परमात्मा में क्या अन्तर है?' पर उन्होंने बतलाया था कि कोई अन्तर नहीं है, जीवात्मा के सुख-दुख उसके शारीरिक बन्धन के कारण हैं। गङ्गा नदी का जल एक ही है, चाहे वह नदी की घाटी में बहे, चाहे किसी पात्र में बन्द रहे। फिर भी इससे अन्तर बहुत बड़ा आ जाता है। शराब की एक बूँद पात्रवाले जल को दूषित कर सकती है किन्तु वह नदी में लापता हो जाती है। परमात्मा इस प्रकार के प्रभावों से दूर है किन्तु जीवात्मा इन्द्रियों के कार्यों तथा मोहादि से प्रभावित रहता है।[3] गुरुनानकदेव ने आत्मा-परमात्मा की ऐक्यानुभूति

---

[1] सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १०७।

[2] देखिए, पिछला पृष्ठ।

[3] पं० परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ५२६।

कर भेद-भाव को दूर करने का उपदेश तो अवश्य दिया है परन्तु अंशांशि भाव के सम्बन्ध निरूपण की चेष्टा नहीं की। सिख-सम्प्रदाय के द्वारा मुक्ति को 'निर्वाण' मानने से इस बात का आभास मिलता है कि ये आत्मा परमात्मा की अभेदरूपता को स्वीकार करते हैं किन्तु यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि जब तक 'अन्तरि की दुविधा अन्तरि' में नहीं मरती तब तक दोनों में पूर्ण अद्वैत भाव रहता है या नहीं। हाँ, उनके सामान्य कथनों से तो जीवात्मा और परमात्मा का अंशांशि भाव ही सिद्ध होता है।

जीव-ब्रह्म का तादात्म्य—जीव माया के वशवर्ती हो अज्ञानवस्था को प्राप्त होता है। उसमें आत्मबोध का जागरण सद्‌गुरु के उपदेशों द्वारा होता है। ब्रह्म के रूप को जानने के लिए उसे प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। भावात्मक अनुभूति के माध्यम से पति, मित्र, माता-पिता आदि के सम्बोधनों को अपनाकर ये प्रतीक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दाम्पत्य-भाव में प्रेम की प्रगाढ़ता होने के कारण समस्त प्रतीकों में 'प्रियतम' का प्रतीक ही उत्कृष्ट माना जाता है। वे अपने निर्गुण ब्रह्म में भी गुणों का आरोप करते हुए उसे प्रियतम तथा स्वयं को प्रिय-विरह में व्यथित वियोगिनी के रूप में देखते हैं। उस निर्मोही की बाट तकते-तकते विरहिणी की आँखें पथरा जाती हैं और उसका नाम रटते-रटते जीभ में छाले पड़ जाते हैं।[1] वह अपने तन को दीपक बनाकर, प्राणों की बाती डाल कर, अपने रक्त-स्नेह से सींचकर भी प्रिय के मुखड़े को देखना चाहती है।[2] लोकमर्यादा वश न तो उन तक पहुँच सकती है और न उन्हें बुला ही सकती है, मात्र उपालम्भ देकर ही उसे कुछ तुष्टि मिल जाती है—"जियरा यों ही लेहुगे. बिरह तपाइ तपाइ" और अन्त में उसे कहना पड़ता है कि या तो मुझ विरहिणी को मृत्यु दो या दर्शन। यह आठों पहर का झुलसना मुझसे अब नहीं सहा जाता।[3] दादूदयाल में विरह की तीव्र अनुभूति उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है—

> रोम रोम रस प्यास है, दादू करहि पुकार।
> रांम घटा दल उमंगि करि, बरसहु सिरजनहार॥
> प्रीति जु मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि।
> रोम रोम पिव-पिव करै, दादू दूसर नाहि॥[4]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६।२२ : अंखड़ियां झांई पड़ी...।

[2] वही, इस तन का दिवा करौ...।

[3] वही, कै बिरहणि कुं मीच दे ...।

[4] संत सुधासार : पृष्ठ ४६० ।३०-३१।

सुन्दरदास की विरहिणी आत्मा, प्रिय-मिलन की तीव्र उत्कंठा में व्यथित होकर कहती है कि हे मेरे प्राणाधार प्रियतम, तुम घर कब आओगे ? (यद्यपि सन्तों ने जीव-ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार की है किन्तु व्यावहारिक रूप में इस प्रकार के उद्गारों को व्यक्त कर वे अपनी प्रेमानुभूति को प्रतीकों के रूप में तीव्रता प्रदान करते रहे हैं।) वह सुन्दर दिवस कब आयेगा जब कि तुम मुझे दर्शन दोगे। हे बालम ! चन्द्रमा को देखने के लिए चकोर की भाँति मेरे ये नयन तुम्हारा पथ हेर-हेर कर थक गए, पपीहा की भाँति पिया-पिया की रट लगाते-लगाते वाणी सूख गई और अन्त में वह प्रगाढ़ वेदना में बिखर कर फूट पड़ती है[1]—

> ये श्रवन सुनन कौं बैन धीरज ना धरैं।
> बाल्हा, हिरदै होइ न चैन, कृपा प्रभु कब करैं॥
> मेरे नखसिख तपति अपार दुःख कासों कहौं।
> जब सुन्दर आवै यार सब सुख तौ लहौं॥

इस प्रकार जीवात्मा दाम्पत्य-रति की प्रगाढ़ प्रेमानुभूति का अनुसरण कर स्वयं को प्रियतम ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देती है। इस समर्पण-जनित आनन्दानुभूति की ही संज्ञा रहस्यवाद है। ब्रह्म और जीव की मिलन-वीथिका तत्वदर्शी कवियों के द्वारा रहस्यवाद के माध्यम से स्पष्ट की गई है अन्यथा माया के प्रभाव के कारण जीव और ब्रह्म का मिलन सम्भावित ही न था। डॉ० वर्मा जी का कथन सत्य ही है कि यदि इन प्रतीकों की स्थापना न होती तो रहस्यवाद की भी सृष्टि नहीं हो सकती थी। योग के नाड़ी-साधन तथा षट्-चक्र-बेधन से सहस्त्र दल कमल स्थित ब्रह्म की. अनुभूति समाधि द्वारा समाधि सम्भव है किन्तु जीव के लिए सरल मार्ग प्रतीकों द्वारा ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त करना ही है।[2] सन्त कवियों की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा कहीं निर्गुण, और कहीं निर्गुण-सगुण है, अतः उनकी इस प्रकार की भावना में रहस्यवाद की भावना समाविष्ट हो गई है। जीव-ब्रह्म के भावात्मक तादात्म्य पर 'रहस्यवाद' शीर्षक में विचार करने का अवसर मिलेगा।

सच तो यह है कि ब्रह्म-जीव का यह मिलन कभी रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है और कभी अद्वैतवाद की सीमा में अन्तर्मुक्त हो जाता है। वस्तुतः इन दोनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं। अद्वैतवाद में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता का अस्तित्व शेष नहीं बचता—"पानी ही तै हिम भया हिम ही गया बिलाय। कबिरा जो था सोइ भया, अब कछु कहा न जाय।" किन्तु

---

[1] सन्त सुधासार, पृष्ठ ६५६।१७।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृष्ठ ७६।

रहस्यवाद में जीव की सत्ता ब्रह्म में अन्तर्मुक्त होते हुए भी 'सेवक सेव्य भाव के अनुसार' अपनी पृथक् सत्ता रखती है क्योंकि संपृक्त हो जाने पर तो जीवात्मा ब्रह्म मिलन-सुख की अनुभूति ही न कर सकेगी। अतः ब्रह्म की सर्वतः व्याप्त लालिमा में आमूल-चूल स्नान करके ही जीवात्मा कृतार्थ होती है। यदि उसकी स्वतन्त्र सत्ता न हो तो कौन किसका दर्शन कर तद्वत् हो।[1] सगुण-निर्गुण ब्रह्म से आत्मा का तादात्म्य योग द्वारा भी सम्भव है। इस यौगिक तादात्म्य का भी सम्बन्ध रहस्यवाद से है। वस्तुतः जीवात्मा और परमब्रह्म में कोई तात्विक अन्तर न होने के कारण भी जो भेद हमें दिखलाई पड़ता है वह मायाजनित है। माया का आवरण हट जाने पर जीव जीवित अवस्था में या मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म में समाविष्ट हो जाता है—"फूट कुंभ जल जलहिं समाना।" सन्त कवियों ने आत्म-तत्व का निरूपण अधिकांशतः औपनिषदिक् परम्परा पर ही किया है। साथ ही उन पर शङ्कर के मायावाद का भी प्रभाव है। आत्म तत्त्व की अद्वैत-भावना में पूर्ण विश्वास करते हुए भी वे आत्मा और परमात्मा में अंशांशि भाव स्वीकार करते हैं किन्तु यह भाव भेदाभेदी न होकर पूर्ण अद्वैतपरक है।

माया—यद्यपि जीव और ब्रह्म में अभेद-भावना है, दोनों की एक ही सत्ता है परन्तु व्यावहारिक रूप में अस्मत्-युष्मत् का भेद-भाव ही सत्य जान पड़ता है। आत्मा-परमात्मा के बीच अन्तर डालकर दोनों को पृथक् प्रतीति कराने वाली शक्ति 'माया' है। माया की प्रकृति त्रिगुणात्मिका कही गयी है। यही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण है। माया सम्बन्ध के कारण चार स्थितियों की कल्पना की गई है—१. विशुद्ध सत्य चेतन स्वरूप ब्रह्म (निर्गुण) अर्थात् जो माया चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को ईश्वर रूप में प्रकट करती है वह सत्व गुण प्रधान है। २. मायोपाधि संयुक्त ब्रह्म (सगुण) ३. मायोपाधि संयुक्त आत्मा (जीव) ४. अविद्या मायाग्रस्त संसारी जीव। इन्द्रियों के द्वारा यह चेतन जीव नाना प्रकार के विषयों का आनन्द लेता हुआ ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जब वह अपने उद्गम मूल रूप आत्म तत्व को भूल कर इस शरीर को ही आत्मा या सब कुछ समझने लगता है। यही उसके अज्ञान, अविद्या का आरम्भ है। इसी को माया कहते हैं। आत्मा या भगवान् की ओर से उसका ध्यान, स्मृतिसूत्र छूटकर जब शरीर संसार प्रपञ्च में लग जाता है, यही आसक्ति है।[2] निर्विकल्पक, निरूपाधि तथा निर्विकार सत्ता (ब्रह्म)

---

[1] लाली मेरे लाल की...।

[2] हरिभाऊ उपाध्याय : भागवत धर्म, पृष्ठ ६१।

मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करती है जो इस संसार के सृजन, पालन और संहार की कारण होती है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया-शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी मायाशक्ति के बल पर इस जगत् की सृष्टि करता है।[1] माया भगवान की शक्ति है। माया और मायी का सम्बन्ध शाश्वत है। मायी परमब्रह्म अपनी माया-शक्ति का विस्तार कर उसी में अपने आप को छिपाकर स्वयं से क्रीड़ा करता है—"सत रज तम थैं कीन्हीं माया, आपण माँझै आप छिपाया।"[2] अद्वैतवाद के अनुसार प्रत्येक पल परिवर्तित होने वाले जगत् के मूल में एक शाश्वत आत्म-तत्व विद्यमान है। मायावाद के अनुसार सृष्टि अनेकान्त न होकर एकान्त है। नेत्रों से दीख पड़ने वाला नाम रूपात्मक जगत् और उसके विविध कार्य-व्यापार असत्य हैं। इस प्रकार सत्य तत्व असत्य के द्वारा आवृत है और मिथ्या तत्व ही सत्य रूप में परिलक्षित होता है।

शङ्कर का मायावाद—आचार्य शङ्कर ने माया को भ्रमरूप की संज्ञा देते हुए इन्द्रियों के अज्ञान से भूलकर ब्रह्म में कल्पित हुए नामरूप को माया कहा है और इसी भ्रम को अध्याय यानी अतद् में तद् बुद्धि का होना कहा है। कबीर ने इसी भ्रमवश पत्थर के पुतले को कर्ता मान कर पूजने वाले संसारी जीवों को काली धार में डूबना कहा है। पत्थर को ईश्वर समझने की भाव-भ्रान्ति रस्सी को सर्प समझने की ही भाँति है। यद्यपि माया द्वारा उत्पन्न समस्त भेद 'रजु कहं जथा उरग सम पेखा' की भाँति मिथ्या है फिर भी सत-रज-तमोगुण युक्त माया स्वयं मिथ्या नहीं है वह सक्रिय रूप से जीव को सन्मार्ग से हटाकर पथ भ्रष्ट करने वाली है। माया की ही सत्ता से निर्गुण सगुण और निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय बना हुआ है परन्तु यह सत्ता स्वतन्त्र न हो कर राम के ही अधीन है—"राम तेरी माया दुन्द मचावै" सन्त-साहित्य में माया का मानवीकरण ठगिनी, डाकिनी, सबको खाने वाली नागिन और मुनि पीर जैन जोगी दिगम्बर का शिकार करने वाली अहेरिनि के रूप में किया गया है। इस माया का प्रसार अखिल सृष्टि में है। पाँच इन्द्रियों और पचीस प्रकृतियों के बल से वह समस्त संसारी जीवों का संहार करती रहती है। ब्रह्म की भाँति माया का भी निरूपण सन्त कवियों ने निर्गुण रूप में किया है और उसे अनिर्वचनीय बतलाया है। माया का लता के रूप में वर्णन सद् भी है और असद् भी, क्योंकि यदि एक ओर यह संसार में परिव्याप्त 'आँगणि बेलि' है तो दूसरी ओर बिन

---

[1] बलदेव उपाध्याय : शङ्कराचार्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५७।

[2] कबीर ग्रन्थावली : सतपदी रमैणी, १।

मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करती है जो इस संसार के सृजन, पालन और संहार की कारण होती है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया-शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी मायाशक्ति के बल पर इस जगत् की सृष्टि करता है।[१] माया भगवान की शक्ति है। माया और मायी का सम्बन्ध शाश्वत है। मायी परमब्रह्म अपनी माया-शक्ति का विस्तार कर उसी में अपने आप को छिपाकर स्वयं से क्रीड़ा करता है—"सत रज तम थैं कीन्हीं माया, आपण माँझै आप छिपाया।"[२] अद्वैतवाद के अनुसार प्रत्येक पल परिवर्तित होने वाले जगत् के मूल में एक शाश्वत आत्म-तत्व विद्यमान है। मायावाद के अनुसार सृष्टि अनेकान्त न होकर एकान्त है। नेत्रों से दीख पड़ने वाला नाम रूपात्मक जगत् और उसके विविध कार्य-व्यापार असत्य हैं। इस प्रकार सत्य तत्व असत्य के द्वारा आवृत है और मिथ्या तत्व ही सत्य रूप में परिलक्षित होता है।

शङ्कर का मायावाद—आचार्य शङ्कर ने माया को भ्रमरूप की संज्ञा देते हुए इन्द्रियों के अज्ञान से भूलकर ब्रह्म में कल्पित हुए नामरूप को माया कहा है और इसी भ्रम को अध्याय यानी अतद् में तद् बुद्धि का होना कहा है। कबीर ने इसी भ्रमवश पत्थर के पुतले को कर्ता मान कर पूजने वाले संसारी जीवों को काली धार में डूबना कहा है। पत्थर को ईश्वर समझने की भाव-भ्रान्ति रस्सी को सर्प समझने की ही भाँति है। यद्यपि माया द्वारा उत्पन्न समस्त भेद 'रजु कहं जथा उरग सम पेखा' की भाँति मिथ्या है फिर भी सत-रज-तमोगुण युक्त माया स्वयं मिथ्या नहीं है वह सक्रिय रूप से जीव को सन्मार्ग से हटाकर पथ भ्रष्ट करने वाली है। माया की ही सत्ता से निर्गुण सगुण और निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय बना हुआ है परन्तु यह सत्ता स्वतन्त्र न हो कर राम के ही अधीन है—"राम तेरी माया दुन्द मचावौ" सन्त-साहित्य में माया का मानवी-करण ठगिनी, डाकिनी, सबको खाने वाली नागिन और मुनि पीर जैन जोगी दिगम्बर का शिकार करने वाली अहेरिनि के रूप में किया गया है। इस माया का प्रसार अखिल सृष्टि में है। पाँच इन्द्रियों और पचीस प्रकृतियों के बल से वह समस्त संसारी जीवों का संहार करती रहती है। ब्रह्म की भाँति माया का भी निरूपण सन्त कवियों ने निर्गुण रूप में किया है और उसे अनिर्वचनीय बतलाया है। माया का लता के रूप में वर्णन सद् भी है और असद् भी, क्योंकि यदि एक ओर यह संसार में परिव्याप्त 'आँगणि बेलि' है तो दूसरी ओर बिना

---

[१] बलदेव उपाध्याय : शङ्कराचार्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५७।

[२] कबीर ग्रन्थावली : सतपदी रमैणी, १।

व्यायी हुई गाय का दूध, शशक का सींग तथा वन्ध्या पुत्र की क्रीड़ा भी है जिसकी सत्ता यथार्थ जगत् में नितान्त काल्पनिक है।[1] यह मायारूपी लता अनिर्वचनीय होने के साथ-साथ विचित्र परिणामों वाली भी है क्योंकि जितना ही इसे नष्ट करने की चेष्टा की जाय उतनी ही यह और फलती-फूलती है और सींचने पर कुम्हला जाती है। अर्थात् जो माया से दूर भागने या बच निकलने की चेष्टा करते हैं, किसी न किसी रूप में माया उनको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है किन्तु यदि इसे भगवद्भक्ति रूपी जल से सींचा जाय तो यह मलीन हो जाती है—

जो काटो तो डहडही, सीचो तो कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ॥[2]

ठगनी माया—माया-तत्व का वर्णन करते हुए कबीरदास जी ने कहा है कि महा ठगनी माया को हम भली भाँति जानते हैं जो त्रिगुणात्मक पाश लिए हुए विचरण किया करती है तथा मधुर वचन बोलती है। यही माया अनेक रूप धारण कर के विष्णु के भवन में लक्ष्मी के रूप में, शिव के पार्वती रूप में, पण्डा के मूर्ति रूप में, तीर्थों में जल रूप में, योगी के योगमुद्रा के रूप में, राजा के घर रानी बनकर, कहीं सम्पत्ति रूप में, कहीं दारिद्रय रूप में, भक्तों के भक्तिन के रूप में तथा ब्रह्मा के ब्रह्माणी रूप में अधिकारिणी बनकर बैठ गई है। इस ठगनी माया की कथा पूरी तरह नहीं कही जा सकती।[3] इस माया से मुक्ति पाना बड़ी ही कठिन साधना है क्योंकि समस्त सृष्टि और उसके विभिन्न रूपों में इसी का तो निवास है। जल, स्थल, अवनि-आकाश, जप-तप एवं सांसारिक सम्बन्ध, सभी में माया का प्रसार है—

माया तूजं तजी नहीं जाई। फिर फिर माया मोहि लपटाई॥
माया आदर माया मानं। माया नहीं तहां ब्रह्म गियानं॥
माया मारि करे व्योहार। कहै कबीर मेरे राम अधार।[4]

इस नकटी (मर्यादाहीन) माया का निवास सर्वत्र है और इसने सबका शिकार कर मार डाला है। यह सारे संसार की बहन और भौजी बनकर बैठी है, जिसके सभी लोग पैर पूजते हैं। किन्तु जिन लोगों ने इसे वरण करके स्त्री

---

[1] **आंगणि बेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध।**
ससा सींग धूनहड़ी, रमे बाँझ का पूत॥
—कबीर ग्रन्थावली, वेली को अंग ४, पृष्ठ ८६

[2] **कबीर ग्रन्थावली, वेली को अंग ३।**

[3] **बीजक, टीका विचारदास, पृष्ठ १७७।**

[4] **कबीर ग्रन्थावली : पद ८४।**

बना लिया है उनकी यह दासी हो गई है। हमारे विवेकी गुरु ने इसे विरूप कर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है। तीनों लोकों की प्रियतमा (माया) सचमुच सन्तों की परम शत्रु है।[१]

सर्पिणी माया—इस 'सर्पिणी माया' की अपार शक्ति का वर्णन करते हुए एक अन्य पद में कबीर कहते हैं कि जिसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी छला, उसके ऊपर कोई बलवान् नहीं। यह सर्पिणी निर्मल जल (आत्मा) में घुस गई हैं, इसे मारो, मारो। जिसने त्रिभुवन को डस लिया, उसे गुरु के आशीर्वाद से मैंने देख लिया। जिसने 'सत्य' की परख कर ली है उसी ने इस मिथ्या सर्पिणी पर विजय पाई है। यह उसी ब्रह्म की इच्छा से शक्ति-सम्पन्न अथवा शक्तिहीन है। यद्यपि यह शरीर की बस्ती में निवास करती है तथापि गुरु के प्रसाद से मैं सरलता से उस सर्पिणी से मुक्ति पा गया।[२] इस मोहिनी माया का प्रभाव सर्वविदित है। पानी में मछली को माया ने आबद्ध कर लिया। दीपक की ओर उड़ने वाला पतङ्ग भी माया से छेदा गया है। हाथी को भी काम की माया व्यापती है। सर्प और भृङ्ग की माया में नष्ट हो रहे हैं। संसार के सभी जीव माया के द्वारा ठगे गए हैं। चौरासी सिद्ध, छः यती, नव-नाथ, सूर्य-चन्द्र, तपस्वी ऋषीश्वर सभी माया में शयन करते हैं। माया में ही मृत्यु और इन्द्रियों के रूप में पञ्चदूत समाये हैं। सच्चे साधु की सङ्गति प्राप्त होने पर ही माया से छुटकारा मिल सकता है।[३] एक अन्य स्थल पर उन्होंने माया को चोर बतलाया है जो लोगों को चुरा-चुराकर बाजार में बेचती है, एक कबीर को ही वह नहीं चुरा सकी जिसने उसे बारह-बाट यानी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।[४] सन्त नामदेव ने माया को 'चित्र-विचित्र' और 'विमोहिनी' बतलाया है जिसको बिरला ही जान सकता है।[५] यह माया का ही प्रभाव है—

जैसे मीन पानी महि रहे। काल-जाल की सुधि नहिं लहे॥
जिह्वा स्वादी लीलति लोह। ऐसे कनक-कामिनी बांध्यो मोह॥
ज्यूं मधुमाखी संचे अपार। मधु लीनां, मधु दीनीं छार॥आदि ग्रन्थ॥[६]

---

[१] सन्त कबीर—रागु आसा, पद ४।

[२] वही—रागु आसा १६।

[३] वही—रागु केदारा १३।

[४] कबीर माइआ चोरटी, मुसि मुसि लावे हाट।
एकु कबीरा ना मुसै, जिनि कीनी बारह बाट॥ सलोकु २०॥

[५] सन्त सुधासार, पृष्ठ ४५—माया चित्र-विचित्र विमोहिनी बिरल बूझै कोई।

[६] वही—पृष्ठ ४६।

माया की प्रबलता : माया का लोला विहार—माया की प्रबलता का वर्णन करते हुए कबीरदास जी ने कहा है कि हे सन्तों! एक भारी आश्चर्यजनक घटना हो गई, यदि उसका वर्णन भी करूँ तो उस पर कौन विश्वास करेगा क्योंकि सब की बुद्धि को उसने भ्रष्ट कर दिया है। संसार में एक ही चेतन पुरुष है और एक ही प्रकृति माया है, उसका विचार करो। इसी ने समस्त ब्रह्माण्ड को भ्रम में डालकर भुला दिया है। एक ही नारी ने जगत् में अपना जाल फैलाकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक को मोह लिया, वे भी खोजते-खोजते थक गये किन्तु उसका भेद न पा सके। वह त्रिगुण-पाश लिए हुए डोलती रहती है और सद्गुणरूपी धन को चुरा लेती है। ज्ञान-खड्ग से हीन होने पर सारा संसार उससे परास्त हो गया, कोई उसे नहीं पकड़ सका। वह स्वयं ही मूल है, फूल भी वही है, फुलवारी भी वही है और स्वयं ही उन फूलों को चुन-चुनकर खाने वाली है। जिन सौभाग्यशालियों को सद्गुरु ने अपने आत्म-बोध से बचा लिया वही इस माया के फन्दे से छूट सके।[1] माया की अद्भुतलीलाओं का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि एक भारी अचरज हुआ है कि महतारी (माया) ने पुत्र (जीवात्मा) के साथ सम्बन्ध कर लिया। इतना ही नहीं, वह कुंवारी कन्या ऐसी पागल हो गई है कि उसने अपने पिता (ईश्वर) के साथ भी स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कर लिया है। तत्पश्चात् खसम (ईश्वर) को छोड़कर ससुर (अज्ञान) के पीछे-पीछे चलना आरम्भ कर दिया है। इसके बाद भाई (अविवेक) के साथ ससुराल चली आई और सासु वञ्चक लोगों की वाणी) को अपनी सौत बना दिया। यह सब प्रपञ्च ननँद (कुमति) और भउजी (अविद्या) ने रचा है, इसमें जीव को मिथ्या ही कलङ्क दिया जाता है। माया समधी (सन्तों) के पास नहीं आती क्योंकि वह स्वभाव से ही प्रपञ्च से सम्बन्ध रखती है। यह जीवात्मा अज्ञानवश अपनी कामना से स्वयं ही बन्धन में पड़ी है।[2] कबीर माया को सांख्यवादियों की भाँति त्रिगुणात्मिका और प्रसवधर्मिणी मानते हैं—"रजगुण तमगुण सतगुण कहिये यह सब तेरी माया।"—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४। "एक बिनांनीं रच्या बिनांन, सब अयांन जो आपै जांन।।" बड़ी अष्टपदी रमैणीं १।

सांख्य और वेदान्त की भाँति कबीर भी माया को अव्यक्त मानते हैं। वह अपनी अव्यक्तता के ही कारण तो सर्वव्यापिनी है। यह बड़ी मीठी है, सहज ही नहीं छोड़ी जा सकती। 'कीड़ी-कुञ्जर' में समाई हुई है और त्रिलोकी को जीत

---

[1] बीजक, टीका विचारदास, पृष्ठ १०३।

[2] वही—पृष्ठ १०४।

लिया है किन्तु माया को कोई नहीं खा सका।[1] उन्होंने अपनी साखियों के अन्तर्गत 'माया को अङ्ग' में उसे विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। कहीं उसे संसाररूपी बाजार में वेश्या रूप कहा है और कहीं माया को ईश्वर से विश्वासघात करने और कराने वाली तथा मनुष्य के मुख में दुर्बुद्धि की शृंखला डालकर उसे राम न कहने देने वाली ठहराया है। यह मोहिनी माया शक्कर की तरह मीठी है, इसी ने सारे संसार को कोल्हू की भाँति घानी बनाकर पीस डाला परन्तु एकाध भक्त ही बच गये। माया, आशा और तृष्णा रूप भी है, शरीर न जाने कितनी बार मर चुका किन्तु यह कभी नहीं मरती।[2]

मन और माया—मन और माया का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। माया का वास-स्थल मन ही है—

इक डाँइनि मेरे मन में बसे रे, नित उठि मेरे जिय को तुसै रे॥
या डाँइन्य के लरिका पाँच रे, निसदिन महि नचावैं नाच रे॥[3]

इस प्रकार मन के समस्त विकार आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि सब माया के सङ्गी-साथी हैं। तृष्णारूपिणी माया सींचने (भोगने) से कम नहीं होती प्रत्युत् दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह तो जवासे के पेड़ के समान ज्ञान के घने मेघ से ही मुरझाती है। माया को कबीर ने तीन गुण वाला तरुवर भी कहा है जिसकी शाखाएँ दुःख और सन्ताप रूप हैं। इस वृक्ष का फल शरीर में तृष्णा की अग्नि प्रज्ज्वलित कर देता है जिससे स्वप्न में भी शीतलता नहीं मिलती। इस विचित्र वृक्ष में एक ओर आग लगती है तो दूसरी ओर हरियाली प्रकट होती है। एक आशक्ति समाप्त नहीं होने पाती कि दूसरी का जन्म हो जाता है। इस वृक्ष की जड़ काट देने पर ही जीवन-फल की प्राप्ति होती है। कनक और कामिनी ये दो माया की दुर्गम घाटियाँ हैं। इन्हीं की ज्वाला में 'रुई लपेटी आग' के समान सारा जग जल रहा है। कमलिनी (आत्मा) ने दावाग्नि से बचने के लिए जल-निधि में घर बनाया परन्तु वह भी दावाग्नि अधिकता से प्रज्ज्वलित हो उठी और वहीं जलकर बुझ गई। यह पूर्व जन्म के कर्म-विपाक का ही फल था। सन्तों के निकट भी इसका जाने का साहस नहीं होता क्योंकि इसके दाँत उखड़ने का भय बना रहता है। यह बगुली संसाररूपी सागर को पङ्कमय कर देती है जिसमें संसारी पक्षी पानी पीते रहते हैं किन्तु हंस (आत्मज्ञानी) अपनी चोंच भी नहीं डालते।[4]

[1] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२।
[2] वही, माया को अंग, १, ४, ७, ८।
[3] वही, पद २३६।
[4] कबीर ग्रन्थावली, माया को अंग १५, २००, २०, ३२, २३, ३०।

सन्त रैदास विषयों में विमुग्ध मन को कूप में पड़े हुए मेढ़क की भाँति बतलाते हैं, इस मायाग्रस्त मन को कुछ आर-पार नहीं सूझता। जिन-जिन वस्तुओं को सार्थक समझकर यह मन उनको पाने की चेष्टा में आकाश-पाताल एक कर देता है, उनके निकट पहुँचने पर वे सब निरर्थक प्रतीत होती हैं। 'मैं अरु ममता' में सारा संसार ग्रस्त है, रैदास इसी भव-चक्र से निस्तार पाने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कहि रैदास कृस्न करुणामय, जै जै जगत-आधारा॥

वे काया और माया दोनों को 'थोथी' समझते हैं, इसीलिए चेतावनी देते हुए कहते हैं—

थोथो जनि पछोरौ रे कोई। जोई रे पछोरौ जा में निज कन होई॥

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर माया के भ्रम में भूले हुए मनुष्य को खाली हाथ झाड़कर जाने की चेतावनी देते हैं—

माया के भ्रम कहा भूल्यो, जाहुगे कर झारि।
यह माया सब थोथरी रे, भगति दिस प्रति हारि।
कहि रैदास सत बचन गुरु के, सो जिव ते न बिसारि॥[१]

गुरु नानक ने अपनी रचनाओं में माया का उल्लेख सामान्यतः कम किया है। उन्होंने माया को प्रायः मन की चञ्चल इच्छाओं के रूप में ग्रहण किया है, इसीलिए वे मानसिक पवित्रता पर विशेष बल देते हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि जब तक मन को मार कर उसे अपने अधीन न कर लिया जाय तब तक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यह तभी वश में हो सकता है जब इसे राम के गुण-गान में लगा दिया जाय। सब वस्तुओं में भूला हुआ मन उस एक ब्रह्म में स्थिर होकर पूर्ण निश्चल हो जाता है।[२] इस चञ्चल मन को पङ्गु बना देने के लिए गुरु नानक ने योग-साधना को निरोध रूप में करना आवश्यक बतलाया है। गुरु अमरदास के कथनानुसार मन जब तक मलिन है तब तक भक्ति का होना नितान्त असम्भव है।[3] गुरु तेगबहादुर ने इस दुराग्रही मन की स्थिति कुत्ते की उस पूँछ के समान बतलाई है जिसे चाहे कितना ही सुधारा जाय किन्तु वह सदा टेढ़ी ही बनी रहती है।[४] उन्होंने 'माइआ-सुख' को प्रयत्न-

---

[१] सन्त सुधासार, पृष्ठ १८८, १६१, १६४।

[२] आदि ग्रन्थ, पृष्ठ ६०५।

[3] वही, पृष्ठ ५३६।

[४] वही।

पूर्वक बनाई गई बालू की दीवाल कहा है जो चार दिन भी टिकने वाली नहीं—

बारू भीति बनाई रचि पचि रहत न ्ीं दिन चारि ।
तैसे ही इह सुख माइग्रा के उरझिग्रो कहा गवार ।।[1]

इसी 'माइग्रा-मद' में पड़कर मनुष्य बावला और ग्रज्ञानी बन जाता है और उसे कुछ भी ज्ञान नहीं सूझता । वह मूर्ख घर में बसने वाले निरञ्जन का मर्म नहीं जान पाता ।[2] गुरु रामदास ने मन की उपमा काया-नगर में रहने वाले चञ्चल बालक से दी है—

काइग्रा नगरि इकु बालकु बसिग्रा, खिनु पलु थि ् न रहाई ।
ग्रनिक उपाय जतन करि थाके, बारंबार भरमाई ।।[3]

गुरु ग्रमरदास ने कबीरदास की भाँति माया को मोहिनी माना है जिसने इन्द्रजाल फैलाकर संसार के लोगों को भ्रम में डाल दिया है—

एह माइग्रा मोहणी जिनि एतु भरमि भुलाईग्रा ।
माइग्रा त मोहणी तिनै कीती जिनि ठगइली पाईग्रा ।।

इसी माया में मुग्ध होकर लोग बेखबर हो जाते हैं और मन के विकार उनके देखते-देखते सद्गुणरूपी रत्नों की चोरी कर लेते हैं।[4] शेख फरीद ने इसीलिए बड़े दर्द के साथ कहा है कि तालाब में पक्षी तो ग्रकेला एक है और फँसाने के माया-जाल पचास हैं, यह शरीर लहरों में डूब रहा है । हे मेरे सच्चे मालिक, मुझे ग्रब केवल एक तेरी ही ग्राशा है—

सरवर पंखी हैकड़ो, फाहीबाल पचास ।
इहु तनु लहरी गडु थिग्रा, सचे तेरी ग्रास ।।[5]

सन्त दादूदयाल ने ग्रपने साखियों और पदों में माया के विभिन्न रूपों का विस्तार से विवेचन किया है । कबीर की भाँति वे भी माया को नागिन, डाकिनी, मायाविनी और कनक-कामिनी के रूप में स्वीकार करते हैं । कहीं पर उन्होंने उसे 'मिर्गजाल' कहा है, दूर से देखने पर जिसमें लहराते निर्मल जल की सी प्रतीति होती है, इसको पीकर किसी की प्यास नहीं बुझती । कहीं झूठे जल से प्यास बुझ सकती है ? सारा संसार माया के चक्कर में फँसा हुग्रा खाते-खेलते

---

[1] सन्त सुधासार, पृष्ठ ३८७ ।

[2] वही ।

[3] सन्त-काव्य, पृष्ठ २७६ ।

[4] सन्त सुधासार, पृष्ठ २८५, ३११ ।

[5] वही, पृष्ठ ४२३ ।

सोते-विलास करते नष्ट हो गया। जो भी माया के साथ गये, उनका उद्धार नहीं हो सका। इस माया डाकिनी ने न जाने कितने लोगों को काल-कवलित कर लिया। माया, विकारों की गठरी है जिसका आकर्षण इतना प्रबल है कि सहज ही कोई इसे नहीं छोड़ पाता। कितने लोग प्रयत्न करके हार गये और इस माया की धार में बह गये। जिस प्रकार हाथी काम-वश, बन्दर जीभ के वश और सुआ सुख के कारण अपने आपको बन्धन में डाल देता है, उसी प्रकार दादू ऐसे जीव भी इस माया के बन्धन में बँधे हुए हैं और किसी प्रकार भी उनको छुटकारा नहीं मिल रहा है। इस मायारूपी सर्पिणी से डसा हुआ व्यक्ति कैसे जी सकता है ? यदि कहीं सौभाग्य से उसे गुरु-गारुड़ी द्वारा राम-मन्त्र का उपचार प्राप्त हो जाय तभी उसके प्राण बच सकते हैं। माया के विचित्र कर्तव्य के बारे में दादू का कथन है—

बिना भुवंगम हम डसे, बिन जल डूबे जाइ।
बिनहीं पावक ज्यों जले, दादू कछु न बसाइ॥

यही प्रबल माया समस्त सुर-नर-मुनि एवं ब्रह्मा-विष्णु-महेश को अपने वश में करके सारे संसार के सिर पर खड़ी है। यद्यपि यह सारे संसार की स्वामिनी है किन्तु सन्तों की चेरी है। जिस घट में ब्रह्म प्रकट नहीं होते, वहाँ माया का मङ्गल-गान होता है। जब ब्रह्म की ज्योति जग जाती है तब मायाजनित भ्रम दूर हो जाते हैं। यह माया बड़ी मिष्टभाषिणी है, पहले तो लोगों के झुक-झुक कर पैर लगती है, फिर दाँव पाकर पेट में घुसकर कलेजा निकाल कर खा जाती है। कनक-कामिनी होकर इस माया ने सबको अपने वश कर लिया, ब्रह्मा-विष्णु-महेश तक इसके आकर्षण से नहीं बच पाए। माया की व्यापकता और विचित्र व्यवहारों के बारे में दादूदयाल की उक्ति है—

घर के मारे बन के मारे, मारे स्वर्ग पयाल।
सूषिम मोटा गूंथि करि, मांड्या माया जाल॥
बाबा कहि गिले, भाई केहि केहि साइ।
पूत पूत कहि पी गई, पुरिषा जिन पतियाइ॥[1]

कबीर की भाँति दादूदयाल ने भी माया के साथ मन का सम्बन्ध स्थापित किया है। उनके कथनानुसार जब तक मन विषय-विकारों में अनुरक्त है तब तक चित्त में 'त्रिभुवन-पतिदाता' नहीं जा सकते। जब तक मन में माया का रङ्ग चढ़ा रहता है तभी तक वह बहु-रूपी दिखाई पड़ता है, राम से मिल जाने

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, साखी ७, २०, २६, ३४, ३५, ३६, ७०, ८१, ६६, ६७, १३७, १५६, १६५, १६७।

पर वह एक रस हो जाता है। अपरिपक्व मन, दस दिशाओं में चञ्चल होकर विचरण करता रहता है किन्तु जब वह परिपक्व हो जाता है तो निश्चल होकर ब्रह्म में समा जाता है।[1] एक स्थल में उन्होंने मन और माया के कार्य-व्यापारों का इस प्रकार समन्वय स्थापित किया है—

नकटी आगे नकटा नाचै, नकटी ताल बजावै।
नकटी आगे नकटा गावै, नकटी नकटा भावै।। साखी ३६।।
दादू मन हीं माया ऊपजै, मन हीं माया जाइ।
मन हीं राता राम सों, मन हीं रह्या समाइ।। वही १३४।।

इसी प्रकार अवधू को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा है कि मन से उत्पन्न गाय रूपिणी कामना को अपने वश में कर रखो। इस गाय के समस्त कार्य, चार पैर वाली गाय से बिलकुल उल्टे हैं। इसके सामने चारा न रखने से यह वश में आती है और अमृत-दुग्ध देती है अर्थात् माया रूपिणी कामना को विषयों से असम्पृक्त रखने में ही अमृतत्व की उपलब्धि होती है। यदि इसका भली भाँति पालन-पोषण किया जाय तो क्रुद्ध होकर गरजने लगती है और फिर किसी प्रकार वश में नहीं होती। भूखी होने पर ही यह दूना दूध देती है। जैसे-जैसे यह क्षीण पड़ती जाती है, व्याकुल होती जाती है, पूर्णरूप से उन्मुक्त छोड़ देने पर यह अनिष्ट करने लगती है। इस गाय को विषय-वासनाओं से भली भाँति रोककर घर में लाना चाहिये क्योंकि बन्धन या अनुशासन में रखने से ही यह काम बनाती है। सहज के साथ बँध जाने पर वह बन्धन-मुक्त हो उसमें लीन हो जाती है और उसे अन्य कोई आधार नहीं रह जाता। जिसने इस प्रकार से उस गाय रूपिणी कामना (माया) को अपने वश में कर लिया, उसे इस जीवन में ही अविनाशी मूल तत्व की अनुभूति हो गई।[2] दादू के शिष्य गरीबदास के अनुसार, सब काया-माया के बीच मरते-पचते रहते हैं, बिरला ही कोई इससे निस्तार पाता है। इस ब्रह्माण्ड में आदि से लेकर अन्त तक कितने हुए लेकिन कोई एकाध ही इस जाल से मुक्त हो सका।[3] हरिदास निरञ्जनी ने भी इन्हीं स्वरों में कहा है—

काया माया झूठ है, साँच न जाणो बीर।
कहि काकी भागी तृषा, मृगतृष्णा को नीर।।[4]

---

[1] दादूदयाल की बानी, प्रथम भाग, मन को अंग, ३५, ५१, ५४।

[2] वही, दूसरा भाग, पद ७४।

[3] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५०९।

[4] सन्त-काव्य—पृष्ठ ३२७।५।

सन्त रज्जब ने पिशाचिनी माया से सन्त्रस्त हो रामराय से शिकायत की है कि इससे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है। इसी ने सारे संसार को अपने आकर्षण में बाँधकर खा डाला। इसी माया ने ब्रह्मा को मोहा, शङ्कर को फँसाया और महाबली सिद्ध-साधकों को क्षण भर में मार गिराया। छः शास्त्रों को यही खा गई और सारे संसार को इसी ने बातों में भुला लिया। माया के छल-बल को देखकर चतुर लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं और उनका कुछ भी वश नहीं चलता। जिन लोगों ने माया से मन लगाया उसी का संहार इसने कर डाला।[1] एक अन्य पद में वे माया का विश्लेषण करते हुए कबीर की भाँति कहते हैं—

संतों, आवे जाइ सु माया।
आदि न अंत मरै नहिं जीवै, सो किनहूँ नहिं जाया॥
लोक असंखि भये जा माहीं, सो क्यूं गरभ समाया।
बाजीगर की बाजी ऊपर, यहु सब जगत भुलाया॥
ज्यूं मुख एक देखि दुइ दर्पन, गहला तेता गाया।
जन रज्जब ऐसा विधि जानैं, ज्यूं था त्यूं ठहराया॥[2]

अनिर्वचनीय माया के प्रति सन्त सुन्दरदास का कथन भी पूर्ण यथार्थ है कि ख्याली! तेरे ख्याल का कोई अन्त नहीं पा सका। तूने यह खेल रूपी माया का प्रसार कब से फैला रखा है, इसके विषय में कुछ कहते नहीं बनता। यह मायावी जगत् अखण्डित सरित्-प्रवाह की भाँति है जो रीते हुए भी सदैव पूर्ण प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार दीप निरन्तर जलते हुए क्रमशः क्षीण होता जाता है किन्तु ऊपर से देखने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ता, उसी प्रकार यह संसार है। जिस प्रकार कुम्हार का चक्र चारों ओर घूमता दिखाई देता है किन्तु निश्चय रूप से यह अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार यह माया का कार्य-व्यापार न होते हुए भी होता-सा प्रतीत होता है। जो व्यक्ति आत्मदृष्टि से सम्पन्न होकर इस निवर्त्त बुद्धिमूलक भेद को पार कर जाते हैं उन पर माया का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। कभी तो यह प्रकट हो जाती है और कभी गुप्त हो जाती है। घट-घूँघट की ओट में छिपी माया अपना जाल फैलाती रहती है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि यह दिखाई न पड़ते हुए भी अपना सारा कार्य बड़ी खूबी से करती रहती है।[3]

इस प्रकार सन्त कवियों ने माया का सम्बन्ध मन से जोड़ते हुए और उसे

---

[1] **सन्त सुधासार, पृष्ठ ५१३।**

[2] **वही, पृष्ठ ५१४।**

[3] **सन्त-काव्य, पृष्ठ ३८७।**

भ्रम रूप मानते हुए विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। उसे ब्रह्म की भाँति निर्गुण और अनिर्वचनीय बतलाया है। उसका प्रसार सर्वत्र है और वह सब को किसी न किसी रूप में बन्धन में डाले हुए है। ठगिनी, सर्पिणी, मोहिनी और पिशाचिनी माया विभिन्न संसारी सम्बन्धों के माध्यम से सबको अपने वश में किये रहती है। कबीर के कथनानुसार यह सारे संसार की बहन-भांजी बनकर बैठ गई है। माया की प्रबलता का लोहा बड़े-बड़े सिद्ध, मुनि, ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि मानते हैं। सारे संसार की ठकुरानी होते हुए भी यह माया, सन्तों की दासी है क्योंकि इसका जादू सन्तों पर नहीं चल पाता। त्रिगुणात्मिका माया जीवों को भ्रम में डालकर उन्हें कञ्चन-कामिनी के आकर्षण-सूत्रों में बाँध देती है। संसार के समस्त आकर्षण एवं मन के सारे विकार माया के ही उपादान हैं जो जीव को सन्मार्ग से हटाकर अन्धकार की ओर ले जाते हैं। यह माया खाँड की तरह मीठी है किन्तु इसका प्रभाव विष से भी अधिक भयानक है। सन्तों का मायावाद, शङ्कर-मायावाद से ही प्रभावित है क्योंकि शङ्कर की भाँति सन्त कवि भी माया को अनिर्वचनीय मानते हैं। सांख्य का भी प्रभाव सन्तों के माया-वर्णन में है, माया को त्रिगुणात्मिका एवं प्रसवधर्मिणी मानना इसका प्रमाण है। दादू, रज्जब एवं वाजिद आदि के वर्णन में हमें सूफ़ी-प्रभाव भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाता है क्योंकि माया भी शैतान की भाँति बन्दे (जीव) को उसकी साधना से हटाकर कुमार्ग की ओर ले जाती है।

जगत्—जगत् की उत्पत्ति और स्थिति सम्बन्धी गूढ़ जिज्ञासा बहुत प्राचीन-काल से मानव की चिन्तना-शक्ति को चिन्तन करने के लिए विवश करती रही है। सृष्टि के मूलभूत तत्वान्वेषण की प्रक्रिया में इस अनेकान्त विश्व की उलझनमयी पहेलियों का तीन कोटियों में अध्ययन किया गया है। इस जगत् का मूल तत्व क्या है? इसको बनाने वाला कौन है और किस क्रम से उसने इसे बनाया है? वेदों में समस्त पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष को उत्पन्न करने वाले इन्द्र, विश्वकर्मा, और कभी वरुण आदि कहे गये हैं। असत् को विश्व का उपादान-कारण मानते हुए विश्वकर्मा ने बिना किसी की सहायता से विश्व की रचना की।[1] आचार्य सायण के मतानुसार परमात्मा ने अपनी शक्ति से समस्त ब्रह्माण्ड को रचा। इसी शक्ति को माया कहते हैं किन्तु यह देव-शक्ति है, नित्य है। शाङ्कर-वेदान्त की 'माया' की तरह यह 'अनिर्वचनीय' नहीं है। नासदीय-सूक्त (ऋ० १०-१२९) में सृष्टि-प्रक्रिया का विशद वर्णन किया गया है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर सृष्टि-क्रम के विषय में विचार किया गया है।[2]

[1] ऋग्वेद १०, ७२, २-४।

[2] प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ६।४; मुण्डकोपनिषद्, खण्ड १।७; तैत्तिरीयोपनिषद्, षष्ठ अनुवाक, तथा श्वेताश्वतरोनिषद् ५।५।

सन्त कवियों का जगत्-वर्णन—बीजक की प्रारम्भिक तीन रमैनियों में सन्त कबीर ने 'सृष्टि-प्रक्रिया' पर इसी दृष्टि से विचार किया है। उक्त रमैनियों की व्याख्या करते हुए विचारदास जी ने लिखा है कि चेतन-पुरुष और जड़ प्रकृति, ये दो पदार्थ अनादि माने गये हैं। प्रकाशमान् उस चैतन्य के पीछे सर्व प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित होता है। जगदुत्पत्ति के पूर्व एक आत्मा ही था, इसके पश्चात् शुद्धसत्व-प्रधान माया में चेतन के प्रतिविम्ब से उक्त चेतन को ईशरूपतापत्ति हुई। माया में प्रतिविम्बित चेतन रूप ईश्वर ने इच्छा की कि मैं बहुत रूपों में प्रकट होऊँ। इस प्रकार ईश्वरेच्छा से होने वाली रचना में प्रथम त्रिगुण प्रधान ब्रह्मा, विष्णु और महादेव की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः मायोपाधिक ईश्वर ही गुण-त्रय की उपाधि से त्रिदेव रूप होकर सर्जन, पालन और संहार रूप कार्यों को क्रिया करता है। उक्त मायोपाधिक ईश्वर ने ही शरीरादि का निर्माण करके उनमें जीव रूप से प्रवेश किया। अनन्तर नाना कार्यों को करने के लिए जीवात्मा के हृदय में प्रथम माया रूप सूक्ष्म इच्छा की उत्पत्ति हुई। विकृति रूपा यह सूक्ष्मेच्छा भी कार्य-कारण की अभिन्नता से त्रिगुणात्मिका भावों की जननी हुई। उक्त कार्योत्पादिका इच्छा का नाम गायत्री रक्खा गया। अनन्तर माया, मन को अपने प्रेम-पाश में फँसाने की इच्छा करती हुई बोली—

तुम हम-हम तुम अवर न कोई, तुमहिं से पुरुष हमहि तोरि जोई।

सूक्ष्म सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद स्थूल सृष्टि के विस्तार पर विचार प्रकट करते हुए बीजक की तीसरी रमैनी में कहा गया है—

प्रगटे ब्रह्म विस्नु शिव सक्ती, प्रथमे भक्ति कीन्ह जिव उक्ती।
प्रगटे पवन पानि औ छाया, बहु बिस्तारक प्रगटी माया।
प्रगटे अंड पिंड बरमंडा, प्रिथिमी प्रगट कीन्ह नवखंडा।
जीव सीवु प्रगटे सभै, वे ठाकुर सब दास।
कबीर अवर जाने नहीं, राम नाम की आस॥[1]

समस्त सृष्टि-चक्र को भगवान् की माया माना गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, ये ही चार तत्व अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूल कारण हैं। यह विश्व अकस्मात् सम्मिलित होने वाले पूर्वोक्त चार तत्त्वों का समूह-मात्र है। आधुनिक विज्ञानी कहता है कि सृष्टि या विश्व का जो अनुभव हमें निरन्तर

---

[1] **अंतर जोति सबद एक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी...।**
इच्छा रूप नारि अवतरी, तासु नाम गाइत्री धरी...॥
—बीजक रमैनी १-३।

होता है वह मूल रूप से देश, काल व वस्तु के सिवा और कुछ नहीं। शक्ति के विश्व-व्यापक महासमुद्र के हम एक सूक्ष्म जीवाणु हैं। यह विशालकाय ब्रह्माण्ड व सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु, निरन्तर गतिशील है फिर प्रत्येक परमाणु अनेक विद्युत्कणों से बना है। वे दो प्रकार के हैं—ऋणाणु और धनाणु। धनाणु के चारों ओर ऋणाणु प्रायः एक सेकेण्ड में एक लाख अस्सी हजार मील तक के वेग से परिक्रमण करते हैं। विज्ञान-मत में प्रकृति अर्थात् अव्यक्त शक्ति से ही यह सृष्टि बनती-बिगड़ती है और उसको बनाने वाली सामग्री भी प्रकृति के सिवा दूसरी नहीं है।[१] एक ही परमात्म-तत्व का दृश्य या प्रकट रूप यह सारा विश्व है, अतः इसे परमात्मा का एक स्वप्न ही समझना चाहिए। परमात्मा के संकल्प से इसकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए उसके मन का ही यह एक लेख है। जो कुछ यह दिखाई देता है, इसका ऊपरी रूप है, दृश्य रूप है और इसलिए यह नश्वर है। संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थ एक लकड़ी के दो सिरों पर कपड़े बाँध कर जलाने से बने हुए अग्नि-चक्र की भाँति (अलात-चक्र) भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। इसमें जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूपी विकल्प दीख रहा है, यह प्रकृति या माया के तीन गुणों का परिणाम है।[२]

नैयायिकों ने परमाणु को जगत् का मूल कारण माना है। इन्हीं के संयोग-वियोग से नए-नए गुणों और पदार्थों का बनना-बिगड़ना निर्भर है। इनके अनुसार यह जगत् अचेतन परमाणुओं के सङ्घात का परिणाम है। नैयायिकों के दो वर्ग हैं—एक वर्ग के मतानुसार परमाणु ही मूलतत्व है और दूसरे वर्ग के विचारानुसार परमाणु स्वयं न होकर उसके सङ्घात का निमित्त कारण ईश्वर है। शङ्कर तथा रामानुज का मत है कि यह जगत् किसी चेतन-पदार्थ से आविर्भूत हुआ है। अचेतन वस्तु इस जगत् को उत्पन्न करने में नितान्त असमर्थ है। चेतन तथा अचेतन (ईश्वर तथा प्रकृत्ति) के परस्पर संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानना कथमपि युक्ति-युक्त नहीं है। यह जगत् न तो अचेतन-प्रकृति का परिणाम है और न अचेतन परमाणुओं के परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। माया-विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर कहलाता है; वही इस जगत् की उत्पत्ति में उपादान-कारण भी है तथा निमित्त-कारण भी। जगत् की सृष्टि में ईश्वर की स्थिति एक ऐन्द्रजालिक की-सी है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया-शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी माया-शक्ति के बल पर इस जगत् की सृष्टि करता है। अद्वैत-मत में यह जगत् नितान्त असत्य है।

[१] हरिभाऊ उपाध्याय, भागवत धर्म, पृष्ठ ५२।

[२] वही, पृष्ठ २९२।

आचार्य के अनुसार सत्य वह है, जिस रूप में जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह रूप सतत समभाव से सर्वदा विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते हैं। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है परन्तु जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। जब तक हम जगत् में रह कर उसके कार्यों में ही लीन हैं और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए हैं, तब तक इस जगत् की सत्ता हमारे लिए बनी ही रहेगी; किन्तु ज्योंही परम तत्व का ज्ञान हमें सम्पन्न हो जाता है त्यों ही जगत् की सत्ता मिट जाती है। उस समय ब्रह्म ही एकसत्ता के रूप में प्रकट हो जाता है।[1] सन्तसाहित्य में परम ब्रह्म से ही सृष्टि के सब सजीव और निर्जीव पदार्थों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। जागतिकसत्ता के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। तुलसीदास जी ने भी विनय-पत्रिका में संकेत किया है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, युगल प्रबल कोउ माने।
तुलसीदास परिहरे तीनि भ्रम, तब आतम पहिचाने॥

इस प्रकार कबीरदास जी तुलसी के अनुसार द्वितीय श्रेणी में आते हैं, उन्होंने सर्वत्र 'सपन करि लेखा' एवं 'ज्यों जल बूँद तैसा संसार, उपजत विनसत लगे न बार' कहकर संसार को नश्वर एवं मिथ्या ही ठहराया है।[2] कबीर ने आचार्य शङ्कर का अनुसरण करते हुए 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार जगत् का मूल अधिष्ठान परब्रह्म को माना है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि दिखाई पड़ने वाला यह नामरूपात्मक संसार वास्तव में सही नहीं है, जिसमें यह स्थित है वह तत्व अगम और अगोचर है—

जो तुम देखो सो यह नाहीं।
यह पद अगम अगोचर माहीं॥ – क० ग्र०, पृ० १३३

सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व जब किसी भी वस्तु की सत्ता न थी तब भी वह निर्गुण तत्व विद्यमान था। उसकी स्थिति अवर्णनीय है, वह नाम-ग्रामादि से अतीत है—

जब नहीं होते पवन न पानी। तब नहीं होती सृष्टि उपानी॥
जब नहीं होते पएड न वासा। तब नहीं होते धरनि अकासा॥
उस गति की गति क्या कहूँ, जस कर गाँव न नाँव।
गुन बिहून का पेखिये, का का धरिये नाँव॥

—क० ग्र० पृष्ठ २३८

इस प्रकार पूर्णाद्वैती कबीर जगत् का मूल अधिष्ठान परब्रह्म को ही मानते हैं। परब्रह्म ही उनके अनुसार एक मात्र सत्तत्त्व है जिस पर नाम-रूप का

---

[1] बलदेव उपाध्याय—श्री शङ्कराचार्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५६।
[2] सन्त कबीर—रा० ग० ६, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३३, १७१।

अध्यारोप होता है। अलक्ष्य ब्रह्म ही मायाविष्ट जनों को लक्ष्य जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है, सृष्टि का जो कुछ भी वस्तु-सौंदर्य हमें इन चर्मचक्षुओं से दिखाई पड़ता है वह वस्तुतः सत्य न होकर अज्ञान और भ्रम के कारण है। तभी तो जिज्ञासु-भाव से कबीर कहते हैं—

कहो भाई अंबर कासूं लागा। कोइ जाणैगा जाननहारा॥
अंबरि दीसै केता तारा। कौन चतुर ऐसा चितरनहारा॥
जो तुम देखो सो यहु नहीं। यहु पद अलग अगोचर माहीं॥
तीन हाथ एक अरधाई। ऐसा अम्बर चीन्हों रे भाई।
कहै कबीर जे अम्बर जाने। ताहीं सूं मेरा मन माने॥

—क० ग्र०, पृ० १३३

सन्त-साहित्य के पूर्ववर्ती नाथ-साहित्य में सृष्टि-तत्व पर विचार प्रकट करते हुए कहा गया है कि निर्गुण-सगुण विवर्जित, परम शून्य निरंजन स्वरूप नाथ से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई—शिष्य क्रम से नाद रूपा और पुत्र-पौत्रादि क्रम से विन्दु रूपा। नाद से नव-नाथ हुए और विन्दु से सदाशिव भैरव। शब्द-सृष्टि में पहले सूक्ष्म रूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई फिर स्थूल रूपिणी। सूक्ष्म रूपिणी सृष्टि है प्रणव, महागायत्री, योगशास्त्र और स्थूल-रूपिणी है ब्रह्म गायत्री और वेदत्रयी। 'शारदा तिलक' नामक प्रसिद्ध तन्त्र-ग्रन्थ में सृष्टि तत्व को समझाते समय कहा गया है कि शिव के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। जब शिव का प्रकृति से योग होता है तो सगुण शिव आविर्भूत होते हैं। सगुण शिव से शक्ति उत्पन्न होती है और शक्ति से नाद (पर) और उससे विन्दु (पर) की उत्पत्ति होती है। विशुद्ध चैतन्य स्वरूप निर्गुण शिव और उपाधि युक्त सगुण शिव के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है, वही नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही विन्दु है। कभी इसे अपरनाद और अपर विन्दु भी कह दिया जाता है। इन्हीं से ऊपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और विन्दु उत्पन्न होते हैं जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। इन्हीं से क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति होती है। यह जो (पर) विन्दु से (अपर) नाद और (अपर) विन्दु उत्पन्न हुआ, वही इस भूलभुलैया वाले प्रश्न के मूल में है कि पहले नाद प्रकट हुआ कि विन्दु।[1] इसी भूमिका में जिज्ञासु भाव से कबीर पूछ बैठते हैं—

प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पांणीं।
प्रथमे प्राण कि प्यण्ड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रक्त कि रेतं॥आदि॥[2]

---

[1] **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ४१-२।**

[2] **कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२-३।**

कबीर के ही स्वरों में स्वर मिलाते हुए अन्य परवर्ती सन्त कवियों ने सृष्टि का मूल उपादान कारण ब्रह्म को ही बतलाया है। हमारी चक्षुरिन्द्रियों के सम्मुख फैले हुए इस आकर्षक जगत् को दादू ने अगम-अगोचर के अन्तर्गत स्वीकार किया है किन्तु यह असत्य जगत् मायाविष्ट जनों को सत्य उसी प्रकार दिखाई पड़ता है जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाता है—

निसि अंधियारी कछु न सूझै, संसे सरप दिखावा।
ऐसे अंध जगत नहिं जाने, जीव जेवड़ी खावा॥

इसी को सन्त सुन्दरदास ने व्यावहारिक ढङ्ग से एक उदाहरण के माध्यम से समझाया है। उनका कथन है कि विभिन्न पात्रादि के मूल में मिट्टी ही है, मिट्टी ही पात्रों के रूप में सुघठित होकर अनेक नाम धारण करती है, इसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् के विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो कर संसारी जनों की आँखों से ओझल हो जाता है।[1] इस प्रकार जगत् विशिष्ट अर्थ में सत्य और मिथ्या दोनों है। जो व्यक्ति मूल तत्व पर नश्वर नाम-रूप का अध्यारोप कर लेता है उसे संसार सत्य दिखाई पड़ता है किन्तु जब ज्ञान के द्वारा मूल तत्व पर से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है तब संसार असत्य दिखाई पड़ता है। अव्यक्त को व्यक्त होने के लिए माया का आवरण धारण करना पड़ता है और जब तक साधक, ज्ञान के लिए इन्द्रिय के माध्यम को स्वीकार करता है तभी तक वह वास्तविकता से दूर रहता है किन्तु जब वह इन्द्रियों के ऊपर उठ जाता है तो ब्रह्म का आवरण स्वतः नष्ट हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि-तत्व का वैज्ञानिक विवेचन सांख्यशास्त्र में मिलता है। जगत् पर विचार प्रकट करते हुए दो अत्यन्त स्पष्ट तत्व स्वीकार किये गये हैं—शाश्वत और परिवर्तनशील तथा चेतन और जड़। उनके सम्बन्धों पर विचार करने पर भारतीय मनीषियों में मतभेद शुरू हो जाता है। एक तरह के पण्डित हैं जो इन दोनों तत्वों को स्वतन्त्र मानते हैं—इन दोनों का सम्बन्ध केवल योग्यता का सम्बन्ध है, परन्तु दूसरे आचार्य हैं जो मानते हैं कि वस्तुतः इन दोनों की सत्ता नहीं, दूसरा पहले की ही शक्ति है। पहले को आत्मा कहते हैं। सांख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्व को 'प्रकृति' या 'माया' कहते हैं।[2] उपनिषन्मूलक होने पर भी सांख्य, अद्वैततत्व को न स्वीकार करके द्वैत को लेकर चला है तथा पुरुष और प्रकृति इन दो नित्य और स्वतन्त्र तत्वों की अपने ढङ्ग से व्याख्या करता है। सांख्यशास्त्रियों के मत से पुरुष अनेक हैं जो

---

[1] **सुन्दरविलास, अंग ३४। ४।**

[2] **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १०१-२।**

निर्गुण, अमूर्त्त, अकर्त्ता, विशुद्ध चेतन स्वरूप और नित्य स्वतन्त्र है तथा प्रकृति अव्यक्त, जड़, विवेकशून्य एवं त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था) है। अपने स्वरूप से अचेत पुरुष को प्रकृति अपने त्रिगुण-पाश में बाँधे रहती है, जो कुछ भी यहाँ हमें दृष्टिगोचर होता है वह सब प्रकृति के कार्य व्यापारों का ही परिणाम है। सांख्यवादियों का कहना है कि संसार में कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती अर्थात् कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपने-अपने कारण में लीन हो जाती है और अन्त में मूल कारण अव्यक्त में सब का तिरोभाव हो जाता है। सांख्य-दर्शन में २५ तत्वों की व्याख्या और उनका चार प्रकारों में इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है—

१. प्रकृति—कोई तत्व ऐसा है जो सब का कारण तो होता है पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता।

२. विकृति—कुछ तत्व कार्य ही होते हैं - किसी से उत्पन्न होते हैं पर स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते।

३. प्रकृति-विकृति—कुछ तत्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—किन्हीं तत्वों से उत्पन्न भी होते हैं और अन्य तत्वों के उत्पादक भी होते हैं।

४. न प्रकृति न विकृति—कोई तत्व-कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्ध से शून्य रहता है, न वह कार्य ही होता है, न कारण ही।[१]

सन्त कवियों की विचारधारा में सांख्य-ज्ञान का परिचय मिलता है। तीन, पाँच, पचीस आदि शब्दों का प्रयोग स्थान-स्थान पर इन कवियों ने किया है जो क्रमशः तीन गुणों, पाँच तत्वों, एवं पचीस प्रकृतियों के रूप में व्यवहृत किये गये हैं। तीन गुण (सत, रज, तम), पाँच तत्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) के अतिरिक्त शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, पंच तन्मात्राएँ, इनका ज्ञान कराने वाली पाँच इन्द्रियाँ और मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, महत्व तथा पुरुष और प्रकृति यही पचीस प्रकृतियाँ हैं। हमारा शरीर इन्हीं पचीस तत्वों की समष्टि है। इन्हीं से जगत् का व्याबहारिक रूप में निर्माण हुआ है, वस्तुतः नहीं क्योंकि परमार्थतः जगत् की सत्ता ही नहीं है। अतः तीन गुणों, पाँच तत्वों और पचीस प्रकृतियों की भी वास्तविक सत्ता नहीं है। कबीर ने इसी की पुष्टि करते हुए कहा है—

> ए संसा मोहि निस दिन ब्यापै, कोइ न कहै समझाई।
> नहीं ब्रह्मण्ड प्यण्ड पुनि नांहीं, पंच तत्त भी नाहीं।
> इला प्यंगुला सुषमन नांहीं, ए गुंणा कहाँ समांहीं ॥[२]

---

[१] बलदेव उपाध्याय—भारतीय-दर्शन, पृष्ठ ३२१।

[२] कबीर ग्रन्थावली—पद २३।

इसी जगत् को उन्होंने बिना धड़ के वृक्ष बताया है जो बिना फूले, फलने लगता है जो शाखाओं और पत्तियों से हीन है फिर भी उसका आठों दिशाओं में प्रसार है—

तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलाँ फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाके, अष्ट गगन मुख बागा ॥[1]

कठोपनिषद् २।६।१ में इसे अनादि और सनातन कहा गया है। इसका मूल ऊपर तथा शाखाएँ अधोमुखी हैं। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भी उस अश्वत्थवृक्ष की असत्यता प्रमाणित की गई है और उसे विरक्ति के कुठार से काट डालना आवश्यक कहा गया है। गीतोपनिषद् के इसी कथन की पुष्टि करते हुए कबीर ने भी कहा है—

तलि कर शाखा, उपरि करि मूल
बहुत भाँति जड़ लागे फूल—क० ग्रं०, पद ११

नैयायिकों के '**आरम्भवाद**' के अनुसार सृष्टि का मूल कारण परमाणु है जिनकी संख्या असंख्य है। इन्हीं परमाणुओं के संयोग से सृष्टि का विकास हुआ है। सांख्यों के '**गुणपरिणामवाद**' के मतानुसार सृष्टि का मूल कारण सत्, रज और तम से निर्मित त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, इसी के विकास से सारी सृष्टि का विकास हुआ है। अद्वैतवादियों या वेदान्तियों के अध्यासवाद, **विवर्तवाद** अथवा **प्रतिविम्बवाद** के अनुसार निर्गुण ब्रह्म से सगुण सृष्टि सम्भव नहीं है, इसी असम्भव को सम्भव सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त वादों की कल्पना की गई है। सीप में रजत और रज्जु में सर्प का भ्रम होना ही अध्यास है। ब्रह्म सम्पूर्ण दृश्य जगत् के परिवर्तनों का अधिष्ठान है, जिसके ऊपर अविद्या के कारण उनका अध्यास होता है। अपने शुद्ध स्वरूप में वह दृश्य जगत् से निर्विकार है। मूल वस्तु में बिना परिवर्तन हुए ही जब वाह्य स्वरूप परिवर्तित हो जाय, तब उस परिवर्तन को विवर्त का परिणाम कहा जाता है। कनक-कुण्डल, जलतरंग-न्याय आदि विवर्तवाद के उदाहरण है। प्रतिविम्बवाद के अनुसार संसार ब्रह्म का प्रतिविम्ब है। जिस प्रकार प्रतिविम्बित केवल दृष्टिग्राह्य होता है, सत्य नहीं होता, उसी प्रकार यह संसार भी सत्य नहीं है।[2] सांख्य शास्त्र के गुण परिणामवाद को अद्वैतवादी सन्त कवियों ने वेदान्त की दृष्टि से देखने की चेष्टा की है, क्योंकि ये सांख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति को भिन्न न मानकर दूसरे को पहले का आश्रित मानते हैं। सन्त कवि अद्वैतवाद की छाप लगाकर सांख्य-

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली, पद १६५।**

[2] **डॉ० गोविन्द त्रिगुणायन—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ २८६-७।**

सिद्धान्त का उपभोग करते दिखाई पड़ते हैं; क्योंकि पुरुष और प्रकृति को व्यावहारिक रूप से सत्य मानते हुए उनके संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त स्वरूप स्वीकार किया है जिसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म का स्थान है। पूर्ववर्ती सन्तों ने निरंजन को भी, जिसे कुछ पिछले सन्तों ने परब्रह्म का एक विवर्त माना है, पूर्ण ब्रह्म के पर्याय के रूप में ग्रहण किया था। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कबीर के पृष्ठ ५२-६८ में निरंजन के उत्थान-पतन का रोचक इतिहास प्रस्तुत किया है। सृष्टि का लय-क्रम दिखाते हुए कबीर ने सांख्य के 'गुण परिणामवाद' का अनुकरण करते हुए कहा है—

पृथिवी का गुण पानी सोखा, पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिल पवन सबद मिल, सहज समाधि लगावहिंगे॥
जैसे जलहि तरंग तरंगनीं, ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुखसागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे॥[1]

सांख्यों की भाँति कबीर भी सृष्टि का विकास त्रिगुणात्मिका माया से होना बतलाते हैं। सांख्यों के तीन गुण और पाँच तत्वों का उल्लेख यत्र-तत्र उनकी कविता में देखने को मिलता है।[2] 'अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया' के प्रयोग से यह पता चलता है कि वे सांख्य की २५ प्रवृतियों के स्थान पर वेदान्त-सम्मत अष्टधा प्रकृति का वर्णन करते हैं। वे सांख्यों की भाँति प्रकृति को अनादि और स्वतन्त्र तत्व न मानते हुए वेदान्तियों की भाँति उसे ब्रह्मोद्भव होने के कारण ब्रह्माश्रित मानते हैं। वेदान्त का निर्णय है कि आत्मा रूपी मूल ब्रह्म से ही आकाशादि पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई। कबीर भी इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

पंचतत अबिगत थें उतपना, एकै किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा।—क० ग्र०, पद ४४

ब्रह्म को सृष्टि का मूल-भूत आधार मानते हुए दादूदयाल ने भी कहा है—

एक तत्त ता ऊपर इतनी तीन लोक ब्रह्मंडा।
धरती, गगन, पवन और पाणी, सप्तदीप नौखंडा॥

सृष्टि का मूल एक तथा अखण्ड है। उस अविभाज्य सत्ता का नाम ब्रह्म है, उसका स्वरूप कल्पनातीत होते हुए भी अनुभवगम्य है—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद १५०।

[2] वही, पद १६६; पांच तत तीनि गुण जुगति करि सांनियां, अष्ट बिन होत नहीं क्रम काया।

अविगत, अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई ।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई ।।

प्रणव अथवा ओंकार को ब्रह्म का प्रथम विवर्त माना गया है जिसमें पुरुष-प्रकृति, ब्रह्म और माया, दोनों सम्मिलित हैं । प्रणव का व्यक्त स्वरूप नाद तथा अव्यक्त स्वरूप विन्दु है। नाद का प्रकम्पन ही व्यष्टि को समष्टि में परिणत कर सृष्टि-रचना का कारण बनता है एवं नाद जब सिमट कर बन्द हो जाता है तब सारी सृष्टि भी सिमट कर विन्दु में केन्द्रित हो जाती है । सन्त कवियों की रचनाओं में नाद-विन्दु के उल्लेख यदा-कदा मिल जाते हैं । कबीर ने तो संसार-सागर से पार होने के लिए इसे नौका के रूप में ग्रहण किया है—

नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार ।
कहै कबीर गुण गाइले, गुर गमि उतरै पार ।।—वही, पृष्ठ १८

उन्होंने 'सबद कौ अंग' में कहा है कि—'कबीर सबद सरीर में, बिनि गुण बाजे तन्ति । बाहरि भीतरि भरि रह्या, ताथें छूटि भरन्ति ।।—इस प्रकार सारा संसार प्रणव का शरीर है और प्रणव सारी सृष्टि का आत्मा। अतः प्रणव सृष्टि का कर्ता और उपादान, दोनों हुआ किन्तु सन्त कवि सृष्टि को, सृष्टिकर्ता से पृथक् मानकर द्वैतभावना को प्रश्रय नहीं देना चाहते । सन्त कबीर का तो स्पष्ट कथन है—

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहूँ न चीन्हा ।।

× × ×

तेतौ आहि निनार निरंजनां, आदि अनादि न आंन ।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग, आपै आप भुलान ।।
जिमि नटवै नरसारी साजी, जो खेले सो दीसै बाजी ।।
करि बिसतार जग धंधे लाया अंध काया थें पुरिष उपाया ।।
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूं तैसा कीन्ह उपावा ।[1]

इस प्रकार सृष्टि-निर्माण के मूल में ब्रह्म का विवर्त्त के रूप में व्यक्त होना है । ब्रह्म का विवर्त्त रूप क्रमशः प्रणव, पञ्चतत्व, घट तथा अस्मद्-युष्मद् की भावना के रूप में प्रकट होता है । सन्त दादूदयाल ने कहा भी है—

पहली कीया आप थें, उत्पत्ती ओंकार । ओंकार थे उपजै, पंच तत्त आकार ।।
पंच तत्त थे घट भया, बहुबिधि सब बिस्तार । दादू घट तै ऊपजै मैं-तैं बरण बिचार ।।

इसी प्रसंग में 'बड़ी अष्टपदी रमैणीं' में कबीरदास जी ने भी कहा है कि 'एक बिनांनीं रच्या बिनांन' । उसने त्रिगुणात्मिका माया का चतुर्दिक् प्रसार

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—सतपदी रमैणी, पृष्ठ २२५-६ ।

करके पुनः पंच-तत्व का बन्धान बाँधा तथा पाप-पुण्य, मान-अभिमान आदि का निर्माण किया। वह चतुर नटनागर अनेक वेष धारण कर लीलाएँ करता रहता है, ओट में छिपा रहता है, सामने नहीं आता। इस बाजीगर के इन्द्रजाल में शिव और विरंचि तक भुला गए, फिर सर्वसाधारण की बात ही क्या? सन्त भीखा जी ने पंच-तत्वों की उत्पत्ति का रोचक वर्णन करते हुए कहा है कि "जब परमात्मा ने सृष्टि रचने की इच्छा की तो बिना मिट्टी के काम चलता न देखकर मिट्टी (पृथ्वी) उत्पन्न की। लेकिन मिट्टी के गीले न होने से उसे रूपाकार में ढाला नहीं जा सकता था, इसलिये कर्त्ता ने जल की इच्छा की। अधिक जल मिल जाने से मिट्टी गीली हो गई, जिससे वह किसी एक रूप में ठहर न सकी। इसलिए उसको स्थिर करने के लिए गरमी (तेज) की जरूरत हुई जिससे अग्नि पैदा की गई किन्तु अग्नि प्रज्वलित न होती थी, इसलिए वायु की आवश्यकता हुई। परन्तु प्रचण्ड वायु भी थमी नहीं, इसलिए आकाश का निर्माण हुआ जिसमें शब्द और पवन दोनों घुल-मिल गये हैं—आँखों से आकाश और वायु की अलग-अलग पहचान नहीं हो सकती। आकाश में पाँचों तत्वों का निवास है।"[1] विवर्त के कारण ब्रह्म, प्रणव, महत्तत्व, मन, अहंकार आदि के आवरणों में छिपता चला जाता है और अन्त में एक ऐसी स्थिति आती है कि मूल वस्तु ही हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। वस्तुतः मूल-तत्व तो उसी के भीतर छिपा रहता है। किन्तु हमारी कलुषित दृष्टि ब्रह्म के ऊपर पड़े हुए स्थूल आवरण का चीरकर तह तक पहुँचने में असमर्थ रहती है। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि उस परमब्रह्म ने कहने-सुनने के लिए जग की रचना की है। हम स्वयं को माया के मिथ्या स्थूल आवरणों में छिपाकर अपने आप भूले हुए हैं। कबीर ने संकेत भी किया है—

> बहु विधि करि संसार भुलावा, झूठै दो जगि साच लुकावा।
> माया मोह धन जोवनां, इनि बन्धे सब लोइ।
> झूठै झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ॥
> झूठनि झूठ साच करि जानां। झूठनि मैं सब सांच लुकाना॥
> समझि विचारि बीच जब देखा, यहु संसार सुमन करि लेखा॥[2]

असत्यता के आवरण में छिपे परम सत्य की खोज करना ही सन्तों का चरम लक्ष्य है। संसार को स्वप्नमयी स्थिति में मानने पर साधक अनुभूति के उस

---

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय के पृष्ठ १३६ से साभार उद्धृत।

[2] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ २२६, २३४।

स्तर पर पहुँच जाता है कि जहाँ जगत् का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। संसार की क्षण-भंगुरता और परिवर्तनशीलता पर कबीरदास जी ने इसी स्तर से विचार किया था—"यह संसार ऐसा तमाशा है कि इसमें कोई स्थायी रूप से रहने नहीं पायेगा। तुम सीधे अपने रास्ते चलो नहीं तो यह संसार तुम्हें बहुत बुरा धक्का देगा। यह बेचारा मनुष्य चूहा बनाया गया है जिसे मृत्यु रूपी बिल्ली खा जायगी।...न तो इस संसार में कुछ आता हुआ दिखलाई देता है, न जाता हुआ। यह संसार पुरइन के पत्ते की तरह जहाँ उत्पन्न होता है वहीं विनष्ट हो जाता है।"[1] कबीर ने बीजक, कबीर मंसूर आदि में सृष्टि-क्रम विषयक विचार प्रकट किया है। सत्यपुरुष ने स्वेच्छा से छः पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम हैं—सहज, अंकुर, इच्छा, सोऽहम्, अचिन्त्य और अक्षर। उस समय सारा संसार जलमय था। सत्यपुरुष ने अपनी सातवीं सन्तान अण्डे को जल में छोड़ दिया, अक्षर पुरुष के दृष्टि-निक्षेप से वह अण्डा फूट गया और उससे दुर्दमनीय काल पुरुष निरंजन निकले, जिन्होंने सत्यपुरुष की आज्ञा से सृष्टि का जाल पसारा। सृष्टि को उत्पन्न करने के विचार से निरंजन ने आद्य शक्ति (माया) को उत्पन्न किया और उसके संयोग से सत्व गुण प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण प्रधान विष्णु और तमोगुण प्रधान शिव की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार माया, ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने चार खाने और चौरासी लाख योनियों की सृष्टि की। आद्य ने अण्डज, ब्रह्मा ने पिण्डज, विष्णु ने ऊष्मज और शिव ने स्थावर सृष्टि की, फिर इनकी शक्तियाँ बनीं। स्वर्ग-नरक आदि का निर्माण हुआ और तीनों लोक इन्हीं को परम दैवत मान कर इनकी सेवा में व्यस्त हो गये। बीजक के अनुसार मायोपाधिक ईश्वर ने प्राणिमात्र में जीव रूप से प्रवेश किया एवं जीवात्माओं के हृदय में विविध कार्यों को करने की वासना रूपिणी प्रेरणा उत्पन्न की एवं इससे ही आगे चलकर त्रिदेव हुए। तदनन्तर अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्ड और जीव प्रकट हुए—बीजक पद १-३। एक स्थल पर रूपक के माध्यम से कबीर ने सृष्टि-क्रम विषयक विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

आदि पुरुष एक वृच्छ है, निरंजन डारा हो।
तिरदेवा साखा भये, पत्ता संसारा हो॥
ब्रह्मा वेद सही कियो सिव जोग पसारा हो।
विस्नु मया उतपति किया उरले व्यवहारा हो॥
जोति-सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो।
करम की बंसी लाय के पकरयो जग सारा हो॥[2]

---

[1] सन्त कबीर—रागु बिलावलु १, १०।

[2] कबीर—बीजक शब्द ११४।

गुरु नानक का सृष्टि-क्रम विषयक विचार नाथपन्थी विचारधारा के अनुरूप हठयोग से प्रभावित है। उनके अनुसार आदि में शून्य (आकाश) था। शून्य से पवन उत्पन्न हुआ और पवन से जल। सबसे पहले जबकि और कुछ भी अस्तित्व में नहीं था, केवल सत्य रूप परमात्मा था। उस परमेश्वर की आज्ञा से सृष्टि के सारे आकार बनते हैं। उसी की अनिर्वचनीय आज्ञा से जीवों का सृजन होता है, मनुष्य के कर्म-विधानों का निरूपण होता है।[१] वह (ब्रह्म) अप्रकट रूप से सब में व्याप्त है। सुरति शब्द से निस्सृत ओंकार की ध्वनि आदि, अनूप एवं सब की प्राणाधार है। शून्य शब्द से ही झंकार, ओंकार, पवन एवं चारों अग्नियाँ प्रकट हुईं। सृष्टि के आदि में घट-घट में व्यापक सब प्रकार के सुख-दुख से अतीत, अदृष्ट, अलिप्त और अलेख एक ब्रह्म था। वह अपरम्पार है, न तो उसका किसी ने निर्माण किया है और न उसका काल है। उसने स्वप्न के समान माया का निर्माण किया। उस माया को किसी युक्ति से प्रसव हुआ और उससे तीन चेले—ब्रह्मा, विष्णु और शिव जनमे।[२] उसी ने त्रिगुणमयी सृष्टि की रचना की तथा ब्रह्म लोक (त्रिकुटी) की सृष्टि कर उसमें अपना स्थान बना लिया। उससे नीचे सहस्रदल कमल रचकर उसमें भी वह स्वयं रमण कर रहा है। वह आदिपुरुष शुभ्र, अनादि, अनन्त और युग-युग से 'एक रूप' है। वही सिरजनहार, सृष्टि को रच-रच कर उसे देखता और सँभालता है। वही रात्रियों, ऋतुओं, तिथिओं और वारों तथा वायु, जल, अग्नि और पाताल के बीच में पृथ्वी को धर्म का मन्दिर बनाकर रखा है।[३] उसने आश्चर्य ही आश्चर्य में सृष्टि की रचना की। पाँच तत्वों से इस घट की सृष्टि की। अप्, तेज, वायु, पृथ्वी और आकाश, इन पाँच जड़ पदार्थों को लेकर चेतन ज्योति का प्रकाश किया। उसने माता और पिता दोनों के सम्मिलित योग से सृष्टि का निर्माण किया।
सन्त दादूदयाल ने अत्यन्त संक्षिप्त शैली में सृष्टि-तत्व का निरूपण किया है—

पहली कीया आप थें, उत्तपत्ती ओंकार।
ओंकार थें उपजै पंच तत्त आकार॥
पंच तत्त थें घट भया, बहु विधि सब विस्तार।
दादू घट थें ऊपजे, मैं तैं बरण विचार॥
निरंजन निराकार है, ओंकार आकार।
दादू सब रंग रूप सब, सब विधि सब विस्तार॥

---

[१] सन्त सुधासार—जपुजी २।
[२] वही, जपुजी ३०।
[३] वही, जपुजी ३४।

आदि सबद ओंकार है, बोले सब घट माँहि ।
दादू माया बिस्तरी, परम तत यहु नाँहि ।।
पैदा कीया घाट घड़ि, आपै आप उपाइ ।
हिकमत हुनर कारीगरी, दादू लखी न जाइ ।।[१]

दादू के अनुसार सर्वप्रथम 'आप' अर्थात् निर्गुण, निराकार ब्रह्म में विवर्त उपस्थित होने से माया सबल ब्रह्म से शब्द-ब्रह्म उत्पन्न हुआ और इसी 'सबद' से समस्त सृष्टि की रचना हुई—

सबदै बंध्या सब रहै, सबदै सब ही जाइ ।
सबदै ही सब ऊपजै, सबदै सबै समाइ ।।
दादू सबद ही सूषिम भया, सबदै सहज समान ।
सबदै ही निर्गुण मिलै, सबदै निर्मल ज्ञान ।।[२]

इस शब्द-ब्रह्म ओंकार से ही सारी सृष्टि का निर्माण हुआ—एक अण्ड ओंकार से सब जग भया पसार ।

सांख्य, वेदान्त और योग शास्त्र की उच्च शिक्षा से सम्पन्न सन्त सुन्दरदास का सृष्टि तत्व-निरूपण सांख्य दर्शन पर आश्रित है—

ब्रह्म से पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई ।
प्रकृति तें महतत्त्व पुनि अहंकार है ।।
अहंकार हूँ तें तीन गुण सत, रज, तम ।
तमहूँ में महाभूत विषय पसार है ।।
रजहूँ तें इन्द्रिय दस पृथक्-पृथक् भईं ।
सतहूँ तें मन आदि देवता विचार है ।।
ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूँ कहत गुरु ।
सुन्दर सकल यह मिथ्या संसार है ।।[३]

क्रमिक रूप से सूक्ष्म होते जाने वाले तत्वों का सांख्य की पद्धति से सुन्दरदास जी ने इस प्रकार विवेचन किया है—

भूमि तें सूक्षम आप को जानहुँ, आप से सूक्षम तेज को अंगा ।
तेज तें सूक्षम वायु बहै नित, वायु ते सूक्षम व्योम उतंगा ।।
व्योम तें सूक्षम हैं गुण तीन, तिहुँ ते अहम् महत्तत्व प्रसंगा ।
ताहि तें सूक्षम मूल प्रकृति जु, मूल तें सुन्दर ब्रह्म अभंगा ।।[४]

---

[१] दादूदयाल की बानी—भाग १, सबद को अंग ८, ९, ११, १२, १३ ।
[२] वही सब्द को अंग, २, ४ ।
[३] सुन्दर विलास - सांख्य ज्ञान को अंग ७ ।
[४] सुन्दर विलास—सांख्य ज्ञान को अंग २६ ।

उनके पदों, कवितों आदि में सांख्य-दर्शन का विस्तृत विवेचन मिलता है। सन्त सुन्दरदास जी ने सांख्य के तत्व ज्ञान पर वेदान्त की छाप लगाकर उसे सर्वसाधारण के लिए सरल एवं बोधगम्य बना दिया है—

देह यह किन को है, पंच महाभूतन को पंचभूत कौन ते हैं, तामसहंकार तें ॥
अहंकार कौन ते हैं, जासूँ महतत्व कहै। महत्तत्व कौन ते हैं, प्रकृति मंझार तें ॥
प्रकृति सौं कौन ते है, पुरुष है जाको नाम, पुरुष सौं कौन ते है, ब्रह्म निराधार तें ॥[1]

'जगन्मिथ्या कौ अंग' में वेदान्तिक-विचार धारा का निरूपण करते हुए सुन्दरदास ने निरुपाधि ब्रह्म की ही सत्ता मानी है। जगत् की स्वतन्त्र सत्ता न मानते हुए उसे ब्रह्म में भासमान बतलाया है एवं इस प्रकार प्रसिद्ध अद्वैत-दर्शन (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) की पुष्टि की है—

कहत है देह मांहि जीव आइ मिलि रह्यौ,
कहाँ देह कहाँ जीव वृथा चौंकि पर्यौ है।
बूड़िबे के डर तें तिरन कौ उपाइ करै,
ऐसे नहिं जानै यह मृगजल भर्यौ है॥
जेवरी कौ साँपु जैसे, सीप विषै रूपौ जानि,
और को औरइ देखि, यौं ही भ्रम कर्यौ है
सुन्दर कहत यह एकई अखण्ड ब्रह्म;
ठाही कौं पलटि कै जगत् नाम धर्यौ है॥[2]

इस कवित्त में वेदान्त के अध्यासवाद का रूप स्पष्ट है। अतद् में तद् बुद्धि का उदय होना ही अध्यास है। ब्रह्म सम्पूर्ण दृश्य-जगत् के परिवर्तनों का अधिष्ठान है जिसके ऊपर अविद्यावशात् उसका अध्यास होता है। अपने शुद्ध स्वरूप में वह दृश्य-जगत् से निर्विकार है। सीप में रजत और रज्जु में सर्प का भ्रम होना अध्यास ही है। जहाँ व्यक्त में परिवर्तनशीलता दिखाई देती है, वहीं अव्यक्त, नित्य एक रस रहता है। इसी से नाम रूप का उदय होता है और वे अव्यक्त में ही समा जाते हैं—'सुन्दर जानै ब्रह्म में ब्रह्म जगत द्वै नाहिं।' इस प्रकार वे अद्वैतवाद के माध्यम से सर्वात्मवाद के उस शीर्ष बिन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की चरितार्थता सिद्ध हो जाती है—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुण नीति निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखण्डित है अध अरध, बाहर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥

---

[1] सुन्दर विलास, पद १३।

[2] सन्त सुधासार, स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ६३४।

ब्रह्महि सूछम थूल जहाँ लग, ब्रह्महि साहब ब्रह्महि दासै।
सुन्दर और कछू मति जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥

इस प्रकार सन्त कवियों का जगत् वर्णन वेदान्त मत से अनुप्राणित है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कहीं-कहीं उनमें सांख्य-दर्शन का प्रभाव दिखाई पड़ता है किन्तु वे सांख्यों के द्वैतवाद को स्वीकार न करते हुए अद्वैतवादियों की भाँति ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध निश्चित करते हैं। अद्वैत वेदान्त के अध्यासवाद, विवर्तवाद एवं प्रतिविम्बवाद के प्रभूत प्रमाण उनकी कविताओं में पाये जाते हैं।

प्रायः सभी सन्त कवियों ने जगत् की क्षणभंगुरता और निस्सारता के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया है। उसे चार दिनों की चाँदनी माना है। दिन की हाट है जो शाम होते ही उठ जाती है। इस पर विश्वास करना अपने आपको धोखा देना है। कबीर ने संसार को सेमल का फूल बतलाया है जो ऊपर से तो बहुत आकर्षक दिखाई देता है किन्तु उसके भीतर निस्सार रेशों को छोड़कर कुछ भी नहीं रहता। अतः 'दिन दस के व्यौहार कौ, झूठे रंगि न भूल' वाली चेतावनी हमें सदैव याद रखनी चाहिये। 'मेरे-तेरे' की रस्सी में सारा संसार बँधा हुआ है। सुत, कलत्र और सारे कुटुम्ब को इन सब की चिन्ता में बारम्बार झुलसना पड़ता है। जग की विचित्रता पर कबीर ने कहा है—

कबीर यहु जग कुछ नहीं, षिन षारा षिन मींठ।
काल्हि जु बैठा माड़ियाँ, आज मसांणा दीठ॥[1]

दादू ने संसार को 'दुख दरिया' कहा है एवं इसे शीघ्र तज कर सुख के सागर राम से मिलने की बात कही है।[2] 'काल की झाल' में सारा संसार जल रहा है, कोई निकलकर बच नहीं सकता।[3] एक रमता तो 'राम' ही है और सब संसार बहता है।[4] काल के भय से सारा संसार काँपता है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर, मुनि सभी कम्पित हैं।[5] सुन्दरदास का स्पष्ट मत है—

सुन्दर पक्षी वृक्ष पर, लियो बसेरा आनि।
राति रहे दिन उठि गये, त्यों कुटुम्ब सब जानि॥

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—काल कौ अंग १५।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १—चितावणी को अंग १६।

[3] दादूदयाल की बानी भाग १—काल को अंग ४२।

[4] वही, ४६।

[5] वही ८६।

सुन्दर या संसार में, काहि न निकसत भागि।
सुख सोवत क्यों बावरे, घर में लागी आगि ॥[1]

इस भाँति सन्त कवियों ने जगत् की चंचलता और अस्थिरता पर जो विचार व्यक्त किए हैं, उनका मनन कर मनुष्य आत्मोन्मुख होकर हतबुद्धि-सा सोचने को विवश हो जाता है।

●●●

[1] सन्त सुधासार—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ६३८, ६४०।

१. ख—धार्मिक विश्वास एवं आचार

धर्म का स्वरूप—मानवता के विकास-काल से जीवन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। धार्मिक धारणाएँ जन-जीवन के प्रभावशाली अंग के रूप में समादृत रही हैं। यही कारण है कि प्राच्य और पाश्चात्य, अर्वाचीन और प्राचीन मनीषियों ने समय-समय पर संशोधन के साथ धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्त भौतिक-जीवन-धारणा, धार्मिक विश्वासों एवं आचारों के द्वारा परिचालित होती रही है। इस लोक और परलोक में सुन्दर और पूर्ण जीवन बिताने के सम्बन्ध में धर्म ने लोगों को अनुप्राणित किया है। अदृश्य शक्तियाँ मनुष्य का नेतृत्व और नियमन करती हुई कभी-कभी उसका अनिष्ट भी करती हैं, अतः इस अनिष्टता से धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है। वह अदृश्य दैवी शक्ति के अटूट नियमों से जीवन का सामंजस्य स्थापित करने के लिए अस्तित्व धारण करता है और उसके उल्लंघन एवं भंग होने की अवस्था में पश्चात्ताप, तपस्या एवं अन्य प्रतिरोधक बातों का विधान एवं आदेश करता है और इसी से जीवन इस लोक में सुन्दर और परलोक में सुखपूर्ण होता है। धर्म ने जीवन को शिव अर्थात् सदाचारपूर्ण, प्रेममय, सहनशील और न्याय्य, सुन्दर अर्थात् मनुष्य को अपने केन्द्र तथा आदर्श से च्युत स्थिति से ऊपर उठाकर सत्य या पूर्ण बनाने की चेष्टा की है।[1] धर्म को, परिभाषा का परिधान पहनाते हुए भगवान् व्यासदेव ने कहा है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्माद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

—**महाभारत, वर्ण-पर्व** ६६।५६

'**धर्म**' शब्द धृ धातु से बना है। धर्म से ही समस्त प्रजा एक सूत्र में निबद्ध है। धर्म के अन्तर्गत उन्होंने समाज को सुव्यवस्थित करने वाले सभी तत्वों, नैतिक मान्यताओं एवं आचार-विचारों को ग्रहण कर लिया है। यद्यपि उन सब का स्पष्ट उल्लेख उन्होंने नहीं किया किन्तु उस दिशा की ओर संकेत अवश्य है। महर्षि कणाद के मत से धर्म इहलोक और परलोक की समृद्धि एवं कल्याण का विधान करने वाली उत्कृष्ट साधना-पद्धति है—'यतोऽभ्युदयनिः श्रेय ससिद्धः स धर्मः—कणाद। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ह्वाइटहेड की अन्तर्भेदिनी

---

[1] **श्रीकृष्णव्यंकटेश पुणताम्बेकर—भारतीय लोक-नीति और सभ्यता, पहला खण्ड, पृष्ठ ५१।**

दृष्टि से 'धर्म मानव जाति के एक विशेष प्रकार के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। धार्मिक विचार, काल्पनिक चित्रों से ऊपर उठकर अभिव्यक्ति की सच्चाई में विकसित होते हैं। धर्म, मानव प्रकृति द्वारा ईश्वर के अनुसन्धान की प्रतिक्रिया है। धर्म, किसी ऐसी वस्तु की दृष्टि है जो जीवन के उस ओर है, पार्श्व में है, आत्मा में है और आवश्यक वस्तुओं के प्रवाह में है, ऐसी वस्तु जो सत्य है फिर भी ज्ञात होने की प्रतीक्षा में है, ऐसी वस्तु जो दुरातीत सम्भावना है फिर भी महत्तम वर्तमान सत्य है, ऐसी वस्तु जो सभी घटनाओं को अर्थ प्रदान करती है फिर भी जिसका अर्थ नहीं निकलता, ऐसी वस्तु जिसकी प्राप्ति आखिरी अच्छाई है फिर भी जो पहुँच के परे है।[१] कवीन्द्र रवीन्द्र के मतानुसार धर्म अन्तःप्रकृति है, वही सारी वस्तुओं का ध्रुव सत्य है। धर्म ही वह चरम लक्ष्य है जो हमारे अन्दर काम करता है। महात्मा गान्धी का कथन है कि "धर्म, वस्तुतः एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं, जब हम एक ही लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हैं तो किसी भी मार्ग से जाने में क्या अन्तर पड़ता है ?"[१] महात्मा जी के इस कथन में प्रस्तुत सन्त-ध्वनि स्पष्ट अंकित है—

> जे पहुँचे ते कह गये, तिनकी एकै बात।
> सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जात ॥

धार्मिक-अनुभूति—डॉ० देवराज के शब्दों में "धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति मूलतः एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा सत्ता की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल या आधार समझी जाती है। जिसे हम धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं वह, वह जीवन है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है।"[२] सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के कथनानुसार "धर्म एक तरह का जीवन और अनुभव है। वह दर्शन और अनुभव की वस्तु है। यह अनुभूति किसी प्रकार का भावावेग या अपने मन की कल्पना नहीं है बल्कि पूरे व्यक्तित्व का, अखण्डित चैतन्य का केन्द्रीय सत्ता के प्रति उन्मुखी भाव है। धार्मिक अनुभूति स्वतः प्रमाण है लेकिन धार्मिक द्रष्टाओं को अपने आन्तरिक विश्वासों को इस तरह प्रमाणित करना पड़ता है कि वे विश्वास, युग की विचार धारा को संतुष्ट कर सकें। अगर बौद्धिक समर्थन न रहे तो ऋषियों का अनुभ- केवल विश्वास तक सीमित रहेगा। इस माने में धर्म विश्वास पर आधारित है।"[3]

---

[१] ज्ञानोदय (अप्रैल १९५९) प्रो० ह्वाइटहेड—धर्म और विज्ञान का संघर्ष से अवतरित।

[२] डॉ० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ ३२३।

[3] सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, (अनुवादक—कृष्ण किंकर सिंह), पृष्ठ १३।

धर्म के दो पक्ष—धर्म की इन विशेषताओं से परिचित हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के स्थूल रूप से दो भाग होते हैं, जिन्हें धर्म के सामान्य और विशेष भाग कहा जा सकता है। पहला, दूसरे की अपेक्षा अधिक स्थायी, व्यापक एवं उदार है अतः दूसरे का पहले में भलीभाँति समाहार हो जाता है। धर्म का प्रथम भाग जहाँ शाश्वत तत्वों से निर्मित होने के कारण देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं से परे रहता है वहीं उसका विशेष रूप सीमित एवं अशाश्वत तत्वों को, युक्त होने के कारण देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं से बद्ध रहता है। 'भारतीय संस्कृति' के प्रख्यात लेखक श्री साने गुरू जी ने इसे धर्म का यम और नियम रूप कहा है—धर्म का यम रूप भाग नहीं बदलता, लेकिन नियम रूप भाग बदलता रहता है। यम का यह अर्थ है कि धर्म का त्रिकालाबाधित भाग सत्य, अहिंसा, संयम, दया, प्रेम, परोपकार, ब्रह्मचर्य आदि बातों की यम संज्ञा दी गई है। सन्ध्या करना, स्नान करना, खाना-पीना, जनेऊ पहिनना, गन्ध लगाना, हजामत बनाना आदि बातें नियम के अन्तर्गत आती हैं। यम का अर्थ है अचल धर्म और नियम का अर्थ है चल धर्म। आज हमने नियमों को ही महत्व दे रखा है। जनेऊ, गन्ध, चोटी ही धर्म बन गया है। जब हम चल वस्तु को अचल मानने लगते हैं और जब अचल वस्तु का महत्व नष्ट हो जाता है तब धर्म का सुन्दर स्वरूप नष्ट हो जाता है। हमारे पूर्वज हमेशा नियमों के ऊपर यम धर्मों का अंकुश लगाते रहते थे। बर्ट्रेण्ड रसेल ने इसी को ऋण नीति और धन नीति कहा है। ऋण नीति का उपासक माला जपता है, तीन बार स्नान करता है, भस्म लगाता है। धन-नीति का उपासक जल्दी स्नान-सन्ध्या न करे, देव-दर्शन और कथा-कीर्तन में सम्मिलित न हो, माला-भस्म आदि की उपासना न करे। लेकिन वह समाज के अन्याय को मिटाने के लिए दौड़ता है। वह पद-दलितों का पक्ष लेता है। वह सारी गन्दगी जलाने के लिए तैयार रहता है। जिस समाज में कर्म-शून्य ऋणनीति का ही प्रसार दिखाई देता है वह समाज धूल में मिल जाता है। जिस समाज में प्रत्यक्ष सेवा करने वाले धन नीति के उपासक होते हैं, वह समाज ऊँचा उठता है।[१]

मानव-धर्म या सहज-धर्म—इस प्रकार यम या धन नीति से ख्यात धर्म का सामान्य पक्ष जिसमें मानव-मात्र के नैतिक नियमों की व्यवस्था रहती है, 'मानव-धर्म' के नाम से पुकारा जाता है। गुरुदेव ने 'मानुषेर-धर्म' में कहा है—"मनुष्य अपनी उन्नति के साथ-साथ व्यक्ति सीमा को पार कर वृहत् मनुष्य हो उठता है। उसकी समस्त श्रेष्ठ साधना इसी वृहत् मनुष्य की साधना है। यही

---

[१] श्री साने गुरू जी—भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३२-३८।

वृहत् मनुष्य अन्तर का मनुष्य है। बाहर नाना देशों की नाना समाजों की नाना जातियाँ हैं किन्तु अन्तर में केवल एक मानव है। जो हमें त्याग की ओर, तपस्या की ओर ले जाती है उसी को मनुष्यत्व—मनुष्य का धर्म कहते हैं।''[१] पण्डित नेहरू ने मनुष्य की बुद्धि पर तरस प्रकट करते हुए कहा है कि ''आदमी धर्म के लिए झगड़ेगा, उसके लिए लिखेगा, उसके लिए मरेगा, सब कुछ करेगा पर उसके लिए जियेगा नहीं।'' इतिहास के पन्ने धर्म के विशेष रूप के मिथ्या दुराग्रह के कारण मानव के पवित्र रक्त से रंजित हैं। मनुष्य को अभी मनुष्य की तरह जीना नहीं आया। जब-जब समाज में धर्म के विशेष रूप को अधिक महत्व दिया गया और उसके सामान्य रूप की अवहेलना की गई तभी मानवता के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न उपस्थित हुआ। उसका स्वरूप विकृत हुआ और धर्म के विकृत रूप को सन्तों ने अपने निर्वैर धर्म से 'साईं सेती साँच चलि, औरा सूं सत भाय' के द्वारा पुनः सँवार कर व्यवस्थित रूप प्रदान किया। धर्मों का इतिहास इसी संघटन-विघटन या क्रिया-प्रतिक्रिया का इतिहास है।

धर्म के इस सर्वमान्य सामान्यधर्म को 'सहज-धर्म' की संज्ञा मिली। सन्तों की सारी साधना इसी 'सहज-धर्म' की प्रतिष्ठा में ही लगी। 'मध्य-युग के सन्तों की सहज-साधना' के प्रति आचार्य सेन संकेत करते हुए कहते हैं—''कबीर, दादू इत्यादि के मत से साधना सहज होनी चाहिये। प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम-साधना का कोई विरोध न होना चाहिये। पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर वृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग में अग्रसर कर देती है, इसी प्रकार दैनिक जीवन शाश्वत जीवन को सहज ही अग्रसर कर देगा। दैनिक गति के साथ शाश्वत गति का जो यह सहज योग है उसी को ये सन्त 'सहज-पन्थ' कहते हैं। नदी के भीतर इन दोनों जीवनों का पूर्ण सामंजस्य है। नदी प्रति दण्ड, प्रति पल, अपने दोनों किनारों पर अगणित कार्य करती चलती है और साथ ही साथ अपने को असीम समुद्र में निमज्जित कर रही है। उसका दण्ड-पल गत जीवन, उसके शाश्वत जीवन के साथ सहज-योग से युक्त है। इसमें से एक को छोड़ने से दूसरा निराश हो जाता है।...साधना में दैनिक और नित्य लक्ष में कोई विरोध नहीं है।''[२]

धर्म का प्रासाद, विश्वास की दृढ़ शिला पर स्थित है। मान्यताओं का समूह चाहे कितना ही सत्य क्यों न हो, उसे विश्वास नहीं माना जा सकता।

---

[१] श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—मानुषेर धर्म, (अनुवादक, रघुराज गुप्त), पृष्ठ १।

[२] आचार्य क्षितिमोहन सेन—संस्कृति संगम, पृष्ठ १२१।

विश्वास आत्मा की अन्तर्दृष्टि है—वह, वह प्राणशक्ति है जिसके द्वारा आध्यात्मिक भावों का ग्रहण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार शारीरिक इन्द्रियों से भौतिक पदार्थों का। मतवादों की अन्धश्रद्धा विश्वास नहीं। धर्म एक प्रकार का विश्वास या अन्तर्दृष्टि है, हम इसलिए उसे विश्वास की संज्ञा देते हैं कि आध्यात्मिक उपलब्धि में अन्य तरह की उपलब्धियों की भाँति गलतियाँ हो सकती हैं और उसकी जाँच के लिए तर्कसंगत अनुसन्धान की आवश्यकता होती है, लेकिन "धार्मिक अन्तर्दृष्टि भी अन्यान्य उपलब्धियों की भाँति वह वस्तु है, जहाँ से विचार का प्रारम्भ भी होता है और जहाँ पर उसका प्रत्यावर्तन भी होता है।"[1]

प्रत्यावर्तन—आध्यात्मिक-साधना, साधक में विश्वासमूलक अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन की प्रेरणा जगाती है। मनुष्य विविध कोशों के आवरणों द्वारा क्रमशः अधोमुखी भूमियों में उतरता जाता है। उसकी आत्मा इतने अधिक स्थूल आवरणों में ढँक जाती है, उस पर इतने स्तरों की सघनता जमती जाती है कि उसकी प्रकाश-किरणें स्थूल स्तरों के आवरणों को भेदने में असमर्थ हो जाती है और तब जीव अज्ञान-अन्धकार में पड़कर 'पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्' के चक्र से मुक्त नहीं हो पाता। जब तक साधक इन स्तरों के पटहावरण-घन को चीरकर आत्मसाक्षात्कार नहीं कर लेता तब तक उसका कल्याण असम्भव है। वेदान्तियों ने नीचे से क्रमशः ऊपर की ओर ले जाने वाले, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर गतिशील करने वाले पाँच कोशों की कल्पना की है—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। ये क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और श्रेष्ठतर होते जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण के पुत्र भृगु की मनोरंजक कथा से आनन्दमय कोश की उपलब्धि एक मात्र चरम सत्य के रूप में स्वीकार की गई है और वही साधक के लिए साध्य है। इन पाँच कोशों के स्तरों से आवृत्त आत्मा की संज्ञा जीवात्मा होती है। भौतिक पदार्थ, प्राण, मन और बुद्धि से युक्त, ये चार कोश जाग्रत एवं स्वप्न की स्थिति में रहते हैं एवं अन्तिम आनन्दमय के कोश में प्रगाढ़ सुषुप्ति की दशा रहती है। जिस प्रकार सबसे ऊँची अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचाने में नीचे की सीढ़ियों की आवश्यक भूमिका रहती है, वैसे ही स्थूलता से उत्तरोत्तर सूक्ष्मता की ओर ले जाने वाले व्यापारों से ही साधक अन्तिम आनन्द की भूमि में पहुँच पाता है। स्थूल स्तरों के कार्यों में विरोध एवं विकृति उत्पन्न हो जाने पर सूक्ष्म व्यापार साधक की सहायता न करके उसे और भी विकृत कर देते हैं।

---

[1] सर्वपल्ली राधाकृष्णन—हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, पृष्ठ १४।

इसलिए उन्हें इस प्रकार सहज ढंग से सुधार लेना साधक के लिये परम आवश्यक है कि उनमें परस्पर सामरस्य की भावना उत्पन्न हो जाय और वे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करने की अपेक्षा स्वेच्छापूर्वक सहायता पहुँचाने लगे। "अतएव यह बहुत आवश्यक है कि मन की प्रवृत्तियों को वहिर्मुख करा दिया जाय। सभी प्रकार की वाह्य पूजाएँ जिनके द्वारा बहिर्मुख वृत्तियों की सहायता व उत्तेजना मिल सकती है, इसी कारण बन्द ही नहीं, वरन् पूर्णतः तिरस्कृत की जानी चाहिये।"[1]

सन्तों ने इस उलझन से बचने के लिए एक सुन्दर उपाय खोज लिया था, वह है सहज साधना या सहज भाव। इन्द्रियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने की अपेक्षा उनको सहज रूप से खुला छोड़ दिया जाय किन्तु ध्यान रहे, इस प्रकार की उन्मुक्तता वासानात्मक तृप्ति की उच्छृंखलता की द्योतक नहीं है। इसके लिए साधक को घर छोड़कर बन जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, गैरिक वस्त्र धारण करने एवं जटा बढ़ाने की भी आवश्यकता नहीं। सहज-साधना में किसी प्रकार की खींच-तान नहीं है और न दैनिक और नित्य लक्ष में कोई विरोध है। इसीलिए सन्त कबीर ने कहा है कि संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़कर साधना नहीं हो सकती है। इसीलिए सन्यासियों के शिरोमणि होकर भी वे गृहस्थ बने रहे। प्रायः सभी सन्त, चरम लक्ष्य की उपलब्धि में गृहस्थ-जीवन को बाधा न मानकर एक आवश्यक सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं। वे किसी भी सम्प्रदाय के वाह्य आचारों को व्यर्थ समझते हैं, वे सब साधना में किसी प्रकार का सहयोग न दे कर और अन्तराय ही उपस्थित करते हैं। दादू ने कहा है, नदी की तरह अपने को दैनिक शाश्वत साधना के क्षेत्र में सहज ही छोड़ दो। साधना के लिए संसार के कृत्यों को बाधा देकर, रोक कर शक्ति संचार करने से वह कृत्रिम और मिथ्या हो जायगा। नदी की तरह सब को तृप्त करने के द्वारा ही नित्य सहज योग के आनन्द से भीतर ही भीतर पूर्ण होकर परमानन्द लाभ करना चाहिये। नाना प्रकार का वेश बनाकर सभी अपने को दिखाना चाहते हैं। अपने आपको मिटाकर जो साधना होती है, उस ओर कोई नहीं जाता।[2] जब हमारे वाह्य एवं आन्तरिक जीवन में पूर्ण सामरस्य आ जाय तभी सहज-मार्ग में चलने की हम में क्षमता आती है। रज्जब जी ने संकेत किया है कि योग के भीतर भी एक तरह का भोग रहता है और भोग के भीतर भी एक तरह का योग

---

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, १८२-३।

[2] दादूदयाल की वाणी १—माया को अंग १०५-६, भेस को अंग ११।

रह सकता है। इसी लिए कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई-कोई तो वैराग्य में डूब मरता है और कोई गृहस्थ-जीवन में ही तर जाता है।[1]

सन्त-साहित्य का सम्यक् अनुशीलन करने से हमें ज्ञात होता है कि सन्तों का सारा जीवन सत्य के प्रयोग करने में बीतता था। उनकी साधना स्वानुभूतिपरक होती थी। सन्तों ने उन्हीं धर्मों को अपने जीवन का अंग बनाया है जो सहज-सरल है और जिनका वाह्य एवं आन्तरिक जीवन से पारस्परिक विरोध नहीं है। वे अखिल सृष्टि के कण-कण में आत्मच्छवि देखते हैं—'जामे हम सोई हम ही मैं नीर मिले जल एक हुआ।' सन्तों का सहज धर्म स्वानुभूति-मूलक होने के साथ-साथ बुद्धिवादिता की कसौटी पर भी खरा उतरता है। सन्त, अध्यात्म के क्षेत्र में किसी प्रकार के तर्क को प्रश्रय न देते हुए भी जीवन में प्रज्ञात्मिकता के पूर्ण समर्थक थे। कभी भी उन्होंने गलदश्रु, भावुकता और अन्ध-आस्था को छूट नहीं दी, क्योंकि कालान्तर में इन्हीं के क्रोड़ से वाह्याडम्बरों एवं अन्ध-विश्वासों तथा खोखले आचार-विचारों का जन्म हुआ करता है। सन्त, इसी लिए लोक और वेद का अन्धानुसरण न करके अपने जीवनगत सत्य-प्रयोगों की कसौटी में पूर्णरूप से खरे उतरने वाले आदर्श को अंगीकार करने के पक्षपाती थे।

आचार-नीति—प्राचीन काल में आचार-नीति को ही धर्म के रूप में ग्रहण किया जाता था। वैशेषिक-सूत्र एवं महाभारत आदि में बड़े विस्तार के साथ आचार-नीति का निरूपण किया गया है और मनुष्यों के लिए इहलोक-परलोक सुधार के लिए उसका करना परम कर्त्तव्य बतलाया गया है। नैतिकानुशासन के मूल में दो विचार कार्य करते हैं। प्रथम के अनुसार दैवी-विधान अत्याज्य है और द्वितीय के मत से नैतिकता या आचारनीति आनन्द प्राप्ति का मनोरम माध्यम है। प्रथम में जहाँ आचारादि का ग्रहण भय द्वारा उत्पन्न श्रद्धा या निषेध रूप में होता है, वहाँ कठोर शासक की भाँति ईश्वर, भले-बुरे लोगों को पुरस्कृत और दंडित करता रहता है। इसी के आधार पर स्वर्ग-नरक की कल्पना का जन्म हुआ है। दूसरी विचारधारा के मत से आचार-नीति का ग्रहण किसी दैवी-विधान का मात्र अंधानुसरण नहीं। वह तो व्यक्तित्व के समुन्नत विकास के लिए, उसके भौतिक आध्यात्मिक तुष्टि के लिए स्वतन्त्र चेतना है, ज्ञान की सम्यक् परिणति है। आचार-नीति का अनुभव सब मानवीय समुदायों की एक सामान्य विशेषता है। समाजशास्त्रियों के द्वारा इसे विशेष महत्व दिया गया है। उन्नतशील

---

[1] एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग।
एक बूड़हिं बैराग में, इक तिरहिं सों गृह भोग।।
रज्जबजी—माया मधि मुक्त अंग ८

सभ्य समाज के विचारक, नैतिक आचार-विचारों को सुचिन्तित नैतिक मान्यताओं के रूप में ग्रहण करते हैं और फिर राज्याश्रय के बल पर कानून का रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक खोज, अन्तिम विश्लेषण में जीवन-विवेक की खोज है।[1]

सन्तों की दृष्टि में अबाधित चैतन्य की जागृति ही श्रेष्ठ आचरण की चरम-सिद्धि है। उन्होंने बाह्याचार, कर्म-काण्ड एवं पूजोपचारादि को उपेक्षा की दृष्टि से देखा, क्योंकि ये वस्तुएँ अन्तरतम की सचेतन ज्योति को जगाने में अक्षम थीं। सन्तकालीन समाज की सामान्य स्थिति अन्धश्रद्धा युक्त बाह्याचारों से ऊपर नहीं उठ सकी थी। स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ, गण्डा-ताबीज, डाकिनी-शाकिनी-पूजन एवं टोने-टोटकों तक ही उनकी धर्म-भावना का प्रसार था। सन्तों ने इसी पथभ्रष्ट समाज को सांस्कारिक चैतन्य प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। सन्त-दृष्टि बाह्य संसार की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर अन्तस् के असीम आकाश में विचरणशील है। ससीम के असीमता से प्रभावित होने के कारण वह आन्तरिक शील में दृढ़ आस्थाशील है। वह उस सामाजिक आचार-विचारों को उपेक्षणीय समझती है जो उसके निजत्व के व्यापक प्रसार में बाधा उपस्थित करते हैं। इसी लिए आत्मा का हनन करने वाली कृच्छ्र साधना का सन्तों ने सहजभाव से प्रतिकार किया है। सन्त, मन को एक सुसंस्कृत स्वरूप प्रदान करने का सबल समर्थक है जिससे वह मोहावरण से अनावृत होकर उस शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार कर ले। इस प्रकार आदर्श जीवन-निर्माण की आधार-स्वरूपा विशिष्ट जीवन की सहज अनुभूतियों को, अपने दैनन्दिन-चर्या में उतार लाने का सन्त प्रबल हिमायती है।

उच्चकोटि की नैतिकता अथवा आचार-नीति के आवश्यक तत्व आत्म-दमन, अपने स्वार्थं सुखों का त्याग एवं सर्वभूत हितरत की भावना है। दूसरे के हित-सम्पादन में स्वयं कष्ट सहकर कल्याण की कामना से विस्तृत पैमाने पर कार्य करना, सन्त स्वभाव की साधारण भूमिका है। विशप बटलर की नीति-पद्धति में बतलाया गया है कि मनुष्य को 'आत्म-प्रेम' तथा 'दूसरों के हित सम्पादन' के बीच उचित सामञ्जस्य रखना चाहिये। जीवन के मुख्य मूल्य दो हैं—प्रथम, आवश्यकताओं तथा दूसरे लोगों के दबाव से स्वतन्त्रता और द्वितीय, व्यक्तित्व का चेतना-मूलक विस्तार। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को कम करना चाहिये और अपने मनोवेगों पर नियन्त्रण रखना चाहिये। वस्तुतः एक स्वस्थ व्यक्ति, फिर चाहे वह धार्मिक हो अथवा नहीं, हमेशा अपनी सृजनात्मक शक्तियों

---

[1] डॉ० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ २८६, २६४-५।

का उपयोग करता रहता है, ताकि वह अस्तित्व के उच्चतर धरातल पर पहुँच सके।

कहते हैं कि जब विश्व-विजयी सिकन्दर डायोजिनीज से मिलने गया तो वह धूप में लेटा हुआ था। सम्राट् ने नम्रता से निवेदन किया और पूछा—"मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।" उसने अपेक्षा भाव से कहा—"सिर्फ मेरी धूप छोड़ दो।" उसके इस उत्तर को सुनकर सिकन्दर आश्चर्यचकित रह गया। उसे उक्त सन्त की लापरवाही में एक उच्चतर महत्ता दिखाई पड़ी। उसने कहा—"यदि मैं सिकन्दर न होता तो मैं चाहता कि मैं डायोजिनीज बन जाऊँ।" जीवन की साधारण स्थितियों में भी सृजनशीलव्यक्ति नियमों को अक्षरशः मानकर नहीं चलता। वह उनके आन्तरिक अभिप्राय के अनुकूल चलता है। वह निर्जीव नियमों को अपनी सजीव मानवता अथवा मानवीय भावना पर हावी नहीं होने देता, अतः सर्वसाधारण में प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व छिड़ जाता है। यह द्वन्द्व एक ओर उस रूढ़िवादी परम्परा के, जो सद्बुद्धि (Conscience) के रूप में व्यक्ति के अन्दर क्रियाशील होती है और दूसरी ओर उसकी मौलिक सृजनशील संवेदना के बीच प्रकट होता है, केवल वही व्यक्ति जिसमें विद्रोह करने का साहस है और जो विद्रोह की स्थिति में टिका रह सकता है, सृजनात्मक नैतिकता की प्रगति में योग दे पाता है।[1] अब आचारादि के माध्यम से नैतिकता का आग्रहपूर्वक निर्वाह भी सन्तों के स्वभाव से मेल नहीं खाता क्योंकि आचार-विचार के जागतिक-द्वन्द्व में पड़ा मन अन्तोगत्वा तीर्थादि के प्रबल आकर्षण से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। कबीर ने कहा भी है कि जिसके हृदय में सांसारिक भाव समाया है, उसके लिए जप-तप, पूजादि सभी व्यर्थ है। हे भक्त, लोक और लोकाचार का परित्याग कर तू अपना मन माधव की शरण में ले जा क्योंकि चतुराई से चतुर्भुज की प्राप्ति नहीं हो सकती।...संसार के तीर्थों के तट पर मन का विश्वास नहीं होता क्योंकि उनके आचार-विचारों में मन उलझकर रह जाता है। यदि तुम सच्चे विचारक हो तो तुम्हारे लिए पाप और पुण्य दोनों समान हैं। तुम्हारे अपने घर में तो पारस पत्थर है, तुम दूसरों (माया) के गुण छोड़ दो।[2] इस प्रकार विवेक का सहारा न लेने वाली अन्य-आचारावलि में सन्तों की आस्था नहीं।

कर्म की कसौटी—गीता में भगवान् ने जन्मना की अपेक्षा कर्मणा को महत्व दिया है। बुद्ध के मत से भी, मनुष्य का कर्म ही उसे सवर्ण और असवर्ण बनाता

---

[1] डॉ० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ २०१।

[2] सन्त कबीर—रागु गउड़ी, ६, ६।

है। 'जाति न पुच्छ ज्ञानं पुच्छ' की भावना परम्परा से आती हुई सन्त-साहित्य में समाहृत हुई। सन्तकवि जन्मगत श्रेष्ठता को न स्वीकार करके, कर्मगत श्रेष्ठता पर ही जोर देता है। कबीर ने ब्राह्मण-श्रेष्ठता पर कुठाराघात करते हुए कहा—'जो तुम ब्राह्मण बाह्मनि जाये। अवर राहते काहे न आये।' यही नहीं, उनको तो हिन्दू-मुस्लिम के बीच की भेद-वाभना भी खटकती है। उन्होंने काली-उजली गायों की वाह्य-विषमता के होते हुए भी उनका दूध (आन्तरिक गुण) एक-सा बताया है—

जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये। पेटहि काहे न सुनति कराये ।।
कारी पियरी दूहहु गाई। ताकर दूध देहु बिलगाई ।। बीजक : रमैनी ६२

पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों के बल पर ब्राह्मण का जन्म उच्च कुल में हुआ है, इसे सन्त स्वीकार नहीं करते। हाँ, एक बार हरि नाम के भुला देने से जुलाहा होने की बात उन्हें स्वीकार्य है। अस्पृश्यजनित हीनता की भावना किसी भी सन्त में नहीं दिखलाई पड़ती और न वे इसके शिकार हुए हैं; क्योंकि सन्त, सवर्णों के खोखले आचारों से भलीभाँति परिचित थे और उन्हें तपे कुन्दन से अपने आचरण एवं आन्तरिक शुद्धता पर पूर्ण विश्वास था। तभी तो चुनौती के स्वरों में समान-स्तर पर खड़े होकर वे कहते हैं—'तू बांभन मैं कासी का जोलहा, बूझहु मोर गियाना' या 'नीचे से प्रभु ऊँच कियो है कहि रैदास चमारा।' इस प्रकार अनेक सन्त, पूर्ण तुष्टि के साथ निम्नवर्गीय चेतना का नेतृत्व करते हैं।

सन्तों की नैतिकता—सन्तों की दृष्टि में सांसारिकता, स्वार्थ-भावना और बैकुण्ठ की वासना आदि, उस चैतन्य भावोपलब्धि के मार्ग में बाधा डालने वाली है। जब सन्त लोकाचार के त्याग की बात कहते हैं तो उसका अभिप्राय नैतिकता एवं सदाचार से न लगाकर, उसके आधार-स्वरूप स्वार्थवृत्तियों के त्याग से लेना चाहिये, जिसके क्रोड़ में अनैतिकता का लालन-पालन होता है। नाथों की भाँति सन्त 'घर बार की माया छोड़ने, एकाकी रहने वाले को ही सिद्ध समझने, गृहस्थ के ज्ञान को अमान्य ठहराने, स्त्री के साथ रहने वाले पुरुष की अवस्था नदी के तट पर उगे पेड़ की भाँति मानने, एवं घर-बार एवं बन्धु-बान्धवों के छोड़ने वाले' आदि बातों का पालन साधना के लिए अनिवार्य नहीं मानते।[१] सन्त कवि घरबारी होकर भी 'पूरे सूं परचा पाने' के लिए पूर्ण आश्वस्त है। वह हृदय की शुद्धता एवं आत्मा की निर्मलता के बल पर पूर्णता की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है। वह सभी जीवों में आत्मैक्य भाव देखता है। सब में अपने प्रभु का निवास देखता हुआ प्राणि-मात्र की कल्याण-कामना करता है।

---

[१] **गोरखबानी—पृष्ठ** ६१, ७१, १३८, १४०।

सन्त-धारणा—सन्त जागतिक-द्वन्द्वों से मुक्ति का परम अभिलाषी है। सन्त-जीवन का प्रमुख लक्ष्य जीवन-मरण की आशंका, स्वर्ग-नरक की भावना एवं पाप-पुण्य की भेद-भावना से ऊपर उठना है। वह जीवन के प्रसार-विस्तार एवं उन्नति का अभिलाषी है। जीवन के प्रति सम्मान-भाव रखने के कारण वह काया-कष्ट को गर्हित समझता है। आत्म-सम्मान की भावना से वह अपनी जीविकोपार्जन का भार भी समाज पर नहीं डालना चाहता। उसे अपने पसीने की गाढ़ी कमाई पर पूर्ण आस्था होने के कारण वह 'मधूकरी' को नियामतों से कम नहीं समझता। सन्तों की विशेषता इसी में है कि वह घर के जंजालों में लगे रहकर भी उनसे अपने को निर्लिप्त रखें। वे संसार के सामान्य कर्मों में लगे रहकर भी अपना प्रत्येक क्षण लोकातीत आनन्द में बिताते थे और रागयुक्त जीवन की क्षुद्रताओं से निर्लिप्त रहकर निरन्तर सत्य के प्रयोगों में निरत रहते थे। सन्त-साहित्य की प्रमुख धारणा, साध्य के प्रति पूर्ण ईमानदारी और साधन-साध्य की नैतिकतापरक चेतन-भावना है। नैतिकता के निर्वाह के साथ सहज जीवनयापन करते हुए आनन्द-प्राप्ति के लिए सन्त सचेष्ट है। नैतिकता को वह मात्र परम्परागत अन्धानुकरण न मानकर आत्मगत चैतन्य के रूप में ग्रहण करता है। वह प्राणि मात्र की कल्याण-कामना से ओत-प्रोत एवं जीवन के प्रति दृढ़ आस्थाशील है। व्यक्ति की पूर्णता में उसे सामाजिक पूर्णता के दर्शन होते हैं। आध्यात्मिक पूर्णता ही उसकी दृष्टि में श्रेष्ठ आचार है। चैतन्यहीन नैतिकता को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। सन्त, वैयक्तिक जीवन का सामञ्जस्य सार्वभौम-चेतना के साथ करने का दृढ़ अभिलाषी है। वह लोकाचारों का देखा-देखी पालन न करके उसे अपने अनुभव की कसौटी में भलीभाँति कसने पर ही आचरण का अंग बनाने का समर्थक है। सगुण भक्त की भाँति सन्त में 'घिघियाने' की आदत नहीं, क्योंकि वह स्वयं को अपना विधायक मानता है। उसे अपनी सुपरीक्षित साधना में पूर्ण विश्वास है। वह अपने मानव-जीवन को महत्व की दृष्टि से देखता है, अतः वह यों ही सुखा-सुखाकर नष्ट कर देने की वस्तु नहीं। यह जीवन, जो समस्त धर्म-साधनों का कारण है, न तो महत्वहीन है न नगण्य। यही कारण है कि सन्त-साहित्य में आर्तभाव की गिड़गिड़ाहट एवं दैन्यभाव के प्रकाशन के स्थान पर हमें आत्माभिमान एवं आत्म-विश्वास की दृढ़-भावना मिलती है। 'सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कीन चदरिया। दास कबीर जतन ते ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया'—में उक्त कथन की चरितार्थता स्पष्ट है।

लोक-धर्म—आध्यात्मिक जीवन को सफल बनाने के लिए सन्त कवि अपना सर्वांगीण विकास करना परमावश्यक समझते हैं एवं प्रत्येक स्थिति में अनुभूति,

अभिव्यक्ति एवं आचरण, जो मनसा वाचा कर्मणा का ही पर्याय है—में पूर्ण संगति बनाये रखना अपेक्षित मानते हैं। आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में स्वानुभूति का विशेष महत्व है, क्योंकि व्यक्तिगत साधना के बल पर ही आदर्श मानव-समाज का निर्माण सम्भव है और उसी से अन्ततः विश्व-कल्याण भी सम्भव है तथा पृथ्वी पर स्वर्ग को उतारने की स्वप्न संसिद्धि भी इसी के द्वारा हो सकती है। सन्तों का धर्म एक प्रकार से विश्व-धर्म है। उनका जीवन सच्चे अर्थ में गीता के स्थित-प्रज्ञ का जीवन था। सन्त, लोक-धर्म के संस्थापक थे। उन्होंने बड़ी निर्भीकता से हिन्दू और मुस्लिम दोनों के कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र एवं आचार-अनुष्ठान की व्यर्थता बताकर धर्म के मौलिक तत्व और उसके सत्य स्वरूप की ओर जग का ध्यान आकृष्ट किया एवं विभिन्न धर्मों को एकसूत्र में बाँधने की सराहनीय चेष्टा की। सब प्रकार के कर्मकाण्ड, वर्ग और वर्ण-भेद से परे सन्तों का धर्म, मानव मात्र के लिए कल्याणकारी सात्विक आचरण ही है।

आन्तरिक-शुचिता—सन्त-साहित्य को हम केवल उपदेशमूलक नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार काव्य रचने वालों के व्यक्तित्व में अखण्ड ईश्वर-भक्ति का अभाव होता है जबकि सन्तों में इसी गुण का वैशिष्ट्य था। सन्तों ने सदाचारपूर्ण लौकिक जीवन व्यतीत करने की कोरी शिक्षा ही नहीं दी, वरन् उसे स्वयं अपने जीवन में भी उतारा। सन्तों के सहज धर्म की आधार-शिला हृदय की पवित्रता अथवा आन्तरिक शुद्धता पर आश्रित है। जब तक हृदय शुद्ध, निष्कलुष एवं सब प्रकार की वासनाओं से मुक्त होकर सात्विक आचरणशील नहीं बन जाता, तब तक ईश्वरानुभूति की क्षमता उसमें नहीं आ सकती। वासनाओं से मलीन मन रूपी चुनरी को तन की कूँड़ी बनाकर ज्ञान के 'सउंदन' से सत्गुरु रूपी धोबी के द्वारा सुरति की शिला में धुलाना परम आवश्यक है, तभी उसमें ज्योति का पारावार फूट सकता है—

गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरति-सिला पर धोइए, निकसै जोति अपार॥[1]

नैहर (संसार) में लगे चुनरी के दाग़ को सत्गुरु रूपी रंगरेज ही मिटा सकता है—

नैहर में दाग लगाय आई चुनरी।
ऊ रंगरेजवा के मरम न जानै, नहिं मिलै धोबिया कवन करै उजरी॥
तन कै कूड़ी ग्यान कै सउंदन, साबुन महंग बिकाय या नगरी॥

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ १२०।१६।

पहिरि ओढ़ि के चली ससुरिया, गौवाँ के लोग कहैं बड़ी फुहरी ।।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, बिन सत्गुरु कबहूँ नहिं सुधरी ।।[1]

सन्तों के मत से बिना हृदय की शुद्धता के भगवान् की प्राप्ति असम्भव है—'हरि न मिले बिन हिरदै सूध ।' उनके अनुसार आचरण-शुद्धता मनुष्य का नैसर्गिक स्वरूप है। वह मानव का सहज-धर्म है। आत्मानुभूति ही परम तत्वानुभूति है, अकेला ज्ञान निरर्थक है, विच्छिन्न कर्म, भ्रम स्वरूप है अत: आन्तरिक भावना की आलोकदायिनी प्रेरणा से उद्दीप्त जीवन के कर्म ही सदाचरण हैं और वही भक्ति के विधायक हैं। आत्मस्वरूप का साक्षात्कार ही स्वानुभूति है। सन्त, अन्तरात्मा को जीवन का विधेयक तथा अनुमापक मानता है। मानवीय वृत्तियों के परिष्कार को ही सन्त ने सहज और स्वाभाविक माना है और उसकी वास्तविक प्रकृति को विकार-जन्य। इसीलिए उसकी सांस्कृतिक चेतना, मूर्ति चित्र और संगीत में अभिव्यक्त नहीं हो सकती। कृत्रिमता का वह सबल विरोधी है। जाति धर्म-व्यवस्था, सम्पत्ति, धर्माचरण, दृढ़ रूढ़विधि-विधान को वह सहज ही छोड़ सका था। सत्य के सहज आलोक को देख सकने में सन्त समर्थ हो सका था जो साधनाभिव्यक्ति, भक्ति योग मूलक अनुभूतियों को आलोकित कर सकने में समर्थ हुआ। अन्तरात्मा की स्वच्छता में ही सत्य के सहज आलोक की झाँकी मिल सकती है। अतः इस दर्पण को स्वच्छ रखना आवश्यक है—

जौ दरसन देख्या चहिये, तौ दरपन माँजत रहिये।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ।।

धर्म के दो रूप विधि और निषेध—आचारों की सात्विकता एवं आन्तरिक शुचिता पर ही विचारों की शुद्धता निर्भर है। यही कारण है कि विचारशून्य हो जाने पर धर्म एवं आचार, विकारग्रस्त हो जाते हैं। 'आपहि आप विचारिये, तब केता होय अनंद रे'—के आधार पर सन्त-प्रवर कबीर ने सहज धर्म की प्रमुख विशेषता, विवेकशीलता या विचारत्मकता ही मानी है। इसी से प्रत्येक धर्म में आचारों के विस्तुत विधि-निषेध प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें हम क्रियात्मक और ध्वंसात्मक रूप कह सकते हैं। आध्यात्मिक-भावना के क्रियात्मक रूप से आध्यात्मिक जीवन को प्रोत्साहन मिलता है। विधि रूप में पाये जाने वाले नैतिक आचरणों में क्षमा, दया, दाक्षिण्य, धैर्य, सन्तोष, परोपकार, अहिंसा, भक्ति, विश्वास और विवेकशीलता आदि हैं। निषेधात्मक आचरण जिससे कुरुचिपूर्ण भावनाओं को ध्वंस कर और उनका अनुसरण न कर आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया जा सकता है—जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, कपट,

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ११६।१३२।

माया, तृष्णा, कनक, कामिनी, निन्दा, मद्य-मांस-मैथुन का सेवन, तीर्थ-व्रत और देवी-देवताओं की पूजा। आध्यात्मिक भावना में मुख्य-मुख्य जिन अंगों पर सन्तों ने प्रकाश डाला है, उनका विवरण निम्नलिखित है—

(१) क्रियात्मक—सत्पुरुष (निराकार ईश्वर) नाम-स्मरण, अनहद शब्द, भक्ति, सुरत, विरह, पतिव्रता-प्रेम, विश्वास, 'निजकरता को निर्णय,' सत्संग, सहज, 'सार-गहनी,' मौन, परिचय, उपदेश, 'साँच,' उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक, गुरुदेव, आरती।

(२) ध्वंसात्मक—चेतावनी, भेष, कुसंग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, कपट, आशा, तृष्णा, मन, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निन्दा, स्वादिष्ट आहार, माँसाहार, नशा, 'आनदेव की पूजा,' तीर्थ-व्रत, दुर्जन आदि।[१]

सन्तकालीन समाज की धार्मिक भावनाएँ रूढ़ और परम्परागत रहीं। सामान्य जनता विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों में फँसकर हीन जीवन बिता रही थी। विजातीय धर्म-परिवर्तन के बाद भी संस्कार ज्यों के त्यों बने रहे। अन्धविश्वास एवं झाड़-फूँक आदि चमत्कारों के प्रति ममता शेष रही। अतः सन्तों ने मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी और हिन्दुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थ-व्रत, मन्दिर आदि सब का तीव्र विरोध किया और दोनों धर्मों की इस वाह्याडम्बर-जनित अन्ध-श्रद्धा के लिए तीव्र भर्त्सना की। उच्चकुलोद्भव व्यक्ति यदि कर्मों से हीन है तो वह भी सन्तों की दृष्टि में स्वर्णकलश में भरी मदिरा के समान है और उच्च कर्म से सम्पन्न निम्नकुलोद्भव व्यक्ति भी सम्माननीय है। इस प्रकार उच्चता और नीचता का विधायक, वैयक्तिक कर्म है। शास्त्र-ज्ञान को भी सन्त उच्चता की कसौटी नहीं मानते, क्योंकि ये किसी व्यक्ति की अनुभव राशि होने पर भी देशकाल की सीमा से बद्ध हो जाने पर अपनी पूर्णता और प्रगतिशीलता खो बैठते हैं। सन्तों ने वर्ग, जाति आदि संकीर्ण साम्प्रदायिकता का खण्डन किया और कहा कि मनुष्य मूलतः और तात्विक रूप में एक है। वह एक की विभिन्न रूपाकृतिगत अभिव्यक्ति है। प्रायः सभी सन्तों ने जाति एवं धर्मगत भेदभावों की निन्दा की है तथा एक सामान्य मानव धर्म की मान्यता पर विशेष बल दिया है। कबीर ने अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' कहा है तथा पञ्चतत्व रचित अपने शरीर में अदृश्य भाव से किसी देवता की लीला चलने की बात कही है। दादूदयाल के मत से, अन्तर में जो मसजिद या मन्दिर है, वहीं आठ पहर चौसठ घड़ी परम प्रभु की पूजा चलती

---

[१] डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २६६।

रहती है। अहर्निश ब्रह्मानन्द रस में लीन रहने के कारण उन्होंने सहज-भाव से ईश्वर का स्मरण, उसके परम रूप का ध्यान, अजपा-जाप, अनहद नाद का श्रवण एवं समाधि आदि को प्रमुखता दी है तथा मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, रोजा-नमाज आदि को निस्सार बताया है।

सन्त स्वभाव की विशेषताएँ—मानव व्यक्तित्व के विकास के दो पक्ष माने गये हैं—मात्रा मूलक और गुणात्मक। वैयक्तिक चेतना का असंख्य संवेदनाओं और बोध दशाओं में प्रसरित होना, मात्रा मूलक एवं सांस्कृतिक अनुभव के उच्च एवं निम्न स्तरों में भेद करके क्रमशः नीचे से उठकर उर्ध्वमुख होना, गुणात्मक पक्ष है जिनकी परिणति मोक्षधर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति में फलित होती है। यह वृति दो रूपों में व्यक्त होती है—विरक्ति एवं त्यागपूर्ण उदार भावना में। "जिस सीमा तक मनुष्य, निम्नकोटि के मूल्यों के अन्वेषण से विरत होता है, वहीं तक वह अपने को उच्च सांस्कृतिक मूल्यों के प्रत्यक्षीकरण और उत्पादन के योग्य बनाता है। जिसे हम सन्त कहते हैं, वह दुनिया की सीमित अस्थायी उपलब्धियों के प्रति पूर्णतया उदासीन होता है और उसकी कल्पना स्वच्छन्दतापूर्वक एक ऐसे तत्व की कल्पना करती रहती है जो अनन्त, रहस्यमय मूलवत्ता का अधिष्ठान है।"[1]

प्रतिभा—जहाँ अधिकांश मनुष्य रूढ़िवादी और भीरु होते हैं, वहाँ मानव-प्रकृति मूलतः प्रसरणशील एवं सृजनोन्मुख होती है। प्रतिभाशाली दो प्रकार से मानवीय चेतना का विस्तार करता है। प्रथमतः, वह उसकी बीज रूप में वर्तमान शक्तियों का विकास करता है और दूसरे, वह उन प्रतिबन्धों को निरोध द्वारा हटाने में सहायक होता है जो अस्वाभाविक है। अनेक क्रान्तिकारी प्रतिभाएँ सामान्य हृदय की ज्यादा अच्छी प्रतिनिधि होती हैं उन रूढ़िवादी लोगों से जो परम्परा का पक्ष लेते हैं। इसका कारण उसका साहसी और प्राणवान् स्वभाव होता है जो सामाजिक सुरक्षा के मामूली नियमों की परवाह नहीं करता और सब प्रकार के दम्भ का विरोध करता है।

विद्रोह के अन्तर्नियम—श्रेष्ठतम सांस्कृतिक सृष्टियाँ सामाजिक माँगों का परिणाम नहीं होतीं, वे अपनी उत्पत्ति के बाद सामाजिक माँग पैदा करती हैं। विद्रोह और क्रान्ति, एक से जान पड़ते हुए भी कुछ भिन्न है। जहाँ विद्रोही अपने कार्य व्यापारों में समाज का हस्तक्षेप नहीं सहन कर सकता और अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का अभिलाषी होता है, वहाँ क्रान्तिकारी अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके ही नहीं रुक जाता, वरन् स्वयं समाज को अपने सपनों के अनुरूप ढाल

---

[1] डॉ० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ ३४।

देने का आकांक्षी होता है। इस प्रकार क्रान्तिकारी एक ज्यादा कर्मठ विद्रोही होता है। विद्रोही का लक्ष्य अस्वाभाविक एवं अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धों को हटाना होता है। उसकी क्रान्तदर्शिनी दृष्टि स्वीकृत मान्यताओं तथा चिन्तन-प्रकारों को भेदकर सीधे यथार्थ से सम्पर्क स्थापित करती है। उसकी आवेगमयी प्रकृति वस्तु-सत्ता के सम्बन्ध में सुनी-सुनाई बातों को ग्रहण करके सन्तुष्ट नहीं हो जाती। वह किसी सिद्धान्त से तब तक सन्तुष्ट नहीं होता जब तक कि वह सिद्धान्त उसके अपने अनुभूत यथार्थ की परिपूर्ण व्याख्या न करे। यदि एक प्रतिभाशाली किसी प्राचीन, स्वीकृत सिद्धान्त को मान्यता नहीं दे पाता तो उसका कारण यह नहीं होता कि वह स्वयं अपनी मौलिकता को प्रमाणित करने के लिए अधीर है, बल्कि यह कि स्वीकृत सिद्धान्त उस यथार्थ की ठीक व्याख्या नहीं करते जिसे प्रतिभाशाली ने स्वयं अपनी अनुभूति में प्रत्यक्ष किया है। प्रतिभाशाली, अवमति तथा संवेदना का तीव्र केन्द्र होता है और वह अधिक सूक्ष्म तथा समृद्ध जीवन-रूपों को अभिव्यक्ति देने वाला होता है। उस पर प्रतीक-बद्ध मान्यताओं का उतना अधिक प्रभाव नहीं होता और वह अपनी भावनाओं का उतना दमन नहीं करता। यही कारण है कि उसके लिए परम्परा को छोड़ देना अपेक्षाकृत सरल होता है। वस्तुतः प्रतिभाशाली में देखने तथा महसूस करने की शक्तियाँ इतनी विकसित होती हैं और उसकी अतीत ज्ञान-राशि एवं संस्कृतियों को ग्रहण करने की क्षमता इतनी अधिक होती है कि वह सम्भवतः अपने को एक वर्ग की चेतना की परिधि में सीमित नहीं रख सकता। अक्सर प्रतिभाशाली अपने ही वर्ग की जरूरतों तथा मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है।

गुरु द्वारा मार्ग-दर्शन—पिछले पृष्ठों में जिस विधि-निषेध की विस्तृत सूची दी गई है, उसका वास्तविक ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक गुरु का कृपापूर्ण मार्ग-दर्शन न प्राप्त हो। गुरु ही साधक में आध्यात्मिक उत्तेजना जगाकर प्रत्यावर्तन के पथ की ओर अग्रसर करता है। यही कारण है कि सन्त-सम्प्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। उसे गोविन्द से भी बड़ा बताया गया है, क्योंकि गोविन्द से साक्षात्कार गुरु के निर्देशन द्वारा ही सम्भव है। साधक जब साधना-पथ की ओर बढ़ता है, उस समय एक ऐसे पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है जो स्वयं उस यात्रा को पूर्ण कर चुका हो तथा पथ की सुख-सुविधाओं एवं कठिनाइयों से परिचित हो। यदि हम किसी वस्तु की खोज कर रहे हों और वह हमारे खोजने की विपरीत दिशा में पड़ी हो तो उसका मिलना कैसे सम्भव है? उसे तो तभी पाया जा सकता है जब कि कोई 'भेदी' साथ में हो। इसी प्रकार साधक के हृदय रूपी भूमि में अध्यात्म का जो बीज पहले से रहता है,

उसका पल्लवित-पुष्पित होना तभी सम्भव है जब गुरु यथावसर उपदेश रूपी वृष्टि से उसे सींच दे।[1]

गुरु की महिमा—प्रायः सभी सन्त कवियों ने प्रारम्भ में ही 'गुरुदेव कौ अंग' में गुरु के प्रति अपनी अमित श्रद्धा प्रकट की है। कबीर कहते हैं—गुरु का गौरव असीम है। उन्होंने अनन्त उपकार किया है। मेरे अगणित ज्ञान-चक्षुओं को खोलकर असीम के दर्शन कराने का श्रेय उन्हीं को है। मैं लौकिक मान्यताओं और वेद के पीछे लगा चला जा रहा था किन्तु सामने सद्गुरु मिल गये। उन्होंने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया। सद्गुरु ने चैतन्य की चौकी पर बैठकर (स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर) धैर्य प्रदान किया। अब मैं निर्भय और निःशंक होकर प्रभु का भजन करता हूँ।[2] हरि के रूठने पर तो गुरु की शरण में जा सकते हैं किन्तु गुरु के रूठने पर हरि भी सहायता नहीं पहुँचाते। नानक के मत से गुरु की वाणी ही आदि शब्द है और वही वेद है, क्योंकि गुरु के मुख में परमात्मा स्वयं निवास करता है। गुरु-उपदेश के श्रवण से साधक की बुद्धि में ऊँचे से ऊँचे आध्यात्मिक गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं, योग की युक्ति और घट के रहस्य खुल जाते हैं। उसे सुनने से चित्त का निरोध होकर उसका सहज-ध्यान लग जाता है, अन्धे को भी रास्ता सूझ जाता है, वह (साधक) अथाह का भी थाह पा जाता है।[3] दादूदयाल के कथनानुसार असल गुरु स्वयं भगवान् है और लौकिक गुरु उपलक्ष्य मात्र। अगर वे स्वयं दया कर अपने को अभिव्यक्त न करें तो किसमें इतनी शक्ति है कि उनका ज्ञान करा दे। वे लौकिक गुरु को ही उपलक्ष्य मानकर अपना काम करा लेते हैं। गुरु के साथ साधक का सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है। वे हृदय के भीतर प्रेम की ज्योति जलाकर सब कुछ प्रत्यक्ष कर देते हैं। दादू के गुरु सभी दल, सभी सम्प्रदाय, गुण और आकार से अतीत है।[4] गुरु अंगद का कथन है कि यदि सौ चन्द्र उदय हों और सहस सूर्य भी आकाश पर चढ़ जायें, तो इतने प्रचण्ड प्रकाश में भी बिना गुरु के घोर अन्धकार ही छाया रहेगा—

> जे सउ चन्दा उगवहि, सूरज चड़हि हजार।
> एते चानरण होदिआ, गुर बिनु घोर अंधार॥
>
> —सन्त सुधासार, पृष्ठ २५६

---

[1] सन्तबानी संग्रह १, पृष्ठ १२५।

[2] कबीर ग्रन्थावली—गुरुदेव कौ अंग, साखी ३, ११, २३।

[3] सन्त सुधासार—गुरु नानक देव, पृष्ठ २१२-१५।

[4] आचार्य क्षितिमोहन सेन—दादू और उनकी धर्म-साधना, पृष्ठ ११२ (पाटल सन्त विशेषांक, भाग १)।

गुरु के आध्यात्मिक संस्पर्श से साधक में एक ऐसी सुस्थिर विवेकशीलता उत्पन्न हो जाती है कि वह सहज ही में यह निर्णय कर लेता है कि कौन-सी वस्तु ग्रहणीय है और कौन सी त्याज्य[१]। विधि-निषेध के आचारों में आध्यात्मिक आकर्षण का अनुभव करते हुए वह उसके क्रियात्मक पक्ष को अपनाकर निषेधात्मक पक्ष को छोड़ देता है। इस प्रकार की निर्णय-बुद्धि के आ जाने पर, संसार की ओर से एक प्रकार की विरक्ति की भावना आ जाना स्वाभाविक है। यदि अब भी सांसार से पूर्णतः मोह न छूटा हो तो समझना चाहिये कि अभी सच्चे गुरु से भेंट नहीं हुई, अभी उस प्राथमिक स्थिति से छुटकारा नहीं मिल सका और न वह क्षमता आ सकी जो अध्यात्म के गुरु गौरव-भार को वहन कर सके।

सन्त कवियों के विश्वासों की प्रथम भूमिका ध्वंसात्मक है। उन्होंने सभी धर्मों के समस्त अन्धविश्वासों, पाखण्डों, एवं वाह्याडम्बरों का चकनाचूर कर देने वाली भाषा में तीव्र विरोध किया है। इन सन्तों ने वाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्यों का खण्डन किया है, उसकी एक दीर्घ परम्परा है। कबीर से छः-सौ वर्ष पूर्व सिद्ध सरहपाद ने कहा था—

> ब्राह्मणहिं ना जानन्ता भेद। यों ही पढ़ेउ ये चारों वेद॥
> माटि पानि कुश लिये पढ़न्त। घरही बइठो अग्नि हो मन्त॥
> कार्य बिना ही हुतवह होमें। आँखि उहावै कड़ुये धूयें॥[१]

इसी प्रकार दिगम्बर जैन साधुओं के मलिन वेश धारण करने, नग्न फिरते और केश-लुञ्चन करने पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—

> यदि नंगाये होइ मुक्ति तो शुनक-शृगालहु।
> लोम उपाटे होइ सिद्धि तो युवति नितम्बहु॥
> पिच्छि गहे देखेउ जो मोक्ष तो मोरहु चमरहुँ।
> उञ्छ-भोजने होइ ज्ञान तो करिहु तुरंगहुँ॥
> सरह मने क्षपणकी मोक्ष, मोहि तनिक न भावइ।
> तत्व-रहित काया न ताप, पर केवल साधइ॥[२]

तन्त्र-मन्त्र, तीर्थ-सेवन एवं शास्त्रादि के पठन-पाठन की व्यर्थता बताते हुए सरह कहते हैं—

> की तेहि तीर्थ तपोवन आई। मोक्ष कि लभियहि पानि नहाई॥
> सोइ पढ़िज्जइ सोई गुणिज्जइ। शास्त्र-पुराणे बक्खानिज्जइ॥

---

[१] राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित—हिन्दी काव्य-धारा : पाखण्ड-खण्डन (छाया), पृष्ठ ५।

[२] वही।

नहिं सो दीख जो तब न लक्खइ । एकहि वर गुरु पादे पेखइ ।।[१]
मन्त्र न तन्त्र न ध्येय न धारण । सबई रे मूर्ख विभ्रम कारण ।।[२]

जैनमुनि रामसिंह ने अपने ग्रन्थ 'पाहुड-दोहा' में वाह्याचारों की तीव्र भर्त्सना की है । उनका कथन है कि देवालय में पाषाण है, तीर्थ में जल और सब पोथियों में काव्य है । जो वस्तु फूली-फूली दिखती है, वह सब इंधन हो जायगी । एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ का भ्रमण करने से कुछ फल न हुआ । बाहर तो पानी से शुद्ध हो गया पर अभ्यन्तर का क्या हाल हुआ ? 'हे मूर्ख ! तीर्थ-भ्रमण करके तूने अपने चमड़े को जल से धो लिया पर इस मन को जो पाप रूपी मल से मैला है, किस प्रकार धोयेगा । हे मुंडी ! तूने सिर तो मुड़ाया पर अपने मन को न मूँड सके । जिसने अपने मन का मुण्डन कर डाला, उसने संसार का ही खण्डन कर डाला । जिस प्रकार आवरण के बदलने से सर्प का विष नहीं जाता उसी प्रकार वाह्य-वेष के परिवर्तन से चित्त की शुद्धि नहीं होती । हे जीव ! तू आत्म-स्वभाव को छोड़कर विषयों का सेवन करता है, इससे तेरी दुर्गति होती है । जब न मन्त्र, न तन्त्र, न ध्येय, न धारण, न उच्छ्वास का कारण किया जाता है, तब मुनि परम सुख से सोता है । यह गड़बड़ किसी को नहीं रुचती । अन्यत्र वे कहते हैं—विषय-कषाय में जाते हुए मन को जिसने रोककर निरंजन में लगा रखा, उसी ने मोक्ष के कारण का अनुभव किया, क्योंकि यही मोक्ष का स्वरूप है ।[३] इन्हीं विद्रोही स्वरों में गुरु गोरखनाथ ने भी कहा है—

देवल जात्रा सुंनि जात्रा, तीरथ जात्रा पाणीं ।

× × ×

अवधू मन चंगा तौ कठौती ही गंगा । बाध्या मेल्हा तौ जगत्र चेला ।।

× × ×

पूजा-पाठ की व्यर्थता—

पषांण ची देवली पषांण चा देव, पषांण पूजिला कैसे फीटोला सनेह ।
सरजीव तोड़िला निरजीव पजिला, पाप ची करणीं कैसे दूतर तिरीला ।।
तीरथि तीरथि सनांन करीला, बाहर धोये कैसे भीतरि भेदीला ।
आदि नाथ नाती मछीन्द्रनाथ पूता, निज तात निहारै गोरष अवधूता ।।[४]

---

[१] राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित—हिन्दी काव्यधारा : पाखण्ड-खण्डन (छाया), पृष्ठ ५ ।

[२] दोहाकोश : गीति (छाया), ४३ ।

[३] मुनि राम सिंह—पाहुड-दोहा १६१, १६२, १६३, १३५, १५, २०५, २०६, ६२ ।

[४] सन्त सुधासार—पृष्ठ ३२, ३३, ३६ ।

कबीरदास जी ने अपने समय की बाह्याचारबहुल आचरणपरक उपासना का उल्लेख करते हुए कहा है—

इक जंगम इक जटाधार इक अंग विभूति करै अपार।
इक मुनियर इक मनहूँ लीन, ऐसे होत होत जग जात खीन ॥
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे वधै जीव ॥—पद ३८०

× × ×

इक पढ़हि पाठ इक, भ्रमैं उदास इक नगन निरन्तर रहैं निवास।
इक जोग जुगति तन हूहि खींन, ऐसे रांम नांम संगि रहैं न लीन ॥
इक तीर्थ ब्रत करि काया जीति, ऐसे रांम नांम सूं करैं न प्रीति।
इक धोम घोटि तन हूंहि स्यांम, यं मुकति नहीं बिन रांम नाम ॥—३८६

× × ×

पण्डित माते पढ़ि पुरांन, जोगी माते धरि धियांन।
सन्यासी माते अहमेव, तपा जु माते तप मेव ॥—३८७ [१]

उन्होंने हिन्दू धर्म सम्बन्धी पौराणिक ग्रन्थों एवं वेदादि स्मृतियों की निन्दा करते हुए पूजा-पाठ की भी व्यर्थता सिद्ध की है। वेद-पाठ के विषय में उनका कथन है कि वेदचतुष्टय का अध्ययन करते-करते सारा संसार धोखे में पड़ जाता है और अन्धश्रद्धा के बन्धन में बँध जाता है।[२]

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—क्या पढ़ा जाय, क्या गुना जाय और क्या वेद पुराण सुना जाय ? पढ़ने और सुनने से क्या होता है यदि स्वाभाविक रूप से उस ब्रह्म से मिलन न हो। ऐ गँवार, तू हरि का नाम नहीं जपता, बारबार क्या सोच रहा है ?[३] कबीर ने वेदशास्त्र की मर्यादा, जप-तप, तीर्थ-व्रत, श्राद्ध, वर्ण-भेद, अस्पृश्यता आदि वाह्याचारों की तीव्र निन्दा की है तथा हिन्दू और मुसलमान, दोनों को खरी-खरी सुनाई है। स्वभाव से ही विद्रोही कबीर ने खोखले लोकाचारों एवं रूढ़ियों पर तीव्र व्यंग्य किये हैं जो तिलमिला देने वाले हैं। शास्त्र-व्यवसायी पण्डितों की दशा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—ये दुराग्रही, वेद-स्मृति आदि का पाठ करते हैं, पाखण्ड फैलाते हुए अहंकार करते हैं, स्वयं अपनी प्रशंसा करते

---

[१] कबीर ग्रन्थावली—पद ३८०, ३८६, ३८७।

[२] वही—पद ४७।

[३] सन्त कबीर—रागु सोरठि ७।१।

हैं, संशय की ग्रन्थि फिर भी नहीं खुलती। शास्त्र पढ़कर जीवों का वध करते हैं और सजीव का मस्तक काटकर निर्जीव (मूर्ति) के आगे रखते हैं। इस प्रकार आत्मभाव से कोसों दूर वे पाखण्ड में ही मरते हैं।[१] आगे वे कहते हैं—

पण्डित भूले पढ़ि गुनि बेदा, आपु अपन-पौ जानु न भेदा।
संझा तरपन औ षट् करमा, ई बहु रूप करहिं अस धरमा।
गाइत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछहु जाय मुकति किन पाई।[२]
पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूं रांम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चन्दन जैसे भारा।
रांम नांम तत समझत नांहि, अन्ति पड़ै मुखि छारा॥[3]

वे लोक-वेद और कुल की मर्यादा को गले की फाँसी समझते हैं। सारा संसार खोजकर देख चुके, भगवान् के बिना सब अज्ञान ही है। छः दर्शन और छानबे पाखण्ड में ही सब लोग व्याकुल हैं, भगवान् को कोई नहीं जानता ? जप, तप, संयम, पूजा, अर्चना, ज्योतिष् आदि में सब लोग पागल हो रहे हैं, ढेरों कागज काला करके सारा संसार उसी में भूला हुआ है।[४] यहाँ पर कबीर के कतिपय ध्वंसात्मक उद्‌गार उन्हीं की जलती शब्दावली में प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

जिस कारनि तटि तीरथि जांही, रतन पदारथ घट ही माहीं।
पढ़ि पढ़ि पण्डित वेद बषांणैं, भींतरि हुती बसत न जांणै॥४२॥

एक बूंद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति थे सब उतपनां कौन बांम्हन कौन सूदा॥५७॥

तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहूठां रांम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांहीं, तहाँ काकी ठकुराई॥५८॥

सकति से नेह पकरि करि सुनति, यहु न बदूंरे भाई।
जौर षुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई॥
हौं तौ तुरक किया करि सुनेति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै आधा हिन्दू रहिये॥५६॥

---

[१] कबीर बीजक—टीका बिचारदास, रमैनी ३१, पृष्ठ ४४।
[२] वही—रमैनी ३५।
[3] कबीर ग्रन्थावली—पद ३६।
[४] वही—पद ३४।

नागें फिरें जोग जो होई, बन का मृग मुकति गया कोई।
मूंड मुंडाये जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई॥
व्यन्द राखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरे कौण परम गति पाई॥१३२॥
जौर खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा।
तीरथ भरति रांम निवासा, दुहु में किनहूँ न हेरा।
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकामां।
दिल ही खोजि दिलै दिल, भींतरि इहाँ रांम रहिमांनां॥२५६॥[1]
जो तू करता बरन-विचारा, जनमत तीनि-डण्ड अनुसारा।
जनमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा, क्रितिम जनेउ घालि जग धुन्दा॥
जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाये, अवर राह ते काहे न आये॥
जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये, पेटहि काहे न सुनति कराये॥[2]

कबीर के ये झकझोर देने वाले तीव्र उद्गार जड़तामूलक न होकर पूर्ण बुद्धिवादी हैं। पढ़ते समय साफ मालूम होता है कि कहने वाला अपनी ओर से एकदम निश्चिन्त है। अगर वह अपनी ओर से इतना निश्चिन्त न होता तो इस तरह का करारा व्यंग नहीं कर सकता—'हाँ तौ तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये' अथवा 'विन्दु-धारण ही यदि विशेष महत्व रखता हो तो हिजड़े ने कौन सी परमगति पा ली' की दलील कितनी जोरदार है। इसी प्रकार का चकनाचूर करने वाली भाषा में एक अन्य उद्गार है कि 'जो तुम ब्राह्मन ब्राह्मनि जाये, अवर राह ते काहे न आये' अथवा 'यदि जल के स्नान से ही मुक्ति मिलती हो तो सर्व प्रथम इसके अधिकारी नित्य-स्नान करने वाले मेढक हैं' किन्तु वे तो निरन्तर जीते-मरते रहते हैं, अतः तीर्थ-स्नान पर अन्ध-श्रद्धा रखने वाले मनुष्यों की भी यही दुर्दशा होती है।

कबीरदास के वाह्याचार-निरूपण के विषय में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण टिप्पणी लिखा है कि—"पौराणिक हिन्दू-मत को दूर पर बैठे हुए दर्शक की भाँति ही उन्होंने देखा था। इस बात की उन्होंने कोई परवाह ही नहीं की कि उसके भीतर भी कोई आध्यात्मिक तत्व है या नहीं।...उन्होंने सुन्नत, बांग और कुरबानी आदि की खरी आलोचना की है। पर चाहे मुसलमानी धर्म के वाह्याचार का खण्डन हो या हिन्दू-मत का, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अक्खड़ योगियों की भाँति महज खण्डन के लिये खण्डन नहीं किया। उनका केन्द्रीय विचार भक्ति था। वे भक्ति को प्रधान मानते थे। उसके रहने पर वाह्याचार का

---

[1] कबीर-ग्रन्थावली—पद ४२, ५७, ५८, ५६, १३२, १३६, २५६।
[2] बीजक—टीका विचारदास, रमैनी ६२।

होना न होना गौण बात है। कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रमणात्मक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रन्थि या इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स पाया जाता है। वे मानों लोमड़ी के खट्टे अँगूरों की प्रतिध्वनि हैं, चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं है। कबीरदास के आक्रमणों में भी एक रस है, एक जीवन है, क्योंकि वे आक्रान्त के वैभव से परिचित नहीं थे और अपने को समस्त आक्रमण योग्य दुर्गुणों से मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाही का कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म-विश्वास कृपाण भी।[1]

सन्त रैदास कबीर की अपेक्षा अधिक विनम्र एवं भावुक थे। उनके विषय में भक्तमाल के रचयिता नाभादास जी ने लिखा है कि "रैदास जी ने सदाचार के जिन नियमों के उपदेश दिये थे, वे वेद शास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हें नीर-क्षीर-विवेक वाले महात्मा भी अपनाते थे। इन्होंने भगवान् की कृपा से सदेह परमगति प्राप्त कर ली थी। इनके चरणों की रेणु की वन्दना लोग अपने वर्णाश्रमादि का अभिमान त्यागकर भी किया करते थे। सन्देह-ग्रन्थि के सुलझाने में उनकी निर्मल वाणी पूर्ण क्षम है।"[2] कबीरदास जी ने 'सन्तनि में रविदास सन्त हैं', कहकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की है। रैदास-पन्थ में प्रचलित 'अष्टांग-साधन' जिसके वाह्य एवं अन्तरंग दो पक्ष हैं—में हमें आचार की एक क्षीण झलक मिलती है। वाह्य पक्ष में गृह, सेवा, सन्त, अन्तरंग में नाम, ध्यान, प्रणति, प्रेम एवं विलय, उसकी अन्तिम अवस्था के सूचक हैं जिनके द्वारा साधक ब्रह्म में लीन होकर पूर्ण सन्त बन जाता है।[3]

सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक की वाणी में कबीर की भाँति तीव्रता नहीं है क्योंकि वे समाज के निचले स्तर से न आकर संभ्रान्त खत्री परिवार की उपज थे। उनकी 'साम्य भावना' विचार-प्रसूत और करुणामूलक थी। नानक की रचनाओं में एक अत्यन्त अहम्भावहीन निरीह भक्त का परिचय मिलता है। गुरु नानक का धर्म निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक है। यह प्रारम्भ से ही एक शुद्ध व्यावहारिक धर्म रहा जिसका अनुसरण समाज में रहकर ही किया जा सकता है। उन्होंने पाखण्डों एवं वाह्याचारों का खण्डन करते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप को अपनाने के लिए कहा है। उन्हें अपने जीवन के प्रारम्भिक

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १३२, १३५, १६५।

[2] नाभादास—भक्तमाल, छप्पय ५६।

[3] पं० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २४५।

काल से ही क्रमशः इस बात का बोध होने लगा था कि धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत जो कुछ भी द्वेष या पाखण्ड की भावनाएँ दीख पड़ती हैं, वे किसी धर्म विशेष का अनुसरण करने से ही नहीं, किन्तु उसके मौलिक उद्देश्यों के न समझ सकने के कारण उठा करती हैं। अतएव, संसार में दिन-प्रतिदिन लक्षित होने वाले धार्मिक झगड़ों अथवा पारस्परिक भेद-भावों को दूरकर पूर्ण शान्ति स्थापित करने का एक मात्र उपाय मनुष्यों की उस समझ को ही सुधारना है।...इसलिए किसी धर्म का वास्तविक रूप समझते समय उसके पहले यह आवश्यक है कि उसके प्रधान लक्ष्य को ही हृदयंगम करा दिया जाय। इस प्रकार धर्म को उसके व्यापक रूप में पूरी उदारता के साथ एक बार समझ-बूझ लेने पर फिर कभी किन्हीं साधनों की विभिन्नताएँ हमें धोखा नहीं दे सकतीं।[1]

गुरु नानक ने सामाजिक कुरीतियों का खण्डन करते हुए जाति-प्रथा पर कुठाराघात किया है, क्योंकि इसी के कारण समाज में एकता के स्थान पर विशृंखलता आ जाती है। अतः उन्हें कहना पड़ा—'जाणहु जोति, न पूछहु जाती आगे जाति न है'[2]—सिख धर्म में विकासोन्मुखी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उन्होंने धर्म के मूल सिद्धान्तों को तो पकड़े रखा, किन्तु वाह्याचारों अथवा धर्म के वाह्य रूपों में परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन करते गये। इसी से यह धर्म इतना शक्तिशाली होता गया। यदि परिस्थितियों के अनुकूल इस धर्म के बाह्य रूपों में परिवर्तन होते, तो यह भी कबीर-पन्थ, दादू-पन्थ अथवा रैदास-पन्थ की भाँति एक सीमा में केन्द्रीभूत हो गया होता।[3] गुरु नानक ने बिना राम नाम के पुस्तक-व्याकरण-पाठ, त्रिकाल सन्ध्या, तीर्थ-सेवन, भस्मधारण एवं अन्य वाह्याचारों का करना व्यर्थ बतलाया है, उनकी दृष्टि में ये सारे कार्य निष्फल हैं क्योंकि ये मुक्ति न दिलाकर बन्धन में बाँधने वाले हैं।[4] जातिगत भेद भावना को व्यर्थ बताते हुए गुरु अमरदास ने एक ही ब्रह्म-बिन्दु से सब की उत्पत्ति बतलाई है—

जाति का गरब त करि मूरख गवारा। इसु गरब ते चलहि बहुत विकारा॥
चारे वरन आखै सब कोई। ब्रहमु-बिन्दु ते सभ ओपति होई॥
माटी एक सगल संसारा। बहु बिधि भाण्डे घड़े कुम्हारा॥
पंच ततु मिलि देही आकारा। घटि वधि को करै विचारा॥[5]

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ३४२।

[2] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, महला १, पृष्ठ ३४६।

[3] डॉ० जयराम मिश्र—श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृष्ठ ५५।

[4] सन्त सुधासार—पृष्ठ २४६।

[5] वही,—पृष्ठ ३०४।

सारा संसार दो विपरीत दिशाओं में जाता हुआ सत्य से दूर भ्रम में पड़ा हुआ है किन्तु उसके वास्तविक रहस्य को वही जान सका है जिसने उसकी आज्ञा का पालन किया है और सबमें उसी एक के दर्शन किये हैं । गुरु अर्जुन देव ने प्रस्तुत पंक्तियों में उसी एकात्मभाव की ओर संकेत किया है—

कोई नावै तीरथि कोई हज जाइ । कोई करै पूजा कोई सिरु निवाइ ॥
कोई पढ़ै बेद कोई कतेब । कोई ओढ़ै नील कोई सुपेद ॥
कोई कहै तुरकु कोई कहै हिन्दू । कोई बाछै भिसतु कोई सुरगिन्दू ॥
कहु नानक जिनि हुकमु पछाना । प्रेम साहिब का तिनि भेदु जाना ॥[1]

सन्त दादूदयाल कबीर की भाँति समाज के निचले स्तर से आये थे। जन्मगत अवहेलना को लेकर इनका भी विकास हुआ था, पर उस युग तक कबीर का प्रवर्तित निर्गुणवाद काफी लोकप्रिय हो गया था। नीच कही जाने वाली जातियों में उत्पन्न महापुरुषों ने अपनी प्रतिभा और भगवन्निष्ठा के बल पर समाज के विरोध का भाव कम कर दिया था। दादू ने शायद इसलिए परम्परा समागत उच्च-नीच विधान के लिए उत्तरदायी समझी जाने वाली जातियों पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नहीं किया जिसके साथ कबीर ने किया था। इसके सिवा उनके स्वभाव में भी कबीर के मस्तानेपन के बदले विनय-मिश्रित मधुरता अधिक थी। सामाजिक-कुरीतियों, धार्मिक-रूढ़ियों और साधना सम्बन्धी मिथ्याचारों पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नहीं होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र दिखते हैं।[2] भगवान् की उपलब्धि में 'भेख' (बाहरी साज-सज्जा) एक जबरदस्त बाधा उत्पन्न करता है। भेषादि की व्यर्थता बताते हुए उन्होंने कहा है—

जे तूं समझै तौ कहौं, साचा एक अलेष ।
डाल पान तजि मूल गहि, क्या दिखलावै भेष ॥
सब दिखलावै आप कूं, नाना भेष बणाइ ।
जहं आपा मेटन हरि भजन, तेहि दिसि कोइ न जाइ ॥
माया कारणि मूंड मुंडाया, यहु तौ जोग न होई ।
पारब्रह्म सूं परचा नाहीं, कपट न सीझै कोई ॥
सचु बिन साईं ना मिलै, भावै भेष बनाइ ।
भावै करवत उरध-मुखि, भावै तीरथ जाइ ॥[3]

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ३४७ ।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, चतुर्थ संस्करण १९५०, पृष्ठ १०७-८ ।

[3] दादूदयाल की बानी, भाग १, भेष को अंग १०, ११, २८, ४१ ।

दादू उस एक 'अलेख' से निरन्तर प्रीत करने के अभिलाषी हैं जहां न हिन्दुओं का देहरा है, न मुसलमानों की मसीति। उन्होंने वाह्य शक्ति की व्यर्थता के साथ-साथ भेख, मतवाद, ऋद्धि-सिद्धि, शास्त्र, तीर्थादि, पूजा-नमाज, मिथ्याचार, हिंसा, फलकामना, दुर्नीति आदि को त्यागने के लिए कहा है। साधना और संसार को दादू ने जिस खण्ड-भाव से देखा है, उसी भाव से भिन्न-भिन्न धर्मों में भी ऐक्य देखा है। खण्ड-खण्ड करके देखने से ही विभिन्न सम्प्रदायों के बीच द्वेष है। 'खण्ड-खण्ड करि ब्रह्म कौं पखि-पखि लीया बांटि। दादू पूरण ब्रह्म तजि बंधे भरम की गांठि।' दादू ने साधक के लिए समभाव रखना एवं अहं का त्याग आवश्यक माना है। उसे विनम्र होकर तथा सम्पूर्ण रूप से विश्वास रखकर भगवान् का शरणागत होना चाहिये। जप, माला, ध्यान आदि के सम्बन्ध में दादू ने कहा है कि आपाद मस्तक यह जप चलता रहता है और निखिल चराचर से पूर्ण इस विश्व में सब आकार की माला निरन्तर आवर्तित हो रही है। इसी माला से वह जप चल सकता है। साधक की सम्पूर्ण साधना का फल उसी प्रियतम की प्राप्ति है।[1] दादू का भक्त-हृदय इसीलिए नित्य यह व्याकुल प्रार्थना करता रहता है कि कुछ नहीं चाहिये, केवल तुमको ही चाहता हूँ। तुम्हारे दर्शन का अभिलाषी हूँ, तुम मुझे दर्शन दो। न मैं ऋद्धि चाहता हूँ न सिद्धि। मुक्ति की भी अभिलाषा नहीं करता। घर भी नहीं चाहता, बन भी नहीं चाहता, हे मेरे गोविन्द! मैं तो एक मात्र तुम्हीं को चाहता हूँ। हे मेरे प्राण! मैं केवल तुम्हें ही चाहता हूँ।

सन्तों ने धर्म के साधन स्वरूप शरीर को कष्ट देने की बात कभी नहीं कही वरन् सदैव उसका प्रतिकार किया है। शेख फरीद ने कहा है "कि मत तपा अपने शरीर को तन्दूर की तरह और मत जला अपनी हड्डियाँ ईंधन की लकड़ी की तरह, तेरे सिर और पैरों ने तेरा क्या बिगाड़ा है? देख, प्रीतम तो तेरे अन्दर ही स्थित है।"[2] भेषादि ग्रहण करने के सम्बन्ध में वे प्रश्नोत्तर वाची शैली में कहते हैं—"बह कौन सा शब्द है, वह कौन सा गुण है, वह कौन सा अनमोल मन्त्र है, मैं कौन सा भेष धारूँ जिससे कि मैं अपने स्वामी को बस में कर लूँ। दीनता वह शब्द है, धीरज वह गुण है, शील वह अनमोल मन्त्र है, तू इसी भेष को धारण कर, तेरा स्वामी तेरे बस में हो जायगा।"[3] सांसारिक आचार की

---

[1] पाटल—सन्त-साहित्य विशेषांक, आचार्य क्षितिमोहन सेन, दादू और उनकी धर्म-साधना, पृष्ठ ११३-४।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४२२।

[3] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४२३।

आलोचना करते हुए रज्जब जी का कथन है कि इस आचार को तो कोई देखे, पूजा में अनेक पाप करते हैं और हृदय में विचार तक नहीं करते। चौके में चीटियों तथा हाड़ी में घुन एवं चक्की में जीवों की हत्या करते हुए नहीं हिचकिचाते। पाषाण पूजने के लिए पत्तियाँ और फूल तोड़ते हैं, आरती करते समय शलभ-वृन्द भस्मीभूत हो जाते हैं और वे विचार तक नहीं करते। इन समस्त कार्यों में समस्त जीवों की हत्या करते हुए अपने सिर पर पाप का भार चढ़ाते हैं और उसे धर्म की संज्ञा देते हैं और अन्त में—

आपै दुखी औरां दुखदायक, अन्तरि राम न जान्या।
जन रज्जब दुख देहि दृष्टि बिन, बाहरि पाखण्ड ठान्या॥[१]
माला तिलक न मानई, तीरथ मूरति त्याग।
सो दिल दादू-पन्थ में, परम पुरुष सूं लाग॥
मथुरा में माला खुली, तिलक ऊतरे मन्थि।
रज्जब छूटे रामजन, पड़ि दादू के पन्थि॥[२]

दादू के सुयोग्य शिष्य स्वामी सुन्दरदास ने 'भ्रम विध्वंस अष्टक' में कहा है कि हमने षट्-दर्शन की खोज की, योगी, जंगम, शेख, सन्यासी तथा शेवड़ा (जैन सन्यासी) सब को भेष के पीछे पागल देखा। स्वयं के भ्रम विध्वंस के विषय में कहते हैं—

तौ भक्त न भावै, दूरि बतावै, तीरथ जावै फिरि आवै।
जी कृत्रिम गावैं, पूजा लावैं, झूठ दिढ़ावै बहिकावै॥
अरु माला नांवैं, तिलक बनावै, क्यों पावे गुरु बिन गैला।
दादू का चेला, भरम-पछेला, सुन्दर न्यारा ह्वै खेला॥[3]

समकालीन पाखण्डियों की तीव्र भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा है कि आसन में बैठकर, मौन धारण कर, संकेतों से बातें करते हुए कौन सिद्ध हो सका है। कोई केवल दूध पीते हैं, कोई अलोना अन्न ग्रहण करते हैं, कोई धूनी की भस्म धारण करते हैं, इतने पाखण्ड करने पर भी उन्हें कुछ प्राप्ति नहीं होती। न तो केश लुंचन से कोई यती होता है और न कानों को फड़वा लेने से योग की सिद्धि होती है, उल्टे जग-हँसाई अवश्य होती है।[४] सन्त मूलकदास ने मूर्ति-पूजा, तीर्थ-सेवन एवं अन्य आचारपरक कर्मों का खण्डन करते हुए कहा है—

---

[१] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५१४।
[२] वही—पृष्ठ ५३२।
[3] वही—पृष्ठ ५६२।
[४] वही—पृष्ठ ६४५।

देवल पुजे कि देवता, की पूजे पाहाड़ ।
पूजन को जांता भला, जो पीस खाय संसार ।।
सन्ध्या दर्पन सब तजा, तीरथ कबहुँ न जाउं ।
हरि हीरा हिरदै बसै, ताहो भीतर न्हाउं ।।[1]

वह परमप्रभु न तो जप-तप से रीझता है, न आत्म-पीड़न से, धौति-वस्ति एवं काय-प्रक्षालन से भी वह प्रसन्न होने का नहीं। उस अविनाशी से मिलने का सरल उपाय यही है —

दाया करै धरम मन राखै, घर में रहै उदासी ।
अपना सा दुख सबका जानै, ताहि मिलै अविनासी ।।[2]

लोकाचार के विषय में मलूकदास का कहना है कि 'लोक वेद' का 'पैंडा' ही कुछ दूसरा है। उसकी कौन परवाह करे ? आत्मा का अपमान करके पाषाण को पूजते हैं तथा हृदय में जरा भी दया नहीं लाते—

किरिया करम अचार भरम है, यही जगत का फन्दा ।
माया-जाल में बांधि अंड़ाया, क्या जाने नर अन्धा ।।[3]

उस बाजीगर ने अनोखा जाल फैला रखा है जिसमें सब का जी उलझा हुआ है। पागल मुल्ला व्यर्थ ही कुरान पढ़ता है जबकि उसके अनुसार नहीं चलता। जो स्वामी हृदयस्थित है उसे वह दूर बताकर बाँग के द्वारा बुलाता है। रोजा-नमाज एवं कुर्बानी करके अपने आत्मा की हत्या करता है। पीर कहलाते हुए भी वह बड़ा बेपीर है। वही सच्चा दरवेश है जिसके मन में करुणा है। जो परमेश्वर के प्रति लौ लगाकर बैठता है और किसी चीज की कामना नहीं करता तथा जो प्यासे को पानी और भूखे को अन्न देता है, वही ईश्वर की सच्ची सेवा करता है और उसे शीघ्र ही प्रभु की प्राप्ति होती है। जो क्रोध को छोड़कर जीते जी संसार के प्रति मृतवत् हो जाता है उसे इजरायल भी मस्तक झुकाते हैं। जो अपनी पीड़ा सी दूसरे की पीड़ा मानते हैं, मलूकदास उसी का अनुकरण करते हैं। जीवन को कल्याण-पथ की ओर ले जाने के विषय में वे यही कहते हैं कि जो भी संसार में दुखी है, उसका दुख बाँट लो और उसे अपने ऊपर ले लो। मनुष्य और प्राणी मात्र की कौन कहे, वे हरी डाल का तोड़ना भी अक्षम्य अपराध मानते हैं—

---

[1] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ ३६ ।

[2] वही—पृष्ठ १६ ।

[3] वही—पृष्ठ २० ।

हरी डारि ना तोड़िये, लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहै, अपना सा जिय जान ॥[1]

सुधारक का लक्ष्य ध्वंसात्मक न होकर सृजनात्मक—सन्तों ने वाह्याचारों का खण्डन ध्वंसात्मक ढंग से किया, उनमें सृजनात्मकता का अभाव था। किसी समुदाय में प्रचलित अन्धविश्वासों के सुधारने का सच्चा मार्ग उस समुदाय के मन के भीतर जमे संस्कारों को हटाना है। कोई व्यक्ति ईश्वर को किस रूप में देखता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह व्यक्ति किस प्रकार का है। किसका धार्मिक विचार किस ढंग का है, यह अधिकांश रूप से उसकी प्रकृति, उसकी शिक्षा तथा वह जिस वातावरण में रहता है उसके प्रभाव से निर्धारित होता है। किसी की प्रकृति में जो त्रुटि है या किसी की अनुभूति में जो पक्षपात है, वह उस व्यक्ति के धर्म-सम्बन्धी विचार में अवश्य प्रकट होता है। किसी व्यक्ति का ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान तो उसके ईश्वर को समझने की शक्ति पर निर्भर करता है। सुधारक का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह त्रुटियों को दूर करे न कि विचारों की आलोचना करे। आध्यात्मिक जीवन ज्यों ही गतिशील होगा, विचारों में स्वत: परिवर्तन होगा। धार्मिक गुरुओं का काम लोगों पर विचारों को थोपना नहीं है, बल्कि आकांक्षा जागृत कर देना है।[2] इसीलिए कभी-कभी यह प्रश्न पूछ दिया जाता है कि 'यदि वास्तव में इन सन्तों ने हमारी दुरवस्था को पहचान पाया था और उसके सुधारों के लिए उचित परामर्श दिया था तो क्या कारण है कि आज तक उनके बहुमूल्य उपदेशों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और सारी सांसारिक बुराइयाँ जहाँ की तहाँ बनी रह गईं।' सन्तों का अहंकारमूलक कर्मकाण्डों में विश्वास नहीं, क्योंकि उनका धर्म सहज धर्म था जिसमें किसी प्रकार के वाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं है।

आन्तरिक शुचिता—मानसिक आचार—सन्तों का सहज धर्म आन्तरिक शुचिता पर आधारित है और आन्तरिक शुचिता का आधार-स्तम्भ मन है। आचार्य शंकर ने कहा है—'जितं जगत्केन मनोहि येन'। कबीर के कथनानुसार मन को वश में न करने के कारण हार, और उसे जीतने पर विजय होती है। परमात्मा की प्राप्ति श्रद्धालु मन के द्वारा ही सम्भव है। यदि मन को यत्नपूर्वक अपने वश में कर लो तो स्वयं जैसा चाहोगे वैसे ही बन जाओगे। मन ही गोरख,

---

[1] मूलकदास जी की बानी—पृष्ठ ३७।

[2] डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्—हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, कृष्ण किंकर सिंह द्वारा अनूदित—पृष्ठ ३६-४०।

मन ही गोविन्द और मन ही अवधूतस्वरूप हो जाता है।[१] आभ्यन्तरिक यात्रा में सफलता पाने के लिए मन को उन उपाधियों से नितान्त शून्य कर देना आवश्यक है जिसकी उसने सृष्टि कर डाली है। कबीर का कथन यथार्थ है कि धनुष की भाँति शरीर को खींचकर पञ्च-तत्वों के बाणों द्वारा मन रूपी मृग को मार सका तो ठीक है, अन्यथा सारी साधना व्यर्थ है।[२]

सिख गुरुओं ने मन के दो रूप माने हैं—ज्योतिर्मय तथा मायाच्छादित। ज्योतिर्मय मन के द्वारा वह अपना मूल स्थान पहचानता है। जीवन-मरण के वास्तविक रहस्य से अवगत रहकर, निरन्तर अपने साथ परमात्मा के सम्पर्क का अनुभव करता है। इसी मन में आध्यात्मिक धन निहित रहता है। इसी मन में सहजावस्था के परम आनन्द के अमृत कुण्ड भरे पड़े हैं।[3] मायाच्छादित मन अहंकारयुक्त होकर अनेक योनियों में भ्रमण करता फिरता है। यह बड़ा ही चंचल, दुराग्रही एवं आसक्ति से आक्रान्त रहता है।[४] दादू के अनुसार, मतवाले हाथी के समान यह मन स्वतन्त्र विचरण करता रहता है और किसी प्रकार भी वश में नहीं होता, यद्यपि अनेक महावत यत्न करते-करते थक गये। जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक उससे साक्षात्कार नहीं होता। मन के सुस्थिर होने पर वह सहज-भाव से मिल जाता है।[५] मन की सहायता से ही साधक आध्यात्मिक भूमियों तक ऊपर उठ सकता है। मलूकदास ने मन को परमात्मा का कोप—'यह मन कहर सुदास का' कहा है क्योंकि मन ही निकृष्ट भौतिकता के पंकिल पन्थ की ओर प्रेरित कर साधक को फँसा देता है। अतएव मन की वहिर्मुख प्रवृत्तियों को अन्तर्मुख करना परम आवश्यक है। सभी प्रकार की वाह्य पूजाएँ जिनके द्वारा वहिर्मुख वृत्तियों को सहायता व उत्तेजना मिल सकती है, इसी कारण बन्द ही नहीं, वरन् पूर्णतः तिरस्कृत की जानी चाहिये। मन हमारी स्थिति के दैवी मार्ग के उच्चतर व आध्यात्मिक अंश को सदा स्पर्श करता है। निर्गुणियों के अनुसार इसी स्मरण शक्ति के लिए पारिभाषिक शब्द 'सुरति' है। दादू ने भी कहा है कि सुरति को परिवर्तित कर उसे आत्मा के साथ मिला दो।...प्रत्येक भूमि की अवस्था में हमें दुहरी स्थिति का अनुभव होता है और यदि हम सुरति को भूल जायेंगे जो वास्तव में ईश्वरीय स्थिति का बोधक है तो, हमारा ऊपर उठना

---

[१] **कबीर ग्रन्थावली—मन कौ अंग १०।**

[२] **वही—मन कौ अंग ३०।**

[3] **श्री गुरुग्रन्थ साहित्य—महला १, पृष्ठ २२; महला ५, पृष्ठ १८६।**

[४] **वही—महला ३, पृष्ठ ३३।**

[५] **दादूदयाल की बानी, भाग १—मन कौ अंग ३, १३।**

अवश्य बन्द हो जायगा और सम्भव है कि हम नीची भूमियों तक गिर भी जाँय। इस प्रकार जब तक धीरे-धीरे ऊपर उठते हुए हमें उस स्थिति की अनुभूति न होने लगे जहाँ पर सुरति केवल स्मृति के रूप में ही न रहकर उस भगवत्तत्व की पूर्णता में विलीन हो जाती है तब तक सुरति की उपेक्षा नहीं कही जा सकती। सुरति के अभ्यास और अनुशीलन में ही हमारा वास्तविक कल्याण हैं।[1]

कथनी-करनी—सन्तों के सदाचरण का मूल स्रोत, सत्संग एवं स्वानुभव में निहित था। वह केवल तर्कजनित दार्शनिक ज्ञान न होकर दैनिक जीवन के अनुभवों का आसव था। उनके सिद्धान्त एवं आचरण के बीच पूर्ण समरसता थी। सन्तों के 'कथनी और करनी' में किसी प्रकार का अन्तर नहीं था। इस विषय में वे विशेष सजग रहे क्योंकि सब प्रकार के छल-प्रपञ्च एवं वाह्याचारों की उत्पत्ति कथनी और करनी में सामञ्जस्यहीनता के कारण होती है। सन्त कबीर का कथन है कि किसी बात के कहने मात्र से क्या होता है, यदि उसके अनुकूल कर्म नहीं किया जाता। वह तो कलाबत्तू के किले के समान चमकती हुई, देखते ही देखते नष्ट हो जायगी। मुख ऊपर करके प्रभु का कीर्तन करता हुआ तो दिखाई देता है, परन्तु भगवान् के विषय में जानता-बूझता कुछ भी नहीं है, अतः वह अन्धे, शिरविहीन रुण्ड के समान है।[2] करनी के बिना कथनी और कथनी के बिना करनी, दोनों एकांगी है, दोनों के सामंजस्य में ही पूर्णता है अतः दोनों का सापेक्षिक महत्व है। मुख से जैसी बात निकले, यदि उसके समान आचरण भी हो तो परमब्रह्म सदैव निकट रहे और पल भर में निहाल कर दे। पुस्तकें पढ़-पढ़ संसार मर गया, पर कोई भी (यथार्थ) पण्डित न बन सका पर जो प्रिय ब्रह्म का एक ही अक्षर पढ़ लेता है, वह पण्डित हो जाता है।[3]

मध्यम-मार्ग—सन्त कवियों ने सर्वत्र अपने धार्मिक विचारों में सदाचार के पालन एवं निषिद्ध वस्तु के त्याग पर जोर दिया है। इस प्रकार उनका सहज धर्म नैतिकता की पृष्ठभूमि पर टिका हुआ है। ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पर अनुपात से अधिक बल दिये जाने के कारण, भारतीय समाज निवृत्ति-प्रधान होता गया। सन्तों ने इस असतुन्लन को दूर करने के लिए कोरे निवृत्ति अथवा प्रवत्ति मार्ग को एकांगी एवं अपूर्ण बतलाया तथा दोनों का समानुपातिक समन्वय करते हुग मध्यम-मार्ग पर तटस्थ भाव से चलने का उपदेश दिया। मध्यम मार्ग सदैव ही सुरक्षित एवं श्रेयस्कर होता है। महात्मा बुद्ध ने कहा था कि अतिरंजना

---

[1] डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ १८५-६।

[2] कबीर ग्रन्थावली—करणीं बिना कथणीं कौ अंग १, २, ५।

[3] वही—कथणीं बिना करणीं कौ अंग ४।

की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ लगाने से सत्य की उपलब्धि असम्भव है। वीणा के तारों को यदि अधिक कस दिया जाय तो वे टूट जायेंगे और यदि उन्हें ढीला रखा जाय तो उनसे कोई स्वर नहीं निकल सकता। इसलिए उन्होंने दोनों अति मात्राओं का परित्याग करने की शिक्षा दी थी। अत्यधिक खिंचाव अथवा शिथिलता न रहने पर ही कल्याण सम्भव है जिससे सप्तम-स्वरों का संगीत सुना जा सके। एक अन्त का ग्रहण विरोध का कारण बन जाता है, अतः द्वन्द्वपरक भेदभाव को बचाने के लिए मध्यम मार्ग का ग्रहण लाभप्रद सिद्ध होता है। कबीर ने भी कहा है—

कबीर मधि अंग जेको रहै, तौ तिरत न लागै बार।
दुहु दुहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार॥
कबीर दुविधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि।
यहु सीतल, बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि॥[1]

इस शरीर को न तो अतिरंजित उपवासादि जनित क्लेशों से तपाना चाहिये और न कुत्सित वासनाओं का ग्रास बनने देना चाहिये। दादू का मत है कि न तो हम सांसारिक अति-आसक्तियों में पड़ें और न उनका त्याग करें। ऐसा ज्ञान विचारते हुए मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर मुक्ति के द्वार तक पहुँचना सम्भव है। दादू के विचार से—

आपा मरै मृतिका, आपा धरै अकास।
दादू जहं जहं द्वै नहीं, मद्धि निरन्तर वास॥
ना धरि रह्या न बनि गया, ना कुछ किया कलेस।
दादू मन हीं मन मिल्या, सतगुर के उपदेस॥[2]

इस मार्ग के अनुयायियों को संसार के पंकिल वातावरण में तटस्थ भाव से जीवन-यापन करते हुए मुक्ति-कमल की उपलब्धि के लिए सचेष्ट रहना पड़ता है। सत्य की खोज के लिए उसकी जो अथक दुर्धर युद्ध-साधना चलती है, वह इस वाह्य युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर होती है। सत्यान्वेषी, जीवन-पर्यन्त एक पल के लिए विराम नहीं लेता। गुरु नानक ने निस्पृह भाव से कहा है—'सत गुरु की कृपा से मैं घरबारी होते हुए भी मोक्ष पा गया।' वस्तुतः अनासक्ति से तात्पर्य गैरिक वस्त्र धारण कर गृह-त्याग से नहीं है, यह तो मन की आभ्यंतरिक प्रवृत्ति-विशेष है, जिसमें इस प्रकार के दुनियाबी वैराग्य के प्रति भी उदासीनता रहती है। प्रायः देखा जाता है कि बैरागी

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—मधि कौ अंग १, २।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १—मधि कौ अंग १० ३३।

होते हुए भी उसके मन में संसार के प्रति तीव्र आसक्ति की भावना शेष रहती है और एक गृहस्थ भी विदेह हो जाता है। वस्तुतः सच्चा अनासक्त कहलाने का वही अधिकारी है जो सब प्रकार के आकर्षणों के बीच रहकर भी अपने को विरक्त रख सके। सन्तों ने अपने सदाचरण एवं जीवन में समरसता को विशेष महत्व दिया है। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—धर्म, समाज, सुख-दुख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति सब में एक सामरस्य-भाव की स्थापना के दृढ़ अभिलाषी थे और उन्होंने अपने जीवन में इसे उतारा भी। सन्तों के जीवन से जुड़ी हुई अगणित कथाएँ इसकी साक्षी हैं। सन्तों ने यावज्जीवन विविध विषमताओं के पीछे उग्र विरोध की भावना लेकर युद्ध किया और समरसता की प्रतिष्ठा की।

सहज-जीवन—सन्तों ने जिस प्रकार करणी और कथणी अथवा करणी और रहनी में श्लाघ्य सामंजस्य स्थापित किया, उसी प्रकार उन्होंने अपने जीवन को सहज बनाने के लिए भी विशेष जोर दिया। बाह्य एवं अन्तर में किसी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न न होना सहज जीवन की निशानी है। यदि मन अपने विकारों को नहीं छोड़ता तो वन में वास करने से क्या लाभ? यों तो सभी सहज की रट लगाते हैं किन्तु जिसने स्वभावतः विषय-वासनाओं को तिलांजलि दे दी हो, उसी को सहज का अनुयायी कहना चाहिये। बलपूर्वक इन्द्रियों का दमन कभी बड़ा अनिष्ट उत्पन्न कर देता है। वज्रयानियों के गुह्य साधना का इतिहास सर्व विदित ही है। किसी भी आध्यात्मिक साधना की पूर्णता के लिए वाह्याडम्बरों को दूर करने की अपेक्षा उसके मूल को ही समास कर देना चाहिये। वास्तविक निग्रह के लिये मन के विकृत स्वभाव को संसार की वासनाओं से हटाकर 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' की भावना से उस ओर लगा देना कल्याणकारी है। कबीर के मत से—

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पांचू राखै परसती, सहज कहीनै सोइ॥
सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलैं, सहज कही जै सोइ॥[1]

सहजशील—'सहजशील' की साधना सन्तों की कर्मसाधना अथवा आचरण-साधना का एक अन्यतम अनिवार्य पक्ष है। इस स्थिति में पहुँचकर 'कथनी और करनी' में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। सहजसमाधि की स्थिति में भाव-भगति से ओत-प्रोत स्वभाव को कबीर ने 'सहजसील' के नाम से

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—सहज कौ अंग २४।

विभूषित किया है और इस सहज स्थिति के ही अभ्यास को अपने मत का सार बताया है—'सतगुर के प्रसाद थैं, सहज शील मत सार ।'[१] सहजशील की साधना कोई ऊपर से लादी हुई या आरोपित वस्तु नहीं है। वह तो साधक के लिए साँस के आने-जाने के समान स्वाभाविक रूप से जीवन पर्यन्त एकरस चलती रहती है और इसके क्षेत्र में न केवल अखिल प्राणिमात्र वरन् वनस्पति-जगत् तक आ जाता है—'हरी डारि ना तोड़िये, लागै छूरा बान । दास मलूका यों कहै, अपना सा जिव जान ॥'[२] सन्त की करुणा 'पाती-पाती' में जीव का संवेदन अनुभव करती है। दादू के मत का सार सब जीवों के प्रति निर्वैरी होना है, सब घट में एक ही आत्मा विराजमान है जो 'पर' में 'आपा' को पहिचान ले, उसी को प्रिय का दर्शन होता है।[३] कबीर के मतानुसार सहजशील का अभ्यास करने के लिए साधक को सती, सन्तोषी, सावधान, सबदभेदी, और सुविचारवान् होना आवश्यक है और इन दुर्लभ गुणों की प्राप्ति सद्गुरु की कृपा पर निर्भर है।[४] 'सतीत्व' के लिए शुद्ध भावना एवं आत्मनिष्ठा, प्रिय के प्रति प्रगाढ़ अनुराग, 'सन्तोषी' के लिए प्रभु में अटूट विश्वास, 'सावधानी' के लिए संयम, त्याग एवं दृढ़ व्रत, 'सबदभेदी' के लिए 'सुरति शब्दयोग' में लीन रहना और 'सुविचारी' के लिए तत्व की जिज्ञासा एवं 'सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय' की सूक्ष्म परख होना आवश्यक है। 'कथनी और करणी' में पूर्ण तादात्म्य रखते हुए 'सहजशील' के निरन्तर अभ्यास से साधक को अनायास ही उस सहजावस्था की उपलब्धि होती है जिसमें अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं और परमानुभूति का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है।[५] सहजशील की स्वतः अवतरित स्थिति में साधक संसारी बने रहने पर भी आध्यात्मिक स्फुरण से ओत-प्रोत हो जाता है, 'प्रेमध्यान' की तारी लग जाती है, अन्तर्ज्योति प्रकाशित हो उठती है और उसके दिव्यलोक में प्रकृति के कण-कण से, स्थावर जंगम सभी से प्रगाढ़ आत्मीयता स्थापित हो जाती है।

सत्संगति—सहज-जीवन की उपलब्धि में बहुत कुछ हाथ आध्यात्मिक वातावरण का होता है और आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण सज्जनों या साधु-पुरुषों की सत्संगति से होता है। सत्संगति का प्रभाव अमित है। जिस

---

[१] कबीर ग्रन्थावली—सबद को अंग २।

[२] मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ ३७।५२।

[३] दादूदयाल की बानी, भाग १—दयानिर्वैरता को अंग २, ११।

[४] कबीर ग्रन्थावली—साखी २, पृष्ठ ६३।

[५] वही—साखी २, पृष्ठ ४२।

प्रकार चन्दन का वृक्ष अपने निकटवर्ती वृक्षों को भी सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार साधु भी अपने निर्मल चरित्र से दुष्टों को सुधार लेते हैं। चाहे मथुरा जाओ या द्वारिका या जगन्नाथपुरी, बिना साधु के साथ और भगवान् की भक्ति के कुछ भी हाथ लगने का नहीं।[1] साधु के सम्पर्क से ही हृदय में हरि की प्यास उत्पन्न हुआ करती है। दादू के मत से साधु की संगति सब प्रकार की भगवत्-कामना की पूर्ति करती है। साधु का मिलन मानो भगवद्-मिलन की प्रारम्भिक भूमिका है—

साध मिलै तब हरि मिलै, तब सुख आनन्द मूर।
दादू संगति साध की, राम रह्या भरपूर ॥[2]
दादू पाया प्रेम रस, साधू संगति माँहि।
फिर फिर देखे लोक सब, यहु रस कतहूँ नाँहि ॥[3]

सन्तों के लक्षण एवं साधु-महिमा—कबीर के कथनानुसार किसी से शत्रुता न करना, निष्काम रहना, प्रभु से प्रेम करना और विषयों से पृथक् रहना, यही सन्तों का स्वभाव है। सन्त को चाहे करोड़ों दुष्ट पुरुष मिलें फिर भी वह अपने साधु-स्वभाव का परित्याग नहीं करता। यद्यपि चन्दन के वृक्ष में सर्प लिपटे रहते हैं फिर भी वह अपनी शीतलता नहीं छोड़ता।[4] पुर और नगर बहुत अच्छी तरह बसे हुए हों और स्थान-स्थान पर आनन्द-बधावा हो रहा हो किन्तु यदि वे राम के प्रेमियों से शून्य हैं तो कबीर की दृष्टि में वे निर्जन हैं। जिस घर में साधु का सम्मान और प्रभु की भक्ति नहीं होती, वे घर श्मशान के समान हैं और उनमें भूत-प्रेत रहते हैं। अनेक श्रेष्ठ हाथी और घोड़ों से सम्पन्न राजा की स्त्री भगवद्भक्त की पानी भरने वाली स्त्री की समता नहीं कर सकती। वह स्त्री धन्य है जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया है और जो राम का स्मरण करके निर्भय हो गया है, अन्यथा सारा संसार निर्वंश ही चला गया। कुल वही अच्छा है जिसमें भगवान् के भक्त उत्पन्न होते हैं। जिस कुल में भगवद्भक्त उत्पन्न नहीं होते, वह कुल आक और पलास के वृक्षों के समान है।[5]

सत्संगति का प्रभाव—सिख गुरुओं ने भी साधुओं के सम्पर्क को आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया है। प्रत्येक सिख

---

१ कबीर ग्रन्थावली—साध कौ अंग ३।
२ दादूदयाल की बानी, भाग १, साध कौ अंग २२।
३ वही—साध कौ अंग ३३।
४ कबीर ग्रन्थावली—साध साषीभूत कौ अंग, १, २।
५ वही—साध महिमा कौ अंग २, ३, ५, ७, ८।

परमात्मा से यही याचना करता है—'साध दा संग, गुरुमुख दा मेल'—साधु का साथ और गुरुमुख का मेल। सत्संगति के आश्चर्यजनक प्रभाव के बारे में कहा गया है कि जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, उसी प्रकार पापीगण भी इसके प्रभाव से पवित्र होकर गुरमुख हो जाते हैं।[1] साधु पुरुष पृथ्वी की भाँति धैर्यशील, आकाश की भाँति निर्विकार, पवन और सूर्य की भाँति सम-आचरणशील एवं अग्नि के समान परोपकारी होते हैं।[2] सत्संगति से गुरु-वाणी में श्रद्धा उत्पन्न होती है एवं नाम-सुमिरन में मन लगता है। पाखण्ड, भ्रम, अहंकार, काम, क्रोध आदि विकारों का नाश होता है। त्रिविध-तापों का शमन होता है और माया के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं। साधु-संग से सारे पापों एवं अहंकार का नाश होता है, इसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है और समस्त मायिक बन्धनों से मुक्ति मिलती है।[3] दादूदयाल के कथनानुसार साधु के मिलन से हृदय में हरि का भाव, प्रेम-भक्ति और उसे पाने की तीव्र लालसा उठती है। वह निरन्तर प्रभु-भक्ति का गुणगान करके प्रेम-रसामृत का स्वयं पान करता है और दूसरों को कराता है। सारे संसार में साधु की संगति में ही प्रेम-रस की प्राप्ति होती है, यह दुर्लभ रस, संसार में अन्यत्र नहीं। 'साधु' इस संसार में परमात्मा की साक्षात् मूर्ति है। जो वन्दन-पूजन के लिए मूर्ति की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, वे मूर्ति के स्थान पर साधु को ही समझ लें और प्रेम-भक्ति से उसकी सेवा करें—

> जो चाहे आकार तू, साधू परतिष देव।
> निराकार निज रूप है, प्रेम-भक्ति से सेव॥[4]

आध्यात्मिक शक्ति का संचालन करने वाले यन्त्र के रूप में साधु की महत्ता अपरिमित है। डॉ० बड़थ्वाल का कथन सत्य है कि मूर्ति व वाह्य पदार्थों की उपासना द्वारा मन की वहिर्मुखी वृत्ति जाग्रत रहा करती है और इसी कारण उसका अभ्यास ठीक नहीं कहा जा सकता, किन्तु साधु सारी मानसिक प्रवृत्ति की जड़ता को हिलाकर दूर कर देता है और उसे अन्तर्मुखी भी बना देता है।[5] दयाबाई के अनुसार सत्संगति की समता में कोई अन्य वस्तु अट ही नहीं सकती। साधु की संगति करोड़ों यज्ञों, व्रतों व नियमों के समान है। वह सारी वासनाओं

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—महला ४, पृष्ठ १२९७।

[2] वही—महला ५, पृष्ठ १०१८।

[3] वही—महला ५, पृष्ठ ७४०।

[4] कबीर बानी—पृष्ठ ३५।

[5] डॉ० बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ २०१।

एवं बाधाओं को दूर कर स्थायी सुख-शान्ति का सृजन करती है। मलूकदास के मत से तो भगवान् सन्तों के पीछे-पीछे घूमते रहते हैं—

जहाँ जहाँ बच्छा फिरै, तहाँ तहाँ फिरै गाय।
कहै मलूक जहाँ संतजन, तहाँ रमैया जाय ॥[1]

सन्त सुन्दरदास का कहना है कि जो कोई भी सज्जनों के निकट पहुँचता है, उसे वे भगवद्-भक्ति का उपदेश देते हैं, जिस व्यक्ति को जिस रोग से आक्रान्त देखते हैं, तदनुकूल उसका उपचार करते हैं। कर्म-बन्धनों से उत्पन्न कलंक को मिटाकर वे कंचन के समान बना देते हैं और निरन्तर आत्म-तत्व का निरूपण एवं मनन करते रहते हैं।[2] वे कहते हैं—

साँचौ उपदेश देत, भली भली सीख देत, समता सुबुद्धि देत, कुमति हरत हैं।
मारग दिखाइ देत, यावहू भगति देत, प्रेम की प्रतीति देत, अभरा भरत हैं॥
ज्ञान देत, ध्यान देत, आतम-विचार देत, ब्रह्म को बताइ देत ब्रह्म, में चरत हैं।
सुन्दर कहत जग सन्त कछु देत नहिं, सन्तजन निश दिन देबोई करत हैं ॥[3]

सन्त भगवान् के प्राण समान हैं, अतः सन्तों की सच्ची सेवा और उनमें आत्मसमर्पण की भावना रखना ही वास्तविक सत्संगति है। इसी के माध्यम से सुरति रूपिणी स्मरण-शक्ति का उद्बोधन होता है, जिससे आत्मा वाह्य विषयों से उन्मुक्त हो अन्तर्मुखी वृत्ति में लीन हो जाती है।

नाम-सुमिरन—सत्संगति के प्रभाव से नाम-सुमिरन की भावना मन में जगती है क्योंकि 'तत्त तिलक तिहुँ लोक में, राम नाँव निज सार।' भगवान का स्मरण ही सार वस्तु है और सब बातें जंजाल हैं। कबीर ने आदि से अन्त तक सबको देख लिया। यहाँ अन्य सब बातें मृत्यु रूप हैं। यदि भगवान का नाम थोड़ा-सा भी आ गया तो वह करोड़ों कर्मों को पल भर में नष्ट कर देता है और चाहे अनेक युगों तक पुण्य भी करता रहे तो भी उसे राम के बिना कहीं स्थान नहीं मिल सकता।[4] नाम अनन्त कल्पतरु तथा कामधेनु है। नाम के गुणगान से लोक-परलोक दोनों सुहावने हो जाते हैं, कलियुग के सारे क्लेश मिट जाते हैं। नाम का सच्चा प्रेमी, परमात्मा का सच्चा भक्त, सिद्धियों को वमन की भाँति त्याग देता है। उसकी दृष्टि में समस्त वैभव बिना नाम के मिथ्या है।

---

[1] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ ३३।
[2] श्री वियोगी हरि द्वारा सम्पादित—सन्त सुधासार, पृष्ठ ६२७।
[3] वही—पृष्ठ ६२८।
[4] कबीर ग्रन्थावली—सुमिरण कौ अंग, ३, ५, २०।

निर्मल नाम से ही हउमै (अहंकार) का नाश होता है और परमानन्दप्रदायिनी रागात्मिका भक्ति की प्राप्ति होती है। उसे सदैव आनन्द ही आनन्द मिलता है, नाम की नौका से वह स्वयं तो भव-सागर से मुक्त होता है, दूसरों को भी मुक्त कराता है।[1]

नाम-जप के भेद साधारण, अजपा और लिव—गुरुओं के मत से साधारण जप, जप की प्रारम्भिक श्रेणी है। उच्च कोटि के सन्त इसे 'तोता-रटन्त' कहते हुए स्थूलता के कारण व्यर्थ समझते हैं, किन्तु तन-मन के सन्ताप को दूर करने के लिए इसकी महत्ता निर्विवाद है। इसका पूरा अभ्यास हो जाने पर अजपा-जप प्रारम्भ होता है जो श्वास-प्रश्वास के क्रम पर स्वतः चलता रहता है। इसे परमात्म-प्राप्ति का द्वितीय सोपान माना गया है। लिव-जप में तन-मन एवं वाणी एकनिष्ठ हो जाते हैं। इसमें मनुष्य का व्यष्टिगत आन्तरिक भाव ब्रह्माण्ड के समष्टिगत आन्तरिक भाव में मिलकर विलीन हो जाता है और यह निमग्नता इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि न तो इसका क्रम भंग होता है और न क्रिया। इसमें साधक की सारी क्रियाएँ सहज भाव से सम्पन्न होती जाती हैं। इसमें अनुभूति मात्र ही अवशिष्ट रहती है।[2] लाखों-करोड़ों में लिव-जप का जाप करने वाला कोई विरला व्यक्ति ही होता है। इसका निरूपण एक रूपक द्वारा गुरु नानक ने इस प्रकार किया है—शरीर को कागज, मन को मसि-पात्र एवं जिह्वा को लेखनी बनाकर हरि-गुण-गान की सुलिपि लिखने वाला लेखक धन्य है, क्योंकि वह हृदय में सत्य को धारण कर निरन्तर इस शुभ-कार्य को करता रहता है—

> **काइआ कागदु जे थीए, पिआरे मनु मसवाणी धारि।**
> **ललता लेखणि सच की पिआरे हरि गुण लिखहु वीचारि॥**
> **धनु लेखारी नाम का पिआरे साचु लिखै उरधारि॥**[3]

सन्त कवियों ने नाम-सुमिरन, अजपा-जाप और प्रपत्ति को ही विशेष मान्यता दी है। इसे वे मानसिक साधना के अन्तर्गत रखते हैं। सन्तों की रचनाओं में प्रपत्ति अर्थात् भगवान् की शरण में जाने की चर्चा प्रभूत मात्रा में की गई है। कबीर ने केवल यही कहा है कि मन से सारे भ्रमों को त्यागकर राम की शरण में जाओ और उसी के नाम का जप करो—

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—पृष्ठ ८६५, ११३७, ६६४।

[2] वही—पृष्ठ १०२४।

[3] वही—महला १, पृष्ठ ६३६।

कहत कबीर सुनहु हे प्रानी, छाँड़हु मन के भरमा ।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, परहु एक की सरना ॥[1]

कभी कहते हैं—

तारण तिरण तिरण तूं तारण, और न दूजा जानौं ।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नहीं मानौं ॥[2]

सन्त दादू की विनम्र प्रार्थना है कि "हे केशव ! तुम्हारी शरण में आकर मुझे अनन्त सुख की प्राप्ति हुई है । बड़े सौभाग्य से मुझे तेरे श्रीचरणों की सेवा का अवसर मिला है । तेरे दर्शन मात्र से ही मेरे सारे सन्ताप मिट गये एवं भव-बन्धनों से मुक्ति मिल गई । भ्रम-भेद का नाश होकर चेतन तत्व में चित्त लीन हो गया । सद्गुरुरूपी पारस ने सहज भाव से परमात्मा से परिचय करा दिया ।"[3] सन्तों ने अपने दैनिक जीवन की साधना में किसी प्रकार के वाह्याडम्बर एवं दिखावे को प्रश्रय न देकर सात्विकता, सरलता, सन्तोष एवं नैतिकता को ही प्रश्रय दिया है । कबीर ने काजी को फटकारते हुए कहा है कि पाँच बार नमाज पढ़ना—यह सब मिथ्या प्रार्थना है जबकि वह मिथ्या आयतें पढ़कर सत्य की हत्या करता है । स्वाद के वशवर्ती होकर दो ब्रह्मों (पशु और स्वयं अपनी आत्मा) की हत्या करता है और मसजिद में चढ़कर 'ईश्वर एक है' की पुकार मचाता है । ओ शेख ! तू सब्र से बाहर है, असन्तोषी है, फिर हज करने के लिए काबे जाने से क्या लाभ ? जिनका हृदय ही परिपूर्ण नहीं है, उनको ईश्वर कहाँ मिलेगा ? कबीर खिचड़ी को सुन्दर भोजन समझते हैं जिसमें थोड़ा नमक पड़ा हुआ हो । पेड़ा-रोटी खाते हुए विलास में पड़कर गला कटाने को वह तैयार नहीं ।[4] दादू दयाल ने भी कहा है—

मुवा न खाय जीवत नहि मारै । करै बंदगी राह संवारै ॥
सो मोमिन मन में करि जाणि । सत्ति सबूरी वैसे आणि ॥
चालै साच संवारै बाट । तिनकूं खुलै भिस्त का पाट ॥
सो मोमिन मोम दिल होइ । साईं को पहिचानै सोइ ॥
जोर न करै हराम न खाइ । सो मोमिन भिस्त में जाइ ॥[5]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—परिशिष्ट, पृष्ठ २९२ ।

[2] वही—पद ११२ ।

[3] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४३६ ।

[4] कबीर ग्रन्थावली—साच को अंग ५, ६, ११ ।

[5] दादू दयाल की बानी, भाग १—साच कौ अंग २९, ३०; ३१ ।

इस प्रकार सन्तों की धार्मिक साधना पूर्णतः सत्याचरण, विनम्रता एवं सेवा-भावना से अनुप्राणित है। उनकी यह साधना यन्त्रवत् कार्य-सम्पादित न करते हुए सहज-भाव से अपने लक्ष्य की ओर गतिशील होती है। उनकी आचार-नीति, आत्म-दमन, अपने स्वार्थ-सुखों के त्याग, एवं सर्वभूतहित की कामना से ओत-प्रोत है। उनके विचार से अवाधित चैतन्य की जागृति ही उच्चकोटि के आचरण की चरम सिद्धि है। वे जागतिक-द्वन्द्वों से मुक्त होकर आत्मा के असीम आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने के सतत अभ्यासी हैं। जप-तप, तीर्थ-सेवन एवं माला-जाप उनकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखते।[1] उनका दृढ़ विश्वास है—

साईं खेती साँच चलि, औरा सूं सुध भाइ।
भावे लांबे केस रखि, भावे घुरड़ि मुड़ाइ॥[2]

अतः सन्तों की साधना सत्यता, परोपकारिता, निष्कपटता, और भक्ति-प्रेम की सहज भाव-धारा से अनुप्राणित है। उसमें विलास एवं वासना के कीट नहीं, स्वार्थ एवं संग्रह के शूल भी नहीं, वरन् आन्तरिक शुचिता की वह अमृतशीला ज्योत्सना छिटकी हुई है जिसकी छांह में शाश्वत शीतल आत्मानन्द की उपलब्धि होती है।

●●●

---

[1] जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत वेसास।
सूवे सेंबल सेविया, यों जग चला निरास॥—क० ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

[2] कबीर ग्रन्थावली—भेष को अंग ११।

१. ग. सामाजिक ऐक्य एवं संगठन

व्यक्ति और समाज—व्यष्टि के समष्टि रूप को समाज कहते हैं जहाँ प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रकार के सम्बन्ध या समानता में बँधा हुआ हो । समाज का मूलाधार व्यक्तियों का पारस्परिक व्यवहार होता है जो प्रायः तीन रूपों में विकसित होता है—१. व्यक्ति का व्यक्ति से, २. व्यक्ति का समूह से तथा ३. समूह का समूह से व्यवहार । व्यक्ति के आचार-विचारों के अनुरूप ही समाज के स्वरूप का निर्धारण होता है और उसी से सामाजिक-व्यवहार का जन्म होता है । इस व्यवहार के द्वारा एक व्यक्ति का मन और कार्य-कलाप दूसरे व्यक्ति के आचार-विचारों से प्रभावित होता है । इसी से मानव व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है । मनुष्य की समस्त वाह्य एवं आन्तरिक क्रियाएँ सामाजिक व्यवहार से ही निर्दिष्ट होती हैं । व्यक्तित्व के प्रस्फुटन में सामाजिक संगठन का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है । प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितिवश सामाजिक संस्कारों से अनुस्यूत रहता है । वह अपने चतुर्दिक् वातावरण के अनुसार ही अपने विचारों को गढ़ता है । वस्तुतः व्यक्ति ही वह केन्द्र विन्दु है जिसके परिधि के चारों ओर सामाजिक संस्कार चक्कर काटते रहते हैं । आधुनिक विचारकों की दृष्टि में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी तो है ही, किन्तु मनुष्य से नीचे की भूमिका में भी सामाजिकता पाई जाती है यथा बन्दरों के जीवन में, कुत्तों के भूकने में; किन्तु यहाँ सामूहिक अस्तित्व मुख्यतः आत्म-रक्षण का कारण होता है । मानवीय धरातल पर समाज हमारी आवश्यकताओं की सहयोगमूलक पूर्ति में सहायक होता है । समाज में विभिन्न मनुष्य पृथक्-पृथक् कोटियों में काम करते हुए एक-दूसरे की आवश्यकता पूर्ति में सहायक होते हैं । मनुष्य की सृजनशील प्रकृति दो प्रेरणाओं से प्रभावित होती है । एक ओर तो वह दूसरों के अनुभवों तथा संवेदनाओं को अपना करके अपने अस्तित्व का प्रसार करता है और दूसरी ओर उसकी अर्थवती अनुभूतियाँ दूसरों के द्वारा प्रशंसा पाने के लिए आकुल रहती है । हमारी वस्तु-संग्राहक प्रवृत्ति हमें स्वार्थी और दुनियादार बना देती है, किन्तु जब हम में सृजनमूलक साहचर्य की भावना जगती है तब हम दूसरे मनुष्यों के विकास और उन्नति में प्रसन्न होते हैं यद्यपि इसमें हमारा कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता । दूसरे मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति तथा उससे समृद्ध होने वाले जीवन में वह साझेदारी की भावना से आनन्द की अनुभूति करता है । एक आध्यात्मिक एवं सृजनशील प्राणी होने के नाते न केवल हमें दूसरे के कार्य-कलापों एवं विचार-विनिमय में अभिरुचि लेनी चाहिये अपितु अवसर पड़ने पर

त्याग के लिये भी तैयार रहना चाहिये। ऐसे ही प्रयोजन की पूर्ति के लिए महान् व्यक्ति अपनी क्षुद्र भावनाओं को नियन्त्रित रखते हैं। इन्द्रियों और मन को वश में रखने से व्यक्तित्व की ऊर्ध्व प्रगति होती है। मनुष्य की सच्चे अर्थ में तभी प्रगति सम्भव है जब वह व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति करने वाले मूल्यों से उदासीन होकर निर्वैयक्तिक-मूल्यों की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हो जाय।

मानव-जीवन की दो प्रधान भावनाएँ—मानव-जीवन की दो प्रधान भावनाएँ – स्वार्थ-भावना और परार्थ भावना हैं जो क्रमशः उसके पशुत्व एवं देवत्व की सूचक हैं। प्रथम जहाँ आत्मा को संकीर्ण एवं निकृष्ट बना डालती है वहीं दूसरी मनोवृत्तियों को उदार एवं उन्मुक्त करते हुए कल्याणकारी आत्म-विस्तार में योग देती है। 'मनुष्यत्व और पशुत्व' में चाहे कितना ही भेद हो, उनमें मुख्य भेद यह है कि मनुष्य दूसरों के दुःख में दुःख का अनुभव करता है। अन्य किसी जीव में यह अनुभव-शक्ति नहीं है। यह 'पर दुःख कातरता' तथा 'पर सुख में सहृदयता' ही मनुष्य का सर्वप्रधान मनुष्यत्व तथा मानव की सर्वप्रधान मानवता है। यह पर दुःख कातरता, यह दया नामक सुदिव्य गुण, यह सुकोमल करुणा, जो पुण्य नेत्रों में मंगलाश्रु के रूप में छलछला उठती है, यही यथार्थ मनुष्यत्व है। यही सच्ची मानवता है।[1]

मनुष्य का धर्म—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'मानुषेर धर्म' में कहा है कि मनुष्य की साधना एक स्वभाव से स्वभावान्तर की साधना है, जब उसकी जिज्ञासा व्यक्तिगत संस्कार छोड़ जायेगी तभी विश्वगत ज्ञान और उसका विज्ञान प्रतिष्ठित होगा। जब उसका प्रेम, अहंकार और भोगासक्ति को उत्तीर्ण कर जायेगा तभी विश्वगत आत्मीयता में मनुष्य महात्मा होगा। मनुष्य के एक स्वभाव में आवरण है, दूसरे स्वभाव में मुक्ति है। मनुष्य जिस ओर उस क्षुद्र अंशगत अपनी उपस्थिति के प्रत्यक्ष को अतिक्रम करता है, वही सत्य है। उसी ओर वह मृत्युहीन है। उसी ओर उसकी तपस्या श्रेष्ठ का आविष्कार करती है। वह दिशा उसके अन्तर में है, जहाँ से चिरकाल के समस्त चिन्तन को वह चिन्तित करता है।[2]

व्यापक मानवता का आदर्श—मानवता के आदर्श का निरूपण करते हुए योगिराज अरविन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आइडियल आव ह्यूमिनिटी' में लिखा है कि मानव मात्र का अध्यात्म पर आधारित धर्म ही भविष्य की

[1] कल्याण—मानवता अंक, डॉ० क्षेत्रलाल साहा एम० ए०, डी० लिट्—मानवता और उसका तत्व, पृष्ठ १५७।

[2] श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—मानुषेर धर्म, अनुवादक—रघुराज गुप्त पृष्ठ २२, २।

आशा का दीपक है। इस तथ्य की क्रमशः अधिकाधिक अनुभूति हो रही है कि एक गूढ़ तत्व है, एक दिव्य सत्य है, जिसकी दृष्टि में हम सब एक हैं और जिस तत्व का पृथ्वी पर मानव-जाति ही सर्वोच्च स्थूल आधार है तथा मानव-जाति एवं मानव-प्राणी ही वे साधन हैं जिनके द्वारा वह इस धरातल पर क्रमशः अभिव्यक्त होगा। जब तक मनुष्य अपने को शरीर रूप में जानता है, आत्मा के रूप में नहीं जानता, तबतक भ्रातृत्व की अनुभूति नहीं होती। भौतिक वस्तुएँ परिणाम में सीमित होने एवं उन पर अधिकार जमाने वालों की संख्या विपुल होने के कारण संघर्ष को जन्म देती हैं। वस्तुओं को ग्रहण करके उन पर अधिकार जमाये रखना भौतिक सफलता का सेतु है परन्तु जब मनुष्य अपने को शरीर न समझकर आत्मा समझने लगता है तब उसको ज्ञात होता है कि विभाजन और प्रदान विकास और शक्ति के हेतु हैं। आध्यात्मिक शक्ति व्यवहार में लाने पर बढ़ती है, नष्ट नहीं होती। जितना ही प्रदान करो, उतनी ही वह वृद्धि को प्राप्त होती है, जितना ही बांटो, उतना ही वह पूर्ण अधिकृत एवं आत्मसात् होती जाती है। अतएव भ्रातृत्व की जड़ अध्यात्म में होनी चाहिये। बाहर से राजकीय विधान के द्वारा उसका सृजन नहीं किया जा सकता, वह तो अन्तर से फूट पड़ने वाला और आत्मा का जय-स्रोत होना चाहिये।[1] अतः मनुष्यत्व की विशुद्ध रूपसत्ता ही देवत्व है। पारस्परिक ऐक्य भावना, वैयक्तिक समत्वबुद्धि और प्राणि मात्र में अभिन्नता के दर्शन जब तक साधक को नहीं होते तब तक आत्मानुभूति की उपलब्धि असम्भव है। इसके अभाव में धार्मिकता ढोंग है, आचार आडम्बर है और भक्ति भेष है।

संघर्ष एवं समन्वय—इतिहास के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि काल-चक्र की गति दो रूपों में अपना कार्य सम्पादित करती है। संघर्ष और समन्वय की तुला पर इतिहास तुलता है। जब दो या तीन धर्म चुनौती के स्वरों में यह घोषणा करने में नहीं चूकते कि उनके द्वारा परम सत्य का साक्षात्कार किया जा चुका है और उस सत्य को स्वीकार करना ही मुक्ति का एक मात्र साधन है तो वहाँ संघर्ष होना निश्चित है। समन्वय अथवा धार्मिक एकता की स्थापना तब तक स्वप्नस्वरूप रहेगी जब तक हम यह मानते रहेंगे कि हमें ही आलोक मिला है और दूसरे लोग अन्धकार में भटक रहे हैं। जब हम जीवन और विचारों में, अभ्यास और अन्तःप्रेरणा में एक-दूसरे की उपयोगिता और विशेषताओं को अपने में मिलाते हुए सामञ्जस्य एवं सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न करते हैं तभी हम सच्चे अर्थ में परमपिता की सन्तान कहलाते हैं।

---

[1] कल्याण—मानवता अंक, डॉ० मुहम्मद हाफिज सय्यद डी० लिट्०—व्यापक मानवता का आदर्श, पृष्ठ ३१४।

राधाकृष्णन जी ने ठीक कहा है कि अगर सभी देशों और सभी वर्णों के मनुष्य जो सभ्यता के नाना स्तरों पर खड़े हैं, ईश्वर की ही सन्तान हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसके विस्तृत कृपा-क्षेत्र के भीतर सबके सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस सर्वोच्च सत्ता की जानकारी के लिए उसी से ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उसी के प्रेम की छत्रछाया में पलते हैं।

हिन्दू धर्म की विशेषता : समन्वयवादिता, विकासोन्मुखता, एवं दृढ़ विश्वास—हिन्दू जाति ने जब इस सत्य का अनुभव किया कि दूसरे लोगों ने ईश्वर प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाकर विभिन्न रास्तों से उसकी प्राप्ति की है तो उन सबों को उसने उदारतापूर्वक अपना लिया और काल-क्रम में उनका स्थान ठीक तरह से निर्धारित कर दिया। इस जाति ने विभिन्न समुदायों के विशेष आगमों का उनकी ही उन्नति के लिये उपयोग किया क्योंकि उनकी रुचि और प्रतिभा के विकास के लिये, उनके जीवन और विचारों को समृद्ध बनाने के लिये, उनके भावावेगों को जाग्रत करने के लिए और उनके कार्यों को प्रेरणा देने के लिये वे ही एक मात्र साधन थे। अतः हिन्दू धर्म कोई निश्चित धर्म-मत नहीं है बल्कि आध्यात्मिक विचारों और साधनाओं का विशाल और विविध तत्व समन्वित पर सूक्ष्मता से एकीभूत पुंज है। इस धर्म में मानव आत्मा को ईश्वर में लीन करने की परम्परा युगों से निरन्तर बढ़ती रही है। परम्परा कुछ ऐसी वस्तु है जो सदा अपने अनुयायियों के स्वतन्त्र प्रयत्नों द्वारा नये सिरे से सुधारे जाने तथा पुनर्निमित होते रहने की वस्तु है। अगर परम्परा का विकास नहीं होता है तो इसका अर्थ है कि उसके अनुयायियों की आध्यात्मिक मृत्यु हो चुकी है। हिन्दू-धर्म के सम्पूर्ण जीवन में उसके विचारशील और कर्मण्य नेता नयी स्थिति के योग्य नये रूपों के अनुसन्धान में और नये आदर्शों के विकास में निरन्तर लगे रहे हैं।[1] डॉ० आनन्दकुमार स्वामी का मत है कि भारत के पास धार्मिक तत्व-दर्शन और सामाजिक-समस्याओं को हल करने के लिए इस दार्शनिकता के उपयोग में उसके विश्वास से अधिक मूल्यवान् वस्तु संसार को देने के लिये नहीं है। सम्पूर्ण जीव सत्ता में एकता की निरन्तर अनुभूति करना और यह अटूट विश्वास रखना ही भारतीय अनुभव का तत्व है कि ऐक्यानुभूति ही सबसे बड़ी मुक्ति एवं सर्वोच्च भलाई है।[2] प्रत्येक धर्मचिन्तक

[1] सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन—हिन्दुओं का जीवन दर्शन—अनुवादक—कृष्णकिंकर सिंह—पृष्ठ १७, १८, १९।

[2] श्रीकृष्ण व्यंकटेश पुणतांबेकर लिखित भारतीय लोकनीति और सभ्यता के पृष्ठ ४६ से उद्धृत।

अपने व्यक्तिगत, जातिगत और ऐतिहासिक गुणों के अनुसार ईश्वर के रहस्य को प्रकट करता है। जब हम इस बात का अनुभव कर लेते हैं कि धार्मिक अनुभूति, मानसिक प्रक्रिया के भीतर से प्राप्त होती है तो ईश्वर के विभिन्न रूपों वाली बात आसानी से समझ में आ जाती है। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। जिसे जो पहलू दिखाई देता है वह उस पहलू की बात कहता है और जो पहलू दूसरों को दिखाई देते हैं, उनकी बातें दूसरे लोग कहते हैं। इसलिए यह कहना हिंसा है कि 'केवल यही ठीक है'। सच्चा अहिंसक मनुष्य इतना ही कह सकता है कि' शायद, यह ठीक हो।' क्योंकि सत्य के सभी पक्ष सभी मनुष्यों को एक साथ दिखाई नहीं देते।[1]

हिन्दू धर्म और विश्व धर्म—सम्भवतः अन्य धर्मों की अपेक्षा बहुत सरलतापूर्वक अपनी प्राचीन परम्परा से विच्छिन्न हुए बिना ही विश्व धर्म के रूप में इस धर्म का विकास हो सकता है जो हर धर्म मत के भीतर एक नित्य ब्रह्म का विश्व प्रेरक रूप मानता है जो कि किसी न किसी समुदाय या व्यक्ति के अनुरूप पड़ता है और जिसका सत् स्वरूप अपने अनन्त रूपों के प्रति जिसमें वह अपने को प्रकट करता है या मनुष्य से अपने को छिपाता है—समभाव से उदासीन रहता है। हिन्दू धर्म में यह अच्छा नहीं समझा जाता कि किसी को सत्य की खोज में जबरदस्ती लगाया जाय। पर वह इस बात पर जोर देता है कि सत्य के प्रति मनुष्य की बौद्धिक-चेतना और विवेक प्रबुद्ध कर दिया जाये। इतिहास के निर्माण में देवताओं का चक्र धीरे-धीरे प्रवृत्त होता है और उत्साही सुधारकों को असफलता मिलती है, अगर वे कार्य-क्रम को संसार पर लादकर अपनी पीढ़ी में ही संसार के उद्धार की चेष्टा करते हैं। (सन्तों का उदाहरण सामने है क्योंकि उनके बहुमूल्य उपदेशों के बावजूद भी संसार अब भी अपने पुराने मार्ग पर चला जा रहा है) वास्तविक सुधारक मानव-जाति की विरासत को पवित्र और समृद्ध करते हैं। उसे संकुचित नहीं करते और अस्वीकार तो करते ही नहीं।

धार्मिक सहिष्णुता—धर्मोन्माद के फलस्वरूप धार्मिक युद्ध होते हैं और वही अपने से भिन्न मतों के अनुयायियों के नाश करने को बढ़ावा देता है और उसे न्यायोचित मानता है। अशोक के शिलालेखों में उसकी धार्मिक सहिष्णुता के बारे में कहा गया है कि वे देवताओं के प्रिय दान या पूजा की उतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड़ वाक् संयम है अर्थात् लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे

---

[1] श्री रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १०।

सम्प्रदाय की निन्दा न करें। इसके विपरीत जो करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदायों का भी अपकार करता है। हमें सम्प्रदायों की एकता पर नहीं बल्कि धार्मिक भावनाओं की एकता पर विश्वास करना चाहिये। अब अगर एक धर्ममत अन्य सभी मतों को आत्मसात् कर ले तो संसार बड़ा अकिंचन हो जायगा। ईश्वर रूपरङ्गहीन एकरूपता नहीं चाहता बल्कि विविध रूपों का समन्वय चाहता है। उदार एवं सहयोगी भावना के कारण ही हिन्दू-धर्म एक विशाल अरण्य हो गया है जिसके हजारों लहलहाते हुए वृक्ष अपना-अपना काम कर रहे हैं और सबके सब ईश्वर की प्रेरणा से चालित होते हैं। सबों का अपने-अपने स्थान पर रहकर अपने-अपने विभिन्न स्वरों से, यहाँ तक कि विषम सुर से भी दैवी सङ्गीत गाने के लिए एक साथ होना सर्वोत्तम ऐक्य है।[1]

संघर्ष का विस्फोट—ऊपर जिस संघर्ष की चर्चा की गई है, वह किसी देश के इतिहास में तभी प्रकट होता है जब उसे किसी विजातीय सभ्यता या धर्म का सामना करना पड़ता है। जब वैयक्तिक धर्म साधना वाले हिन्दू-धर्म का साक्षात्कार समूहगत धर्मसाधना वाले संघटित इस्लाम से हुआ तो दोनों में विस्फोट होना स्वाभाविक था। क्योंकि जिस प्रतिद्वन्द्वी से उसका काम पड़ा था, वह बहुत वर्जनाग्रही था अर्थात् वह धर्म-प्रसार में खड्ग का सहारा लेने का हिमायती था, धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका प्रमुख अस्त्र था। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कबीर' के पृष्ठ १७३ में लिखा है कि यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप में वर्जनशील था पर सामाजिक रूप में ग्रहणशील था, जबकि हिन्दू समाज धार्मिक रूप में ग्रहणशील होकर भी सामाजिक रूप में वर्जनशील था। हिन्दू समाज धार्मिक साधना को स्वीकार कर सकता था पर किसी व्यक्ति-विशेष को धर्म-मत में ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्म मत में शामिल कर लेने को परम कर्तव्य समझता था परन्तु किसी विशेष धर्म-साधन को अपने किसी विशेष व्यक्ति के लिए एकदम वर्जनीय मानता था।

सामाजिक रूढ़ियाँ एवं सम्प्रदाय-संगठन—भारतीय सामाजिक व्यवस्था के दो प्रमुख स्तम्भ—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म विधान है। किन्तु इस सांस्कृतिक द्वन्द्व काल में हिन्दू मस्तिष्क के व्यापक संश्लेषणात्मक प्रकृति के रहस्य की परिचायिका वर्ण-व्यवस्था दूषित होकर शोषण और असहिष्णुता का यन्त्र बन गई थी। उससे समाज में असमानता एवं पार्थक्य की भावना का विकास हो रहा

---

[1] सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन—हिन्दुओं का जीवन-दर्शन, पृष्ठ ५३, ५५।

था जहाँ आश्रम-धर्म विधान व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर प्रदान करने वाला होता था, वहाँ उसमें भी अनेक विकार आ गये थे। बुद्ध ने इन रूढ़िग्रस्त रूपों में गतिशीलता उत्पन्न करने की चेष्टा की किन्तु वे सफल न हो सके और सन्यासियों की एक नवीन जाति छोड़ गये। उनकी असफलता का कारण था—लोक-जीवन से दूर रहकर वैयक्तिक साधना करना। जाति-भेद की उलझनों से बचने के लिये ही उन्होंने भिक्षु-धर्म ग्रहण किया था। तत्कालीन समाज भिक्षु और गृहस्थ दो वर्गों में विभक्त था। समय-समय पर भिक्षुओं के दल संगठित होते रहते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में ६२ और जैन ग्रन्थों में ३६३ पन्थों की चर्चा की गई है। शैव, शाक्त और वैष्णव मतों की स्थापना के कारण सन्यासी एवं गृहत्यागी वैरागियों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही। गोरखबानी, पृष्ठ १५ में नागा, मौनी और दूधाधारी का उल्लेख किया गया है। पृष्ठ ७७ में कहा गया है कि स्त्री के मर जाने से जो यती (योगी) होता है, दौड़कर लोगों के यहाँ भोजन पाने के लिये जो सती (साधु) होता है और धन के नष्ट हो जाने पर जो त्यागी होता है, नाथ की दृष्टि में ये तीनों अभागे हैं। इस प्रकार यती, सती और त्यागी नामक सन्यासियों का उल्लेख हुआ है। कबीर ग्रन्थावली पद १३३-३४ के साक्ष्य पर यह विदित होता है[1] कि गोरखनाथ का सामञ्जस्यपूर्ण सबल व्यक्तित्व नाथों और योगियों को पूर्णतया संगठित करने में असफल रहा। फलतः अनेक स्वतन्त्र पन्थों का प्रचलन हुआ। सम्प्रदाय-संगठन का कार्य तीव्रता के साथ हो रहा था। रामानन्द का राघवानन्द से पृथक् हो जाना इस बात का प्रमाण है कि थोड़ी-सी आचार-भिन्नता पृथक् सम्प्रदाय को जन्म देने में पर्याप्त थी। कभी-कभी सम्प्रदायों के सङ्गठन में शस्त्र एवं शक्ति आदि की भी सहायता ली जाती थी। सन्यासियों की चिमटों की मार प्रसिद्ध है। बीजक की ६९वीं रमैनी में कहा गया है—

ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब सुखदेव तोपची जोरी॥
नारद कब बन्दूक चलाया। व्यासदेव कब बम्ब बजाया॥

उस समय समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता और विशृंखलता आ गई थी। निम्न वर्ग में अन्धविश्वास का आधिक्य, धर्म भावना का रूढ़ संस्कार एवं

---

[1] जोगी कहै जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई।
लुंचित मुण्डित मोनि जटाधर, ऐ जु कहै सिधि पाई॥—पद १३३
मूंड मुड़ाइ फूलि का बैठे, काननि पहरि मंजूसा।
बाहरि देह षेह लपटानीं, भीतरि तौ घर भूसा॥—पद १३४

सांस्कृतिक चेतना की प्रसुप्ति जड़ जमाये हुए थी। व्यक्तिवाद की प्रबलता थी। धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप हो चुका था तथा पारस्परिक संघर्ष एवं कलह भावना से समाज आक्रान्त था। जनसाधारण अन्धानुकरण में संलग्न, चैतन्य-हीन एवं विभिन्न प्रकार की उलझनों में उलझा हुआ खोखला जीवन बिता रहा था। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे संगठित सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था, वे घरबारी नहीं होते थे। इनके शिष्यों में बहुत से आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ थे जो न हिन्दू थे न मुसलमान। क्योंकि न ये हिन्दू आचार को अपनाये थे और न इस्लामी धर्ममत को स्वीकार किया था। उस समय आश्रमच्युत साधु, सन्यासी और भिक्षु की सांस्कृतिक चेतना भिन्न थी। सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होने के कारण मिली प्रतिष्ठा पुनः गृहस्थ बनने के कारण छिन गई थी। हिन्दू धर्म इन आश्रमच्युत गृहस्थों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। अतः इस्लामी संसर्ग के बाद इनका झुकाव धीरे-धीरे उस ओर होने लगा। श्री दिनकर जी ने लिखा है कि "तलवार के भय अथवा पद के लोभ से तो बहुत थोड़े ही लोग मुसलमान हुए, ज्यादा तो ऐसे ही थे जिन्होंने इस्लाम का वरण स्वेच्छा से किया। बंगाल, काश्मीर और पंजाब में गाँव के गाँव एक साथ मुसलमान हो गये। सच पूछिये तो मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही इस देश में बहुत से हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म को छोड़कर एक ऐसी जगह पर खड़े हो गये थे, जहाँ वर्णाश्रम-धर्म का कोई प्रभाव नहीं था। वे जात-पाँत को नहीं मानते थे, तीर्थ व्रत और प्रतिमा-पूजन में उनका विश्वास नहीं था, वे किसी अलख निरंजन या निराकार की उपासना करते थे। ऐसे विश्वास वालों का जब इस्लाम से सामना हुआ होगा तब अजब नहीं, कि उन्हें हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम ही अधिक अनुकूल दिखाई पड़ा हो।"[1]

धार्मिकता की अतिवादिता—धार्मिकता की अति ने देश का विनाश किया, यह धार्मिकता भी ग़लत किस्म की धार्मिकता थी जिसका उद्देश्य परम सत्ता की खोज नहीं, प्रत्युत यह विचार था कि किसका छुआ पानी पीना चाहिये और किसका नहीं। बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष के क्रम में ब्राह्मणों ने विदेश यात्रा करने वाले बौद्धों को नीचा दिखाने के लिए धर्मशास्त्रों में यह विधान कर दिया कि विदेश जाना पाप है और इस पाप से मनुष्य सदा के लिए पतित हो जाता है। फिरिश्ता ने लिखा है कि "पश्चिम में अटक हिन्दुओं की अटक बन गया था और उससे आगे जाने वाला हिन्दू पतित समझा जाता था..."। इसी प्रकार इस्लाम भारत में खड्ग-बल से नहीं फैला। वास्तव में हिन्दुत्व के जुलम से घबराये हुए

---

[1] श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २०७।

गरीब लोग ही अपना त्राण पाने को इस्लाम के झण्डे के नीचे चले गये। हिन्दुत्व छुई-मुई का नाजुक धर्म हो गया था। सामान्यतः हिन्दू यही मानते थे कि जिसके शरीर पर मुसलमानों के छुये हुए पानी का छींटा पड़ गया, वह किसी भी प्रकार हिन्दू नहीं रह सकता है। अलबरूनी के विवरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय पतित मनुष्य को जात में फिर से मिलाने का रिवाज हिन्दुओं के यहाँ नहीं था। शाही वंश का वीर राजा जयपाल जब महमूद ग़जनी के हाथों कैद हुआ तो क़ैद से निकलने के बाद उसने समाज में वापस आना अनुचित समझा और प्रायश्चित्त स्वरूप वह आग में जल कर मर गया। एक प्रायश्चित्त की प्रथा के प्रचलित न रहने से हिन्दुओं की कितनी हानि हुई, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।[१]

सम्मिलन की आयोजना—सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में हिन्दू को मुसलमान से तथा ब्राह्मण को शूद्र से जो ग्लानिजनित संकोच होता था, उसका निराकरण बहुत कुछ अंशों में स्वामी रामानन्द ने कर दिया था। भक्ति का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला था। इस क्षेत्र में 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि के भजै सो हरि का होई' की भावना व्याप्त हो चली थी। उन्होंने सवर्ण-असवर्ण, हिन्दू-मुसलमान और यहाँ तक कि स्त्रियों को भी दीक्षा दी। किन्तु परम्परागत कट्टर परिस्थितियों में शिक्षा-दीक्षा पाने के कारण उनके संस्कार और आगे बढ़ने के लिये उन्हें रोक रहे थे। उनके लिये यही बहुत था। अतः यह उत्तरदायित्व उनके सुयोग्य शिष्य कबीर को वहन करना पड़ा। "सम्मिलन की भूमिका का मूल आधार हिन्दुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफ़ीमत ने प्रस्तुत किया। सूफ़ीमत भी वेदान्त ही का रूप है, जिसमें उसने गहरे रंग का भावुक बाना पहन लिया था और इस्लाम की भावना पर इस प्रकार व्याप्त हो गया था कि उसमें अजनबीपन जरा भी न रहा और उसे वहाँ भी मूल तत्व का रूप प्राप्त हो गया।...सूफ़ीमत और उपासनापरक वेदान्त, दोनों ने मिलकर कबीर के मुख से घोषित किया कि परमात्मा एक और अमूर्त है। वह बाहरी कर्मकाण्ड के द्वारा अप्राप्य है, उसकी केवल प्रेमानुभूति हो सकती है। कर्मकाण्ड तो वस्तुतः परमात्मा को हमारी आँखों से छिपाने का काम करता है। सर्वत्र उसकी सत्ता व्याप रही है। मनुष्य का हृदय भी उसका मन्दिर है अतएव बाहर भटक कर उसे वहाँ ढूँढ़ना चाहिये।"[२]

---

[१] श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २६०, २६४, २६६।

[२] डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ २८।

यहीं पर इसका उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि नारदीय भक्ति का आश्रय ग्रहण कर वैष्णव धर्म एक ओर तो शास्त्र का अनुमोदन करता रहा और दूसरी ओर योग एवं ज्ञान का आधार लेकर निम्नवर्गीय सन्तों की चेतना को झकझोरता रहा। सन्त समाज-सुधारक नहीं थे किन्तु व्यक्तित्व को उन्होंने अवश्य सुधारने का सन्देश दिया। सामान्य जनता के जड़ीभूत जीवन में चैतन्य की जागृति इन्हीं सन्तों के द्वारा उत्पन्न की गई। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "उनकी एकेश्वरवादी भावना, सामाजिक भेद-भाव विहीनता तथा धार्मिक समानता के वैशिष्टय ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नवजागरण एवं स्वावलम्बन का भाव उठने लगा और उसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्च-वर्गीय लोगों को भी अपने नियन्त्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गये। फलतः भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख होता गया।"[1] सन्त कवि सच्चे अर्थ में लोक-धर्म के संस्थापक थे। हिन्दू और मुसलमान, बौद्ध और जैन, योगी और सन्यासी के कर्मकाण्ड धर्मशास्त्र, आचार-विचार के भर्त्सना करते हुए ये मूलतः प्रेम के पुजारी थे।

डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में "सन्त साहित्य में मानव मात्र की समानता की भावना एक मूल सूत्र की तरह विद्यमान है। विभिन्न धर्मों, जातियों और वर्णों में बँटे हुए समाज की निर्धन जनता यह विश्वास प्रकट किये बिना न रह सकी कि सभी मनुष्य भाई-भाई हैं। सन्तसाहित्य, शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच-नीच का भेद न हो, जिसमें सताने वाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हों, समाज-व्यवस्था का आधार प्रेम हो। सन्त-साहित्य की सामाजिक विषय-वस्तु का यह ऐतिहासिक महत्व है कि वह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है। उसमें जनता का लास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है, उसमें अन्याय का सक्रिय विरोध करने वाले वीरों के चित्त हैं। इस विषयवस्तु ने सुख के दिनों में जनता का मनोबल कायम रखा, जीवन में उसकी आस्था बनी रहने दी।"[2]

यद्यपि सन्त कवियों की साधना का स्वरूप वैयक्तिक था किन्तु गृहस्थ होने के नाते उन्होंने अपने सारे प्रयोग सामाजिक चेष्टाओं की ही दृष्टि से किया तथा

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी—भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं पृष्ठ ३४।

[2] पाटल—सन्त साहित्य, परिशिष्टांक, पृष्ठ २४, २५।

सामाजिक प्रगति के निर्माण में आध्यात्मिक दृष्टि का अवलम्बन ग्रहण किया। वे मात्र आध्यात्मिक साधक नहीं थे अपितु उनकी साधना अपने चतुर्दिक् बिखरी वर्णगत, जातिगत और समाजगत समस्याओं को लेकर चलती थी। उनकी पैनी दृष्टि के ही समान उनकी अंतर्दृष्टि भी पूर्ण सजग और तलस्पर्शिनी थी। उन्होंने अपनी स्वार्थशून्य सहज दृष्टि से दो विभिन्न धर्मों के बीच 'आध्यात्मिक एकोकरण' की भावना जगायी। उनकी दृष्टि राम-रहीम की भेद-भावना से परे होकर एकता के उस चरम विन्दु पर पहुँच गई थी जहाँ सारी वस्तुएँ उसी एक ब्रह्म से प्रादुर्भूत होती हैं। जब सारी सृष्टि उससे ओत-प्रोत है, ब्रह्म की सत्ता से कण-कण व्याप्त है, तब वस्तु और व्यक्ति के बीच भेद की दीवार खड़ी करना मूर्खता है।

सन्तों ने धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य के उस संक्रामक-युग में दृढ़ता के साथ मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता की घोषणा की और उस चण्डीदास की भाँति सबके ऊपर सबको छापकर विराजने वाले मनुष्य की वन्दना की। किसी भी धर्म के भीतर साम्प्रदायिकता के कटु भावों का प्रवेश पक्ष-विशेष को आग्रहपूर्वक अपनाने के तथा खण्ड सत्य को पूर्ण सत्य समझने के कारण हो जाता है, अतः सन्तों ने सत्य की किसी पार्श्वगत भावना को आधार बनाने से इन्कार किया तथा एकांगी पूजन-पद्धतियों और कर्म-काण्ड की विधियों को हेय दृष्टि से देखा। सन्त कवि, सत्य के उसी पूर्ण रूप का ग्राहक है जिसका अन्य धर्मों के प्रति अविरोधी भाव रहता है। इसी सामान्य मानव भूमि पर सन्त-कवियों ने ऐक्य एवं संगठन का निर्माण किया। सन्त दादूदयाल ने कहा—"हे भाई, मेरा धर्म सब प्रकार के पक्षपात से रहित, पूर्ण एवं अवर्ण है। मेरा किसी से वाद-विवाद नहीं, मैं इस संसार में रहते हुए भी इससे तटस्थ रहता हूँ। मैं सबको एक भाव से देखने में और उन्हें आत्मवत् समझने में प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। मुझे 'मैं' और 'तू' में कोई भेद-भाव नहीं दिखाई पड़ता, मेरा किसी से विरोध नहीं है। मैं सब के हृदय में उसी एक आश्रय रहित निराधार ईश्वर का अस्तित्व मानता हूँ, मेरी किसी व्यक्ति विशेष से मोह-ममता नहीं है। अखिल सृष्टि का सृजन करने वाला ही मेरा साथी है। चतुर लोग अपने मन में ही आनन्द का अनुभव कर लिया करते हैं। किसी प्रकार की आसक्ति से अपने मन को कलुषित न करो तथा पूर्ण ब्रह्म के प्रति अपना स्नेह निरन्तर बनाये रहो। इसी मार्ग पर चलकर तुम्हारा उस परमतत्व से मिलन हो सकेगा और तुम संसार सागर से पार उतर सकोगे।"[1]

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २—, शब्द ६७।

इस प्रकार सन्त किसी सीमित समाज की सदस्यता स्वीकार न करके अखिल सृष्टि के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का अभिलाषी है। वह सारे विश्व में अपने 'स्व' का विसर्जन कर आत्मविस्तार की इच्छा रखता है। जब वह अपने 'ना हिन्दू ना मुसलमान' होने की बात करता है तो वह अपने को अर्थान्तर से धर्म सम्बन्धी दुराग्रहों से मुक्त बतलाने की चेष्टा करता है। वह अखण्ड मानव समाज को धर्म के नाम पर खण्डित मानवता में बाँटना अन्याय समझता है। वह सब प्रकार के साम्प्रदायिक वर्ग-भेदों से परे व्यापक एवं सार्वभौम मानव-धर्म को ग्रहण करने का पक्षपाती है। डॉ० बड़थ्वाल के शब्दों में "धार्मिक दुराग्रह को किसी रूप में न अपनाने, किसी भी प्रकार के पार्थक्य की भावना को प्रश्रय न देने तथा जीवन के क्षुद्रातिक्षुद्र अंश को भी अछूता न छोड़ने वाली अपनी विशेषता के कारण उसका प्रभाव सदा व्यापक एवं सार्वभौम हुआ करता है।"[1]

प्राय: सभी सन्तों को अपने युग के सामाजिक भेद-भाव, रूढ़िवाद एवं वैषम्य से जूझना पड़ा। सन्त नामदेव ने ब्राह्मण-श्रेष्ठता को चुनौती देते हुए कहा कि गायें भिन्न-भिन्न रंगों की होती हैं किन्तु उनका दूध समान रूप से एक ही रंग का अर्थात् उज्ज्वल होता है अत: वाह्य-भेद-भाव से अन्तर करना विवेक शून्यता है—

नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दुध,
तुम कहा के बह्मन हम कहा के सुद।

वे तो जाति-पाँति के पचड़े में न पड़कर दिन-रात राम का नाम जपने के समर्थक थे—'कहा करउ जाती कहा करउ पाती, राम का नामु जपउ दिन राती'। हिन्दू देवालय में पूजा करने जाते हैं और मुसलमान मस्जिद में किन्तु नामदेव का आराधनास्थल वहाँ है जहाँ न मन्दिर है न मस्जिद।[2] यहाँ उन्होंने दोनों धर्मों की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर सामान्य भाव-भूमि सम्मिलन की योजना की है। नामदेव के पूर्ववर्ती ज्ञानदेव ने समस्त प्राणियों के भीतर 'माणिक मोला' के दर्शन किये हैं जिसका कोई रूप-रंग नहीं है, उसे काला और धवल भी नहीं कहा जा सकता। पोथी ज्ञान से वह नहीं जाना जा सकता, उस अलख को अन्तर्दृष्टि से 'लखा' जा सकता है।[3] कबीर ने सभी धर्मों के सार-तत्व को ग्रहण

---

[1] डॉ०पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय पृष्ठ ३३४।

[2] हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहँ देहुरा न मसीत।—सन्त सुधासार, पृष्ठ ५५

[3] आचार्य विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृष्ठ ९१-९२।

करते हुए मनुष्य मात्र की मूल समता की ओर संकेत किया। उन्होंने बड़ी तीखी वाणी में पक्षधरों को पक्षाग्रह से मुक्त होने का सन्देश दिया—

पषा पषी के पेषणें, सब जगत भुलाना।
निरपष होइ हरि भजै, सों साध सयांना॥
× × ×
पूरे की पूरी दृष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछु समझि न परई, या कछु बात अलेखै॥[1]

अर्थात् अधूरी साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने के ही कारण सारा संसार भूला हुआ है। जो पक्षपात विनिर्मुक्त भावना से भगवान् का भजन करता है वही सयाना साधु है। जिस प्रकार गधा अधिकतर दूसरे के ही संकेतों पर चला करता है उसी प्रकार संसार धर्मशास्त्र के खोखले कथनों के पीछे भागा जा रहा है। सच्चा भक्त तो वही है जो आत्म-दृष्टि से युक्त है। उस एक मात्र परमात्म-तत्व की अद्वैतता का जिसे पूरा अनुभव हो गया उसे ही सत्य की उपलब्धि हुई। उस पूर्णतत्व को, उसकी पूर्णता के भाव के साथ, पूर्णरूप से देखना ही सच्चा देखना है। इसका निर्णय स्वानुभूति पर निर्भर है, कुछ लेखबद्ध संकेतों से इसे हृदयंगम नहीं किया जा सकता। उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच के अन्तर को मिटाते हुए सब में अभेद रूप से एक तत्व के दर्शन किए और कहा—

हम तो एक एक करि जानां।
दोइ कहै तिनहीं को दोजग, जिन नाहिन पहिचाना॥
एकै पवन एक ही पानी एक जोति संसारा।
एकै ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा॥[2]

कबीर ने दोनों धर्मों के विरोधी तत्वों की तीव्र निन्दा करते हुए आन्तरिक ऐक्य का संगीत निनादित किया—

जो रे खुदाइ मसीति बरुत हैं, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रांम-निवासा, दुहु में किनहूं न हेरा॥
पूरब दिसा हरी का बासा, पच्छिम अलह मुकामा।
दिल ही खोजि दिले दिल भीतरि, इहां रांम रहिमांनां॥[3]

धर्मवीर कबीर ने बड़ी निर्भीकता एवं निर्लिप्त भावना से रूढ़िवाद एवं पक्षाग्रह का खण्डन करते हुए सामान्य मानवधर्म की दीक्षा दी। उन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक वैमनस्य के उस गये-बीते ज़माने में दृढ़ता के साथ मानव-मात्र

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी—सन्त काव्य, पृष्ठ १८६।

[2] श्री वियोगी हरि—सन्त सुधासार, पृष्ठ ६६।

[3] वही—पृष्ठ ७७।

की एकता का बिगुल बजाया एवं दोनों धर्मों के नेताओं को खरी-खरी सुनाकर साम्प्रदायिकता का उच्छेदन करते हुए प्रेम और ऐक्य का सन्देश दिया। कबीर ने न केवल हिन्दू और मुसलमान बल्कि सवर्ण और असवर्ण, ब्राह्मण एवं शूद्र, धनी और निर्धन, पण्डित एवं मूर्ख के बीच की खाईं को पाटने का भी प्रशंसनीय प्रयास किया। ब्राह्मण और शूद्र में अन्तर कैसा जब कि दोनों की उत्पत्ति एक ही परम ज्योति से हुई है और दोनों में एक ही रुधिर, चर्म एवं मांस-मज्जा वर्तमान है—

> **एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।**
> **एक जोति थै सब उतपनां, कौन ब्राह्मन कौन सूदा॥[1]**

कितने ठोस एवं तिलमिला देने वाले तर्क के द्वारा उन्होंने ब्राह्मण-शूद्र एवं हिन्दू-मुसलमान के बीच के भेद-भाव की शल्य-क्रिया की—

> **जो तू करता बदन-बिचारा, जनमत तोनि डण्ड अनुसारा।**
> **जनतमत सूद्र मुये पुनि सूद्रा, क्रितिम-जने उघालि जग घुन्दा।**
> **जो तुम ब्राह्मनि ब्राह्मनि जाये, अवर राह ते काहे न आये।**
> **जो तुम तुरुक तुरुकनी जाये, पेटहि काहे न सुनति कराये।**
> **कारी पियरी दुहहु माई, ताकर दूध देहु बिलगाई।[2]**

उनकी दृष्टि में सच्चा निर्धन वही है जिसके हृदय में राम नाम का धन नहीं है। सौ गाठों से गठी कौपीन को धारण करके भी साधु किसी से शंकित और भयभीत नहीं होता। राम-धन के नशे में मतवाला बना हुआ वह इन्द्र को भी दरिद्र समझता है—

> **सत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक।**
> **रांम अमलि माता रहै, गिणै इन्द्र कौ रंक॥[3]**

डॉ० रामरतन भटनागर ने 'कबीर साहित्य की भूमिका' के पृष्ठ १६८-६ में कबीर के काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि कबीर ने एक नये समाज की कल्पना की जो वाह्य से अधिक आभ्यन्तर को देखेगा, जो मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि पर स्थापित होगा। वहाँ हिन्दू नहीं होगा, मुसलमान नहीं होगा, ब्राह्मण, शूद्र, काजी-मुल्ले, ऊँचे-नीचे, ग़रीब-अमीर, पापी-पुण्यवान् सबका बाध होगा। मनुष्यता की सामान्य भावभूमि पर खड़ी सारी मानवता समान होगी।······व्यावहारिकता की भूमि पर भी सब समान

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ५७।

[2] बीजक—विचारदास—रमैनी ६२।

[3] कबीर ग्रन्थावली—विकर्त्ताई कौ अंग ८।

हों—वाह्याचारों, वाह्याडम्बरों, निरर्थक रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों और अनेक भेदोपभेदों ने मानवता को खण्ड-खण्ड कर दिया है। यह खण्ड मानवता, फिर अखण्डित विश्व-मानवता बन जाये, ऐसा प्रयत्न मध्ययुग में कबीर और उनके अनुयायी सन्तों द्वारा हुआ। कबीर ने कहा है—

> **अनगढ़िया देव, कौन करै तेरी सेवा।**
> **गढ़े देव को सब कोइ पूजैं, नित ही लावैं मेवा॥**

यह अनगढ़ देवता—यह सामान्य मानव-भाव आज भी अनगढ़ा है। कबीर की विशेषता, उनकी क्रान्ति यही है कि उन्होंने राम-कृष्ण, रहीम-करीम, ईसा-मूसा जैसे गढ़े देवताओं को छोड़कर, इस अनगढ़े सत्य-देवता की झाँकी हमें दी और अप्रगतिशील शक्तियों को इस अनगढ़े भावी-जीवन के सपने की ओर उन्मुख किया। रज्जब जी ने भी कहा है—

> **हाथ घड़े कूँ पूजता, मोल लिये का मान।**
> **रज्जब अघड़ अमोल को, खलक खबर नहिं जान॥**

सन्तों की दृष्टि में परपीड़ा का निवारण ही सच्ची मानवता है। परम वैष्णव नरसी मेहता की प्रसिद्ध घोषणा "वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे" को सन्तों ने पचाकर अपने जीवन में उतार लिया था। कबीर ने कहा था—

> **दाया राखि धरम को पाले, जग सूँ रहै उदासी।**
> **अपना सा जिव सब को जाने, ताहि मिले अविनाशी॥**
> **सहै कुसब्द बाद को त्यागे, छाँड़े गर्व-गुमाँना।**
> **सत्तनाम ताही को मिलिहै, कहै कबीर दिवाना॥**[1]

इन पंक्तियों में सन्त-स्वभाव की समस्त विशेषताएँ सिमट आई हैं। सन्त काँटा बोनेवाले के लिए भी फूल बोने की सीख देता है, दुर्बल को न सताने की ताकीद करता है क्योंकि निर्जीव में भी लोहे को भस्म कर देने की ताक़त है, फिर सजीव को सताने का फल जो होगा सो स्पष्ट ही है। वह दूसरे को ठगने की अपेक्षा स्वयं को ठगाने में सुख का अनुभव करता है, मन के अहंकार को मिटाकर ऐसी वाणी बोलने के लिए कहता है, जिससे दूसरों को शीतलता मिले और स्वयं को भी चैन मिले।[2] मानवतावादी दादूदयाल की व्यापक भावना का प्रसार पशु-पक्षियों तक हुआ है, वे वहाँ मरने की इच्छा करते हैं जहाँ उनका शरीर पशु-पक्षियों के भोजन के काम आ सके। उन्होंने अपने मत का सार

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ६८।

[2] सन्तबानी संग्रह, भाग १—पृष्ठ ४४-४५।

बताते हुए कहा है कि तन-मन के विकारों का त्याग कर अहंकार को मिटाते हुए भगवान का भजन करे और सब जीवों के प्रति निर्वैर-भाव रखे। साथ ही—

सब घटि एकै आतमा, जाणै सो नीका।
आपा पर में चीन्हिले, दरसन है पीका॥
आये एककार सब, साईं दिये पठाइ।
दादू न्यारे नाँव धरि, भिन्न भिन्न ह्वै जाइ॥[1]

इसी द्वैतानुभूति के कारण समाज में कलह मचता है, अतः इसकी जड़ पहले ही काट देनी चाहिये और सब में अद्वैत-भाव रखना चाहिये—

आये एककार सब, साईं दिये पठाइ।
आदि अन्त सब एक हैं, दादू सहज समाइ॥[2]

इसी ऐक्यानुभूति को स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं—

पूरण ब्रह्म बिचारिये, तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिये, तो नाना वरण अनेक॥[3]

मलूकदास की दृष्टि में वही सच्चा पीर है, जो दूसरों की पीड़ा को जानता है। उनकी मानवतावादी भावना का प्रसार जड़-चेतन एवं वनस्पति जगत् में भी समान रूप से हुआ है—

हरो डार न तोड़िये, लागै छूरा बान।
दास मलूका यो कहै, अपना सा जिव जान॥[4]

सन्त कवियों ने मानव की आर्थिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार की दशाओं को सुधारने की चेष्टा की। लगभग सभी सन्त मानवतावादी दृष्टिकोण रखते रहे हैं। मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को सुखी बनाने के लिए इन सन्तों ने निरन्तर जनता का ध्यान श्रेय मार्ग की ओर खींचा तथा पारमार्थिक सत्ता की एकता निरूपित करते हुए केवल मानव में ही नहीं, जीव-मात्र में अभेद-भावना की प्रतिष्ठा की। उन लोगों ने अपनी उक्तियों से बारम्बार इस सन्देश की पुष्टि की कि सद्भावना, सदाचरण और सहृदयता के प्रसार से न केवल व्यक्ति लाभान्वित होता है वरन् उससे समाज के उत्थान और विकास में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। प्रेम, परोपकार, अहिंसा, त्याग, क्षमा, सहनशीलता एवं सत्य आदि शुद्धाचरणों का व्यापार समाज में ही चलता है। अतः व्यष्टि के सुधरते ही समष्टि का सुधार स्वतः हो जाना असम्भव नहीं है।

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १—दया निर्वैरता को अंग ११, २४।
[2] वही—२५।
[3] वही—२६।
[4] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ ३७।

मानव-एकता के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए योगिराज अरविन्द ने कहा है—"आत्मा की एकता के आधार पर ही मानवता अपने वास्तविक एकता के आदर्श को पूरा कर सकती है। विश्व प्रकृति इसी ओर मानवता को ले जा रही है। सामुदायिक प्रगति के साथ ही हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखते हुए आगे बढ़ें, यही प्रकृति की इच्छा है। मानव-धर्म के इस सत्-स्वरूप का, जो आत्मा और ईश्वर के उपादानों से निर्मित है, मानव-जीवन में प्रवेश हो रहा है। मानवता इसी ओर विचारों की एकता, धर्मों के सामञ्जस्य और साधारण समृद्धि में समानता के डगों से बढ़ रही है। यह मानव मन की आन्तरिक-चेतना की अभिव्यक्ति है जो आत्मा का आत्मा से मेल होने के कारण प्रारम्भ हुई है। केवल वाह्य नहीं, अन्तर एवं प्रकृति की विचित्रताओं में भी स्नेहमय सामञ्जस्य और एकता की अभिव्यक्ति मानव-धर्म की अभिव्यक्ति होगी।...मानव धर्म ही भविष्य की आशा है, क्योंकि इसका अर्थ है विश्व में स्थित आत्मशक्ति का क्रमशः साक्षात्कार और एक दिव्य यथार्थ का बोध जिसके अन्तर्गत समस्त विश्व है और सब कुछ एक है।"[1]

यदि नवीनकरण को मानव के लिए सुसाध्य बनाना है तो आवश्यक है कि समूह और सङ्घ में भी इस कारण को संगठित किया जाय क्योंकि विराट् और व्यक्ति, दोनों एक ही परात्परपुरुष के आविर्भाव के तत्व हैं। विराट् के परे जो परात्परपुरुषोत्तम की सत्ता है, वही व्यक्ति और सङ्घ के रूप में अभिव्यक्त होती है। यदि प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से प्रेरित होकर, अपने आपको पूर्णतया प्रभु को अर्पण करके जीवन में दिव्य हेतु को सिद्ध करने के लिए और जीवन में प्रभु की ही विजय स्थापित करने के लिए कुछ लोग संगठित होकर और भगवान के ही उपकरण बनकर काम करें तो संघ में भी ऊर्ध्वंकरण का आविर्भाव हो सकता है—(१) इसका आधार ऐक्य पर होगा क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की चेतना के साथ एकता का अनुभव करेगा और परिणामतः उसे भी परस्पर ऐक्य का भी अनुभव होगा। (२) आदान-प्रदान—प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी विशेष शक्तियों का उपयोग अन्य सबों के लिए करेगा और इस प्रकार जीवन समृद्ध, विशाल और सर्वग्राही बन जायगा और (३) एक ताल एक स्वर—हर एक के काम में औरों के कार्यों के साथ संवाद और समवाय होगा क्योंकि सभी की प्रेरणा का मूल एक ही ऊर्ध्व चेतना में होगा। जैसे सङ्गीत में अनेक प्रकार के वाद्य और उनके विविध ताल-स्वर होते हुए भी एकवादिता और संवाद पैदा

---

[1] कल्याण—मानवता अङ्क, श्री अरविन्द प्रतिपादित मानव धर्म, श्रीवेंकट रमण—पृष्ठ ३४७।

हो जाता है, उसी प्रकार इस नवजीवन में भी सभी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप संवाद पैदा होगा।[१]

समष्टिगत सुधार—उपर्युक्त विचारधारा की पुष्टि हमें सन्तों के समष्टिगत सुधार में देखने को मिलती है। ये सन्त कवि प्रत्यक्षतः किसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श हमारे सामने नहीं उपस्थित करते, ये जीव को परमात्मा का अंश मानते हुए व्यक्ति का चरम लक्ष्य उसके साथ एकाकार होने में मानते हैं। इस प्रकार व्यष्टिगत सुधार के साथ-साथ समष्टिगत सुधार की प्रक्रिया स्वतः होती चलती है। ये सन्त शाश्वत-सत्य को दैनन्दिनि-चर्या में उतारने के लिये प्रयत्नशील थे और इनका दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति के मानवीय संस्कारों में परिष्कार होते चलने से किसी न किसी दिन स्वर्ग अवश्य पृथ्वी पर उतर आयेगा। अतः ये सामाजिक क्रान्ति की ओर उतना ध्यान न देकर समाज के मूलमान व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन की ओर विशेष ध्यान दिया करते थे। 'अपने' और 'पराये' के स्वार्थगत भावों से ऊपर उठकर सन्त कवि अखिल विश्व को आध्यात्मिक भ्रातृभाव में बँधा हुआ देखता है। जातिगत अभिमान (जो प्रायः भेद-भाव उत्पन्न करने वाला प्रमुख कारण माना जाता है) की ओर तीव्र चोट करते हुए गुरुनानक ने कहा—मनुष्य मात्र में स्थित परमात्मा की ज्योति ही को समझने का प्रयत्न करो। जाति-पाँति की इस तुच्छ उलझन में मत पड़ो। यह भली प्रकार जान लो कि वर्णव्यवस्था के पहले इस प्रकार की बात नहीं थी।"[२]

जाति-पाँति के भेद-भाव से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये गुरु अंगद ने इस प्रकार सामञ्जस्य बिठाने की उक्ति कही है—योगी दर्शन को ही धर्म समझते हैं, ब्राह्मण वेद के पठन-पाठन में ही धर्म को देखते हैं, क्षत्रियों का धर्म शौर्य प्रदर्शन एवं शूद्रों की सेवा है, इस प्रकार जो भेद-बुद्धि रखते हैं उनके लिए पृथक्-पृथक् ढङ्ग एवं कार्य हैं किन्तु सत्य तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य में चारों वर्णों का समन्वित रूप उपस्थित है। प्रत्येक मनुष्य किसी समय ब्राह्मण, किसी समय क्षत्रिय और किसी समय वैश्य एवं शूद्र के स्तरों से होकर गुजरता है अतः जिस व्यक्ति ने जाति के इस समन्वित रूप को अपने व्यक्तित्व में उतार लिया है वही सबसे महान् है और साक्षात् परमात्मा स्वरूप है। मैं स्वयं को ऐसे महामहिमशील व्यक्ति का दास

---

[१] कल्याण—साधना अङ्क, श्री अरविन्द की योगसाधना पद्धति और मानव संस्कृति का समन्वय, श्री अम्बालाल पुराणी, पृष्ठ ७४६।

[२] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—महला १, पृष्ठ ३४६।

होने में गौरव का अनुभव करता हूँ।[1] वैयक्तिक आचरणशीलता की शिक्षा देते हुए जपु जी (२८) में गुरु नानक ने कहा है—

मुन्दा सन्तोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहि विभूति।
खिथा कालु कुआरी काइआ जुगति डण्डा परतीति॥
आई पन्थी सगल जमाति मनि जीते जगु जीतु॥ आदेस तिसै आदेसु॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु॥२८॥

अर्थात् सन्तोष और शील की मुद्राएं बनाकर उद्यम की झोली एवं परमात्मा के ध्यान की भस्म धारण करो। काल का सतत स्मरण ही तुम्हारी कन्था हो। अपनी रहनी को कुमारी कन्या की तरह पवित्र रखो तथा श्रद्धा को अपना दण्ड बना लो। सब को तुम अपनी ही जमात का समझो, मानो सारे मनुष्य तेरे 'आई-पन्थ' के ही हैं और यह मान कर कि मन को जीत लिया तो जगत् को जीत लिया, उस आदि ईश को प्रणाम कर जो आदि, शुभ्र, अनादि, अनन्त और युग-युग से एक रूप है।

कबीर ने इसीलिए धार्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण करने के लिए किसी एक जन-समूह का सदस्य होना आवश्यक नहीं समझा। उनके विचार से धर्म का मूल-तत्व सब किसी के व्यक्तिगत चिन्ता तथा उसके अपने विश्वास के अनुसार स्वरूप ग्रहण करता है और सभी को अपनी-अपनी पहुँच के अनुपात से उसकी अनुभूति हुआ करती है, जिस कारण हृदय के शुद्ध व सच्चा रहने पर उसमें प्रेम व सन्तोष के भाव आप से आप जागृत हो उठते हैं और उसके लिये किसी वर्ग या समुदाय का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक नहीं रह जाता।[2] पन्थ-निर्माण की प्रवृत्ति कबीरदास जी में नहीं थी किन्तु नानक-पन्थ, दादू-पन्थ की देखा-देखी उनके अनुयायियों ने भी 'कबीर-पन्थ' को जन्म दिया। सम्भवतः नानक-पन्थ का निर्माण हो जाने पर ही उसका वास्तविक सङ्गठन हुआ होगा क्योंकि 'नानक-पन्थ' की स्थापना के पूर्व—'कबीर-पन्थ' के किसी व्यवस्थित रूप का पता नहीं चलता। कबीरदास जी ने सदैव धर्म के सार्वभौम स्वरूप को ही अपनाने की शिक्षा दी थी, अतः उन्होंने उसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने अथवा पन्थ-सङ्गठित करने की आवश्यकता नहीं समझी। दूसरी ओर गुरुनानक ने अपने मत के प्रचारार्थ विश्वसनीय साथी लहना को अन्तिम समय में अपने स्थान पर गुरु अंगद नाम देकर विधिपूर्वक अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया तथा अपने समस्त अनुयायियों को उन्हें अपनी जगह गुरु मानने की भी आज्ञा दी।

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, महला २, पृष्ठ ४६६।

[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २५५।

चतुर्वेदी जी ने ठीक ही कहा है कि वास्तव में गुरु नानक देव को एक ऐतिहासिक व्यक्ति, उनके द्वारा प्रवर्तित मत को एक सुव्यवस्थित व सुसङ्गठित सम्प्रदाय का सिद्धान्त तथा उनके अनुयायियों को ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार विकसित एक धार्मिक समाज, हमें मान लेना ही पड़ता है।[1] इस प्रकार कबीर ने जहाँ अपने विचारों को जनता के बीच प्रकट और प्रचार करके ही छोड़ दिया, वहाँ नानक ने अपने सिद्धान्तों व उपदेशों का सम्यक् पालन अपने मरने के बाद भी होने के लिए एक सङ्गठित सम्प्रदाय को जन्म दिया। इस सङ्गठन का इतना महत्व है कि 'जहाँ कहीं पर केवल एक सिख है, तो वह केवल एक सिख (सीखने वाला) है पर जहाँ दो भी सिख मिल जाते हैं, वहाँ एक सन्त-समाज बन जाता है और यदि कहीं पर पाँच सिख हो गये तो वहाँ स्वयं परमात्मा को विद्यमान समझना चाहिये।' यद्यपि इसमें स्वधर्म की श्रेष्ठता एवं महत्ता का प्रतिपादन कुछ प्रशंसात्मक पद्धति से किया गया है किन्तु इसके पार्श्व में जो सङ्गठन की भावना निहित है, उसका लक्ष्य स्पष्ट है।

निस्सन्देह नानक ने कबीर के द्वारा जलाई गई एकता की मशाल को बड़े उत्तरदायित्व के साथ अपने हाथों में लिया तथा दादूदयाल ने उसे उनसे ग्रहण कर उसके प्रकाश में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी। प्रकारान्तर से एकता के जिस भवन का शिलान्यास कबीर ने किया उस पर भवन-निर्माण का कार्य नानक और दादू के द्वारा सम्पन्न किया गया। नानक ने भी कबीर की भाँति व्यष्टिगत-सुधार पर जोर देते हुए कहा—"अपने निर्मल चरित्र को अपना काबा समझो। सच्चाई को अपना रहनुमा मानो तथा सत्कार्यों को अपना मजहब एवं उपासना जानो।" दादूदयाल ने अपने 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' का सूत्रपात अपने साथियों की गोष्ठी के रूप में आध्यात्मिक तत्वों की चर्चा द्वारा किया था। उनका प्रमुख उद्देश्य तत्कालीन प्रचलित परस्पर-विरोधी धर्मों या सम्प्रदायों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करना था एवं वे एक ऐसी सामान्य जीवन-पद्धति की खोज में थे जिसे अपनाकर सारा समाज एकसूत्र में बँध जाय। पण्डित चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी का कथन है कि "ज्ञानी-अज्ञानी, ऊँच-नीच सभी के अनुकूल तथा सरल एक धर्म का आदर्श स्थापित हो—ऐसी दादू की आन्तरिक इच्छा थी, जिसमें ऊँच-नीच के कृत्रिम भेद-भाव मिट जायें और निर्बल को दबाकर कोई जरूरत से ज्यादा धन न इकट्ठा करे, यही उनके मन में था। इसी प्रकार के और भी बहुत से आदर्श दादू के मन में थे।" सङ्गठन के पूर्व उन्होंने सोचा था कि, यदि पवन, पानी, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र (ये सभी तो रात-दिन सब की सेवा करते अग्रसर हो रहे हैं) तथा

[1] प० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २८८।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये किसके पन्थ में हैं तो फिर किसी एक पन्थ-विशेष का अनुयायी बनकर क्यों रहा जाय ? क्यों न उस एक मात्र 'जगतगुर अलष इलाही' की उपासना की जाय, जिसके सिवाय कोई दूसरा नहीं है—

> ये सब किसके पन्थ में, धरती अरु असमान।
> पानी पवन दिन राति का, चन्द सूर रहिमान।।
> ब्रह्मा बिस्नु महेश का, कौन पन्थ गुरुदेव।
> साईं सिरजनहार तू, कहिये अलख अभेव।।
> ये सब किसके ह्वै रहे, यह मेरे मन माँहि।
> अलख इलाही जगतगुर, दूजा कोई नाँहि।।[1]

किसी पक्षविशेष का आश्रय ग्रहण करना, अद्वितीय ब्रह्म को टुकड़े-टुकड़े करके अपनाने का प्रयत्न करना है। इस प्रकार की क्रिया सारे अनर्थों की जड़ है, क्योंकि इससे भ्रम की गाँठ मजबूत होती है—

> खण्डि खण्डि करि ब्रह्म को, पाखि पाखि लीया बाँटि।
> दादू पूरण ब्रह्म तजि, बँधे भरम की गाँठि।।

सच्ची एकता और पहुँचे हुए साधकों के क्षेत्र में तो किसी प्रकार का मतभेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि—

> जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै जाति।
> सबै सयाने एक मति, उनकी एकै जाति।।
> जे पहुँचे ते पूछिये, तिनकी एकै बात।
> सब साधों का एक मति, ये बिच के बारह बाट।।
> सबै सयाने कहि गये, पहुँचे का घर एक।
> दादू मारग माँहि के, तिनकी बात अनेक।।[2]

साधक जब सब प्रकार के साम्प्रदायिक भेद-भाव से ऊपर उठ जाता है और उसके हृदय में समत्व-सिद्धान्त की भावना आ जाती है, तभी उसके सारे संसारी भ्रमों का स्वतः परिहार हो जाता है और वह समता के उच्च आसन पर आसीन हो परम प्रभु के दर्शन करता है—

> अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
> हिन्दू तुरक भेद कछु नाही, देखौं दरसन तोरा।।

वह हैरान होकर सोचता है कि हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, पण्डित-मूर्ख या धनी-निर्धन, में भेद-भाव कैसा ? क्योंकि दोनों के एक ही प्राण है, एक से शरीर हैं, रक्त-माँस, नेत्र-नासिका भी एक से हैं। दोनों को कडुवे-मीठे की

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, साध को अंग—११३, ११४, ११६।
[2] वही —१८६-१६१।

अनुभूति भी एक-सी होती है, दोनों एक से शब्द का श्रवण करते हैं, दोनों को एक-सी भूख लगती है। दोनों की संवेदनाएँ भी समान हैं, दोनों को सुख-दुख में भी एक-सी ही अनुभूति होती है तो फिर यह बीच का भेद-भाव कैसा? मनुष्य के प्रति यह मनुष्य की उपेक्षा, घृणा और ग्लानि कैसी? और तब उसे सोचते-सोचते एक दृष्टि मिलती है (एक सम्यक् दृष्टि)—

यहु सब षेल षालिक हरि तेरा, तैंहि एक कर लीना।
दादू जुगति जांनि करि ऐसी, तब यहु प्रांन पतीनां॥[1]

दादूदयाल के मत से साधक के लिए समभाव रखना आवश्यक है। साथ ही सेवा-धर्म में विघ्न डालने वाले अहं का त्याग भी करना एक सन्त का परम कर्तव्य हो जाता है। उसे मन को स्थिर कर विनम्र भाव से भगवान पर पूर्ण विश्वास रखते हुए उनकी शरण में जाना चाहिये—

आपा गर्ब गुमान तजि, मद मंछर हंकार।
गहै गरीबी बंदगी, सेवा सिरजनहार॥

अन्यत्र भी उन्होंने अहंकार का पूर्ण विसर्जन कर भगवान का भजन करते हुए अपने तन-मन में किसी प्रकार का विकार न आने देने एवं निर्बैर-भाव से जीवन-यापन करने को अपने मत का सार बतलाया है—

आपा मेटै हरि भजै, तन-मन तजै विकार।
निरबैरी सब जीव सों, दादू यह मत सार॥[2]

साधुओं की सत्संगति एवं परोपकार को उन्होंने अपनी साधना में उचित महत्व दिया है—

साध नदी जल राम रस, तहाँ पखालै अंग।
दादू निर्मल मल गया, साधू जन के संग॥
चंद सूर पावक पवन, पाणी का मत सार।
धरती अम्बर राति-दिन, तरवर फलै अपार॥[3]

पण्डित परशुराम चतुर्वेदी जी के शब्दों में दादूदयाल के सिद्धान्तों का निचोड़ इसी प्रकार है जिस प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा तथा जगत् की अभेदमयी मौलिक एकता है और उस मूल तत्व का सच्चा स्वरूप सहजशून्य एवं प्रेममय है, उसी प्रकार उनकी साधना एवं व्यवहार का भी निष्कर्ष 'सहज, समर्पण, सुमिरण और सेवा' है। कबीर नानक व दादू के मुख्य उपदेशों एवं समाज के प्रति उनकी पृथक्-पृथक् देनों पर भी यदि हम विचार करें तो कह सकते हैं कि

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, साध को अंग ६६।

[2] वही, भाग १,—दया निर्बैरता को अंग २।

[3] वही—साध को अंग ११, ५३।

कबीर साहब ने यदि स्वातन्त्र्य एवं निर्भयता को अधिक प्रधानता दी, तो गुरु नानक देव ने समन्वय तथा एकता पर विशेष बल दिया और दादूदयाल ने उसी प्रकार सद्भाव एवं सेवा को ही श्रेष्ठ माना। परन्तु इन बातों का यह अर्थ नहीं कि इनमें से किसी की मनोवृत्ति एकाङ्गी थी। साधनाएँ सभी की पूर्णाङ्क थीं, विशेषताओं का कारण केवल अवस्था-भेद हो सकता है।[1]

आगे चलकर उपर्युक्त सन्त-त्रय द्वारा निर्मित एकता के भवन को अधिक दृढ़ करने में रज्जब जी का भी कम योग नहीं है। भक्ति के क्षेत्र में उन्हें जाति-पाति एवं कुलीन-अकुलीन की भेद भावना विष के समान लगी। उन्होंने डंके की चोट पर कहा—

नामा कबीर सु कौन थे, कुन राँका बांका।
भगति समानी सब घरनि, तजि कुल का नाका॥
बिदुर बादरा बंसते, सो भक्ति न छोड़ै। नीच ऊँच देखै नहीं, मन मानै मोड़ै॥
रज्जब रोकी ना रहे, आग्या लै आई। राव रंक सब सारिखै भाव भगति पाई॥[2]

उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की संकुचित सीमा को छोड़कर अपने पैदा करने वाले सिरजनहार से प्रीति करने को कहा, क्योंकि पक्ष-विशेष को ग्रहण कर कोई पार नहीं पहुँच सका—

हेत न करि हिन्दू धरम, तजि तुरकी रस रीति।
रज्जब जिन पैदा किया, ताही सूं करि प्रीति॥
रज्जब हिन्दू तुरक तजि, सुमिरहु सिरजनहार।
पखा पखी सूं प्रीति करि, कौन पहूँचा पार॥
हिन्दू तुरक दून्यूं जल बूँदा, कासूं कहये बांभण सूदा॥
रज्जब समता ज्ञान विचारा, पंच तत्त का सकल पसारा॥[3]

वे यह भली-भाँति जानते थे कि धर्म के वास्तविक स्वरूप की उपेक्षा करने और माला-तसबीह के वाह्य भेद को लेकर चलने के कारण साम्प्रदायिक कलह का जन्म होता है, अतः उन्होंने अनेकता का खण्डन कर एकता पर जोर दिया—

नारायण अरु नगर के, रज्जब पंथ अनेक।
कोई आवौ कहीं दिसि, आगे अस्थल एक॥[4]

प्रेम और बन्धुत्व के पुजारी सन्त बाबा लालदास ने सेवा का सिद्धान्त

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी,—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ४५०, ४५३।

[2] सन्तसुधार सार—पृष्ठ ५२०।

[3] वही—पृष्ठ ५३०। ५७, ५८,५६।

[4] वही—पृष्ठ ५३०। ६०।

अपनाकर सभी धर्मों के बीच एक ही लक्ष्य की ऐक्य-भावना का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—एक ही प्रेम तत्व की ओर सब खिंचे चले जा रहे हैं फिर तू मन्दिर या मस्जिद की बात क्यों करता है ? सन्त सुन्दरदास के द्वारा बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढङ्ग से एकता का दिव्य सन्देश दुहराया गया जिसको सब लोगों ने बड़े ध्यान से सुना। उन्होंने कहा कि संसार में सब कोई चिह्न-बिना आये हैं, किसी के माथे पर हिन्दू या मुसलमान होने का चिह्न नहीं है, बाद में लोगों ने यहाँ भेद-भावमूलक पन्थों को चलाया। अतः मैंने दोनों पन्थों के कृत्रिम आडम्बरों को त्यागकर उस एक से सहज स्नेह जोड़ा। न मैं यज्ञोपवीत धारण करता हूँ और न सुन्नत करवा के पागल बनता हूँ, न माला जपता हूँ न तसबीह, न तीर्थ जाता हूँ न मक्का, न एकादशी का व्रत करता हूँ और न रोजा रखता हूँ। उनका कथन है—

हिन्दू की हदि छांड़ि कै, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हियाँ, एकै राम अलाह ॥[1]

सब प्रकार की वासनाओं को त्यागकर एवं छल-छन्द को छोड़ हृदय स्थित प्रभु के दर्शन करता हुआ सर्वात्म भाव से कि—एक तूही समस्त प्राणियों में समाया है—ऐसी धारणा मन में उत्पन्न करने की सुन्दर शिक्षा उन्होंने दी है—

अवल उस्ताद के कदम की खाक हो हिरस बुगुजार सब छोड़ि फैंना।
यार दिलदार दिल माँहि तू याद कर, है तुझी पास तूँ देखि नैंना ॥
जान का जान है जिन्द का जिन्द है, सखुन का सखुन कछु समुझि सैंना।
दास सुन्दर कहै सकल घट मैं रहै, 'एक तू' एक तैं बेलि मैंना ॥[2]

सुन्दरदास जी ने ब्राह्मण और चाण्डाल में भी पूर्ण समता देखी। उन्होंने बड़े रोचक ढङ्ग से कहा कि दीपक ने तो ब्राह्मण और चाण्डाल के घर में अपना प्रकाश देने में आना कानी नहीं की। अन्त्यज के जल-कुम्भ में तथा ब्राह्मण के कलश में सूर्य की छाया एक सी पड़ती है अर्थात् वह प्रभु दीपक, ज्योति एवं सूर्य के द्वारा हमें इस प्रकार समता का पाठ पढ़ाया करता है, अतः हमें संकुचित भेद-भावना से उसके पवित्र निवास (हृदय) को कलुषित नहीं करना चाहिये।

दीपक जोयो बिप्र घर, पुनि जोयो चंडाल।
सुन्दर दोऊ सदन को, तिमिर गयो ततकाल ॥

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५६७।

[2] वही—पृष्ठ ६१३।

अंत्यज के जल-कुम्भ में, ब्राह्मन कलस मँझार।
सुन्दर सूर प्रकाशिया, दुहुँवनि में इकसार ॥[1]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने सन्तों की सामाजिक दृष्टि के विषय में लिखा है कि "समाज की व्यवस्था तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि विविध-व्यक्तियों और वर्गों का समुचित संगठन न हो। सन्त-सम्प्रदाय में जो विधि-निषेध का आग्रह है, वह इसलिए कि व्यक्ति गुणों के ग्रहण और दोषों के त्याग से अपने जीवन को सात्विक बना सके। यह सात्विकता जहाँ एक ओर धार्मिक जीवन की सम्भावनाएँ उपस्थित करती है, वहाँ दूसरी ओर वह समाज में नैतिकता का प्रसार भी करती है। नीति की नींव पर जिस समाज का संगठन होता है, वह स्थायी और दृढ़ होता है। सन्त-सम्प्रदाय ने समाज की व्यवस्था में पवित्र जीवन को अधिक महत्व दिया है।"[2]

आधुनिक युग के कविमनीषी रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन्त-दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान के मिलन की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने-अपने संकीर्ण दायरों से निकल कर बाहर की ओर यात्रा करनी होगी। धर्म को कब्र की तरह चुनकर समूची जाति को हमेशा के लिए भूतकाल के भीतर दफना देने से उन्नति के पथ पर चलना असम्भव हो जायगा। उस रास्ते कभी कोई नहीं मिल सकेगा। हमारी मानसिक प्रकृति के भीतर जो अवरोध दृढ़ हो गया है, उसे सम्पूर्णतया मिटाये बिना हम किसी प्रकार की कोई स्वाधीनता उपलब्ध नहीं कर सकेंगे। 'पंखों की आपेक्षा पिंजड़ाबड़ा है' इस संस्कार को हमें उलट ही देना होगा तभी हमारा कल्याण सम्भव है।"[3]

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मानुषेर धर्म' में भी उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच के आन्तरिक ऐक्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है—"मनुष्य अपनी उन्नति के साथ-साथ व्यक्ति सीमा को पारकर वृहत् मनुष्य हो उठता है। उसकी समस्त श्रेष्ठ साधना इसी वृहत् मनुष्य की साधना है। यही वृहत मनुष्य अन्तर का मनुष्य है। बाहर नाना देशों की नाना समाजों की नाना जातियाँ हैं किन्तु अन्तर में केवल एक मानव है।[4] मनुष्य अपने अन्तर की गम्भीरतर चेष्टा के प्रति लक्ष्य कर अनुमान करता है कि वह केवल व्यक्तिगत मनुष्य नहीं है, वह विश्वगत मनुष्य का एकात्म है। वही विराट मानव —अविभक्तं च भूतेषु विभक्त-

---

[1] सन्त सुधारसार—पृष्ठ ६५२।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा, अनुशीलन, पृष्ठ ८७।

[3] विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ५, अंक ४, पृष्ठ ५३८-६-४०।

[4] रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मानुषेरधर्म, अनुवादक, रघुराज गुप्त एम० ए०, पृष्ठ १।

मिवच स्थितम्'। उसी विश्व मानव की प्रेरणा से व्यक्तिगत मनुष्य ऐसे समस्त कार्यों में प्रवृत्त होता है जो कि उसकी भौतिक सीमा के अतिक्रमण की दिशा में है। जिसे वह कहता है, अच्छा कहता है, सुन्दर कहता है, केवल समाज रक्षा के ख्याल से ही नहीं, अपनी आत्मा की परिपूर्ण परितृप्ति के ख्याल से।"[1]

"समग्र के बीच ही शिव हैं। आचारवादी जिस समय सामाजिक कृत्रिम विधि द्वारा खण्डता की सृष्टि करते हैं, उस समय कल्याण को खोकर उसके बदले में जो काल्पनिक पदार्थ देकर मनुष्य अपने को भुलावे में डालता है, उसे उसने पुण्य का नाम दिया है। वह पुण्य और जो कुछ हो, शिव नहीं है।[2] एक दिन ब्राह्मण रामानन्द ने अपने शिष्यों के पास से चले जाकर नागा चण्डाल का, मुसलमान जुलाहे कबीर का, रविदास चमार का आलिंगन किया। उस दिन के समाज ने उन्हें जातिच्युत किया। किन्तु वे अकेले ही उस दिन सबसे बड़ी जाति में ऊँचे उठे थे जो जाति निखिल मनुष्य की है। उस दिन ब्राह्मण-मण्डली की धिक्कार के बीच खड़े होकर रामानन्द ही ने कहा था—सोऽहम्—उसी शक्ति की ही शक्ति से वे उसी क्षुद्र संस्कारगत घृणा को पार कर गये थे जो मनुष्य-मनुष्य में भेद कर समाज-स्थिति के नाम में समाज-धर्म के मूल पर आघात करती है।"[3]

रवि ठाकुर के उपर्युक्त कथन की सत्यता सन्तों के आचरण एवं उनकी बानियों में स्पष्ट लक्षित होती हैं। सन्त कवियों ने मानव-समाज को धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करना उचित नहीं समझा। 'मनेर मानुष मनेर माझे करो अन्वेषण'—बाउल के इस कथन को कार्य रूप में परिणत करने का प्रशंसनीय प्रयास सन्तों ने सामाजिक दृष्टि से ऐक्य एवं संगठन की भूमिका पर रखकर किया। उनका सन्त-धर्म सब प्रकार की कृत्रिम वर्ग-भावना से ऊपर उठकर महामानव की असीम दाय पर अवलम्बित है। साम्प्रदायिक पक्ष-विशेष के पिंजड़े की सीमा को लाँघकर उनकी वैयक्तिक साधना से संवलित पंखों की उड़ान आध्यात्मिकता के असीम आकाश के ओर-छोर नापने के लिए प्रयत्नशील है। धार्मिक दुराग्रह का वहिष्कार करने, किसी भी प्रकार की पार्थक्य की भावना को प्रश्रय न देने तथा जीवन के क्षुद्रातिक्षुद्र अंश को भी समेट कर ले चलने एवं विशुद्ध मानवता के धरातल पर खड़ा होने के कारण सन्त-साहित्य का सन्देश गतिशील तत्वों की भाँति युग-युगों तक भावी संस्कृति का पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

●●●

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर; मानुषेरधर्म, अनुवादक, रघुराज गुप्त एम० ए०, पृष्ठ ४।

[2] वही—पृष्ठ ४१।

[3] वही—पृष्ठ ५६।

१. घ. व्यक्तिगत—भक्ति, प्रेम, रहस्यानुभूति

साधना के क्रमिक सोपान—सन्त-साहित्य में सन्तों की व्यक्तिगत साधना का प्रकाशन बड़ी सुन्दरता, सरसता और स्वाभाविक्ता के साथ हुआ है। यह व्यक्तिगत साधना वस्तुतः भक्ति, प्रेम और रहस्यानुभूति की साधना है, जो उत्तरोत्तर आत्मा की परमात्मा के प्रति निश्छल और घनिष्ट सम्बन्ध की प्रगाढ़ता की परिचायिका है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने भक्ति को मन की दौड़ कहा है। "मन जिसे चाहता है उसकी तरफ दौड़ता है। इसी तरह वह जिसे चाहता है उसे अपनी ओर खींचता भी है। यही आकर्षण-क्रिया भक्ति का बीज है।[1]" भक्ति के क्षेत्र में परस्पर आकर्षण-विकर्षण की क्रिया इतनी तीव्र होती है कि कभी स्वतः भगवान को भक्त की स्मरण-आराधना करनी पड़ जाती है। सन्त मलूकदास ने इसी भाव से प्रभावित होकर बड़ी निश्चिन्तता से कहा है—

माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम ॥[2]

भक्ति की भावना एवं उसका सम्बन्ध जब प्रगाढ़ावस्था को पहुँच जाता है तब साधक, प्रेम-साधना में अनुरक्त होकर सर्वत्र परमात्मा की प्रेममयी सत्ता का दर्शन करता है। जिस ओर वह अपनी दृष्टि फेंकता है उसी ओर उसे 'लाल की लाली' दिखाई पड़ती है। प्रेम के ढाई अक्षर को पढ़कर वह पण्डित (पूर्णावस्था को प्राप्त) हो जाता है। वह प्रत्येक जीव में उस परम विभु की झाँकी पाता है। आठों पहर मस्ती में डूबा रहकर छककर प्रेमसुरा का पान करता है जिसका नशा कभी उतरता ही नहीं तथा शरीर की सुध-बुध खोके वह मतवाला बना घूमता रहता है।[3] प्रेम द्वारा असीम को सीमा में लाकर उसकी उन्मादक रसस्विनि में स्वयं को जब वह निमज्जित कर देता है एवं हृदय की दिव्यभावानुभूति के आवेश में उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब उसे रहस्यानुभूति होती है। गुरुदेव ने कहा है—"हमारी आत्मा जब संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं में बँधी रहती है तो अपनी विशेषता खो देती है। इसकी विशेषता एकत्व में ही है। वह विश्व से समभाव होकर ही अपने सत्व-स्वरूप का बोध कर सकती है और तभी उसे आनन्द की अनुभूति होती है।"[4]

---

[1] श्री हरिभाऊ उपाध्याय—भागवत धर्म, पृष्ठ.६८।

[2] मलूकदास जी की बानी—साखी ४१, पृष्ठ ३६।

[3] कबीर ग्रन्थावली—रस कौ अंग ४।

[4] रवीन्द्रनाथ ठाकुर—साधना, अनुवादक, सत्यकाम विद्यालंकार, पृष्ठ २४।

व्यक्तिगत अनुभूति और उसकी विशेषता—इस प्रकार की अनुभूति सामूहिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकती है, अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य के स्वरूप का ज्ञान भी उतना ही हो सकता है जितना उसके निजी अनुभव में आ सके। जिसका पात्र जितना छोटा-बड़ा होता है, उसी परिमाण में उसमें जल समा सकता है। वेद, कतेब एवं अन्य धार्मिक ग्रथों में एक व्यक्ति-विशेष की अनुभव-राशि निहित रहती है, अतः उसे उसी सीमा तक हमें ग्रहण करना चाहिये, जितनी दूर तक हमारे विचारपूर्ण अनुभव की संगति उससे बैठ जाय। कोरी अन्धश्रद्धा-वश उसे स्वीकार करना अपने आपको धोखा देना है। सन्तों ने पूर्ण सत्य को पूर्णरूप से जान लेने का कहीं भी दावा नहीं किया और न दूसरों के द्वारा ऐसा किया जाना उन्हें मान्य है। कबीर ने कहा है कि—"जस तूं तस तोहिं कोई न जान। लोग कहै सब आनहिं आंन।"[1] वह जिस व्यक्ति के अनुभव में जैसा अपने को अभिव्यक्त कर देता है वैसे ही वह उसका वर्णन करने लगता है—"जहुवां प्रकटि बतावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा।"[2] सद्गुरु की विचारपूर्ण सांकेतिक कृपा से उन्होंने उस 'अविगत' को अपने अनुभव के अनुसार ग्रहण कर लिया तथा अपने-अपने अनुमान के अनुसार ही स्मरण करते हुए उसे किंचित् जान भी लिया—

सतगुर तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार।—क० ग्र० पद ३८६।
सुमिरत हूं अपने उनमाना, क्यंचित जोगराम मैं जाना।—वही रमैणी ४।

किन्तु यह एक विचित्र बात है कि व्यक्तिगत दृष्टि की ग्रहणशीलता में अन्तर होते हुए भी उपलब्धि में एक अद्भुत साम्य होता है। दादूदयाल ने कहा भी है—

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मत, तिनकी एकै जात॥

रज्जब जी ने उस उपलब्धि को कसने की कसौटी भी बतला दी है—'सब साँच मिलै तो साँच है, ना मिलै तो झूंठ।' क्योंकि "सम्पूर्ण सत्य अवरोधी होता है। जहाँ भी विरोध दीखे, वहाँ सोचने की जरूरत होगी। हो सकता है कि दो भिन्न-भिन्न जन-समुदाय मोहवश दो असत्य बातों को ही बड़ा सत्य मान बैठे हों। हो सकता है कि दोनों सही रास्ते पर हों पर उनके दृष्टिकोण गलत हों। यदि हमें अपनी गलती मालूम हो तो उसे निर्मम भाव से छोड़ देना होगा।"[3] सन्तों

[1] **कबीर ग्रन्थावली, पद—४७।**

[2] **वही—रमैणी ३।**

[3] **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—अशोक के फूल, चतुर्थ संस्करण, १९५५,** पृष्ठ ७७।

में विशेषतया सन्त-मत के प्रवर्तक कबीर में यह विशेषता विशेष रूप से पाई जाती है जिनके विषय में आचार्य जी ने लिखा है कि "वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगी भर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी।"[1]

भक्ति की प्रधानता—सन्त कवियों ने अपने पदों, साखियों एवं बानियों में बार-बार भक्ति के माहात्म्य का गान किया है। उनका सारा काव्य, भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है। वे भव-सागर से तरने का एक मात्र संबल भक्ति-साधना को मानते हैं और संसार के आर्त्तजनों को भगवान की भक्ति करने की सलाह देते हैं। उनके काव्य में भक्ति-महिमागायन के स्थल, अनुपात से इतने अधिक हैं कि उनका निर्गुणवादी रूप ओझल हो जाता है और वे भक्ति के सर्वपक्षी अग्नि में अपना सर्वस्व होमने वाले निरीह भक्त के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। भक्त कबीर भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ मानते हैं, सज्जनों की संगति और भगवान के भजन के बिना कहीं भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता।[2] जितने दिन भक्ति के बिना बीत गये, वे उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं। संसार रूपी समुद्र विषाक्त जल से भरा हुआ था जिसे देखकर मन से धैर्य छूटा जाता था, परन्तु मार्ग में सबल स्नेही भगवान मिल गये जिनकी सहायता से कबीर इस समुद्र से पार उतर गये। कबीर कहते हैं कि मेरा भाग्य पूर्ण था जिससे मैं भलीभाँति सुखपूर्वक पार हो गया। मैंने राम नाम की नौका का आश्रय ग्रहण कर लिया जिससे पानी-कीचड़ सभी से बच गया।"[3] हरि भक्ति के बिना संसार में जीने को धिक्कार है क्योंकि संसार के वैभव-विलास को धुएँ के महल की भाँति नष्ट होते देर नहीं लगती।[4] जिस व्यक्ति ने भक्ति की साधना नहीं की, वह उनकी दृष्टि में घोर अपराधी है, वह पैदा होते ही क्यों नहीं मर गया—

जिह नर राम भगति नहि साधी। जनमत कस न मुओ अपराधी।

ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ 'बीजक' में भी उन्होंने मुक्त-भाव से भक्ति की श्रेष्ठता घोषित की है—

भरम क बाँधल ई जग, कोई न करै विचार।
हरि की भगति जाने बिना, भव बूड़ि मुआ संसार॥—बीजक र० ७४

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पाँचवाँ परिवर्धित संस्करण, १६५५, पृष्ठ १५७।

[2] सन्त कबीर—राग गउड़ी ५६।

[3] कबीर ग्रन्थावली—उपजणि कौ अंग १२, ६, १०।

[4] वही—पृष्ठ २३।२७।

सन्त रैदास ने भक्ति की महत्ता निर्विवाद भाव से स्वीकार की है। प्रस्तुत पंक्तियों से इस कथन की पुष्टि होती है—

तीरथ बरत न करौं अंदेसा। तुम्हरे चरन कमल का भरोसा ॥
मैं अपनो मन हरि सों जोर्यो। हरि सों जोरि सबन सों तोर्यो ॥

× × ×

थोथा मन्दिर भोग बिलासा। थोथी आन देव की आसा।
सांचा सुमिरन नाम-बिसासा। मन बच कर्म कहै रैदासा ॥

प्रेम-भक्ति के ही कारण रैदास का उद्धार हो गया और वे नीचे से उच्च बनकर भक्तों के सिरमौर हो गये—

जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है, कहि रैदास चमारा ॥
प्रभु जो तुम संगति सरन तिहारी। जग-जीवन राम मुरारी ॥[1]

सिक्ख गुरुओं की कविता में भक्ति की पावन पयस्विनि प्रवाहित हुई है। गुरुओं द्वारा निरूपित सभी पथ कर्ममार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग, भक्ति की धारा से सिंचित है। बिना परमात्मा की रागात्मिका भक्ति के कर्म पाखण्डपूर्ण और आडम्बरयुक्त है, ज्ञान 'चंचु-ज्ञान' मात्र है और योग शरीर का व्यायाम-मात्र है। परमात्मा की प्रेम-भक्ति ही कर्मयोग को निष्काम कर्मयोग बनाती है, ज्ञान को ब्रह्म-ज्ञान का रूप देती है और योग को सहज-योग में परिणत करती है, इसीलिए गुरुओं के अनुसार किसी भी मार्ग की साधना, बिना भक्ति के निष्प्राण और निस्तत्व है।[2] निम्न उक्तियों से इस कथन की सार्थकता सिद्ध होती है—

भगति भाइ हरीए संसारु। बिनु भगती तनु होसी छारु ॥
सरब कलिआण-सूख-निधि नामु। बूड़त जात पाए बिसाभु ॥
सगल दूख का होवत नासु। नानक नामु जपहु गुन तासु ॥

× × ×

मन रे राम भगति चितु लाईऐ।
गुरमुखि राम नामु जपि हिरदै सहज सेती घरि जाईऐ ॥
मरमु भेदु भउ कबहु न छूटसि आवत जात न जानी।
बिनु हरिनाम कोउ मुकति न पावसि डूबि मुए बिनु पानी ॥

× × ×

[1] रैदास जी की बानी, पद ८७।

[2] डॉ० जयराम मिश्र—श्री गुरुग्रन्थ दर्शन, पृष्ठ २८३।

राम नाम बिन बिरथे जगि जनमा ।
बिखु खावै बिखु बोलै बिनु, नावै निहफलु मरि भ्रमना ।।
पुसतक पाठ बिम्राकरण बखाणै, संधिम्रा करम तिकाल करै ।
बिनु गुरसबद मुकति कहा प्राणी, राम नाम बिनु उरभि मरै ।।
डण्ड कमण्डल सिखा सूत धोती, तीरथि गवनु म्रति भ्रमनु करै ।
राम नाम बिनु सन्ति न म्रावै, जपि हरि नामु सुपारि परै ।।
जटा मुकुट तनि भसम लगाई, वसत्र छोडि तनि नगन भइम्रा ।
जेते जीम्र जन्त जलि थलि महो, म्रलि जत्र कत्र तू सरब जीम्रा ।।
गुर परसादि राखिले जन कउ, हरि रसु नानक भोलि पीम्रा ।।[1]

भक्ति की तल्लीनताजन्य म्रानन्द की म्रभिव्यक्ति कलम-दावात के माध्यम से नहीं की जा सकती । शब्दों के भीने म्रावरण में वह दुर्लभ रस टिक नहीं पाता । यह तो हृदय में ही लिखा जा सकता है जो कभी भी नहीं मिट सकता, नहीं टूट सकता—

कलउ मसाजनी किम्रा सदाईऐ, हिरदै ही लिखि लेहु ।
सदा साहिब के रंगि रहै, कबहूँ न तूटसि नेहु ।।[2]

सन्त दादूदयाल की भक्ति-साधना में तो उनके प्राणों का म्रासव ही खिचकर उफन पड़ा है । उनकी विनम्र म्रौर कातर उक्तियों में म्रात्मा की मूक म्राकुलता सहस्र कण्ठों से मुखरित हुई है । कभी वे दुधमुहें बच्चे की तरह रूठते-मचलते प्रभु से कहते हैं कि "म्रो माँ ! मेरे प्रति कृपालु बन म्रौर मुझे दर्शन देकर मेरा पालन कर । यदि माँ बच्चे को दूध न दे तो वह कैसे जीवित रह सकता है ? भगवान भक्तों के गुण-म्रवगुणों पर ध्यान न देकर म्रान्तरिक प्रेम को परखकर उनका पालन करते हैं म्रौर उन्हें म्रपना समझते हैं । मेरा कुछ भी बस नहीं है । हाँ, केवल एक यही बल है कि तू माँ है म्रौर मैं तेरा वत्स ।"[3] कभी वे उत्कण्ठित स्वरों में कहने लगते हैं—भगति माँगौं बाप भगति माँगौ । मुझे तुम्हारे नाम से प्रेम है, उसके बदले में मैं ब्रह्मपुर, शिवपुर, बैकुण्ठपुर, इन्द्रासन, मोक्ष, ऋद्धि-सिद्धि कुछ भी नहीं लेना चाहता । मैं तो तुम्हारी सञ्जीवनी-भक्ति के रङ्ग में रँगा हुम्रा हूँ म्रौर म्रापके निर्मल-नाम-रस का पान करता हूँ । म्रन्त में वे कहते हैं—

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ३६७, २४५, २४६ ।

[2] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—महला ३, पृष्ठ ८४ ।

[3] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद १७८ ।

आतमा अन्तर सदा निरन्तर, ताहरी बाप जो भगति दीजै।
कहै दादू हिवै कोड़ि दत्त आपै, तुम बिना ते अम्हे नहीं लीजै ॥[१]

"कोई मुक्ति की कामना करता है, कोई अमरपुरी का बास चाहता है, कोई परम गति का इच्छुक है किन्तु दादू तो राम-मिलन की प्यास से तलफ रहा है। ऋद्धि-सिद्धि और मुक्ति-फल की जिसे कामना हो तुम उसको दो। मैं तो केवल राम-रस के एक प्रेम प्याले का दीवाना हूँ। करोड़ों वर्ष पर्यन्त जीने और अमर होने से क्या लाभ? प्रेमाभक्ति के रस से शून्य जीवन भी कोई जीवन है।[२] कभी उसके वियोग में तड़पते हुए वे दीन-दुनियाँ सबका उत्सर्ग कर, तन-मन को भुला कर, स्वर्ग-नरक को भी लुटाकर एक झलक देखने के लिए आतुर हो उठते हैं। उनकी एक मात्र यही कामना है—

दूजा कुछ माँगौं नहीं, हम कौ दे दीदार।
तूँ है तब लग एक टक, दादू के दिलदार ॥
तूँ है तैसी भगति दे, तूँ है तैसा प्रेम।
तूँ है तैसी सुरति दे, तूँ है तैसा खेम ॥
सदिकै करौं सरीर कौं, बेर बेर बहुत मन्त।
भाव-भगति हित प्रेम ल्यौ, खरा पियारा कन्त ॥[३]

कभी मीठे राम रस की महिमा का गान करते हुए उनका स्मरण करने लगते हैं जिन्होंने इस अनूठे रस का पान करके स्वयं को अमर कर लिया है। इस रस के पीछे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, साधु-सन्त, सिद्ध-साधक, यती-योगी, सती-सुखदेव, सब घूम रहे हैं और यह रस ऐसा 'अलख अभेव' है कि चाहे जितना इसका पान किया जाय, यह कभी चुकता नहीं। अन्त में वे कहते हैं—

इहि रसि राते नांमदेव, पीया अरु दै रैदास।
पिवत कबीरा ना थक्या, अजहूं प्रेम पियास।
यहु रस मीठा जिन पिया, सो रस माँहि समाइ।
मीठे मीठा मिलि रह्या, दादू अनत न जाइ ॥[४]

रज्जब जी के मत से इस रस के पान से सारे पातक कट जाते हैं। वह अपूर्व रस तन-मन के सारे कलमष को धो-पोंछकर निर्मल और पाप-रहित बना देता है। इस रस के रसिया सब सुखी ही सुने गये हैं, दुखी कोई भी नहीं।

---

[१] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद १७६।
[२] वही—१, निहकर्मी पतिव्रता को अंग ८३, ८५, ८६।
[३] वही—विरह कौ अंग ४३, ४४, ४५।
[४] वही—भाग २, पद ५६।

जिस अनमोल रस का पान सन्तों ने किया है, उसको हमें भी पीना चाहिये।[1] स्वामी सुन्दरदास इस रस के स्वाद में पड़कर नवधा-विधि को एक उलझन मानने लगते हैं और उसको निष्प्रयोजन बतलाते हैं—

> प्रेम लग्यो परमेश्वर सौं तब, भूलि गयो सब ही घरबारा।
> ज्यों उनमत्त फिरै जित ही तित, नेकु रही न शरीर सँभारा॥
> स्वास उस्वास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
> सुन्दर कौन करे नवधा-विधि, छाकि पर्यौ रस पी मतवारा॥[2]

अमृत रस से पूरित इस 'जड़ी' को अपने गुरु दादूदयाल से पाकर सुन्दरदास धन्य हो गये। इस अनमोल वस्तु का वास्तविक मर्म तो सन्त जन ही जानते हैं, इसीलिए यह मुझे प्यारी लगती है और मैंने इसे अपने माथे पर धारण किया है। इस जड़ी को सूँघते हुए मन रूपी सर्प और पाँच सर्पिणी तुरत मर गईं और सारे संसार को भक्षण करने वाली माया रूपी डायन भी देखकर डर गई। त्रिविध विकार नष्ट हो गये, तापों का शमन हो गया और दुर्बुद्धि दूर हो गई। उस सञ्जीवनी का अमित प्रभाव सुनकर मृत्यु भी दूर भाग गई और साधारण की क्या बात कही जाय? ऐसी उपयोगी वस्तु का ध्यान मैं आधे पल के भी लिए नहीं भुलाता। उसी के अमृतस्पर्श से मेरी काया निर्विष हो गई और सारी व्याधियाँ नष्ट हो गई।[3] धनी धरमदास इसी अलभ्य वस्तु का दान अपने गुरु से माँगते हैं तथा बदले में आठ सिद्धि, नौ निधि, वैकुण्ठ का निवास, सुख-सम्पत्ति, परिवार और सुन्दर नारी को भी स्वीकार नहीं करते।[4] धरनीदास को एक इसी धन का सहारा है। किसी का धन सोना-चाँदी, किसी का हाथी-घोड़ा और किसी का माणिक-मोती है किन्तु उन्होंने एक ऐसे धन को हस्तगत कर लिया है जिसे न राजा हरण कर सकता है, न अग्नि जला सकती है और न चोर चुरा सकता है, वह खरचने-खाने पर भी नहीं चुकता। तीनों लोकों के हाट में तलाश करते-करते वे थक गये किन्तु कोई वस्तु उसकी समता में नहीं तुल सकी।[5] मूलकदास जी की दृष्टि में भक्ति का स्वरूप और महत्व इस प्रकार है—

> करै भक्ति भगवन्त की, करै कबहुँ नहिं चूक।
> हरि रस में राचो रहै, सांचो भक्ति मलूक॥

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५१५।

[2] वही—पृष्ठ ५७७।

[3] वही—पृष्ठ ६५४।

[4] धनी धरमदास जी की शब्दावली—पृष्ठ १६।

[5] धरनीदास जी की बानी—शब्द ९।

मलूक सो माता सुन्दरी, जहाँ भक्त औतार।
और सकल बाँझै भई, जनमे खर कतवार।।
सोई पूत सपूत है, जो भक्ति करे चितलाय।
जरा मरन तें छुटि परे, अजर-अमर होइ जाय।।[1]

भक्ति का स्वरूप—उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर भक्ति के स्वरूप का यही निर्धारण होता है कि चित्त-वृत्ति का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से अपने इष्ट स्वरूप श्रीभगवान् में लगे रहना अथवा भगवान् में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्ति के स्थूलरूप में दो भेद किये जाते हैं—१. वैधी भक्ति २. रागात्मिका अथवा प्रेमा भक्ति। वैधी भक्ति, भक्ति की प्रारम्भिक स्थिति है अतः इसे सिद्धि रूप न मानकर साध्य ही मानते हैं। इसकी उपयोगिता यही है कि प्रेमा भक्ति की भावना को जागृत करती है। वैधी भक्ति अनेक विधि-विधानों से पूर्ण होने के कारण सन्तों के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकी। धूप-दीप-नैवेद्य, प्रतिमा-पूजन, परिक्रमा-दण्डवत् आदि की निस्सारता स्थान-स्थान पर इन कवियों के द्वारा प्रकट की गई है। कबीर ने कहा है—

पूजा-सेवा-नेम-व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल।।

—कबीर-वाणी १६१

किरिया कर्म अचार मैं छाड़ा, छाड़ा तिरथ का न्हाना।
सगरी दुनियां भई सयानी, मैं ही इक बौराना।।
ना मैं जानूं सेव बन्दगी, ना मैं घण्ट बजाई।
ना मैं मूरत धरी सिंघासन, ना मैं पुहुप चढ़ाई।।[2]

सिख-गुरुओं ने इसी आचार-बहुलता के कारण 'वैधी भक्ति' को पाखण्डपूर्ण भक्ति कहा है जिससे पर ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है—

"पाखण्डि भगति न होवई, पारब्रह्म ना पाईआ जाइ"[3]

वाह्याचारों की निस्सारता बताते हुए उन्होंने कहा है—

पड़ि पुसतक सन्धिआ वाद। सिल पूजसि बगुल समाधं।।
गलि माला तिलकु ललाटं। दुइ धोती बसत्र कपाटं।।
जे जाणसि ब्रह्मं करमं। सभि फोकट निसचउ करमं।।[4]

---

[1] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ ३५।

[2] कबीर साहिब की शब्दावली, भाग दूसरा—शब्द ३४।

[3] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, महला ३, पृष्ठ ८४६।

[4] वही—आसा की वार, महला १, पृष्ठ ४७०।

दादूदयाल इन सारे आचारों को मिथ्या बताते हैं, क्योंकि ये सब सत्यरूपी भगवान् की प्राप्ति कराने में असमर्थ हैं—

झूठे देवा झूठी सेवा, झूठा करै पसारा।
झूठी पूजा झूठी पाती, झूठा पूजणहारा॥
झूठा पाठ करै रे प्राणी, झूठा भोग लगावै।
झूठा आड़ा पड़दा देवै, झूठा थाल बजावै॥[1]

रागात्मिका अथवा प्रेमा-भक्ति—अपने अहं का पूर्ण विसर्जन कर और अत्यन्त विनम्र बनकर निष्काम भाव से एकनिष्ठ प्रभु का चिन्तन करना, प्रेमा-भक्ति है। कबीर ने इसके प्रभाव को बताते हुए कहा है—

"प्रेम भगति ऐसी कीजिये, मुखि अमृत बरिषै चन्द।" क० ग्र०, पृ० ८६

यह भक्ति पूर्ण निष्काम भाव से की जाती है क्योंकि—

जब लगि भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वे क्यों मिलै, निहकामी निज देव॥
मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपतां, क्या लागे है मेरा॥
दो जग तो हम अंगिया, यहु डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ॥[2]

भाव-भगति—"राम की दुहेली भक्ति करना कायर के वश की बात नहीं, जो मस्तक उतार कर हाथ से अर्पित कर सके, वही इसका अधिकारी है। यह खाड़े की तीक्ष्ण धार के समान कठिन है कि यदि जरा सा विचलित हुए तो कट कर दो टुकड़े हो गये और यदि विचलित न हुए तो भव-सागर से पार हो गये। यह अग्नि के ज्वाला के समान कठिन है जो इसमें कूद पड़े वे तो बच गये और तमाशबीन जल गये।"[3] प्रियतम को रिझाने के लिए बड़ी-बड़ी आँखें ही पर्याप्त नहीं हैं, वरन् वह 'चितवन विशेष' होनी चाहिए जो सुजान को वश में कर सकें। वैसे ही भक्ति की विविध विधियों के होते हुए भी सबके लिये उस भेद या रहस्य का पा जाना दुर्लभ है। यह रहस्य 'भाव' ही है और उक्त साधना 'भाव भगति' है जिसके द्वारा हरि के साथ 'गठजोरा' सम्भव है। भाव-भगति कहने सुनने मात्र की बात नहीं, वह केवल अनुभवगम्य साधना है। पं० परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि "उसके लिए सर्वप्रथम सद्गुरु की कृपा

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २—शब्द १९७।

[2] कबीर ग्रन्थावली—निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग १०, ३, ७।

[3] वही—सूरातन कौ अंग २४, २५, २६।

अपेक्षित है जिससे उस अनन्त को प्रत्यक्ष करने के साधन स्वरूप हमें अनन्त नेत्रों की उपलब्धि हो जाय, हमें उस सच्चे शूर का बाण लग जाय जिसके मर्मस्थल तक पहुँचते ही सारा भेद आप से आप खुल सके और सारे शरीर में एक प्रकार की ज्वाला व्याप्त होकर हमें निस्तब्ध कर दे अथवा उसके एक ही प्रसङ्ग में हमारे ऊपर प्रेम-वारिद की वह वृष्टि हो पड़े जिससे हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग की कौन कहे, अन्तरात्मा तक नितान्त निर्मल हो जाय।'[1] कबीर की दृष्टि में इसकी महत्ता और उपयोगिता इस प्रकार है—

किया जपु तपु किया संजमो, किया तीरथ ब्रत असनानु।
जो पै जुगति न जानिए, भाउ भगति भगवान ॥

—सन्त कबीर, रागु गउड़ी ६४

दादूदयाल की हार्दिक इच्छा यही है कि—

सोई देव पूजौ जे टाकी नहिं घड़िया। गरभ बास नाहीं औतरिया।
बिन जल संजम सदा सोइ देवा। भाव भगति करौं हरि सेवा॥
पाती प्राण हरिदेव चढ़ाऊँ। सहज समाधि प्रेम ल्यो लाऊँ॥[2]

भाव भगति बेसास बिन, कटै न संसय सूल, के साक्ष्यय पर इसकी गरिमा के बारे में अधिक कहना व्यर्थ है। इसकी प्राप्ति की अनिवार्य शर्त गुरु अर्जुनदेव के शब्दों में यों है—

पहिला मरणु कबूलि, जीवण की छड़ि आस।
होहु सभना की रेणुका, तउ आउ हमारे पासि॥[3]

सच्ची प्रेमा-भक्ति की पहचान यही है कि एक क्षण भर के लिए हृदय से परमात्मा की विस्मृति न हो। अहंनिशि गुणगान करके मन-वचन और हृदय में उसे बसा लिया जाय। प्रेमा-भक्ति की प्रगाढ़ता और तन्मयता अनेक उदाहरणों में गुरुओं ने वर्णित की है जैसे—चकोर का चन्द्रमा से प्रेम, भूखे का भोजन से, माता का पुत्र से, जुआरी का जूए से, चातक का मेघ से और मृग का नाद से प्रेम। प्रेमा-भक्ति को वियोग कथा एवं संयोगानुभूति, दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। जहाँ प्रथम अनेक सञ्चित पाप को नष्ट करने में सक्षम है, वहाँ मिलन पुण्य को। इस प्रकार साधक पाप-पुण्य विवर्जित होकर परमात्मा के साथ यों मिल जाता है—

---

[1] कल्याण—साधना अङ्क, कबीर साहब की भाव भगति का रहस्य, पृष्ठ ६६६।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग २—शब्द ३११।

[3] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, मारु की वार, महला ५, पृष्ठ ११०२।

"ज्यू जल में जल पैसि न निकसै, त्यूं ढुरि मिल्यो जुलाहो।"

प्रेम-लीला—इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्तों की भक्ति साधना का केन्द्र-विन्दु प्रेम-लीला है किन्तु इसका रूप बहुत व्यापक और विराट् है।" भक्त रूपी प्रिया के लिए भगवान् रूपी प्रेमिक ने जो चुनरी सँवार दी है, वह मामूली चुनरी नहीं है और उस चुनरी को धारण कर सकने की क्षमता भी मामूली नहीं है। स्वयं प्रिय ही जिस पर प्रसन्न होकर यह चुनरी दे दे वही इसे पा सकता है, पहन सकता है—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। अष्ट प्रहर रूपी आठ हाथों की वह बनी है और पञ्चतत्व रूपी पाँच रङ्गों से रँगी है। समूचा काल उसका उपादान है और समस्त जड़ प्रकृति उसकी प्रकाशिका। इस महान् शृङ्गार-पट के आँचल में सूर्य-चन्द्र और तारों की जगमग ज्योति का जलना ही उपयुक्त चित्रण-सामग्री है। इस अनादि अनन्त चुनरी को किसी ने ताने-बाने पर नहीं बुना—यह सनातन है, चिर नवीन है। पिया ने प्रसन्न होकर जिस प्यारी को यह शृङ्गार-शाटिका दान की हो, धन्य है वह प्रियतमा, बलिहारी है उस प्रियतम की।"[1]

चुनरिया हमरी पिया ने सँवारी, कोई पहिरै पिया की प्यारी।
आठ हाथ की बनी चुनरिया, पञ्चरङ्ग पटिया पारी॥
चाँद सुरुज जामें आँचल लागे, जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया, दास कबीर बलिहारी॥

कबीर ने सती और शूर को अपने प्रेम के आदर्श रूप में ग्रहण किया है। गलदश्रुभावुकताजन्य प्रेम का पन्थ इन्हें स्वीकार नहीं। क्षणिक भावावेग से उफन पड़ने वाला और विरह की तनिक प्रज्वलनशीलता में बैठ जाने वाले सतही प्रेम में उनका विश्वास नहीं। वह तो आत्मा के मधु चक्र को निचोड़कर निकलने वाला, अलौकिक एक रस प्रेम है—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।

जिस बड़े घर में उस दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होती है वह साधारण घर नहीं, मौसी का घर नहीं कि मौज से खा-पीकर रुमाल में हाथ पोंछते, बल खाते निकल आए। वहाँ तो प्रवेश पाने के लिए पहले अपना मस्तक अर्पित कर देना होता है, बड़ा मँहगा सौदा है यह। इस सौदे के लेन-देन में राजा-प्रजा का भेद-भाव नहीं है जो इसे पाना चाहे वह अपना सिर देकर ले जाय। प्रेम के बाजार में इसके मूल्य में प्राण तो बराबर तौल में देने पड़ते हैं और शिर काटकर पासङ्ग में। इस सौदे के इच्छुक सती और शूरवीर अपने शरीर पर कष्टों को सहते हुए जब अपने तन-मन को घानी बना डालते हैं और फिर

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १८७।

उससे महेरी बनाकर प्रिय को समर्पित करते हैं, तब श्मशान भूमि उनका कीर्ति-गान करती है। प्रिय के साथ प्रगाढ़ अद्वैतानुभूति करते हुए सती अपना तन और मन समर्पित कर देती है।[1] क्या हुआ, कुमुदिनी तालाब में रहती है और चन्द्रमा आकाश में निवास करता है, फिर भी जो जिसका प्रेमी है वह दूर होते हुए भी उसके पास ही रहता है। एक बार परम आनन्द के इस अमृत तत्व के संस्पर्श में जो आ गया, वह जन्म-जन्मान्तर के लिए निहाल हो गया। आठों पहर वह इसी रस में भीना रहता है और उसका रोम-रोम प्रेम में छका रहता है। पुतली में दिलदार की तसवीर जब उतर आयी, तो फिर घूँघट का पट आप ही हट गया और[2]—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलङ्ग बिछाय।
पलकों की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय॥

किन्तु जब तक प्रेमिका का प्रिय से मिलन नहीं होता तब तक विरहिणी (आत्मा) रात भर विरह में वैसे ही रोती रहती है जैसे क्रौंच-पक्षी। उसका अन्तस्तल वियोगाग्नि से जलता रहता है। वह प्रतीक्षातुर गली में खड़ी रहती है और उस मार्ग से जाने वाले पथिकों से पूछती है—प्रिय का एक शब्द ही सुना दो, वे कब आकर मुझसे मिलेंगे। वियोगिनी की व्यथा हिचकियों में फूट पड़ती है और वह कहने लगती है—

आइ न सकौं तुझ पैं, सकूँ न तुझ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥
अँषड़िया झाई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥
इन तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव।
लोही सींचौ तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव॥

हँस-हँसकर आज तक किसी ने अपने स्वामी को प्राप्त नहीं किया, जिसने पाया है, उसने रोकर ही पाया है। यदि हँसी-खुशी प्रियतम की प्राप्ति हो जाती तो सब सुहागिन ही न हो जाती। जब वेदना झेलते-झेलते उसके प्राण कण्ठ में आने लगते हैं तो बस यही कहती है—

कै बिरहनि कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मो पै सह्या न जाइ॥[3]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—सूरा तन कौ अंग १६, २१, २२, ३५, ३७।

[2] श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र—सन्त साहित्य, पृष्ठ १५।

[3] कबीर ग्रन्थावली—विरह कौ अंग १०, २२, २३, २६, ३५।

बिना आध्यात्मिक परिणय के आत्म-समर्पण अधूरा रहता है। आत्म-समर्पण का भाव, भक्ति के उपकरणों में महत्वपूर्ण उपकरण है। यह समर्पण तो एक मात्र पत्नी का पति में ही सम्भव है क्योंकि इस सम्बन्ध में जितनी प्रगाढ़ता, अद्वैतता तथा तन्मयता होती है, वह अन्य सम्बन्धों में नहीं। अन्य सभी सम्बन्धों में द्वैतभावना का पूर्ण तिरोभाव नहीं हो पाता किन्तु कान्तासक्ति में द्वैतभाव के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। कान्ता अपने नाम-गोत्र को, अपने आपको, पति में एक कर देती है। वह अपने तन-मन प्राण पर से भी अपना स्वत्व समेट कर, समग्र रूप से सर्वभावेन पति के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देती है। वैसे ही आत्मा, अहर्निशि उस मधुर-मिलन की अनुभूति में जब मन-प्राण को प्लावित किये रहती है तब इस कर्म कोलाहलमय जगत् में निवास करते हुए और समस्त लौकिक कर्म करते हुए भी लौ सदा प्रियतम पर ही लगी रहती है।

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहें, हरि को भूलत नाँहि॥

अहर्निशि का यह मधुर मिलन हृदय के रेशे-रेशे में ओत-प्रोत है। बाहर-भीतर केवल 'प्रीतम' ही रह जाता है। आँखें मूँदकर भीतर के संसार में, आँखें खोलकर बाहर की दुनिया में जहाँ भी दृष्टि जाती है, केवल हरि ही हरि हैं। स्वयं भक्त की निजी सत्ता भी उस अपार आनन्द-राशि में लय हो जाती है। उसे अपनी भिन्न सत्ता का कभी बोध ही नहीं होता। यह स्थिति द्वैत और अद्वैत की भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकती—

कबीर रेख सिन्दूर की, काजल दिया न जाइ।
नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥
नैना अन्तरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउँ॥[1]

इस प्रकार सन्त कवियों ने दाम्पत्य-प्रेम को ईश्वरीय प्रेम का स्थानापन्न बनाकर प्रेमात्मक रूपकों में अपने हृदय की सच्ची पीड़ा की अभिव्यक्ति की है। इन प्रेम सम्बन्धी रूपकों पर, तज्जन्य शब्दावली पर सूफी-प्रभाव स्पष्ट है। दादू पर तो यह विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है। 'सौंदर्य से प्रेम और प्रेम से मुक्ति, यह सूफीमत के सिद्धान्तों का निचोड़ है।' सन्त कवियों की प्रेम-साधना सूफियों से प्रभावित होते हुए भी उसका विकास विशुद्ध भारतीय परम्परा पर हुआ। सूफियों के यहाँ रतनसेन (आत्मा) पद्मावती (परमात्मा) से मिलने के लिए तड़पता है और उसके पाने के लिए अनेकों कष्ट सहता है किन्तु भारतीय

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—निहकर्मी पतिव्रता कौ अङ्ग ४, २।

प्रेम-काव्यों की नायिकाएँ ही विरह-व्यथा झेलते हुए प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्नशील होती हैं। अतः सन्त कवियों ने स्वयं को वियोगिनी एवं परमात्मा को पति के रूप में चित्रित कर सूफी कवियों की प्रेम-साधना-पद्धति को नहीं अपनाया। हाँ, 'प्रेम के पीर' की शब्दावली पर सूफी-शब्दावली की छाप स्पष्ट है। सन्तों के लिए वही एकमात्र पुरुष है और अन्य सभी उसी एक की पत्नियाँ हैं। उसी 'बालम' के वियोग में मन तड़प रहा है। न दिन को चैन पड़ता है और न रात को नींद आती है, तड़पते-तड़पते भोर हो जाती है, उसका रास्ता देखते-देखते नेत्र थक गये फिर भी उसे बेदरदी' ने कुछ खोज खबर नहीं ली।[1] गुरु नानक कहते हैं कि हम सब उस कन्त की स्त्रियाँ हैं और उसके रिझाने के लिए शृङ्गार (प्रेम-साधना) करते हैं—सबे कन्त सहेलियाँ, सगली आ करहिं सिङ्गार—श्री गुरुग्रंथ साहिब, पृष्ठ २८। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि जो स्त्री निर्मल मन रूपी मोती का आभूषण पहने और अपनी प्रत्येक आती-जाती सांस में परमात्मा के जप रूपी तागे में मन रूपी मोती गूँथे, क्षमा को शृङ्गार बनावे, वही प्रियतम के साथ रमण करने की अधिकारिणी है।[2] सभी घटों में वह परम प्रियतम बसा हुआ है, कोई उससे शून्य नहीं, किन्तु सुहागिन वही है जिसके हृदय में वह स्वामी सद्गुरु के उपदेश से प्रकट हो गया।[3] प्रेम-मार्ग में पैर रखने की कीमत भी कम नहीं, प्रेम जितना ही महान् होगा उसका मूल्य भी उतना ही मँहगा होगा—

> **जउ तउ प्रेम खेलन का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ।**
> **इतु मारगि पैरु धरीजै। सिरु दीजे काणि न कीजै॥**

गुरु अमरदास के कथनानुसार सदा सुहागिन तो वही नारी है जो अपने स्वामी को भाती है, उसकी सेज सुख भरी होती है और अपने स्वामी के साथ दिन-रात आनन्द करती है, अपने प्रियतम से मिलकर सदा सुख में डूबी रहती है और उसे सदा अपनी छाती से लगाए रहती है।[4] गुरु रामदास की कामना भी कितनी अनूठी और रससिक्त है—मेरे बाबुल, तुम तो मेरे प्रियतम हरि को ही मुझे दान और दहेज के रूप में दे दो। हरि की ही मुझे पोशाक दो और हरि की ही शोभा, जिससे मेरा काम बन जाये। दुनियादार तो अपने दहेज के रूप में झूठे अहंकार और निकम्मे मुलम्मे का ही प्रदर्शन करते हैं, मेरे बाबुल,

---

[1] कबीर साहब की शब्दावली, भाग २—शब्द २८।
[2] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—आसा, महला १, पृष्ठ ३५६।
[3] सन्त सुधासार—गुरु नानक १, पृष्ठ २५२।
[4] वही—गुरु अमरदास, पृष्ठ ३१०।

तुम तो मेरे प्रियतम को ही मुझे दान और दहेज के रूप में दे दो।[1] हे सखी! मैंने काजल, हार, ताम्बूल से अपने को सुसज्जित कर लिया, सोलह शृङ्गार कर लिए, अञ्जन भी लगा लिया। यदि कन्त घर आ गए तो मानो सब कुछ पा लिया, बिना स्वामी के सारा शृङ्गार व्यर्थ है। जिस स्त्री के घर में कन्त विराजते हैं, वह बड़े सौभाग्यवाली हैं। आगे वे कहते हैं—

ऊपरि बनै अकासु तलै धर सोहती।
दहदिसि चमकै बीजुलि मुख कउ जोहती॥
खोजत फिरउ विदेसि पीउ कत पाईए।
हरि हाँ, जे मसतकि होवै भागु त दरसि समाईए॥

"स्वप्न में वह (मोहिनी) मूर्ति आकर खड़ी हो गई पर हाय, मैं उसका अञ्चल न पकड़ सकी। उसे देखकर मेरा मन मुग्ध हो गया, उसके चरण-चिह्नों को मैं कब से खोज रही हूँ। कोई तो उसको पाने का उपाय बताये। ऐ मेरे साजन, यदि तू कहे तो मैं अपना सिर उतारकर तुझे दे दूँ। मेरी आँखें तरसती हैं कि कब तुझे देखूँ। मेरी प्रीति तेरे ही साथ है, मैंने देख लिया कि और सब प्रीति झूठी है। तुझे देखे बिना ये वस्त्र और ये भोग मुझे डरावने लगते हैं। मेरे प्यारे, तेरे दर्शन के लिए मैं बड़ी भोर उठ जाती हूँ। काजल, हार, ताम्बूल और सारे मधुर रस बिना तेरे दर्शन के धूल की तरह लगते हैं। तू मेरे पास नहीं, मैं इन रेशमी वस्त्रों को लेकर क्या करूँगी मैं इनमें आग लगा दूँगी। प्यारे तेरे साथ धूल में लोटती हुई भी मैं सुन्दर दिखूँगी।"[2] इस प्रकार सिख-गुरुओं की प्रेम-साधना में उनकी उत्कट विरहानुभूति हृदय की सारी साध को निचोड़कर व्यक्त हुई है। उन पर उस मधुर मिलनजन्य रस का खुमार चढ़ा हुआ है जो कभी उतरने का नहीं। प्राणों के ससीम बन्धन को तोड़कर उनकी आत्मा असीम प्रियतम के प्रेमपाश में बँधने को आकुल है। जिस प्रकार जल की तरङ्गें जल से मिलकर अपने नाम और रूप को खोकर जल-स्वरूप हो जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा की ज्योति परमात्मा की अखण्ड ज्योति से मिलकर सदा के लिए तद्रूप हो जाती है, भ्रम के कपाट टूट जाते हैं और सारी दौड़ समाप्त हो जाती है।[3]

शेख फ़रीद काली कोयल से पूछते हैं कि "तू किस कारण काली हुई—अपने प्रियतम के विरह में जलभुनकर सच अपने प्यारे से विलग होकर क्या किसी को कभी सुख मिला। उस प्रभु से मिलना उसी की कृपा से सम्भव है। गलियों में

[1] वही—गुरु रामदास, पृष्ठ ३२६।

[2] सन्त सुधासार—गुरु अर्जुनदेव ३७६, ३७८, ३८०-८१।

[3] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—माझ, महला ५, पृष्ठ १०२।

कीचड़ ही कीचड़ है और प्यारे का घर बड़ी दूर है। यदि मैं उसके पास जाऊं तो मेरी कम्बली भीगने का आन्देशा है और अगर न जाऊँ तो प्रीति टूटने का। अल्लाह, भले ही तू मेह बरसाये और मेरी कम्बली को भिगो-भिगो कर तर कर दे फिर भी अपने प्यारे साजन से मेरा मिलना होकर रहेगा ताकि हमारी प्रीति न टूटे।"[1] सन्त दादूदयाल तो एक मात्र प्रेम के ही पुजारी हैं क्योंकि प्रेम ही उन्हें दीक्षा-रूप में मिला था। कबीर-मन्सूर के साक्ष्य पर दादू ने बुड्ढन से पूछा कि हे देव, आपने तो मुखामृत (पान की पीक) देकर मेरी जाति ले ली। लोगों के बीच तुम्हारी कौन-सी जाति ख्यात है? बुड्ढन ने कहा—मेरी जाति-पाँति कुछ नहीं है। मुझे पाने के लिए प्रेम का मार्ग छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं—

> दादू पूछे देव तुम, कौन सी जाति कहाव।
> बूढ़ा जाति न पाँति है प्रीति से कोई पाव॥

फतेहपुर सीकरी में अकबर बादशाह से साक्षात्कार होने पर खुदा की जाति, अंग, वजूद और रङ्ग पूछने पर दादू ने यही उत्तर दिया था—

> इसक अलह की जाती है, इसक अलह का अंग।
> इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग॥
>
> —बिरह कौ अंग १५२

दादू ने उसी 'एक रस' का पान किया था जिसके स्वाद के आगे समस्त रस फीके हैं। अन्तर में प्रियतम के दरस-परस का आनन्द पाकर छके हुए वे बेहोशी से गा उठते हैं—

> आतमचेतन कीजिये, प्रेम रस्स पीवै।
> दादू भूले देह गुण ऐसे जन जीवै॥
> नैनहु आगे देखिये, आतम अन्तर सोइ।
> तेज पुञ्ज सब भरि रह्या, झिलिमिल झिलिमिल होइ॥

किन्तु जब तक साक्षात्कार नहीं होता तब तक उनकी बिरहिणी आत्मा तड़पती रहती है। बिना प्रिय के हृदय की कठिन पीड़ा किसी प्रकार शान्त नहीं होती। प्रिय के दर्शन से ही उसका रोम-रोम तृप्त हो जाता है।[2] और इसी दर्शन-सुख की लालसा के बदले में वे 'दीन दुनियां' को भी न्यौछावर करने को तैयार हो जाते हैं। जब तक आत्मा में दर्शन के लिए प्यास की उत्कट व्याकुलता नहीं जगती तब तक वह 'रस' पिया नहीं जा सकता। इसीलिए दादू कहते हैं—बिरहा दरसन दरद सौ, हम कौं देहु खुदाय।[3] समूचे सन्त साहित्य में दादू की

---

[1] सन्त सुधासार—शेख फरीद ४०६, ४१३।

[2] दादूदयाल की बानी—भाग १, बिरह कौ अंग ३६।

[3] दादूदयाल की बानी—भाग १, बिरह कौ अंग ४८।

ऐसी सूफियाना प्रेम की पीर दुर्लभ है। इस प्रेम में जितनी अधिक तीव्रता है उतनी अधिक गहराई भी है। जैसी विराट् प्यास है, वैसे ही उस रस का स्वाद भी है कि चाहे उसे जितना पिया जाय किन्तु कभी अरुचि नहीं होती। पर इस दुर्लभ रस की प्राप्ति सहज नहीं है। दादू के शब्दों में—

जब लग सीस न सौंपिये, तब लग इसक न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ॥

वह अवर्णनीय रस कुछ ऐसा अद्भुत है कि जो उसका थोड़ा स्वाद भी पा जाता है, वह यही चाहने लगता है कि यदि रोम-रोम में रसना होती तब शायद कुछ पीते बनता। एक रसना में तो उस आनन्द-सिंधु की एक बूँद भी नहीं अँट पाती, फिर तृप्ति हो तो कैसे ?

रोम रोम रस पीजिये, एतो रसना होइ।
दादू प्यासा प्रेम का, यों बिन तृपति न होइ॥

—परचा कौ अंग ३२७॥

जैसा अनुपम वह रस है वैसी ही अनूठी उस रस-सन्देश को वहन करने वाली प्रेम की पाती भी है जिसे पढ़ने वाला कोई बिरला ही है। वेद-पुराण एवं अन्य बोझीली शास्त्रीय पुस्तकों का पढ़ना उस 'प्रेम' के बिना बिलकुल निरर्थक है। उस प्रिय की प्रीति पिंजर में समा जाने के कारण रोम-रोम से प्रिय के लिए पुकार उठती है। उस वियोग रूपी पारस के संस्पर्श से वियोगिनी में अद्भुत परिवर्तन या काया-कल्प हो जाता है और प्रेमी, प्रेमिका बन जाता है प्रेमिका, प्रेमी। यह द्वैत की चरम स्थिति या तद्रूपता ही प्रेम-साधना की सच्ची कसौटी है—आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ इस प्रेम के स्वामी के सङ्केत पर ही धरती हरीतिमा को धारण कर सलोना शृङ्गार करती है और आकाश आदेश को माथे पर धारण करता है—

आज्ञा अपरम्पार की, बसि अम्बर भरतार।
हरे पटम्बर पहिरि करि, धरती करै सिंगार॥[1]

दादू उसी प्रियतम से रङ्ग भरकर प्रेम-क्रीड़ा कर रहे हैं जहाँ कभी वियोग के आने की सम्भावना नहीं है। कुछ पूर्व जन्म के संयोगवश ही उसे इस प्रकार का स्पृहणीय सौभाग्य प्राप्त हुआ है—

रंग भरि खेलौ पीउ सो, तहँ कबहु न होय बियोग।
आदि पुरुस अन्तरि मिल्या, कुछ पूरब ले संजोग॥[2]

---

[1] दादूदयाल की बानी—भाग १, बिरह कौ अंग १५७-८।

[2] वही—परचा कौ अंग ८।

उसी प्रेम की सरिता में जीवात्मा और परमात्मा एक रस होकर झूला झूल रहे हैं। कैसी वर्णनातीत आनन्द रस के लिए है वह ?

दादू दरिया प्रेम का, ता मैं झूलै दोइ।
इक आतम परआतमा, एकमेक रस होइ॥

—परचा कौ अंग ७०

जिस प्रकार सन्त-साहित्य में दादू की प्रेम-साधना अपना एक अनूठा महत्व रखती है, वैसे ही उनकी प्रेम-साधना के अन्तर्गत 'प्रेम-प्याला' का महत्व है। इसमें उनकी प्रेम-साधना का सार भाग खिचकर आ गया है। अतः प्रेम-साधना की उदात्त स्थिति के साक्षात्कार के लिए यहाँ 'प्रेम-प्याला' के कतिपय उद्धरणों का देना अप्रासङ्गिक न होगा—

दादू माता प्रेम का, रस में रह्या समाइ।
अन्त न आवै जब लगै, तब लग पीवत जाइ॥
जैसे नैनां कोइ हैं, ऐसे होंहि अनन्त।
दादू चन्द चकोर ज्यों, रस पीवै भगवन्त॥
ज्यों ज्यों पीवै राम रस, त्यों त्यों बढ़ै पियास।
ऐसा कोई एक है, बिरला दादू दास॥
दादू अमली राम का, रस बिन रह्या न जाइ।
पलक एक पावै नहीं तौ, तलफि तलफि मरि जाइ॥[1]

रज्जब विरह रूपी सर्प के काटे हुए की औषधि केवल हरि के दर्शन को बतलाते हैं। उसके बिना तन-मन जान लेवा पीड़ा से तड़पता रहता है। विरह रूपी सूर्य की ताप से तन-मन ओले जैसा गलता रहता है, जब अपने अहं का पूर्ण विलीनीकरण हो जाय तभी उसके साथ मिलन सम्भव समझो।[2] सन्त वषना ने तो पत्थर जैसे हृदय को प्रचण्ड प्रीति की अग्नि में जलाकर पायेदार चूना तैयार कर लिया और अब उसे प्रियतम राम के प्रेमरस से भिगोकर बुझा लिया है। जब कभी बाद मुद्दत के प्यारे प्रियतम की पाती आती है तो नेत्रों में विरह के महाघन ऐसे उमड़ आते हैं कि उसे बाँचना दूभर हो जाता है—और अब अर्ध दर्शन (पाती) का भी सहारा जाता रहा। अतः वियोगिनी की आत्मा करुण कण्ठ से चीखकर बड़े दैन्य के साथ पुकार उठती है—

मेरे लालन हो, दरस द्यो क्यूं नाहीं।
जैसे जल बिन मीन तलपै, यूं हूं तेरे ताईं॥

[1] दादूदयाल की बानी—भाग १, परचा कौ अंग ३१५, ३२१, ३२४, ३३४।

[2] सन्त सुधासार—रज्जब जी, पृष्ठ ५२६।

बिन देख्यूं तन तालबेली, बिरहनि बारहमासी ।
दिल मेरी का दरद पियारे, तुम्ह मिलियां तैं जासी ।।
रैणि निरासी होइ छैमासी, तारा गिणत बिहासी ।
दिन बिरहनि क्यूं बाट तुम्हारो, सदा उडीकत जासी ।।
जल थल देखूँ परवत देखूँ, वन वन फिरौं उदासी ।
बूझौ कोई उहाँ थे आया, ठावा मोहि बतासी ।।
फिरि फिरि सबै सयाने बूझे, हौं तो आस पियासी ।
बषना कहै, कहो क्यूं नाहीं, कब साहिब घर आसी ।।[1]

कितनी सहज भाषा में वषना जी ने अपनी आन्तरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति की है। आत्मा को आलोडित करने वाली यह पीड़ा अक्षरों के छन्द में बँधने की मुहताज नहीं। इसे तो आत्मा की मूक भाषा में ही सही-सही व्यक्त किया जा सकता है। 'जल थल...बतासी' में व्यथा कितना विराट् रूप धारण कर उस असीम के आलिङ्गन में बँधने के लिए आकुल हो उठती है। फिर भी कोई उस ठौर का सही-सही ठिकाना नहीं बताता। मलूकदास की वियोगिनी आत्मा थर-थर काँपती है, उसे रात को नींद नहीं आती। न जाने वह जालिम प्रियतम मिलन-बेला में कैसा व्यवहार करे? प्रेम की महिमा और उसकी उपयोगिता के विषय में उन्होंने चार पक्तियों में सब कुछ कह दिया है—

सब बाजे हिरदै बजैं, प्रेम पखावज तार।
मन्दिर ढूँढ़त को फिरै, मिल्यो बजावनहार ।।
करै पखावज प्रेम का, हृदय बजावै तार।
मनै नचावै मगन होय, तिन का मता अपार ।।[2]

सन्तों की प्रेम-साधना की तीव्र व्यञ्जना आधुनिक युग के महान् कवि रवीन्द्रनाथ में बड़ी व्याकुलता के साथ व्यक्त हुई है। इनके प्रेम की परिधि विराट् है, जितना अधिक इसमें विस्तार है उतनी अथाह गहराई भी है। यहाँ कवि की प्रसिद्ध कृति 'गीताञ्जलि' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देना असङ्गगत न होगा—"वह आये और पास बैठे रहे, मैं फिर भी न जागी। अरे अभागी, वह कैसी नींद थी। जब वह आये उस समय रात्रि नीरव थी, वीणा उनके हाथ में थी और उसके सङ्गीत से मेरे स्वप्न ध्वनित हो गये। हाय, मेरी रातें इस प्रकार क्यों नष्ट हो जाती हैं। जिसके निःश्वास मेरी निद्रा को स्पर्श करते रहते हैं, उसके दर्शन मुझे कभी नहीं होते।...अरे यह मुझे क्या मिल

---

[1] सन्त सुधासार—वषना जी, पृष्ठ ५४६।

[2] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ ३५।

गया ? तुम्हारे प्रेम का यह कैसा चिह्न है ? यह न तो फूल है न गन्ध और न सुगन्धित जल-पात्र। यह तो वज्र से भी भारी, अग्नि-शिखा सी देदीप्यमान् तुम्हारी भीषण कृपाण है। मैं विस्मित बैठी सोचती हूँ, यह तुम्हारा कैसा उपहार है ? इसे छिपाने को मुझे कहीं स्थान नहीं मिलता। तथापि वेदना भार के इस सम्मान को—तुम्हारे उपहार को—अपने हृदय में धारण किये रहूँगी।...हे हृदय-हरण, मुझे मालूम है कि यह तुम्हारा प्रेम ही है। यह स्वर्णिम आलोक पर जो थिरक रहा है, यह आकाश व्यापी मधुर अलस मेघ, यह पवन जो शरीर पर अमृत वर्षा करता है—यह सब तुम्हारा प्रेम ही है।...मैंने जो कुछ पाया, जो कुछ मैं हूँ, मेरी जो भी आशा और प्रेम है, वह सब अनजाने ही तुम्हारी ओर जाते रहे है। तुम्हारे एक दृष्टिपात से ही मेरा जीवन सदा के लिये तुम्हारा हो जायगा। वरमाला गुँथी रखी है विवाह के पश्चात् बधू विजन रात्रि में पति-मिलन के निमित अपने घर से विदा होगी।"[1] कबीर और रवीद्रनाथ की प्रेम-लीला का तुलनात्मक विवेचन करते हुए डॉ० द्विवेदी ने कहा है कि "दोनों का ही प्रियतम के प्रेम पर अखण्ड विश्वास है। दोनों में ही आत्मार्पण का भाव प्रबल है। दोनों ही प्रिय प्राप्ति को सहज लक्ष्य व्यापार नहीं मानते। दोनों का ही प्रेम हिस्टॉरिक प्रेमोन्माद का परिपन्थी है।"[2] अन्त में सन्तों की प्रेम साधना की एक मात्र साध दादू के शब्दों में यों कही जा सकती है।

रोम रोम रस प्यास है, दादू करहिं पुकार।
रामघटा दल उमँगि करि, बरिसहु सिरजनहार॥

रहस्यानुभूति—साधक वैयक्तिक साधना के माध्यम से विधि-निषेध के द्वारा मन को शुद्ध बनाते हुए भक्ति के निश्छल और समर्पणयुक्त क्षेत्र में प्रवेश करता है। निरन्तर नाम-स्मरण की भावना एवं विरहानुभूति के कारण उसके प्रेम में इतनी अधिक मात्रा में मादकताजन्य तीव्रता आ जाती है कि उसे ब्रह्म की अद्वैतानुभूति होने लगती है। ज्ञाता और ज्ञेय की तादात्म्य-भावना उसे एक ऐसी आत्यन्तिक स्थिति में पहुँचा देती है, जहाँ वह तन्मयता के आनन्द में अपनी समस्त वाह्य-चेतना को खोकर डूब जाता है। वृहदारण्यक ४।३।२१ में कहा गया है कि "जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिङ्गन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह पुरुष

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर—गीताञ्जलि—अनुवादक, जगतनारायण 'शंखधर' २६, ५२, ५६, ६१।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ २०२।

प्राज्ञात्मा से आलिंगित होने पर, न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का—वह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक शून्य हो जाता है।"

इसी प्रकार जब साधक अपने 'स्व' को विसर्जन कर 'परम' की ओर अग्रसर होता है तो ब्रह्मानुभूति और स्वानुभूति की सम्मिलित स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ अभिन्नता के कारण इसे अपने इयत्ता की प्रतीति नहीं होती। उसे एक इन्द्रियातीत अनुभूति होती है लेकिन वह मन-वाणी से परे अव्यक्त को जब व्यक्त-वाणी में बाँधने का प्रयत्न करता है तब ब्रह्मात्मक स्वानुभूति का आनन्दातिरेक उसे विह्वल-विभोर कर देता है और उस अपूर्व स्थिति में वह 'ऐसा लौं नहि तैसा लौं, मैं केहि विधि कथौं अनूठा लौ' के अस्पष्ट एवं अधूरे उपकरणों द्वारा उसे बतलाने का प्रयास करता है। परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूंगे का गुड़ है। यही रहस्यवाद का मूल है। कबीर ने कहा है कि उस अव्यक्त, अखण्ड तथा अद्वितीय वस्तु का जो अनुभव होता है वह शब्दों के द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता। शब्द और वाणी के अधूरे उपकरणों के माध्यम से उस 'पूर्ण' के वर्णन करने का बाल-प्रयत्न वैसा ही है जैसा गूंगे व्यक्ति के द्वारा गुड़ के मीठेपन के स्वाद को संकेतों के द्वारा बतलाना और मन ही मन आनन्दित होना।[1] रहस्यवाद आत्मा की वह दिव्य अनुभूति है जिसमें वह प्रेम के वशीभूत होकर अपने ससीम अस्तित्व से असीम के विराट् व्यक्तित्व से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करती है और अन्त में उसमें पूर्णतया लीन हो जाती है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की बड़ी पूर्ण एवं प्राञ्जल परिभाषा दी है। उनके मत से—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन। इस संयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है, नशा रहता है। उस एकान्त सत्य से, उस दिव्य-शक्ति से जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अन्तर्हित कर देता है। उस प्रेम में चञ्चलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती, वह प्रेम अमर होता है।"[2]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ६।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा—कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ७।

इस रहस्यवाद की उपलब्धि दो रूपों—योग तथा प्रेम में होती है। योग में साधक का प्रमुख लक्ष्य चित्त की वृत्तियों का निरोध कर शब्द-ब्रह्म की अनुभूति करना होता है। सन्तों के योगपरक रहस्यवाद का वर्णन करने का अवसर हमें प्रसंग-क्रम में मिलेगा। प्रेम के माध्यम से परमात्म-तत्व की अनुभूतिजन्य अभिव्यक्ति भावात्मक होने के कारण स्वतः रहस्यात्मक हो जाती है। इसकी आधारभूमि अनिर्वचनीय सत्ता है, रहस्यवादी 'पूरे सो परचा' प्राप्त करने का आकांक्षी होता है किन्तु वह पूर्ण, मन, बुद्धि और वाणी से परे है, उसके क्षेत्र में गणित की गणना व्यर्थ हो जाती है क्योंकि पूर्ण में से पूर्ण को निकाल देने से पूर्ण फिर भी बच रहता है। जब कवि 'पुहुप वास से पातरा' को सीमित शब्दों के बन्धन में बाँधने का प्रयत्न करता है तो उसका किञ्चित् आभास-मात्र मिल जाता है और उसी में उसको वर्णनातीत आनन्द मिलता है। उस अतीन्द्रिय-जगत् में पहुँचकर इन्द्रियों के कार्य-व्यापार भी कुछ के कुछ हो जाते हैं जैसा कि सेन्ट मार्टिन ने कहा था कि "मैंने उन फूलों को सुना जो शब्द करते थे और उन ध्वनियों को देखा जो जाज्वल्यमान् थीं।" इसकी चरम स्थिति वह है जहाँ बिना इन्द्रियों के भी सारे कार्य स्वतः होने लगते हैं—

बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।
आछै रहै ठौर नहिं छाड़ै, दह दिसिहीं फिर आवै॥
बिन हीं ताला ताल बजावै, बिन मन्दल पट ताला।
बिन ही सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला॥[1]

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो विरोधी कार्य-व्यापार भी होने लगते हैं—धरती बरसती है, आसमान भीगता है और बिना तेल बत्ती के भी दीपक जलता है। बिना फूल के लगे हुए ही उसमें मधुर स्वाद मिल जाता है। ये बातें किसी से कहीं नहीं जा सकतीं और यदि कुछ कहा भी जाय तो उसे कौन समझ पाएगा।—सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४६।

ससीम और असीम—ससीम का असीम से तन्मयतापूर्ण मिलन ही रहस्यवाद है। पूर्ण तत्वज्ञानी उसी को समझना चाहिये जो ससीम और असीम के भेद को जानकर दोनों को समरसता से ग्रहण करने का अभिलाषी होता है। जो केवल ससीम या असीम में किसी एक को ही पूर्ण मान बैठता है, उसने खण्ड सत्य के ही दर्शन किये हैं। कबीरदास जी ने कहा भी है—

हद में रहै सो मानवी, बेहद रहै सो साधु।
हद बेहद दोनों तजै, तिनका मता अगाधु॥

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद १५६।

हद बेहद दोनों तजी, अवर न किया मिलान ।
कहै कबीर ता दास पर, वारो सकल जहान ।।

और इसी पद्धति में सन्त रैदास ने भी कहा है—

बेहद कहे ते छेहला, हद कहे ते कूर ।
हद बेहद दोनों गहै, सो ही जन भरपूर ।।

कवि ने भी लिखा है—भाव, रूप-सौन्दर्य में अभिव्यक्त होने के लिए उत्कण्ठित है और रूप, भाव में अपने को समर्पित कर देने को अकुला रहा है। असीम, ससीम के आलिंगन में आबद्ध होना चाहता है और ससीम, असीम में अपने को विलीन कर देना चाहता है—

भाव पेते चाय रूपेर माझारे अंग, रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा ।
असीम से चाहे सीमाय निविड़ संग, सीमा हते चाहे असीमेर माझे हारा ।।
—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—उत्सर्ग

सन्त कवियों ने असीम और ससीम के इस लीला-व्यापार को देखकर उस समस्त अस्थिर रूपराशि के भीतर से स्थिर अरूप-तत्व का साक्षात्कार किया था। पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की झाँकी देखी थी तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि मनुष्य के अव्यक्त विराट् रूप में ही मृत्यु एवं अमृतत्व, ससीम और असीम निहित है। ससीम के भीतर ही अहरह असीम की रहस्य-क्रीड़ा चल रही है किन्तु इसका उद्घाटन स्पष्ट शब्दों में होना असम्भव है। इसके लिए अपूर्व, अलौकिक वाणी की अपेक्षा है जिसके माध्यम से उस विराट् रहस्य का एक क्षीण आभास मिल सके। सन्तों ने अपनी अटपटी लगने वाली विचित्र वाणी से उसी रहस्यानुभूति को व्यक्त करने की चेष्टा की है। अपरोक्ष की वह परोक्षानुभूति जहाँ आत्मा अपने भौतिक बन्धनों से ऊपर उठकर उस अनन्त जीवन में प्रवेश करती है, किसी भौतिक जीवन के देखने की भाँति प्रत्यक्ष एवं वास्तविक होता हुआ भी मूलतः वैसा नहीं है यद्यपि ईश्वर के प्रकाश की तुलना करोड़ों सूर्यों की भास्वर-प्रभा से की जाती है तो भी वह सूर्य-प्रकाश पर आश्रित नहीं है। वह बिना सूर्य के सूर्य का सा प्रकाश फैलाती है। भीतर की ज्योति पूर्ण दीप्ति के साथ प्रकाशित होती है किन्तु इसके प्रज्वलित रखने के लिए किसी तेल या बाती की आवश्यकता नहीं पड़ती। उस परम प्रकाशक पुरुष के खेल—रहस्य का वर्णन वर्णनातीत है—

जगमग अन्दर में [illegible], दिया न बाती तेल ।
परम प्रकाशिक [illegible] बताऊं खेल ।।[1]

---

[1] सन्तबानी संग्र[illegible], पृष्ठ [illegible]

सन्तों और योगियों की दृष्टि में यह सारा व्यक्त जगत् सीमा और असीम की क्रीड़ा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्व है जो अनन्त की ओर गतिशील है, दूसरा तत्व है जो सीमा की ओर खींच रहा है, इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। गति असीम है, तालों में बँधने पर वह सीमित हो जाती है और नृत्य रूप ग्रहण करती है। सीमा और असीम के इस द्वन्द्व को ही हम नृत्य के रूप में उपलब्ध करते हैं। स्वर और शब्द असीम है किन्तु छन्द और अर्थ के द्वारा उसे हम सीमा में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। मध्ययुग के सन्तों और भक्तों ने नाना-भाव से इस तत्व को हृदयंगम किया है।

असीम के उसी आध्यात्मिक आनन्द-जगत् में पहुँचकर कबीर ने भी कहा है कि मैं उस प्रदेश का वासी हूँ जहाँ बारहों महीने बसन्त बना रहता है। प्रेम की अजस्र-वृष्टि से कमल विकसित होते रहते हैं और तेज का पुञ्ज छिटका रहता है।[1] उस अनन्त ब्रह्म का तेज ऐसा है जैसा अनेक सूर्यों का समूह उदय हो रहा है। पति (परमात्मा) के साथ जो सुन्दरी (आत्मा) जगती रहती है, उसी ने इस कौतुक का दर्शन किया है। यह कौतुक—शरीर के बिना निराधार रूप में देखा जाता है। इसके सामने सूर्य और चन्द्र का प्रकाश क्षीण हो जाता है और स्वामी की सेवा में भक्त समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। उस तेज का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उसका वर्णन भी अशोभनीय है। उसका तो साक्षात्कार ही प्रमाण रूप है।[2]

अन्तिम सत्य की अनुभूति—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि इस अन्तर्दृष्टि वा अन्तिम सत्य की अनुभूति की एक विशेषता यह है कि द्रष्टा उसे किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। इसको जानने के लिए इसका स्वयं अनुभव करना आवश्यक है। इसी कठिनाई के कारण अस्तित्व का यह अंश हमारे लिए एक मुद्रित रहस्य के रूप में बना रहता है और इसी से रहस्यवाद कहलाता है। परन्तु उस द्रष्टा के लिए जिसे हम अपनी भाषा में मानसिक योग्यता की असमर्थता के कारण मर्मी कहते हैं, यह कोई रहस्य की बात नहीं। वह परमात्मा को इतना प्रत्यक्ष व स्पष्ट रूप में देखता है जितना कि हम भौतिक पदार्थों को देखते हैं, बल्कि इससे भी अधिक स्पष्टता के साथ। क्योंकि द्रष्टा उस दृश्य का पूर्ण रूप देखता है किन्तु भौतिक पदार्थों का हम केवल बाह्य रूप ही देखते हैं, उनके आभ्यन्तरिक अर्थ को नहीं जान पाते। उनके आभ्यन्तरिक

---

[1] सन्तबानी संग्रह, पृष्ठ ४३।

[2] कबीर ग्रन्थावली—परचा कौ अंग १, २, ३।

अर्थ को केवल वही जान सकता है जिसे उस अन्तर्दृष्टि की एक झलक मिल गई है। मर्मी की जीवनपद्धति इसी कारण स्वयं उसके लिए गूढ़ नहीं बल्कि हमारे लिए ही गूढ़ है, क्योंकि हमें उसकी अनुभूति एक मुद्रित रहस्य बनी रहती है।[1] इसी आभ्यन्तरिक अर्थ को अन्तर्दृष्टि के माध्यम से हृदयंगम करते हुए कबीर ने विश्वास के साथ कहा है—

> आँख न मूँदों कान न रूधों, तनिक कष्ट नहिं धारों।
> खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारों।।
>
> —शब्दावली, शब्द ३०

दादू ने उस तेज-पुज को अपनी अन्तर्दृष्टि से जी भर कर देखा था, जो बिना बाती और तेल के दसों दिशाओं में जगर-मगर कर रहा था, उसके एक-एक रोम का प्रकाश करोड़ों सूर्यों के प्रकाश-पुञ्ज से भी अधिक था। दादू ने बड़े विश्वास के साथ उस आँखों देखे दृश्य की चर्चा की है—

> अविनासी अंग तेज का, ऐसा तत्त अनूप।
> सो हम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज सरूप।।
> नैन हमारे नूर मां, तहाँ रहे ल्यौ लाइ।
> दादू उस दीदार कौं, निस दिन निरखत जाइ।।
> तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कन्त।
> तेज पुंज की सेज परि, दादू बन्या बसन्त।।[2]

अन्य सांसारिक तेज तो आधार-आधेय सम्बन्ध से ही अपनी दीप्ति का प्रसार करते हैं, किन्तु वह आध्यात्मिक तेज निराधार है—

> निराधार निज देखिये, नैनहुँ लागा बन्द।
> तन मन खेलै पीव सों, दादू सदा अनन्द।।

उसे किसी किसी प्रकाश-स्रोत की आवश्यकता नहीं क्योंकि संसार की सारी वस्तुएँ उसी के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। इसीलिए उस निरपेक्ष सत्ता को दादू ने कहा—

> सूरज नहिं तहँ सूरज देख्या, चन्द नहीं तहँ चन्दा।
> तारे नहिं तहँ झिलमिल देख्या, दादू अति आनन्दा।।
> बादल नहिं तहँ बरसत देख्या, सबद नहीं गरजन्दा।
> बीज नहीं तहँ चमकत देख्या, दादू परमानन्दा।।[3]

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृष्ठ २७७।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १, परचा कौ अंग ६३, ६८, १०६।

[3] वही—परचा कौ अंग ६०, ६१।

इस परम तेज की अनुभूति रहस्यवादी 'प्रेम और भाव भगति' के माध्यम से करता है। यद्यपि वह ब्रह्म मन, वाणी और इन्द्रियों से परे है फिर भी वह बड़ा गरीबनिवाज है, जिस पर कृपा करता है उसका कार्य-सिद्ध हो जाता है—

जिस कृपा करे तिसि पूरन काजा।
कबीर को स्वामी गरीब निवाजा॥

—क० ग्र०, परिशिष्ट पद ६

सन्तों ने स्थान-स्थान पर प्रेम और भाव-भगति के माध्यम से उसको पाने के लिए कहा है। प्रेम और भाव-भगति की पवित्र भावना का स्फुरण हर किसी के हृदय में सम्भव नहीं, उसके लिए हृदय का अत्यधिक सात्विक होना अनिवार्य है। यह हृदय की सात्विक शुद्धता कुछ तो प्रारब्ध कर्मों से, कुछ सञ्चित और कुछ क्रियमाण कर्मों से प्राप्ति होती है। कबीर की इसी के बल पर उस अदृश्य दोस्त से दोस्ती हो सकी थी—

कुछ करनी, कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख।
देखौ भाग कबीर का, दोसत किया अलेख॥

भगवान की कृपा एवं हृदय की कुछ शुद्धता के होते हुए भी प्रेम का उदय होना बिल्कुल निश्चित नहीं है, उसके लिए उस परमात्म-तत्व के अलौकिक सौन्दर्य का ज्ञान और उस सौन्दर्य को पाने के लिए उत्कृष्ट विरह की जागृति होना भी परमावश्यक है। साधक के हृदय में इस प्रकार की भावना का जागरण गुरु के द्वारा होता है—

सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥—क० ग्र०, पृष्ठ ४

रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ—गुरु ही साधक के भीतर एक ऐसी रूपरसपान की पिपासा जगा देता है जिसकी तृप्ति के लिए वह बेचैन हो उठता है और उसके लिए सब प्रकार के कष्ट झेलने को तैयार हो जाता है। इस अनुभूतिजन्य प्रथम स्थिति के पश्चात् दूसरी स्थिति तब आती है जब साधक को उस तत्व का परिचय मिल जाता है। उस समय उसके मन में एक विचित्र प्रकार का आह्लाद, तन्मयता एवं आनन्द में विभोर कर देने वाली भावना भर जाती है। यह भावना इतनी तीव्र होती है कि साधक में एक प्रकार का नशा-सा छाया रहता है। उसके हृदय में प्रेम की ऐसी सर्वभक्षी आग दहकती रहती है कि उसमें सब प्रकार की कलुषित वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। सूफ़ी कवि इस स्थिति को 'फ़ना' के नाम से पुकारते हैं। इसके पश्चात् वह अन्तिम स्थिति आती है जिसमें साधक और साध्य में, आत्मा-परमात्मा में पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं

रह जाता। आत्मा स्वयं को परमात्मा का अंग समझने लगती है और उसमें अंग-अंगी-भाव का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसे साधक की पूर्ण सिद्धावस्था कहा गया है क्योंकि उसके जीवन में एक ऐसा अपूर्व कायापलट आ जाता है कि वह उस स्थिति को पहुँच जाता है जहाँ स्वत: उसकी 'सन्त' संज्ञा हो जाती है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए डॉ० वर्मा ने लिखा है कि "इस स्थिति में आत्मा अपने में परमात्मा का अस्तित्व मानती है और परमात्मा के गुणों को प्रकट करती है। जिस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था में आग और लोहे का एक गोला, ये दोनों भिन्न हैं पर जब आग से तपाये जाने पर गोला भी लाल होकर अग्नि का स्वरूप धारण कर लेता है तब उस लोहे के गोले में वस्तुओं के जलाने की वही शक्ति आ जाती है जो आग में है। यदि गोला आग से अलग भी रख दिया जाय तो भी लाल स्वरूप रखकर अपने चारों ओर आँच फेंकता रहेगा। यही हाल आत्मा और परमात्मा के संसर्ग से होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में माया के वातावरण में आत्मा और परमात्मा, दो भिन्न शक्तियाँ जान पड़ती हैं पर जब दोनों आपस में मिलती हैं तो परमात्मा के गुणों का प्रवाह आत्मा में इतने अधिक वेग से होता है कि आत्मा के स्वाभाविक निज के गुण तो लुप्त हो जाते हैं और परमात्मा के गुण प्रकट जान पड़ते हैं, यही अभिन्न सम्बन्ध रहस्यवादियों की चरम सीमा है।"[1]

सन्तों की बानियों में उपर्युक्त तीनों स्थितियों का विवरण मिलता है। सन्तों की रहस्यानुभूति की एक विशेषता यह भी है कि 'एक ओर तो वह अद्वैतवाद के क्रोड़ में पोषित है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफ़ी सिद्धान्तों को स्पर्श करता है।' हिन्दू-मुस्लिम सन्तों का पारस्परिक सत्संग एवं ऐक्य संगठन की भावना से सन्त कवियों ने अपने रहस्यवाद में अद्वैतवाद और सूफ़ी मत की 'गंगा-जमुनी' साथ ही बहाई है। आत्मा-परमात्मा को एक सत्ता मानना तथा माया के कारण उसमें आवरण-भेद का आ जाना एवं उसके दूर होते ही पुन: तद्वत् हो जाना, इस अद्वैतवादी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति सन्तों ने अनेक स्थानों में की है—

> जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
> फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथो गियानी॥
> पांणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
> जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥

परमात्मा से मिलने के लिए आत्मा को सूफ़ी मत के अनुसार जो चार दशाएँ पार करनी पड़ती हैं, उसका उल्लेख हमें दादू के 'परचा कौ अंग' में स्पष्ट रूप

[1] डॉ० रामकुमार वर्मा—कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ १५-१६।

से मिलता है। उन्होंने मौजूद मुकामेहस्त (शरीयत) अरवाह मुकामे हस्त (तरीक़त) तथा माबूद मुकामे हस्त (हक़ीकत) एवं मारिफ़त का वर्णन स्पष्ट रूप से किया है।[1]

सन्तों के भावात्मक रहस्यवाद को सूफियों की मुख्य देन प्रेम की पीर, खुमार एवं तड़पन की है, जिसकी अभिव्यक्ति से सन्त-साहित्य के नीरस आध्यात्मिक वातावरण में अनुपम मधुरता का संचार हो सका। सन्त-साहित्य में प्रेम-साधना पर विस्तार से विचार करने का अवसर हमें आगे चलकर मिलेगा।

रहस्यानुभूति की प्रथम स्थिति में गुरु के शब्द-बाण से मर्मस्थल बिंध जाता है और प्रियतम से बिछुड़ी हुई आत्मा आन्तरिक प्यास से अकुला कर पुकारने लगती है कि मैं बहुत दिनों से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ, मेरे प्राण तुमसे मिलने के लिए तरस रहे है, मन में शान्ति नहीं है।[2] अन्त में वह अपने शरीर को जलाकर भस्मसात् करने और उससे उठे हुए धुएँ को स्वर्ग तक पहुँचाने का उपक्रम करती है ताकि धुएँ के प्रभाव से आँसुओं के आ जाने के कारण निर्मोही प्रियतम को दया आ जाय। कभी शरीर को दीपक बनाकर उसमें प्राणों की बत्ती डालकर लोहू से सींचने की बात सोचती है ताकि उस आन्तरिक ज्योति के प्रकाश में प्रिय की मुखच्छवि देख सके।[3] प्रियतम की जान लेवा प्रीति जो अस्थिपिंजर में समा गई है, उसमें दादू का रोम-रोम 'पिउ पिउ' की पुकार करता है। उनका रुदन घड़ी दो घड़ी का न होकर अहर्निशि का होवा है, रोते-रोते ही वह अपने प्रियतम से मिल जाता है।[4] विरहाग्नि में तपाये जाने पर साधक, साधना की परिपक्वावस्था में पहुँच जाता है और उसे उस परम तेज का आभास मिलने लगता है और वह गद्गद-कण्ठ से कह उठता है कि मैं ससीम को छोड़कर असीम में पहुँच गया हूँ और वहाँ निरन्तर वास कर रहा हूँ। न वहाँ समुद्र है, न सीप है, न स्वाति नक्षत्र की बूँद है, फिर भी उस शून्य शिखर-गढ़ में मोती उत्पन्न हो रहे हैं। इस शरीर में ही प्रभु का प्रेम प्रकाशित हो गया। आत्मा प्रकाश से परिपूर्ण हो गई। मुख से कस्तूरी की महक निकलने लगी और वाणी से सुगन्ध की लपटें उठने लगीं।[5] मिलन के इन अपूर्व क्षणों में दादू आनन्दित होकर कहने लगते हैं—

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १—परचा कौ अंग, पृष्ठ ५६-६०।

[2] कबीर ग्रन्थावली—विरह कौ अंग ६।

[3] वही—विरह कौ अंग २३।

[4] दादूदयाल की बानी, भाग १—विरह कौ अंग १३४, १३६।

[5] कबीर ग्रन्थावली—परचा कौ अंग, ५, ८, १४।

दादू रंग भरि खेलौं पिउ सों, तहँ बाजे बैन रसाल।
अकल पाट पर बैठा स्वामी, प्रेम पिलावै लाल॥
दादू रंग भरि खेलौं पिउ सों, तहँ कबहुँ न होय वियोग।
आदि पुरुष अन्तरि मिल्या, कुछ पूर बले संजोग॥
छाड़ै सुरति सरीर कूँ, तेज पुंज में आइ।
दादू ऐसे मिलि रहे, ज्यूं जल जलहि समाइ॥[1]

कबीर ने इसका वर्णन यों किया है—मेरे मन का उस मन के साथ मिलन होने पर दोनों 'नमक और पानी' की भाँति एक-दूसरे में घुल मिल गये अर्थात् दोनों में इतनी प्रगाढ़ अद्वैतानुभूति हो गई कि इसको विलगाना कठिन हो गया जैसे पानी में घुले नमक को पृथक् नहीं पहचाना जा सकता। आत्मा, परमात्मा में, जपने वाला न जपने में, दृश्य अदृश्य में और 'आप' अपनेपन में समा गया। उन्होंने इस 'परचा' का वर्णन 'वर-वधू' के विवाह द्वारा भी किया है। इस प्रकार के रूपकों का प्रयोग परवर्ती सन्त कवियों ने भी किया है।

रहस्यानुभूति की अन्तिम स्थिति में पहुँच कर साधक के जीवन में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होने लगती है और वह कहने लगता है कि जब मेरे अन्तरात्मा में परमात्मा प्रकट हुए तो उनकी संगति से मैं शीतल हो गया, मोह का सन्ताप दूर हो गया और दिन-रात सुख की निधि प्राप्त होने लगी। प्रज्वलित अग्नि शान्त हो गई और मैं अग्नि से फिर जल में परिवर्तित हो गया। जब मन से प्रभु का ध्यान किया तो शरीर विस्मृत हो गया और तत्त्व मिल गया, शून्य-गगन में स्नान करने से सारा सन्ताप दूर हो गया और अभूतपूर्व शीतलता की प्राप्ति हो गई। अपने और पराये की सारी भेद-भावना जाती रही तथा ऐसा प्रतीत होने लगा—'एक अनेक सुव्यापक पूरक जित देखौं तित सोई।' मेरे भीतर अपना कहने का कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा। जो कुछ है सब तेरा है, अतः तेरी वस्तु तुझे सौंपते हुए मेरा क्या बनता-बिगड़ता है। जब अन्तिम स्थिति अपनी पूर्णावस्था पर पहुँच जाती है तब साधक को 'सहज-समाधि' प्राप्त होती है। साधकों की एक मात्र यही दुर्लभ अवस्था सिद्धावस्था कहलाती है जिसमें सारे कार्य-व्यापार अनायास होते चलते हैं और उसे कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उस स्थिति में साधक और आराध्य में इतनी प्रगाढ़ता आ जाती है कि जो कुछ वह अपने लिये करता हैं वह अपने आप भगवान को अर्पित हो जाते हैं। इधर-उधर चलना परिक्रमा हो जाती

---

[1] दादूदयाल की बानी भाग १—परचा को अंग ६, ८, १६२।

है, काम-काज ही सेवा, सोना ही प्रणाम, बोलना ही नाम-जप, खाना-पीना ही पूजा और फले-फूले तथा उजड़े हुओं में समदृष्टि आ जाती है। वह आँख मूँदने और कान रूँधने की उलझनों से दूर होकर खुली आँखों से भगवान् की रूप-माधुरी का नयन-सुख लेता है और खुले कानों से अनहद-नाद का श्रवण करता है। सहज समाधि की ऐसी दुर्लभ स्थिति किसी विरले व्यक्ति को ही प्राप्त होती है जब कि वह इस प्रकार घोषित कर सके—

'राम हमारा जप करै, हम बैठे आराम'

प्रकरण २ :

सन्त-साहित्य की साधना

क. परम्परा से प्राप्त—योग एवं भक्ति : साधना—किसी उद्देश्य-विशेष की सिद्धि के लिए स्थिर भाव से जो अविच्छिन्न क्रिया की जाती है उसे साधना कहते हैं, चाहे भौतिक-सुख-समृद्धि के लिए चेष्टा की जा रही हो अथवा पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए, साधक इसकी सिद्धि के अस्तित्व में विश्वास रखकर कार्यशील होता है और जब तक उसे पूर्ण सफलता नहीं मिल जाती तब तक प्रयत्न करता रहता है। प्रायः साधना ऐसी गरिमापूर्ण संज्ञा की अधिकारिणी, वे क्रियाएँ होती हैं जो आत्मानुसन्धान के मार्ग में प्रवृत्तकर आत्मा को परमात्मप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक-पथ प्रशस्त करती हैं। आत्मबोध को जागृति कराने वाली चैतन्य-भावना को भी साधना कहा जा सकता है। गुरुदेव ने लिखा है कि "हमारी आत्मा जब संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं में बंधी रहती है तो अपनी विशेषता खो देती है। इसकी विशेषता एकत्व में ही है। वह विश्व से समभाव होकर ही अपने सत्यस्वरूप का बोध कर सकती है और तभी उसे आनन्द की अनुभूति होती है। विश्व-चेतना की कुञ्जी आत्म-चेतना है। अपनी आत्मा को अपने से भिन्न जानना ही ब्रह्म-ज्ञान की पहली सीढ़ी है। हमें पूर्ण श्रद्धा के साथ यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारा सच्चा रूप आत्मा में है। पूर्ण कल्याण में जीना, असीम में अपने जीवन की अनुभूति पाना है। जीवन का यह बहुत ही व्यापक अर्थ है जिसे हम आत्मिक दृष्टि से जीवन की पूर्णता को अनुभव करते व देखते हुए ही समझ सकते हैं। हमारे व्यक्तित्व की सीमान्त दीवारें हमें अपनी सीमा की ओर भी धकेलती हैं और इसी तरह हमें असीम की ओर भी ले जाती हैं। जब हम इन सीमाओं को असीम बनाने का प्रयत्न करते हैं तभी हम परस्पर-विरोधी भावनाओं में संघर्ष पाते हैं। आनन्द की प्रतीति हमें तभी होती है जब हम अपनी आत्मा का संसार से और संसार की आत्मा का विराट् की आत्मा से एकत्व अनुभव करते हैं।"[१]

साधना-भेद—चाहे हमारी साधना तप या ज्ञान की हो अथवा कर्मयोग या सदाचरण की हो या भक्ति-प्रेम की हो, उन सबका समाहार एक ही लक्ष्य

---

[१] रवीन्द्रनाथ ठाकुर—साधना, अनुवादक, सत्यकाम विद्यालंकार, पृष्ठ २४, २६, ४६, ७४, ६४।

में होता है। ऋषि-प्रार्थना है कि हे प्रभो ! वेदमार्ग, सांख्य योग, पाशुपत मत, वैष्णव मत, सभी आपकी प्राप्ति के ही मार्ग हैं। रुचि-वैचित्र्य के कारण ही यह श्रेष्ठ है, वह श्रेष्ठ है, इस प्रकार उनमें पृथकता प्रतीत होती है। जैसे समस्त नदी-नालों का जल समुद्र में ही जाता है वैसे ही सीधे-टेढ़े सभी साधन-मार्गों से यात्रा करने वाले मनुष्यों के गन्तव्य-स्थान एक मात्र आप ही हैं।—कल्याण, साधनांक के मुखपृष्ठ से अवतरित।

साधना का लक्ष्य—साधारणतः हमारी चेतना बहिर्मुखी होती है। समुचित मनोनिग्रह कर चतुर्दिक् बिखरी चेतना को अन्तर्मुखी बना कर एक लक्ष्य की ओर केन्द्रित कर देना ही साधना का चरम उद्देश्य है। गहरे पानी में पैठकर आत्मानुभूति के मौक्तिक अन्वेषण में प्रवृत्त होना ही हमारा प्रमुख कर्त्तव्य है। स्वामी शुद्धानन्द जी भारती का कथन है कि "हमारे सभी अंग, हमारे अस्तित्व का एक-एक कर्ण भगवत्प्राप्ति की सजग अभीप्सा में पुलकित हो उठे, हमारे भीतर दिव्य पवित्रता भर जाय, इसके लिए हमारे अन्दर दृढ़ निश्चय होना चाहिये—अटल निष्ठा चाहिये और चाहिये साधना के प्रति अटूट अनुराग। 'अन्तर्मुख होओ', 'भीतर की ओर लौटो' समस्त साधनाओं का एक मात्र यही सूत्र है।"[१] अतः प्रत्येक साधक को इसी लक्ष्य का लक्षण बनने के लिए प्राण-पण से चेष्टा करनी चाहिये।

परमपद प्राप्ति के त्रय-मार्ग—अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय साधना में परम-पद प्राप्त करने के तीन मार्ग प्रचलित रहे हैं—ज्ञान-मार्ग, योग-मार्ग और भक्ति-मार्ग। समय-समय पर किसी एक मार्ग की प्रधानता और शेष को गौण-स्थान मिलता रहा है और कभी तीनों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा भी की जाती रही है। किन्तु इन तीनों में कभी भी विच्छिन्नता नहीं आने पायी। प्रायः ये एक-दूसरे के पूरक समझे जाते रहे हैं, भले ही इन तीनों का विकास विशेष रूप से अपने स्वाभाविक ढङ्ग पर हुआ हो।

ज्ञान-मार्ग—ज्ञान-मार्ग से तात्पर्य सामान्यतः उपनिषद्मूलक ब्रह्मवाद या अद्वैतवाद से है। यह ज्ञान के द्वारा ही जीव की मुक्ति स्वीकार करता है। उपनिषदों का समग्र साहित्य प्रत्यक्षतः ज्ञान की ही दृढ़ शिला पर आधारित है। हिन्दू धर्म के नव जागरण काल (आठवीं सदी) में अद्वैतवाद के प्रमुख प्रवर्तक आदि गुरु शङ्कराचार्य हुए। वैदिक युग की कर्मकाण्डीय शुष्कता से ऊबकर जो स्वतन्त्रचेता श्रवण-मनन और निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा और साक्षात्कार में लीन

---

[१] स्वामी शुद्धानन्द जी भारती—कल्याण, साधनांक, साधन और सिद्धि, पृष्ठ २६२।

रहे और आत्म -ज्ञान का सुचिन्तित नवनीत समाज को प्रदान किया, उसी का परिणाम उपनिषद् हैं। यह ज्ञान, साधारणबुद्धि अथवा सूक्ष्मतर्क ज्ञान मात्र नहीं वरन् तपःपूत आत्मा में स्फुरित कोई दिव्य अलौकिक ज्ञान है। हिन्दी सन्त-कवियों के तात्विक सिद्धान्तों और उपनिषदों की चिन्तन प्रणाली में एक स्पष्ट समानता लक्षित होती है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि मसि-कागद से असंपृक्त सन्तों ने उपनिषदों का सविधि अध्ययन किया था। 'सम्भवतः मध्ययुगीन आचार्यों के कारण सारा धार्मिक वातावरण वेदान्त से ओत-प्रोत हो गया था। इसी वातावरण में अबाध साँस लेने के कारण वह इन अपढ़ साधु-सन्तों के अस्तित्व का अभिन्न अंग-सा हो गया था।

सन्तों के हृदय में ज्ञान संवलित प्रेमात्मिका भक्ति के भीतर योग का अपूर्व सम्मिश्रण अनन्त सत्, अनन्त चित् एवं अनन्त आनन्द का सच्चिदानन्द रूप उपस्थित करता है। श्रीमद्भागवत स्कन्द ३, अध्याय २५ में भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को ज्ञानपरक भक्ति का उपदेश देते हुए कहा है कि आध्यात्मिक योग को प्राप्त करके मनुष्य निःश्रेयस को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान की स्वयं प्रकाशित निरपेक्ष दीपशिखा अखण्ड भाव से उसमें आलोकित होने लगती है। अनासक्त होकर वह सूक्ष्म रहस्यमय आत्म-ज्योति को ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति से प्राप्त कर धन्य हो जाता है। ज्ञानवैराग्य-युक्त भक्तियोग का सहारा लेकर मंगलमय जीवन की सिद्धि के लिये योगी लोग अभय प्रदान करने वाले मेरे ही चरणों की छाया में परम विश्राम पाते हैं। भागवत की इस मधुरा भक्ति में ज्ञान, वैराग्य, कर्म, योग तथा प्रेम—सब एक ही ठौर पर समन्वित हो गये हैं। प्रेम की यही सरस रसधारा ज्ञान मधुर भक्तिसाधना के भीतर प्रवाहित हो रही है और इसीलिए सन्तों की निर्गुण-भक्ति को ज्ञानाश्रयी की भी संज्ञा दी जाती है। सन्त-वाणी में भक्ति और ज्ञान का कहीं विरोध नहीं है। ज्ञान, भक्ति की पृष्ठभूमि है। ज्ञान के आ जाने से मायाग्रस्त अन्धकार का नाश होता है परन्तु यह ज्ञान, दुर्वह शास्त्रीय या जड़ तर्क-वितर्कजन्य नहीं—'बिदिआ न परउ, बादु नहि जानउ—यह तो गुरुमुख से प्राप्त मरण जीवन की शंका को नष्ट करने वाला अद्वैततत्व अथवा ब्रह्मज्ञान है जिससे दुःख का नाश होता है और भक्ति-माणिक का आलोक विकीर्ण हो उठता है—

मरन जीवन की संका नासी। आपन रंगि सहज परगासी॥
प्रगटी जोति मिटिआ अँधियारा। रामरतनु पाइआ करत बीचारा॥
जर अनन्दु दुखु दूर पइआना। मनु मानकु लिव ततु लुकाना॥

—सन्त कबीर, रागु बिभास, प्रभाती १

मायानाशक यह परम ज्ञान पुस्तक से नहीं, सत्संगति से प्राप्त किया जाता है। 'वेद कतेब' के ज्ञान से 'दिल का फिकस' नहीं जाता—रागुतिलंग।[1] सन्त कवि 'आपुहि आपु विचारिये तब केता होय अनन्दुरे' के आधार पर प्रायः सर्वत्र आत्म-विचार एवं अन्तःसाधना पर ही विशेष बल देते हैं और उसे अपने ढंग से सहज साधना तक का नाम देते हुए उसके द्वारा स्वानुभूति प्राप्त करने का बार-बार उल्लेख करते हैं। उनकी ऐसी सिद्धि का स्वरूप किसी वस्तु-विशेष का कहीं से प्राप्त कर लेना अथवा उसको देखने लगना तक भी नहीं ठहराया जा सकता, प्रत्युत् वह तो स्वयं अपने आपा की ही आन्तरिक उपलब्धि का अनुभव कर उसके साथ तद्रूप बन जाता है। यह 'आपा' ही उनके लिए 'वह गुप्त' है जिसका शाब्दिक अर्थ प्रायः अत्यन्त व्यापक स्थिति समझी जाती है। प्रकारान्तर से सन्तों की ऐसी साधना को आत्मोपासना का भी नाम दिया जा सकता है जिसकी सिद्धि बिना ज्ञान की सहायता के सम्भव नहीं है। कबीर के प्रस्तुत पद में जो सनातन प्रश्न उठाये गये हैं, वे एक प्रकार से सन्तों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की उपादेयता सिद्ध करते हैं—श्रीगुरु के चरणों का स्पर्श करके वे विनयपूर्वक पूछते हैं कि मैंने यह प्राण क्यों पाया है, यह जीव संसार में क्यों उत्पन्न और नष्ट होता है। हे देव! दया करके मुझे सन्मार्ग पर लगाइये जिससे भय का बन्धन टूट जाय और मैं जन्म-मरण के दुःख से, कर्म के मिथ्या सुख से और जीव की योनियों से छूट जाऊँ। मेरा मन माया-पाश के बन्धन को नष्ट नहीं करता और शून्य को पाने की चेष्टा नहीं करता, अपने आत्मपद निर्वाण को नहीं पहिचानता। इस प्रकार यहाँ पर उन्होंने जीव, जगत् और माया-पाश सम्बन्धी कई प्रश्न एक साथ उठाये हैं और उन सब का पर्यवसान शून्यवाद या [illegible]वाद में किया है। परन्तु इस प्रकार के समाधान का सूत्र वे शास्त्रीय तर्क-वितर्क के माध्यम से नहीं खोजते। जैसे एक दीपक की ज्योति के संस्पर्श से शत-शत दीप जगमगा उठते हैं उसी प्रकार आत्मानुभूति भी एक हृदय से स्फुरित होती हुई दूसरे हृदय में सहज आलोक की किरण-प्रभा बिखेर देती है। इसी आत्मस्फुरित अद्वैतानुभूति को सन्तों ने 'ज्ञान' या 'सहज ज्ञान' कहा है और यही 'अनुभूति' या 'ज्ञान' उनकी भक्ति का आधार है। यह ज्ञान, भक्ति का विरोधी न होकर उसका पूरक है। ज्ञान की भूमि पर ही सत्गुरु द्वारा भगवद्भक्ति का बीजारोपण होता है। जीव-ब्रह्म की अद्वैतताजनित स्थिति ज्ञान के पश्चात् ही जीवात्मा में ब्रह्म-मिलन की आनन्दानुभूति आती है और वह विभोर होकर घोषणा करने लगता है कि गुरु ने मार्ग दिखा दिया और ब्रह्म से मेरा परिचय हो गया। जिसके महत्व

---

[1] सन्त कबीर—रागु आसा १।

को मुनि भी नहीं प्राप्त कर पाते, उस निराकार प्रभु को कबीर ने अपना मित्र बना लिया। मुझे स्थिति प्राप्त हो गई। मन स्थिर हो गया, सद्गुरु ने मेरी सहायता की। जब शून्य गगन में स्नान किया तो सन्ताप दूर हो गया और शीतलता प्राप्त हुई। ज्ञानरूपी निर्मल सूर्य के उदय होने से हृदयरूपी कमल विकसित हो गया। मोह की अन्धकारमयी रात्रि नष्ट हो गई और अनहद-नाद की ज्योति फैल गई। दयालु प्रभु के दर्शन होने पर शूली, सुख की शय्या बन गई[1]—दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि।

योग-साधना का प्रचलन ईसवी-सन् की द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में ध्यानयोग एवं तपश्चर्या के सम्मिश्रण से हुआ जिसने आगे चलकर अपना विकास मुख्यतः हठयोग के रूप में किया। हठयोग नामक अंग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन और प्राणायाम तथा राजयोग में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विवेचन किया गया।

योग और भक्ति—योगकी साधना भक्ति-योग के पार्श्व विशेष का निर्देश करती थी। किसी भी भारतीय साधन-मार्ग में योग का भक्ति से विरोध नहीं पाया। किसी भी साधना की पूर्ति के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित है। बिना मन को अन्तर्मुख बनाये परमात्म-तत्व की प्राप्ति दुर्लभ है। अतः योग सर्वप्रथम चित्तवृत्तियों के निरोध की शिक्षा देता है। योग मन को वाह्य विषयों से रोककर आत्मोन्मुख करने का एक सशक्त माध्यम है। इसीलिए भक्ति-सिद्धि के लिए योग की आवश्यक भूमिका भक्तों के द्वारा स्वीकार की गई है। भक्ति-साधना, बिना युक्ति (योग) के नहीं हो सकती—युगति बिना भगति किन पाई (कबीर)। भागवत, २। १। १६-१८,२१ में कहा गया है कि प्राणायाम के द्वारा चित्त की वृत्तियों को रोककर वाह्यविषयों से इन्द्रियों को हटाकर एवं मन को वासनाशून्य बनाकर भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार की साधना से योगियों को शीघ्र ही सिद्धि होती है। गीता, अध्याय ६।४७—में भी श्रद्धापूर्वक भगवान् की भक्ति करने वाले को सर्वश्रेष्ठ योगी बतलाया गया है। दूसरी ओर पतंजलि ने अपने 'योगसूत्र' में 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' कहकर ईश्वर-चिन्तन को योग के साधन के रूप में स्वीकार किया है। योगाभ्यास के मार्ग पर प्रवृत्त होने वाले साधक के मन में श्रद्धादि गुणों का होना अनिवार्य है। ये गुण भक्ति के ही लक्षण हैं। भक्त को एकाग्रता प्राप्त होने पर योगियों जैसी अनुभूति होगी। अतः बहुत प्राचीनकाल से योग एवं भक्ति का पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो चुका

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली—परचा कौं अंग** ६, १२, २६, ४३, ४८।

था तथा भक्ति-मार्ग में योग भगवप्राप्ति का एक उत्तम माध्यम स्वीकार कर लिया गया था। यही कारण है कि सन्तों की साधना का मूल स्वर भक्ति होते हुए भी, उनके यहाँ योग-साधना को समुचित महत्व दिया गया है। किन्तु इतना ध्यान रहे कि वे योग-साधना की विविध क्रियाएँ—षट्चक्र का वेधन, अनहद नाद का श्रवण और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अमृत का पान करने को ही योग की उत्तम सिद्धि के रूप में नहीं स्वीकार करते। यद्यपि सन्तों की बानियों में इन क्रियाओं की साधना से सम्बन्धित सैकड़ों पद मिलते हैं जो उनकी व्यावहारिक अनुभवशीलता के परिचायक हैं। सन्तों की दृष्टि में योग की एक मात्र सिद्धि अपने भीतर उस परमतत्व का साक्षात्कार करने में ही है।

योग-साधना—सन्त कवि नाथपन्थियों के उत्तराधिकारी ठहरते हैं, क्योंकि उनको योग का दाय, हठयोग की विभिन्न क्रियाओं की दीक्षा-देन इन्हीं नाथ-पन्थियों से मिली थी। लेकिन सन्तों की एक अनूठी विशेषता—जिसने उन्हें जन-जीवन के बहुत निकट ला दिया—वह भक्ति थी, जिसका गोरखनाथ और उनके अनुयायियों के साहित्य में सर्वथा अभाव है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "केवल एक वस्तु वे कहीं से नहीं ले सके, वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेश मात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।"[1] इस प्रकार नाथपन्थियों और सन्तों के स्वरों की गति दो विपरीत दिशाओं की ओर उन्मुख हो चुकी थी। सन्तों का जिस नवीन साधना से साक्षात्कार हुआ था, उसमें ज्ञान और योग गौण थे तथा भक्ति और प्रेम प्रमुख थे। किन्तु फिर भी सन्तों की साधना में योग का स्थान सुरक्षित रहा और लगभग सभी सन्तों ने कुछ न कुछ योगपरक पदों की रचना की जिसमें उन्होंने कुण्डलिनी जागरण, षट्चक्र-भेदन, अजपा-जाप, अनहद नाद, एवं गगन-गुफा से रस स्रवित होने की अनेक बार चर्चा की है। कारण स्पष्ट है। कबीर के पूर्ववर्ती नामदेव ने विसोबा खेचर नामक किसी नाथपन्थी योगी से दीक्षा ली थी और आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार "नाथ मत की आभ्यन्तर धारा को अपनाकर गृहस्थाश्रम में ही भक्ति की सहज-साधना का प्रचार किया।"[2] कबीरदास जी को जिस गुरु ने भक्ति की दीक्षा दी थी उसने स्वयं योग और भक्ति का समन्वय करने की चेष्टा की थी। रामानन्द और उनके गुरु राघवानन्द विशिष्टाद्वैतवादी होते हुए भी सिद्ध योगी थे। राघवानन्द ने रामानन्द को समाधिस्थ करवाकर अल्पायु में मारक योग से

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ १८८।

[2] विश्वभारती पत्रिका—खण्ड ६, अंक २, पृष्ठ ६२।

उनकी प्राणरक्षा की थी। इस प्रकार कबीर के दीक्षा-गुरु भी योगमार्ग को भक्ति का विरोधी नहीं मानते। अतः कबीर ने भक्ति के साथ योग को भी प्रश्रय दिया और उनका अनुकरण परवर्ती सभी सन्त कवियों ने किया।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' की प्रस्तावना में एक शोधपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है। उनका कथन है कि "कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। जोगी जाति का सम्बन्ध नाथ-पन्थ से है। जान पड़ता है कि कबीर के वंश में भी यह नाथपन्थी संस्कार पूरी मात्रा में थे। आगे चलकर वे कहते हैं—कबीरदास जिस वंश में पालित हुए थे उसमें योग मत का काफी प्रचार था। उनका पालन-पोषण योग मत के वातावरण में हुआ था। इसीलिए उनकी उक्तियों में, भाषा पर तथा तर्क शैली में उस मत का प्रभाव रह गया है। पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि स्वयं कबीरदास योग-मत के उसासक थे।"[1] कबीर के पूर्ववर्ती नामदेव की कविता में भी हमें नाथपन्थी साधना का उल्लेख मिलता है। नाथपन्थियों की हठयोग की साधना—जिसका प्रभाव सन्त-साहित्य की साधना पद्धति पर देखा जाता है—का विस्तृत विवेचन हम 'सन्त साहित्य की धार्मिक पृष्ठभूमि' में कर चुके हैं तथा आगे चलकर भी हमें इस पर विचार करने का अवसर मिलेगा। यहाँ विवेच्य इतना ही है कि वारकरियों एवं सन्तों पर नाथपन्थीय साधना का प्रभाव किस प्रकार पड़ा और वह उनमें किस रूप में विद्यमान है। नामदेव के प्रस्तुत पद में वेद, पुराण और शास्त्रों के प्रति नाथपन्थियों की उपेक्षा-भावना, अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनहद-नाद का व्यष्टि रूप में नाद-श्रवण, तीनों नाड़ियाँ, चन्द्र-सूर्य, सहज तथा ज्योति और शून्य में सामने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—

वेद पुरान सासत्र अनन्ता, गीत कवित्त न गावऊगो।
अखण्ड मण्डल, निरंकार महि, अनहद बेनु बजाऊगो॥
बैरागी रामहि गावऊगो॥
सबदि अतीत अनाहदि राता, आकुल कै घरि जाऊगो।
इड़ा पिंगला अठरु सुखमना, पऊनै बाँधि रहाऊगो॥
चन्दु सूरजु, दुइ समकरि राखऊ, ब्रह्म ज्योति मिलि जाऊगो।
नामा कहै चितु हरि सिऊर, राता सुन्नहि सुन्न समाऊगो॥[2]

\+ \+ \+

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ २२।

[2] आचार्य विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन : नामदेव के हिन्दी पद, पृष्ठ २५२।३१।

जह झिलमिल कारु दिसन्ता । तह अनहद सबद बजन्ता ।।
जोती जोति समानी । मैं गुर परसादी जानी ।।
जह अनहद सूर उजारा । तह दीपक जलै छीया ।।
गुर परसादी जानिआ । जनु नामा सहज समानिया ।।[1]

\+ + +

गगन-मण्डल की वर्षा एवं अनहद नाद के मधुर ध्वनि की अनुभूति—
अड़मड़िया मंदलु बाजैं, बिनु सावण अनहद गाजै ।
बादल बिनु बरखा होई, जउ ततु बिचार कोई ।।
घनि-घनि ओ राय बेनु बाजै । मधुर-मधुर धुनि अनहद गाजै ।।[2]

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "कबीरदास आदि ने नाथ पन्थियों की सम्पूर्ण पद्धति स्वीकार करके फिर रूपक द्वारा अपनी बात को इसी पद्धति के बल पर प्रतिष्ठित करने का मार्ग अवलम्बन किया है ।"[3] सच तो यह है कि सत्य के प्रयोगी कबीर ने तत्कालीन प्रचलित यौगिक साधनाओं की भली भाँति परीक्षा करके स्वानुभूतिमूलक सहजयोग को ही अपनाया है और उसका पर्यवसान भक्ति में किया है । प्रारम्भ में वे हठयोगियों की क्लिष्ट साधना से अवश्य प्रभावित थे क्योंकि तत्सम्बन्धी उल्लेख उनकी रचनाओं में मिलते हैं । एक स्थान पर वे कहते हैं, हे वैरागी ! पवन को उलटकर प्राणायाम कर । कुण्डलिनी के द्वारा शरीर के अन्तर्गत स्थित छः चक्रों को बेधकर अपनी आत्मा में शून्य के प्रति अनुराग उत्पन्न कर ।...हे मन ! तू उलटकर अपने आप में समा जा । गुरु की कृपा से तुझे दूसरी ही बुद्धि मिल गई है अन्यथा तू अभी तक बेगाना था ।[4] बटुवा तो एक (शरीर) है जिसमें बहत्तर (नाड़ियों की) आधारियाँ है और जिसका एक ही (ब्रह्मरन्ध्र) द्वार या मुँह हैं । ऐसे बटुवों के साथ जो नौ खण्ड की पृथ्वी पर अधिकार कर लेता है वही सारे संसार में (सच्चा) योगी है । ऐसा योगी नवों निधि प्राप्त करता है जो नीचे (मूलाधार चक्र) को ऊपर (ब्रह्मरन्ध्र) में ले जाता है । ऐसा योगी ध्यान को सुई बनाकर, उसमें शब्द का तागा माँज-कर डालता है और ज्ञान रूपी गुदड़ी को सीता है ।[5] अन्यत्र वे हठयोग की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—हे सन्तो ! योग प्राप्ति के फलस्वरूप प्राणायाम के द्वारा मेरे

---

[1] आचार्य विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन : नामदेव के हिन्दी पद—पृष्ठ २४२।६ ।

[2] 'विश्व भारती' पत्रिका, खण्ड ६, अंक २, पृष्ठ ६६ से अवतरित ।

[3] डॉ० द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६२ ।

[4] सन्त कबीर—रागु गउड़ी ४७ ।

[5] सन्त कबीर—रागु आसा ७ ।

मन को सुख की प्राप्ति हो सकी है। गुरु ने मुझे योग का सूक्ष्म-मार्ग दिखलाया जिसमें इन्द्रिय रूपी चञ्चल मृग आकर चोरी-चोरी चर जाया करते थे। मैंने अपने शरीर के दरवाजे बन्द कर लिए और उन मृगों को मुग्ध करने के लिए अनाहत बाजा बजाना प्रारम्भ कर दिया। सहस्रदल कमल में जो जल भरा हुआ था, उसे नष्ट कर मैंने उसे चैतन्य की ओर ऊँचा कर दिया।[1] कबीरदास अवधूत योगी को जग से न्यारा मानते हैं। वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है। कभी भी नाद से धारा को खण्डित नहीं करता। चैतन्य की चौकी पर आसीन वह गगन-मण्डल का वासी संसार की ओर देखता तक नहीं। आकाश पर चढ़ा हुआ भी आसन नहीं छोड़ता एवं मधुर महारस का पान करता रहता है। यद्यपि ऊपर से देखने में तो वह कन्था में लिपटा दिखाई देता है पर निरन्तर अन्तर्मुख बना रहता हैं और स्थिर भाव से नासिका में २१६०० धागों को पिरोया करता है, ब्रह्म की अग्नि में जो काया को जलाता है और त्रिकुटी के संगम में जागता है, सहज और शून्य की जो लौ लगाये रहता है, वही उनके मत से योगीश्वर है।[2] योग-साधना की विकसित अवस्था में उनके वर्णन में हठयोग के जटिल विधानों का बहिष्कार एवं प्रेमरस पूर्ण सहजयोग की ओर झुकाव परिलक्षित होता है—

> इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
> ससि हर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी॥
> मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
> उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई॥
> पंच जने सो संग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
> प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी॥
> सहज सुन्नि में जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
> दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछिकिन जाई॥[3]

भक्ति ही अन्तिम लक्ष्य—इस प्रकार की यौगिक क्रियाओं की सार्थकता उनकी दृष्टि में राम से मिलाने में ही है। योग ही चित्त की चञ्चल वृत्तियों का निरोधकर मन को विकार शून्य बनाता है। बिना मन के विकार शून्य बने संसार-सागर से निस्तार असम्भव है, जब मन कुटिलता का त्याग कर देता है तभी भगवान से मिलन होता है—

---

[1] सन्त कबीर—रागु सोरठि १०।

[2] कबीर ग्रन्थावली—पद ६०।

[3] वही—पद ७४।

जे मन नहिं तजे विकारा, तो क्यूं तिरिये भौपारा।
जब मन छांड़े कुटिलाई, तब आय मिले राम राई॥

अतः योग-साधना के माध्यम से वे भक्ति-सिद्धि की कामना करते हैं, क्योंकि भक्ति के बिना योग-साधना, बन्धन से छुड़ाने वाली न होकर और उलझने वाली हो जाती है। इसी से वे इन बन्धनों के फेर में न पड़कर दृढ़ता के साथ भगवान की भक्ति करने पर जोर देते हैं—

हिरदै कपट हरि सूं नहिं साचौ, कहा भयो जो अनहद नाच्यौ।
झूठें फोकट कलू मँझारा, राम कहै ते दास नियारा॥
भगति नारदी मगन कबीरा, इह विधि भव तिरि कहै कबीरा॥[1]

कभी-कभी तो वे पूरी अक्खड़ता के साथ योग के विकट रूपों की अवतारणा करते हुए तिलमिला देने वाले तर्कों के माध्यम से अवधूत योगी की दुर्गति बताते हुए उसके अज्ञान पर तरस खाते हैं। कबीर की इस स्थिति और उस पूर्व-स्थिति में, दो ध्रुवों का अन्तर सचमुच आश्चर्य में डाल देने वाला है किन्तु इसे भक्ति का प्रसाद ही माना जा सकता है और उनकी निश्चित, स्थिर, परिपक्व धारणा। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

जब लग भाव-भगति नहिं करिहौं, तब लग भवसागर क्यूं तिरिहौं।
भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल॥[2]

अवधूत के क्रिया-कलापों की तहकीकात करते हुए वे तिलमिला देने वाले पैने-व्यंग्य-भाव से पूछते हैं—

जो तुम पवना गगन चढ़ावो, करो गुफा में बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसें, कहँ गयो जोग तुम्हारा॥
गगना मद्धे जोती झलकै, पानी मद्धे तारा।
घटि गे नीर बिनसि गे तारा, निकर गयो केहि द्वारा॥
मेरु डंड पर डारि दुलैची, जोगिन तारी लाया।
सोइ सुमेर पर खाक उड़ानी, कच्चा जोग कमाया॥
इंगला बिनसै पिंगला बिनसै, बिनसै सुखमनि नाड़ी।
जब उनमुनि को तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी॥[3]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद २७८।

[2] वही—रमैणी, पृष्ठ २४५।

[3] कबीर साहेब की शब्दावली, भाग पहला—शब्द ६०।

सिख-गुरुओं की वाणियों में भी हठयोग की साधना से सम्बन्धित पद प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिसमें तत्सम्बन्धी शब्द—सुनि समाधि, अनहद सबदु, अमृत धारि, दशम दुआरि, गुफा, सहज धुनि, सुखमन नारी तथा उध कमल आदि का प्रयोग किया गया है। नीचे प्रमाणस्वरूप श्रीगुरुग्रन्थसाहिब से कुछ पंक्तियाँ दी जा रही है—

अनहद सबदु बजै दिन राती। अविगत की गति गुरमुखि जाती॥
तउ जानी जा सबदि पछानी। एको रवि रहिआ निरबानी॥[1]

नउ दरवाजे काइआ कोटु है दसवै गुपतु रखीजै।
बजर कपाट न खुलनी, गुर सबदि खुलीजै॥
अनहद वाजे धुनि वजदे, कुर सबदि सुणीजै।
तितु घटि अन्तरि चानणा, करि भगति मिलीजै॥[2]

अमृत रस सतिगुरु चुआइया। दसवै दुआरि प्रगटु होइ आइआ॥
तह अनहद सबद बजहि धुनि। बाणी सहजे सहजि समाइहै॥[3]

यौगिक क्रियाओं की सार्थकता कबीर की भाँति सिख-गुरुओं की दृष्टि में भी भक्ति के लिए है। बिना भक्ति के वे इन्हें कष्ट-साध्य शारीरिक व्यायाम मात्र मानते हैं। भक्ति से शून्य योग, प्राणहीन शरीर के समान हेय एवं त्याज्य है। बिना भक्ति के योग की साधना गर्व को बढ़ाने वाली, उलझन में डालने वाली तथा निस्सार है। गुरु नानक ने भक्ति के बिना ये यौगिक-क्रियाओं की व्यर्थता बताते हुए कहा है कि—

चाड़सि पवनु सिंघासन भीजै। निउली करम खटु करम करीजै॥
राम नाम बिनु बिरथा सासु लीजै। अन्तरि पंच अगनि किउ धीरज धीजै॥
अन्तरि चोरु किउ सादु लहीजै। गुरमुखि होइ काइआ गढ़ लीजै॥[4]

आगे उन्होंने कहा है कि चित्त की वृत्तियों का हठपूर्वक दमन करने से तथा कठोर व्रत और संयम करने से काया अवश्य क्षीण होगी, किन्तु मन में रस अथवा आनन्द की अनुभूति नहीं होगी। वस्तुतः परमात्मा के नाम-सुमिरन से बढ़कर अन्य कोई साधना ही नहीं है।[5] गुरु नानक ने योगियों की पाखण्ड-पूर्ण क्रियाओं की तीव्र-भर्त्सना करते हुए कहा है कि "तुम नाना प्रकार की

---

[1] श्रीगुरुग्रन्थसाहिब—रामकली, महला १, पृष्ठ ९०४।

[2] वही—महला २, पृष्ठ ९५४।

[3] वही—मारु सोलहै, महला ४, पृष्ठ १०६९।

[4] वही—रामकली, महला १, पृष्ठ ९०५।

[5] वही—महला १, पृष्ठ ९०५।

प्रदर्शनपूर्ण सांसारिक उलझनों में पड़कर बाजीगर की भाँति वेश बनाकर लोगों को ठगते हो। तुम्हारे हृदय में परमात्मा की ज्योति का प्रकाश नहीं होता। बोलो, इस प्रकार के कपटाचरण से तुम भवसागर से कैसे निस्तार पा सकोगे।"[1] सच्चा योग न तो कन्था में है न दण्ड में, न मुद्रा धारण में है न भस्म रमाने और शृंगीनाद में। वह तो निर्लिप्त भाव से माया के बीच रहते हुए भगवान में अनुरक्त होने में है। जो माया से घिरा हुआ भी तटस्थ भाव से भगवान के साथ रमण करता रहे, वही योगी कहलाने का अधिकारी है। सद्गुरु के उपदेश से भ्रम दूर हो जाता है, विषयों में विचरण करता हुआ मन निश्चल हो जाता है और परमात्मा के प्रेम का झरना झरने लगता है एवं बिना किसी प्रयास के प्रभु से साक्षात्कार स्वरूप ध्यान लग जाता है।[2] गुरु अमरदास ने योग-साधना करने वालों से निवेदन किया है कि "सत्य और सन्तोष को अपना कन्था और झोली बनाओ तथा नामरूपी सुधा का निरन्तर पान करते रहो।"[3] इस प्रकार गुरुओं ने कबीर के ही मार्ग पर चलकर योग को भक्ति-प्राप्ति के साधन रूप में स्वीकार किया है। बिना भक्ति के योग का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दादू की साधना प्रेमानुभूति-प्रधान होने के कारण हठयोग की काया-क्लिष्ट साधना से मुक्त है। कबीर की प्रारम्भिक योगसाधना जो ब्रह्म-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के गोरखधन्धों से युक्त क्रिया-कलापों की योजना करती है, ऐसी यौगिक क्रियाओं का दादू की बानियों एवं पदों में अभाव है। उनकी कविता में त्रिकुटी, अनहद बेनु, कम्बल रस, सहज, सुन्न सरोवर आदि का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है और उसके माध्यम से वे सहजभाव युक्त प्रेम-योग की साधना करते हैं। वे अपने को सहज-मार्ग का पथिक बतलाते हैं जिसमें किसी प्रकार की साधना न करने पर भी समाधिजन्य आनन्द की उपलब्धि होती रहती है और साधक काल के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।[4] इस साधना के लिए किसी वाह्य उपचार की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि सारी सामग्री हमें अपने भीतर ही प्राप्त हो जाती है। दादू ने अपने काया के अन्तर्गत ही उस दुर्लभ-वस्तु के दर्शन पाने की साक्षी इस प्रकार दी है—

काया अन्तर पाइया, त्रिकुटी के रे तीर।
सहजें आप लखाइया, व्यापा सकल सरीर।।

---

[1] श्रीगुरुग्रन्थसाहिब—महला १, पृष्ठ ६०३।

[2] वही—सूही, महला १, पृष्ठ ७३०।

[3] वही—महला ३, पृष्ठ ६०८।

[4] दादूदयाल की बानी, भाग १, लैकौ अंग १०।

काया अन्तर पाइया, अनहद बेन बजाइ।
सहजै आप लखाइया, सुन्न मण्डल में जाइ ॥[१]

उन्होंने 'प्राण-पवन' के द्वारा मन को त्रिकुटी के संगम में वश करने के लिए कहा है तथा पाँचों इन्द्रियों को प्रियतम के चरणों में बाँधने के लिए जोर दिया है।[२] उनकी दृष्टि में इस प्रकार का योगी ही आदर्श योगी है और परम पुरुष से मिलाप करने का पूर्ण अधिकारी है :—

बाबा को ऐसा जन जोगी।
अंजन छाड़ै रहै निरंजन, सहज सदा रस भोगी॥
छाया माया रहै बिबरजित, प्यंड ब्रह्मण्ड नियारे।
चन्द सूर थे अगम अगोचर, सो गहि तत्त विचारे॥
गुण आकार जहाँ गमि नाहीं, आपै आप अकेला।
दादू जाइ तहाँ जन जोगी, परम पुरिष सौं मेला॥[३]

कहीं वे 'झिलमिल सेज' में अपने प्राणों की प्रकट रूप से क्रीड़ा देखते हैं— उनके नेत्रों में 'नूर' समाया हुआ है तथा तन-मन की 'तारी' लगी हुई है।[४] दादू की 'काया बेलि' में नाथयोगियों के 'काया गढ़' का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। गोरखनाथ ने कहा है—

काया गढ़ भींतरि नव लष खाई। दसवै द्वारि अवधू तालो लाई।
काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी। सहज सुभाइ मिले अविनासी॥
बदत गोरषनाथ सुणौ नर लोई। काया गढ़ जीतैया बिरला कोई॥
—गोरखबानी: पृष्ठ ११६

गोरखनाथ की भाँति दादू भी काया में सिरजनहार, ओंकार, आकाश, धरती, पवन, प्रकाश, सूर्य, चन्द्र, अनहद नाद, तीनों लोक, 'सरग-पयाल,' चौदह भुवन, नौखण्ड एवं अखिल ब्रह्माण्ड के दर्शन करते है।[५] उनका कथन है :—

काया माहैं ससिहर सूर। काया माहैं बाजै तूर॥
काया माहैं कंदलि बास। काया माहैं है कविलास॥
काया माहैं सब ब्रह्मण्ड। काया माहैं है नौखण्ड॥

---

[१] दादूदयाल की बानी—भाग १, परचा कौ अंग १०, १२।
[२] वही—परचा कौ अंग ३०२।
[३] वही—भाग २, पृष्ठ ८६।
[४] सन्त सुधासार—स्वामी दादूदयाल, पृष्ठ ४३३।
[५] दादूदयाल की बानी—भाग २, पद ३५७-५८।

काया माहैं लोक सब। दादू दिये दिखाइ।
मनसा बाचा कर्मना। गुरु बिन लख्या न जाइ॥

नाथपन्थियों की यौगिक-साधना से यत्किंचित् प्रभावित होते हुए भी दादू की योग-साधना का पर्यवसान प्रेमसंयुक्त भक्ति में होता है। प्रेम की तीव्रता से परिपूर्ण पंक्तियों की सर्वाधिक संख्या उनकी कही हुई बानियों एव पदों में है। सार रूप में दादू की योगस्पर्शित साधना-पद्धति को उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है :—

अह निसि सदा सरीर में हरि चिन्तत दिन जाइ।
प्रेम मगन लयलीन मन, अन्तर गति ल्यौ लाइ॥
नांव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुन गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौं लाइ॥
प्रान कँवल मुखि राम कहि, मन पवना मुखि राम।
दादू सुरति मुख राम कहि, ब्रह्म सुन्न निज ठाम॥
ज्यूँ जल पैसे दूध में, ज्यूँ पाणी में लौण।
ऐसे आतम राम सौं, मन हठ साधे कोण॥[1]

दादू के उत्तराधिकारी गरीबदास ने योगपरक अन्तर्मुखी साधना का स्वरूप इस प्रकार उपस्थित किया है :—

तन खोजै तब पावै रे।
उलटी चाल चले जे प्राणी, सो सहजै घर आवे रे॥
बारह मारग बहता रोकैं, तेरह तालो लावे रे।
चन्द सूर सहजें सत राखैं, अणहद वेण बजावे रे॥
तीन्यू गुण चौथे घर राखैं, पाँच पचीस समावे रे।
नऊ निरति सूं और बहत्तर, रोम-रोम धुनि धावे रे।
मैल निर्मल करे ग्यान सौ, सतगुरु कहि समभावे रे।
'गरीबदास' अनमै घर उपजैं, तब जाइ जोति लखावे रे॥[2]

सुन्दरदास ने तो आशाओं को वश में न करने वाले किन्तु काया को विविध प्रकार के कष्ट देने वाले योगियों पर तथा उनकी योग-साधना पर तीव्र कशाघात किया है। उनका कथन है कि हे योगी! तुमने घर द्वार एवं स्त्री-पुत्रादि के प्रेम को त्यागकर भस्म धारण की। अपने शरीर पर शीत-ग्रीष्म एवं पावस के अनेक कष्ट सहे, पंचाग्नि तापी, वृक्ष के नीचे निवास कर भूख सही।

---

[1] दादूदयाल की बानी—भाग २, सुमिरन कौ अंग ४१, ७२, ७३, ७६।
[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सन्त काव्य—पृष्ठ ३१६।

बिछौने का त्यागकर कुश के आसन को ग्रहण किया और उस पर सिद्धासन लगाया किन्तु चित्त की चंचल इच्छाओं पर काबू न पा सके।[1] उनके मत से योगसिद्धि पाने के लिए शरीर को व्यर्थ कष्ट देने की आवश्यकता नहीं वरन् मानवता के मूलभूत गुण अथवा मानव-धर्म का ग्रहण हो योगसिद्धि-प्राप्ति का सेतु है :—

यह कोमल हृदय रहै निशवासर बोले कोमल बानी।
पुनि कोमल दृष्टि निहारैं सबको कोमलता सुखदानी॥
ज्यौं कोमल भूमि करैं नीकी विधि बीज वृद्धि ह्वै आवैं।
त्यौं इहै आर्ज्जव-लक्षण सुनि शिष योगसिद्धि को पावैं॥[2]

समाधि-सक्षम मुक्तयोगी के लक्षण एवं समाधि की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ साध्य और साधक में 'जल लवण सम' पूर्णैक्य भाव आ जाय, वह निरुपाधि होकर जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति से रहित हो जाय। हर्ष-शोक, मान-अपमान एवं ज्ञानाज्ञान से शून्य होकर कुलजाति और वर्णाश्रम के भेद-भावों से ऊपर उठ जाय, वही समाधिस्थ योगी है।[3] मलूकदास की बानी में भी हमें यत्र-तत्र योगपरक क्रियाओं एवं शब्दावली का परिचय मिलता है किन्तु उनकी एक मात्र साध भगवद्भक्ति के 'प्रेम-पियाले' को पीने की ही रही है। कभी वे मन को अजपा-जाप करने की शिक्षा देते हैं, कभी अन्धकार-निवृत्ति के लिए 'आपा खोजने' की चर्चा करते हैं और कहते हैं :—

जोई मन सोई परमेसुर, कोई बिरला अवधू जानै।
जौन जोगीसुर सब घर व्यापक, सो यह रूप बखानै॥
सब्द अनाहत होत जहाँ तें, तहाँ ब्रह्म कर बासा।
गगन-मण्डल में करत कलोलें, परम जोति परगासा॥

संसार से विरक्त 'निर्गुन रस' के रस का भोगी कोई 'जाग्रत जोगी' ही होता है जो सब प्रकार के 'भरम-करम' से रहित होकर—'सहजै धुन लागी रहै, बाजै अनहद तूरा' की उस स्थिति में रहता है जहाँ ज्ञान की लहरें उठती हैं और रिमझिम मोती बरसते हैं। वह गगन की गुफा में बैठकर जगमग ज्योति के दर्शन करता रहता है तथा तीनों अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था में स्थित रहता है, सीमा को छोड़कर असीम का आलिंगन करता है तथा आत्मप्रकाश से अपने घट को आलोकित करता है। जीवन की हर स्थिति में समभाव से रहता है,

---

[1] **स्वामी सुन्दरदास—सन्त सुधासार, पृष्ठ ६२३।**

[2] **वही—पृष्ठ ५७६।**

[3] **वही—पृष्ठ ५८०-८१।**

द्वैतभाव मन में नहीं लाता, ऐसा 'रावल' ही मलूकदास को प्रिय है।[1] इस प्रकार सन्तों की योग-साधना में नाथपन्थियों की भाँति मात्र-यौगिक क्रियाओं की नीरस अवतारणा न होकर प्रेम-भक्ति का सरस सामंजस्य पाया जाता है।

ख. युग सम्भूत मानसिक शुद्धि एवं प्रेम : मन और उसका स्वरूप—जिसके माध्यम से मनन आदि की क्रिया सम्पन्न की जाती है, उसे मन कहते हैं—मन्यते अनेन इति मनः। संकल्प-विकल्प का शक्तिशाली साधन होने के कारण मन की किसी भी साधना में एक आवश्यक भूमिका रही है और यहाँ तक कहा गया है कि मानव के बन्धन और मोक्ष का एक मात्र कारण मन ही है—मन एवं मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः। स्वामी शङ्कराचार्य तो उसी को विश्व-विजयी मानते हैं जिसने अपने मन को जीत लिया—जितं जगत्केन मनो हि येन। मन को जीतना सचमुच कठिन व्यापार है। उपनिषदों में मन के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है। कठ १। ३। ३ में मन को अश्व रूपी इन्द्रियों के नियन्त्रण के लिए वल्गा कहा गया है। गीता ६।३४ में मन को अत्यन्त चपल, शक्तिशाली, दृढ़ और मन्थन करने वाला बताया गया है एवं उसको वश में करना वायु की भाँति अत्यन्त दुष्कर माना गया है। आत्मा स्वयं प्रकाश्य एवं एकरस है, परन्तु कोई न कोई संकल्प करके जो इतस्ततः विचरता है वही मन है। देह, इन्द्रिय, जगत् एवं घट-पटादि में मन ही के कारण भेद-कल्पना का उत्थान-पतन होता रहता है। वस्तुतः आत्मा तो आकाश की भाँति निर्विकल्प, निश्चल, नित्य, शुद्ध एवं सर्व-साक्षी है किन्तु ऐसी आत्मा में द्वैत-भाव की भावना का सृजन मन ही करता है।[2]

मन की वृत्तियाँ—मन की वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—प्रथम मलिन-वृत्ति और दूसरी शुद्ध-वृत्ति। मन की मलिन-वृत्ति के कारण द्वैत-प्रतीति, विश्वाभास एवं देहादिक की संज्ञा-स्फूर्ति होती है एवं इसका निवारण दूसरी वृत्ति के आविर्भाव से होता है। मन का स्वरूपाकार बनना ही उसकी शुद्ध-वृत्ति है। बिना मनोलय (मन एवं इन्द्रियों को अन्तर्मुख करना) के तत्व-प्राप्ति दुर्लभ है। यही कारण है कि प्रायः सभी सन्त कवियों ने मन को शान्त व निश्चल करने, डाँटने-फटकारने, फुसलाने-पुचकारने की अथक चेष्टा की है तथा उसे 'उलट देना', 'मूंड देना', 'नन्हा-नन्हा करके पीस देना' आदि मनोमारण

---

[1] मलूकदास जी की बानी पृष्ठ १६, १७, २१।

[2] एव स्वभावाभिमतः स्वतः संकल्प्य धावति।
चेतसा स्वयमम्लानस्तदेव मन आत्मनः ॥—योगवासिष्ठ

क्रियाओं द्वारा मानसिक शुद्धि पर बल दिया है। सन्तों का युग एक प्रकार से वाह्याडम्बर एवं पाखण्ड का युग था। सारा संसार इस तत्व को भूलकर ऊपरी 'भरम-करम' और पेट की चिन्ता के बन्धन में बँधा हुआ था। छिलके में ही बीज के दर्शन कर रहा था। ऐसी विकट-वाहिनी से कबीर को लोहा लेना पड़ा था। उन्होंने बड़ी खीझ के साथ कहा है—

यह जग अन्धा मैं केहि समुझावौं।
इक-दुइ होय उन्हें समुझावौं, सब ही भुलाना पेट के धन्धा ॥

तत्कालीन पाखण्ड एवं वाह्याडम्बर—उन्होंने ऐसे योगियों को देखा था जो मन को न रँगाकर कपड़े को रँगाना ही अपना परम लक्ष्य समझ बैठे थे, मन्दिर में आसन लगाकर ब्रह्म को छोड़कर पत्थर की पूजा करने लगे थे। कान फड़वाकर, जटाएँ बढ़ाकर और दाढ़ी बढ़ाकर बकरा बन गये थे। जंगल में जाकर धूनी रमाकर एवं काम को जलाकर हिजड़ा बन गये थे। मस्तक मुड़ाकर गैरिक वस्त्र धारण कर तथा गीतादि का पाठ कर मिथ्याभिमानी बन रहे थे किन्तु बिना मानसिक-शुद्धि के उनका निस्तार न था और वे यम-द्वार में पकड़े जाते थे।[1] उन्हें संसार के पागलपन पर आश्चर्य होता था कि यह संसार भी कितना विचित्र है कि यदि मैं खरी हित की बात कहता हूँ तो मुझे मारने को दौड़ता है और झूठे का विश्वास करता है। उन्हें बहुत से नेमी-धर्मी और ब्रह्म-बेला में स्नान करने वाले मिले थे जो आत्मा की उपेक्षाकर पाषाण की पूजा कर रहे थे किन्तु उनका ज्ञान बिल्कुल थोथा था। घर-घर दीक्षा देने वाले ऐसे गुरु भी थे जो अपने शिष्यों को भी ले डूबते थे—

आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।
पीपर-पाथर पूजन लागे, तीरथ-बर्त भुलाना ॥
माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप-तिलक अनुमाना।
साखी सब्दै गावत भूले, आतम खबर न जाना ॥
घर घर मन्त्र जो देत फिरत हैं, माया के अभिमाना।
गुरवा सहित सिष्य सब बूढ़े, अन्तकाल पछिताना ॥[2]

कभी-कभी तो तंग आकर वे यहाँ तक कह दिया करते थे कि मेरा और तुम्हारा मन एक हो तो कैसे? जबकि मेरे और तुम्हारे दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। मैं तो (आत्मानुभूतिजन्य) आँखों देखी बात कह रहा हूँ और तुम हजारों वर्ष पूर्व लिखित शास्त्रों की बासी बातें कह रहे हो। मैं

---

[1] सन्त सुधासार—कबीर साहब, पृष्ठ ११०।
[2] वही—पृष्ठ ६८।

सुलझाने वाली युक्तियाँ बता रहा हूँ और तुम बन्धन में डाल रहे हो। मैं विवेकशील जागरण की चर्चा कर रहा हूँ और तुम अज्ञान की निद्रा में डूबे हुए हो। मैं समझाते-समझाते थक गया किन्तु दिमाग का दुश्मन यह संसार मेरा कहना ही नहीं मानता। अरे ओ भ्रष्ट आचरणशील! तूने तो अपना सारा आत्मधन खो डाला। किन्तु अब भी समय है, सत् गुरु के पावन-सीखों की निर्मलधारा बह रही है, क्यों नहीं तू उसमें अपनी कलुषित काया को धोकर मानसिक-शुद्धि कर लेता, तभी तू उस तत्व को हस्तगत कर सकेगा और जैसा चाहेगा, वैसा बन जायगा—

सतगुरु-धारा निरमल बाहै, वा में काया धोइ रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, तब ही वैसा होइ रे॥[1]

उन्होंने कहा कि मन ही मथुरा है, हृदय द्वारिका है और शरीर काशी है, दशवाँ द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) देवालय है। उसमें प्रकाशित ज्योति को पहिचानो। संसार मंदिरों के आगे सिर झुकाने जाता है परन्तु भगवान तो हृदय के अन्दर निवास करते हैं, उन्हीं में अपने मन को केन्द्रित कर। क्योंकि जप, तप, तीर्थ और व्रत में विश्वास रखना वैसे ही है जैसे सुआ द्वारा शालमलि वृक्ष की व्यर्थ सेवा करना।[2] कबीर ने उन लोगों पर तीव्र-व्यंग्य किया जिनकी साधना मनोयोग से शून्य थी। जब तक किसी भी क्रिया में मानसिक-शुद्धि से आर्द्रता न उत्पन्न हो जाय, तब तक वह केवल यंत्रवत् कार्य-कलाप है और ऐसी शुष्क दिखावटी साधना का कोई मूल्य नहीं। उन्होंने यंत्रवत् माला जपने वालों से कहा—तुम हाथ से माला पकड़े हो और अंगुलियों से गुरियों की गणना करते जाते हो परन्तु तुम्हारा मन पूजा से हटकर चारों ओर दौड़ रहा है। जिसको फिराने से प्रभु मिलते हैं, वह मन काठ के समान जड़ हो गया है। देख, काठ की माला तुझे यह कह कर समझाती है कि तू मुझे क्यों घुमाता है, अपने मन को सांसारिक वासनाओं से क्यों नहीं घुमाता—(हटाता)। सच्ची माला तो मन की माला है, अन्य मालाएँ तो सांसारिक भेष के रूप में है। यदि माला धारण करने से भगवत् प्राप्ति हो सकती तो सर्वप्रथम अधिकारिणी रहट है जिसके गले में अनेक घड़ों की माला पड़ी रहती है। अरे, इन बेचारे बालों ने तेरा क्या बिगाड़ा है जिनको तू मुड़वाता रहता है। तू अपने मन को क्यों नहीं मुँड़ता जिसमें विषय-विकार भरे पड़े हैं। शरीर को योगी (गैरिक वस्त्र धारण

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ १०४।

[2] वही—मेरा तेरा मनुआं कैसे इक होइ रे, पृष्ठ ११५।

[3] कबीर ग्रन्थावली—भ्रम विधौंषण कौ अंग, ११, १०, ८।

कर) तो सब बना लेते हैं परन्तु मन को योगी बनाना बिरले व्यक्ति ही का काम है। यदि मन योगी हो गया तो सारी सिद्धियाँ सहज ही में प्राप्त हो जाती है।[1] मानसिक शुद्धता और सदाचरण ही के कारण कबीर को शाक्त के बड़े ग्राम की अपेक्षा वैष्णव का छप्पर भला लगता है और वे ब्राह्मण-शक्ति से मिलना पसन्द न कर चाण्डाल वैष्णव से भुजा भरकर वैसे ही मिलना चाहते हैं जैसे साक्षात् भगवान् ही मिले हों।[2] इतना होते हुए भी वे मनोनिग्रह न करने वाले, विवेकशून्य दिखावटी वैष्णव को क्षमा नहीं कर पाते और कहते हैं— वैष्णव हो जाने से क्या होता है यदि विवेक नहीं जाग्रत हुआ। मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा में छापा और तिलक लगाकर तो अनेक व्यक्ति दग्घ हो चुके हैं।[3]

मानसिक-शुद्धि के उपाय—मानसिक-शुद्धि के उपाय बताते हुए कबीरदास जी ने कहा है कि आत्मा के स्वभाव को छोड़कर मन की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं चलना चाहिए। मन की इस प्रवृत्ति को संसार से उलटकर आत्मा की ओर वैसे लगा देना चाहिए जैसे तकुए पर काता हुआ सूत उलटकर अड़िया पर चढ़ाया जाता है। मन को टुकड़े-टुकड़े करके मार डालना चाहिए क्योंकि जिस मन ने विष की क्यारी बोई है, उसे काटने में कैसा पछतावा ? मदमत्त मन को मार डालो, इसे अत्यन्त सूक्ष्म करके पीस डालो, तभी सुन्दरी आत्मा सुख प्राप्त करेगी और उसके शिर पर ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश होगा—

> **मैमन्ता मन मारि रे, नांन्हां करि करि पीसि।**
> **तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीखि॥**
>
> **—क० ग्र० मन कौ अंग २०**

यदि धनुष की भाँति शरीर को खींचकर पञ्चतत्वों के बाणों द्वारा मन रूपी मृग को मार सके तो अच्छा है, अन्यथा सारी साधना व्यर्थ है। मन को यत्नपूर्वक वश में करने से साधक स्वयं विधाता बन सकता है, जैसा चाहे वैसा बन सकता है। मन ही गोरव, मन ही गोविन्द और मन ही अवधूत स्वरूप हो जाता है। निष्कर्ष रूप में कबीर ने मानसिक शुद्धि से प्राप्त सत्याचरण एवं सबके साथ सरलता का व्यवहार करने के लिए कहा है। फिर चाहे लम्बे केश रखे जाँय या उन्हें घुटा दिया जाय क्योंकि सार वस्त्र तो मन की शुद्धि है, वाह्य वेष-परिवर्तनादि से क्या आता-जाता है।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—भेष कौ अंग २, ५, ६, १२, १७।

[2] वही—साध महिमा कौ अंग ६, १०।

[3] वही—भेष कौ अंग ८।

मन के दो रूप—मायाच्छादित अहंकार-युक्त और शुद्धस्वरूप ज्योतिर्मय
—सिक्ख गुरुओं ने मन के दो रूप माने हैं—मायाच्छादित अहंकारयुक्त और शुद्धस्वरूप ज्योतिर्मय। संसारी व्यक्तियों का अहंकार-युक्त मन बार-बार अनेक योनियों में चक्कर काटता फिरता है एवं तृष्णा में फँसकर अमूल्य मानव-जीवन को व्यर्थ नष्ट कर देता है।[1] दशों-दिशाओं में भ्रमण करने के कारण यह सदा चपल बना रहता है, एक क्षण को भी नहीं स्थिर होता। कभी आकाश की सैर करता है, कभी पाताल की।[2] यह मन रूपी मदोन्मत्त हाथी माया के वन-खण्ड में हैरान होकर विचरण करता रहता है और इधर-उधर काल के द्वारा मारा जाता है। यह तेली के बैल की भाँति माया के स्वाद में लुब्ध होकर भगवान को भुलाकर दशों दिशाओं में दौड़ता रहता है।[3]

ज्योतिर्मय मन के द्वारा साधक को मूलतत्व की प्राप्ति होती है। इसी के माध्यम से उसे अद्वैतानुभूति का भान नित्य बना रहता है तथा जीवन-मरण के वास्तविक रहस्य से वह परिचित हो जाता है। द्वैतभाव एवं अहंकार का नाश होता है तथा अक्षय शान्ति के मिलने से आनन्द की बधाई बजने लगती है।[4] गुरु अमरदास के कथनानुसार इसी ज्योतिर्मय मन के अन्तर्गत परमात्मा के धन का अद्भुत खजाना छिपा रहता है, उसकी खोज बाहर करना व्यर्थ है क्योंकि वह तो यहीं से प्राप्त होता है।[5] गुरु अर्जुनदेव के अनुसार ज्योतिर्मय मन में ही परमात्मा का निवास है। सद्गुरु की कृपा से कोई विरला ही उस दुर्लभ तत्व को जान सकता है, इसी में सहज-कथा के अमृत कुण्ड भरे हुये हैं, जिसे इनकी प्राप्ति होती है वही इनका छककर रस पान कर सकता है—

अगम रूप का मन महि थाना। गुर प्रसादि किनै बिरलै जाना।
सहज-कथा के अमृत कुण्टा। जिसहि परापति तिसु लै भुञ्चा॥[6]

अहंकार युक्त मन के विकारों का शमन ज्योतिर्मय मन से ही होता है। अन्त में वह शुद्ध स्वरूप में विलीन होकर प्रभु के प्रेमरसामृत का पान करता है और उससे उसकी सारी कामनाएँ सदा के लिए पूर्ण हो जाती हैं। गुरु नानक ने

---

[1] श्री गुरुग्रन्थसाहिब—आसा, महला ३, पृष्ठ ४४१।
[2] वही—महला ४, पृष्ठ ४४३।
[3] वही—टोडी, महला ५, पृष्ठ ७१२।
[4] वही—आसा, महला ३, पृष्ठ ४४१।
[5] वही—वडहंसु, महला ३, पृष्ठ ५६६।
[6] वही—गउड़ी, महला ५, पृष्ठ १८६।

अहंकार युक्त मन को मार कर परमात्म-मिलन होना बताया है—'नानक इहु मनु मारि मिलु भी, फिर दुखु न होई।' और तभी स्थायी आदन्द की उपलब्धि सम्भव है। जब तक मन नहीं भरता, तब तक माया भी विनष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि मन के भर जाने या पूर्ण लय हो जाने पर माया के समस्त आकर्षण स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

मन को वश में करने के उपाय—दादूदयाल ने मन रूपी मतवाले हाथी को अपने 'घट' में घेरकर चित्त वृत्तियों के निरोध रूप अंकुश से वश में रखने के लिए कहा है। यदि एक बार भी इसे छूट दे दी गई तो फिर यह किसी प्रकार वश में नहीं आता। इसको वश में करने के लिए अगणित 'महावत' यत्न करते हार गये पर उनका इस पर कुछ बश न चल सका। अतः सन्त ने इस प्रचण्ड मन को वश में करने का एक उपाय इस प्रकार बताया है—

जहाँथैं मन उठि चलै, फेरि तहाँ ही राखि।
तहँ दादू लयलीन करि, साध कहै गुर साखि ॥
थोरैं थोरै हरकिये, रहैंगा ल्यौ लाइ।
जब लागा उनमनी सौं, तब मन कहीं न जाइ ॥[1]

उनके मत से जो मन का आसन (रहस्य या चाल) जानता है उसके समक्ष सारे रहस्य प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जो पाँचों इन्द्रियों को समेट कर एक स्थान में केन्द्रित कर सके, वह 'अगम-निगम' का पारंगत हो जाता है। यह निश्चित है कि जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक परम-तत्व का स्पर्श असम्भव है। मन के स्थिर हो जाने पर उसकी प्राप्ति सहज-भाव से हो जाती है। यह मन कागज के पतंग के समान है जो उड़कर आकाश तक पहुँच जाता है किन्तु जब हम इसे प्रभु-प्रेम की ओर मोड़ देते हैं तब प्रेम-जल से भीगकर यह पुनः हमारे पास लौट आता है। जब मन राम से लग जाता है तो उसका अन्यत्र जाना समाप्त हो जाता है। वह राम में ऐसे समा जाता है जैसे पानी में नमक।[2] यह तो स्वतः सिद्ध बात है कि—

दादू विषै विकार सौं, जब लगि मन राता।
तब लगि चित्त न आवई, त्रिभुवन-पति दाता ॥

जब मन का सहज रूप हो जाता है तब उसकी सारी द्वैत-भावना नष्ट हो जाती है और वह उष्ण-शीत में एक रस का अनुभव करने लग जाता है। यदि मन शुद्ध नहीं है तो ध्यान धारण करने से कोई लाभ नहीं होता। वकुल-साधना

---

[1] दादूदयाल की बानी—भाग १, मन कौ अंग ४-५।

[2] वही—११, १३, १६, २२, २७।

से यदि उद्धार हो सकता तो सारे पापी तर गये होते। अतः ऊपरी श्वेत परिधान की ओर विशेष ध्यान न देकर मन को स्वच्छ रखना चाहिए।[1] दादू ने बड़े ही सहज ढंग से एक अनमोल बात कह दी है—

जिसका दर्पण ऊजला, सो दर्सण देखै माँहि।
जिसकी मैली आरसी, सो मुख देखै नाँहि॥

मन की सर्वस्वता—मन ही सब कुछ है। यदि मन डुबाता है तो वही तारता भी है। मन ही हमें मरण की ओर ले जाता है और वही अमरता की ओर। मन के द्वारा माया की उत्पत्ति होती है और मन ही माया का विनाश करता है तथा अविनासी साहिब से लौ लगाता है। दादू ने इस तथ्य का प्रयोग करके अनुभूति की कसौटी पर कसकर भली-भाँति देख लिया था। तभी तो उन्होंने बड़े विश्वस्त भाव से कहा है—

मन हीं सौं मन थिर भया, मनहीं सौं मन लाइ।
मनहीं सौं मन मिलि रह्या, दादू अनत न जाइ॥[2]

मानसिक-शुद्धता की ओर ध्यान न देकर केवल बाह्य वेष एवं स्वांग बनाकर सिद्धि प्राप्त के इच्छुक साधकों की दादू ने किञ्चित् कटु-विमम्र भाव से अच्छी खबर ली है—

माया कारणि मुण्ड मुंडाया, यहु तौ जोग न होई।
पारब्रह्म सूं परचा नाहीं, कपट न सीझै कोई॥
जग दिखलावे बावरी, षोड़स करे सिंगार।
तहं न संवारे आप कूं, जहं भीतर भरतार॥
बाहर का सब देखिये, भीतर लख्या न जाइ।
बाहरि दिखावा लोक का, भीतरि राम दिखाइ॥[3]

अन्त में दादू ने मानसिक-शुद्धता लाने के लिए जो मानसिक-प्रेम-साधना बताई है, वह इस प्रकार है :—

मन हीं सौ मन सेविये, ज्यों जल जलहि समाय।
आतम चेतन प्रेम रस, दादू रहु ल्यौं लाइ॥
जब मन मिर्तक ह्वै रहै, इन्द्री बल भागा।
काया के सब गुण तजै, नीरंजन लागा॥

---

[1] दादूदायल की बानी—मन कौ अंग ५०, ८६।

[2] वही—मन कौ अंग १३७।

[3] वही—भाग १, मेष कौ अंग २८, ३१, ७८।

आदि अन्त मधि एक रस, टूटै नहिं धागा।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा॥[1]

मन की सीख—स्वामी गरीबदास मन को अनेक प्रकार से समझाते हुए कहते हैं कि तू कृत्रिम बन्धनों से मुक्त होकर सुख-दुख में एक से रहने वाले उस प्रभु से प्रीति कर और उसके सौन्दर्य से अपने नेत्रों को तृप्त कर। अन्य सारे आकर्षण नश्वर हैं। तू हरि ऐसे हितैषी को छोड़कर अन्य से नाता क्यों जोड़ता है। यह सारा सुख स्वप्नवत् है। क्यों नहीं तू सर्वगुण-सम्पन्न 'रूप-अरूप' की निर्मल ज्योति-छवि में अपने मन को केन्द्रित करता।[2]

मन की लीला—सन्त रज्जब ने मन की विचित्र लीला का वर्णन करते हुए कहा है कि मन रूपी हाथी स्वयं अपने ऊपर धूल उछाल कर मैला हो गया है। जब तक हरि रूपी सागर का (भक्ति रूपी) जल दूर है, तब तक वह मलीनता कैसे दूर हो सकती है? यह मन बड़ा ही प्रपंची है। इसे मृतक (पूर्ण रूप से अपने वश या स्थिर) देखकर जरा भी विश्वास न करना चाहिये। यह पलभर में उसी प्रकार जी जाता है जैसे मेघ-जल से मेढक। यह मन-भाँड़ (बहुरूपिया) अपने भण्डार में अनेक प्रकार के रंग रखता है अर्थात् विभिन्न परिस्थितियों में स्वाँग बदलता रहता है।[3]

मन की प्रचण्ड प्यास—मन की प्रचण्ड प्यास की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि यह किसी प्रकार तृप्त होना जानती ही नहीं। यह अनेक मानसिक-साधनों का सहारा लेती है फिर भी वह पूरी नहीं होती। जिस प्रकार असंख्य जलधारायें पृथ्वी तल पर आकर स्थिर या अछूती नहीं रह पातीं और मृत्तिकाश्लिष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार यह मन अनेक प्रकार की वासनाओं से कलुषित हो गया है और मन की सर्वभक्षी अग्नि असन-वसन अथवा अन्य संसारी उपकरणों से किसी प्रकार भी शान्त नहीं होती वरन् दिन-दिन बढ़ती जाती है। इसे शान्त करने की अमोघ औषधि उन्होंने राम का भजन करना बतलाया है।[4]

दग़ाबाज मन – सुन्दरदास तो मन जैसा दग़ाबाज और किसी को जानते ही नहीं। उनकी स्पष्ट उक्ति है—

---

[1] दादूदयाल की बानी, लय को अंग ३५, ४२, ४३।

[2] सन्त सुधासार—स्वामी गरीबदास, पृष्ठ ५०७।

[3] पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित—सन्त काव्य, पृष्ठ ३८२।

[4] वही—पृष्ठ ३७२।

देखिबे कौं दौरे तो अटकि जाइ वाही वोर,
सुनिबे को दौरे तो रसिक सिरताज है।
सूंघिबे को दौरे तो अघाइ न सुगन्ध करि,
खाइबे को दौरे तो न धापै महाराज है ॥
भोगहूं को दौरे तो तृपति नहीं क्योंहूं होइ,
सुन्दर कहत, याहि नेकहूं न लाज है ॥
काहू को कह्यौ न करे आपुनी ही टेक परे,
मन सौ न कोऊ हम जान्यौ दग़ाबाज है ॥[1]

मन के विभिन्न स्वरूप—कभी वे निर्लज्ज मन को तीव्र फटकार सुनाते हुए कहने लगते हैं कि अरे तेरी यह कैसी आदत बन गई है कि तू अमृत को छोड़कर हड्डियों को चूस रहा है। जैसे कृत्रिम हथिनी को देखकर हाथी कामवश गड्ढे में गिर जाता है। मैंने तुझे कितना समझाया लेकिन तूने मेरी एक भी सीख नहीं मानी। तू व्यर्थ ही रात-दिन भटकता रहता है। इस भ्रमयुक्त भटकन को क्यों नहीं त्याग देता ? जब मन कामार्त होकर किसी स्त्री की ओर देखता है तो उसी के रूप में ढल जाता है। किसी पर क्रोध करते समय उसका स्वरूप रौद्र भाव धारण कर लेता है। माया का स्मरण करने से मायावी हो जाता है और ब्रह्म का विचार करने से यह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। मन के इसी दुरंगी रूप-साधना पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—

तो सौं रे कपूत कोऊ कतहूं न देखियत,
तो सौं न सपूत कोऊ देखियत और है।
तूं ही आपु भूलि महानीच हूं तें नीच होइ,
तूं ही आपु जाने तें सकल सिरमौर हैं ॥
तूं ही आपु भ्रमै, तब भ्रमत जगत देखे,
तेरे थिर भये सब ठौर ही को ठौर है।
तूं ही जीव रूप ही ब्रह्म है आकाशवत,
सुन्दर कहत, मन तेरी सब दौर है ॥[2]

मलूकदास ने 'किरिया करम अचार-भरम' को 'जगत का फन्दा' माना है और मन से इन सारे भ्रमों को दूर करने के लिये कहा है तथा मानसिक अशुचिता को धारण करने वाले लोगों से सदा दूर रहने के लिए सचेत किया है। वे सब की देखा देखी 'लोकाचार' को भी करना पसन्द नहीं करते और व्यंग-भाव से कहते हैं—

---

[1] सन्त सुधासार—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ६२१।
[2] वही—पृष्ठ ६२२।

लोक वेद का पैंड़ा औरहि, इनकी कौन चलावै।
आतम भारि पवानै पूजै, हिरदे दया न आवै॥

वे विदेश जाने के लिए ब्राह्मण से शुभ-मुहूर्त पूछने की भी सम्मति नहीं देते और न दिन का विचार करने का—

सोम शनिश्चर पुरब न चालू।
मंगल बुध उतर दिस कालू॥

सायंकाल समय बिना दीपक जलाये भोजन करना विहित समझते हैं तथा जो इस वेला को 'असुर-वेला' कहते हैं उन्हें वे मूढ़ की संज्ञा देते हैं।[1] उनका सामान्य सिद्धान्त है—

दाया करै धरम मन राखै, घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सबका जानै, ताहि मिले अविनासी॥

यों तो भेष बनाकर स्वयं को 'पीर' कहलवाने वाले बहुत मिल जाते हैं किन्तु जो ईश्वर के कोप स्वरूप इस मन को मार सके, वही 'दुरबेस' है। फकीरी भेष से मन काबू में नहीं आता। जब मन फकीर हो जाय तभी ईश्वर का सम्पर्क-सुख प्राप्त होता है।[2]

प्रेम—सन्त कवियों की मानसिक-शुद्धि केवल शुद्धि के लिए नहीं थी, उन्होंने उसका योग व्यावहारिकता के साथ जोड़ा था। यही कारण है कि उन्होंने गृहस्थ-धर्म और लौकिक व्यवहार की उपेक्षा नहीं की जैसा कि सन्त-वाणी है कि योग में भोग और भोग में भी योग होता है। बहुत से योगी गैरिक-वस्त्र धारण कर वन में तन से योग-साधना कर डूब जाते हैं और बहुत से घरबारी 'विदेह' बनकर भोग में ही उद्धार पा जाते हैं।

प्रेम और नेम—सन्त कवियों ने शुष्क मानसिक शुचिता को कभी प्रश्रय नहीं दिया। कबीर का कथन था कि जिस शरीर में प्रेम-प्रीति की रसवन्ती नहीं गूंजती और वाणी में राम नाम नहीं रहता, उन मनुष्यों का इस संसार में उत्पन्न होना व्यर्थ गया। जिसने प्रेम को चखा नहीं और चखकर स्वाद नहीं लिया, वह उस अतिथि के समान है जो निर्जन घर (संसार) में बिना किसी आतिथ्य सत्कार के खाली लौट जाय।[3] जिस प्रकार मानसिक शुचिता से शून्य प्रेम, वासना का प्रतिरूप बनकर पतन की ओर ले जाता है उसी प्रकार प्रेमहीन मानसिक शुचिता भी हृदय रस को सुखा देती है। इसीलिए सन्त रैदास की अनन्य प्रेम भावना का विकास मानसिक शुचिता के परिपार्श्व से होता है।

---

[1] मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ २०।

[2] वही—पृष्ठ ३२, ३३।

[3] कबीर ग्रन्थावली—सुमिरण कौ अंग, १७-१८।

प्रस्तुत पद में भक्त के अन्तःकरण में प्रभु के प्रति अदम्य आत्मसमर्पण की भावना-भागीरथी लहरा रही है, जिससे सिंचित सारा वातावरण सुवासित हो रहा है। सन्त कितनी तन्मयता से निवेदन करते हैं—

> प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी। जाकी अंग अंग बास समानी॥
> प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा॥
> प्रभु जी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरे दिन राती॥
> प्रभु जी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥[1]

भक्त, भगवान् के साथ चन्दन में पानी सा घुल-मिल कर स्वयं भी चन्दन की गमक से भर जाना चाहता है। उसका प्रेम चकोर सा है जो निरन्तर चन्द्र-किरणों की रूप-सुधा का पान कर अपने अन्तरतम को शीतल करता रहता है। उसका अपने आराध्य से दीपक और बाती का सा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है जो स्वयं को तिल-तिल जलाती हुई आलोक विकीर्ण करती है। मोती और धागा तथा सोना और सुहागे की संपृक्तता तो विश्व विदित है। इस प्रकार साधक मानसिक शुचिता की क्यारी में ही प्रेम के पौधे को आरोपित करने की चेष्टा करता है।

योग और भोग—सन्त-दृष्टि, समस्त लौकिक कार्य करते हुए अन्तर के देवता के साथ मन का निविड़ संयोग बनाये रखने की कामना करती है। नाम-जप का प्रमुख उद्देश्य यही है कि नाम के माध्यम से मन का घनिष्ट सम्पर्क प्रभु के साथ बना रहे। इसके लिए उसे माला की आवश्यकता नहीं और यदि वह मिल भी जाय तो कोई हर्ज भी नहीं क्योंकि अंगुलियों का योग मनकाओं से बना रहता है और ध्यान की लौ परमात्मा के प्रति अटूट भाव से लगी रहती है। नाम-जप की पूर्णाहुति तो अजपा-जाप में होती है जहाँ बिना जप किये ही जप की साधना स्वतः चलती रहती है। यदि अन्तर का योग परमात्मा के साथ एकान्त भाव से बना रहे तो 'घर जोड़ने की माया' बाधा न बनकर बाँध का काम देती है। कबीर ने क्रौंच पक्षी का उदाहरण देते हुये कहा है कि जैसे उसके मन में चारा चुगते समय भी अपने बच्चों के लिए ममता बनी रहती है और वह थोड़ी-थोड़ी देर में चुगना छोड़कर उसकी ओर देख लिया करता है उसी प्रकार प्रेमी भक्त, सांसारिक कार्य करते हुए भी भगवान् का विस्मरण नहीं करता और निरन्तर उसका मन प्रभु की ओर लगा रहता है—

> चुने चितारे भी चुगे, चुगि चुगि चितारे।
> जैसे बचरहि कूंज मन, माइआ ममता रे॥[2]

---

[1] रैदास जी की बानी, पृष्ठ ४२, पद ८६।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, स० १२३।

एक अन्य सुन्दर उदाहरण रज्जब जी ने भी दिया है—जैसे कामिनी अपने सिर में घड़ा रखकर अपनी सखियों से बातें करती इठलाती हँसती चलती है लेकिन उसका ध्यान निरन्तर सिर पर रखे घड़े पर लगा रहता है, उसी प्रकार राम से प्रेम करने से सांसारिक और आध्यात्मिक, लौकिक और पारलौकिक साधना में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं उत्पन्न होता—

ज्यूं कामिनि सिर कुम्भ धरि, मन राखै ता माँहि।
त्यूं रज्जब करि रामसूं, कारज बिनसे नाँहि॥[1]

भक्त अपने सारे कार्य भगवान् का ही कार्य मानकर करता है, इसीलिए उसकी प्रेम-साधना और स्वार्थ-साधना में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं उत्पन्न होता। वह तो भगवान् के प्रति उतना आत्मविश्वासी होता है कि मोह, अहं और आसक्ति की जड़ पहले ही काटकर अपने सारे कार्य, अपने सारे स्वार्थ, भगवदर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है और बेफिक्री से कहता है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ कौं सौंपता, क्या लागे है मेरा॥[2]

इसी समर्पणजनित सम्बल के बल पर तो वह भगवान् पर अपना एकाकी अधिकार घोषित कर देता है—

नैना अन्तरि आव तूं, ज्यू हौं नैन झंबेउं।
ना हौ देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं॥ वही ४॥

सन्तों को संन्यास की शून्यता में नीरसता और प्रगाढ़ अन्धकार ही दिखाई देता है—'सुन्न महल में क्या सोइये जहाँ निस अंधियारी।' इस अन्धकार में प्रकाश की किरण तथा नीरसता में सरसता का संचार करने वाली प्रेम-भक्ति ही है। इसलिए दादू ने कहा है :—

नांव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुन गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौं लाइ॥[3]

प्रेम का स्वाद—संसार में लहराते अमृत-सागर को बिना पिये लौट जाना मूर्खता है। इसका व्यावहारिक उपाय सन्तों ने प्रेम द्वारा असीम को सीमा के अन्दर लाकर उसकी पयस्विनि में मन-प्राण को डुबो देना बताया है। तभी साधक को वास्तविक प्रेम-लीला का शब्दातीत स्वाद मिलेगा। जिसने एक बार भी उसको चख लिया, वह आठों पहर मतवाला बना रहता है, सम्पूर्ण काल

---

[1] सन्त सुधासार—रज्जब जी, पृष्ठ ५२८।

[2] कबीर ग्रन्थावली—निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग ३।

[3] दादूदयाल की बानी, भाग १, सुमिरन कौ अंग ७३।

को निचोड़कर उसका रस पीता है तथा आठों पहर मस्ती में डूबा रहता है। ब्रह्मानन्द में ही अपनी दिनचर्या बिताता है। उसके लिए सत्य की अभिव्यक्ति एवं सत्य का ग्रहण सुकर हो जाता है, क्योंकि वह काँच (वाह्याडम्बर) को त्यागकर साँच (मानसिक शुद्धि) के निर्विघ्न साम्राज्य में पहुँच जाता है। उसके जन्म-मरण का भय भाग जाता है और वह सब प्रकार की चिन्ताओं से अतीत होकर निर्भय हो जाता है—

आठ हूँ पहर मतवाल लागो रहै, आठ हूँ पहर की छाक पीवै।
आठ हूँ पहर मस्तान माता रहै, ब्रह्म को छौल में साध जीवै॥
साँच ही कहतु औ साँच ही गहतु है, काँच को त्याग करि साँच लागा।
कहै कब्बीर यौं साध निर्भय हुआ, जनम औ मरन का भर्म भागा॥[1]

इसी रस के देश में पहुँचकर कबीर ने अनुभव किया था—

दिवस और रैन तहं नेक नहि पाइये, प्रेम परकास के सिंध माहीं।
सदा आनन्द दुख दुन्द व्यापै नहीं, पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहं नेक आवै नहीं, कहै कब्बीर रस एक पेखा॥

इसी रस की एक बूँद पाकर साधक पागल होकर इधर-उधर दौड़ने लगता है, उसको अपने शरीर तक की सुधि नहीं रह जाती। सारा शरीर पुलकित हो जाता है और अविरल अश्रुपात होने लगता है—

स्वास उस्वास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि परयो रस पी मतवारा॥[2]

भक्त की भगवान् के साथ इस प्रकार की प्रेम-लीला से ही मध्य-युग की भक्ति-साधना सुहागिन है। यह रस-लीला ही भक्त की साधना है और साध्य, यही उसकी कामना है और यही काम्य। देवर्षि ने सत्य ही कहा है—

"यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति, यत्प्राप्य न कश्चिद्वांछति, न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।[3]"

ग. प्रयोग—सहज समाधि

सहज समाधि की परम्परागत परिभाषा इस प्रकार है—योगियों के प्रयत्न साधित प्राणायाम के द्वारा जब वायु ब्रह्म-रन्ध्र में प्रवेश करता है, उस समय

---

[1] कबीर साहेब की शब्दावली—शब्द २१-२२।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५७७।

[3] देवर्षि नारद-रचित भक्ति-सूत्र ४, ५, ६।

मन की आनन्दपूर्ण स्थिति को सहज-समाधि कहा गया है। इसे शब्दान्तर से मनोन्मनी (उनमुनि रहनी) अथवा सहजावस्था के भी नाम से पुकारा गया है। किन्तु सन्तों का, इस प्रकार प्रयत्न के द्वारा लायी गयी स्थिति में विश्वास नहीं है। आध्यात्मिक अनुभूति की यह अतिचेतक स्थिति साधक की साधना की चरम सीमा मानी गयी है। इस स्थिति में पहुँचकर साधक उस वर्णनातीत आनन्द को 'गूँगे के स्वाद' की भाँति ही भोगता है तथा स्वयं को उस देश का निवासी बताता है जहाँ सदा सरस वसन्त बना रहता है, प्रेम की अजस्र वर्षा होती रहती है, नित्य कमल खिले रहते हैं और चारों ओर जगमग ज्योति जलती रहती है।[1] इस अलौकिक प्रेमोल्लास में मग्न होकर वह अपने आपको भूल जाता है। संसार की दृष्टि में भले वह पागल कहलाये किन्तु वह अपने अभ्यन्तर के प्रगाढ़ानुराग में रँगा रहता है। उसे संसार की ऐसी सतही समीक्षा सुनने का समय कहाँ ? वह तो चुनौती के स्वरों में कहता है कि जब प्रेम ने मेरे लिये प्रियतम के द्वार खोल दिये तो सांसारिक माया-मोह मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। प्रभु-दर्शन के पश्चात् शूल भी मेरे लिए सुख की सेज बन गये।[2]

सहज-समाधि की विशेषता—सन्त ने इस प्रकार की अनुभूत्यात्मक अवस्था में निरन्तर अपने आप को डुबाये रखने को 'सहज-समाधि' में रखना कहा है। दैनन्दिन चर्या के साथ शाश्वत साधना की स्वाभाविक स्वीकृति को सहजावस्था कहा गया है। आचार्य सेन ने लिखा है—"दैनिक गति के साथ शाश्वत गति का जो यह सहज योग है, उसी को ये पन्थ 'सहज-पन्थ' कहते हैं।[3]" अतः सन्त की सहज समाधि में साधक जहाँ-जहाँ विचरण करता है वही उसकी 'परिक्रमा' पूरी हो जाती है। जो कुछ करता है वही 'सेवा' कहलाती है। उसका सोना ही दण्डवत् है, उसका बोलना ही नाम-सुमिरन तथा खाना-पीना पूजा है। वह आँख मूँदने अथवा कानों से सुनने की उलझन से परे हो जाता है और खुली आँखों से हँसते हुए भगवान के सुन्दर रूप को निहारता रहता है। वह बिना आसन-प्राणायाम के खुले कानों से अनहद नाद का श्रवण करता है और उठते-बैठते सब समय उसकी लगन स्वाभाविक गति से आराध्य की ओर लगी रहती है। इस प्रकार की क्रिया में उसे अपनी ओर से कुछ करना नहीं पड़ता। साँस के आने-जाने की भाँति यह क्रिया उसके स्वभाव का अङ्ग बनकर

---

[1] सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४३।

[2] कबीर ग्रन्थावली—परचा को अंग ४८।

[3] आचार्य क्षिति मोहन सेन—संस्कृति-संगम; पृष्ठ १२१।

स्वतः चलती रहती है। कबीर ने इसी मनोन्मनी स्थिति को प्राप्त करने पर विशेष जोर दिया है।[1]

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "सगुणोपासक भक्तगण, भगवान् के विग्रह की परिक्रमा, सेवा, नाम-जप आदि द्वारा जो भक्ति दरसाते हैं वह सभी सहज-समाधि के साधक के साधारण आचरण द्वारा ही सिद्ध हो जाती है और फिर योगी लोग जिन क्रियाओं से परम लक्ष्य को प्राप्त करने का दावा करते हैं वह भी उसे नहीं करनी पड़ती। यह अनायास ही उसे सिद्ध हो जाती है। स्पष्ट ही ऐसी समाधि वही लगा सकता है जो असीम विश्व ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त अनन्त सत्ता को सदा-सर्वदा अनुभव कर सके"[2] 'सदा-सर्वदा' का प्रयोग द्विवेदी जी ने इसलिए किया है कि यह तन्मयावस्था पश्चिमी रहस्यवादियों अथवा सूफियों के 'हाल' की भाँति केवल कुछ क्षणों तक बनी रहने वाली नहीं है। जिसे उन लोगों ने बिजली की भाँति क्षणिक बतलाया है, यह एक चिरस्थायी आन्तरिक आनन्दोपलब्धि है जो गुरु की कृपा से हृदय में जगकर दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ती जाने वाली है—'गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन-दिन अधिक चली।' इस समाधि की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इस स्थिति में पहुँचकर साधक को बाह्य विषयों से पृथक् करने के लिए अपने मन पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं लगाना पड़ता, उल्टे इन्द्रियाँ स्वयं उस सहज ज्ञान की सहायक बन जाती हैं। किन्तु स्मरण रहे, सहज कहने से कोई इन्द्रियोपभोग की धारा में अपने को अबाध गति से छोड़ देना समझते हैं अथवा निश्चेष्ट भाव से अपने को कोई एक धारा में बहा देना समझते हैं—यह घोर तामसिकता है।—संस्कृति संगम, पृष्ठ १२७।

इस स्थिति में पहुँचकर इन्द्रियाँ निश्चेष्ट नहीं हो जातीं वरन् उनके सारे कार्य-व्यापार ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाते हैं। अतः साधक कुपथगामी होने की आशंका से मुक्त होकर अपने मन को उसकी इच्छानुसार जहाँ कहीं जाने के लिए उन्मुक्त कर देता है क्योंकि सर्वत्र राम ही तो हैं, जब उसने जान बूझकर राम के चरणों में विश्राम पा लिया है तो वह उन्हें छोड़कर अन्यत्र जा ही कहाँ सकता है—

रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै, अब न कोइ तेरे अंकुश लावै।
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा, हरि पद चीन्हि कियो विश्रामा ॥[3]

---

[1] कबीर साहेब की शब्दावली, भाग १—शब्द ३०।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६८।

[3] कबीर ग्रन्थावली—पद १४६।

सन्तों की मान्यता है कि साधक को जहाँ एक बार सहजसमाधिजनित पूर्ण जागृति हो गई तो फिर वह स्वप्न एवं सुषुप्ति से परे तुरीयावस्था का अधिकारी हो जाता है एवं त्रिगुणातीत होकर शाश्वत आनन्द में निवास करता है। इस प्रकार की आनन्दानुभूति अतीत की विगत-स्मृति मात्र न रहकर उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है और वह पूर्ण आत्मैक्य भाव धारण करके निरन्तर परमात्मा के साथ क्रीड़ा-विलास में मग्न रहती है। इतना होने पर भी सन्त कभी अपने आपको परमात्मा घोषित करने की धृष्ठता नहीं कर बैठता क्योंकि वह जानता है—

पहुँचेंगे तब कहैंगे, अमडेंगे उस ठांइ।
अजहूँ बेरा समद में, बोलि बिगूचै काइ॥[1]

कबीर ने सहज-समाधि के अनुभव की चर्चा करते हुए कहा है—ब्रह्म ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर अब मैं करोड़ों कल्पों तक सहज-समाधि में विश्राम करूँगा। दयालु सद्गुरु की कृपा से मेरा हृदय-कमल खिल गया है और परम-ज्योति के प्रकाश से भ्रम के दूर हो जाने से दशों दिशाएँ सूझने लगी हैं। सुप्त आत्मा धनुष लेकर उठ खड़ा हुआ और काल रूपी अहेरी भाग गया। ज्ञान रूपी सूर्य के उदय हो जाने से रात्रि प्रस्थान कर गयी और मैं जाग गया हूँ। उस अज्ञात, अखण्ड व अनुपम रूप के दर्शन का अनुभव गूंगे द्वारा मिठाई के स्वाद को संकेत द्वारा बतलाने जैसा है। उस स्थिति के प्राप्त होते ही वृक्ष में मानों बिना फूल के फल लग गये। बिना बजाये तूर्य बजने लगा और बिना पनिहारिन के पानी खींचे ही घड़ा भर गया। देखते ही देखते कांच जैसा तन कंचन में परिवर्तित हो गया और मन बिना किसी आयास के स्थिर हो गया। सुरति रूपी पक्षी अज्ञात दिशा की ओर उड़ गया और जल, जल में प्रवेशकर गया—आत्मा-परमात्मा का स्थायी मिलन हो गया। अब मुझे न तो पहले की भाँति विग्रह-अर्चन की झंझट मोल लेनी है और न तीर्थ-स्नान के लिए जाना है। भ्रम के नष्ट होने से अब तो आवागमन की भी आशंका मिट गई। मैंने अपने में आत्मस्वरूप की झाँकी देख ली और आप ही आप सूझ पड़ने लगा। अपने आप ही कहना-सुनना और समझना-बूझना रह गया। अपने परिचय की ही तारी लग गई और अपने आप में सदा के लिए समा गया। इसका स्वयं विचार करने वाला आवागमन से मुक्त हो गया।[2]

आत्म-शुद्धि का नैरन्तर्य-भाव—सहज-समाधि का प्रभाव साधक के मात्र मानसिक-जीवन पर ही नहीं पड़ता वरन् सदा के लिए उसका नूतन काया-कल्प

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—जरणां को अंग, ५।

[2] वही—पद ६।

हो जाता है। 'राम राई' के 'घट' में प्रकट होते ही सम्पूर्ण जीवन बदल गया। जिस प्रकार सोने की परख कसौटी पर और उसके सारे विकारों का शमन प्रज्वलित आग की लपटों में तपाने पर होता है, उसी प्रकार शरीर का सारा मैल जल गया और काया कंचन की भाँति तथा मन निश्चल निर्विकार बन गया—

अब घटि प्रगट भये राम राई, सोधि सरीर कनक की नाई।
कनक कसौटी जैसे कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर भया तन सारा ॥[1]

कबीर का कथन है—मन के निश्चल हो जाने पर तन की सारी उपाधियाँ सुखमय सहज समाधि में परिवर्तित हो गईं। शत्रु मित्र बन गये। शाक्त, हितैषी और यम के समान यन्त्रणादायक मन राम के समान दयालु बन गया। आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होते ही चंचल मन नित्य बन गया और पहले का जीवन मृतवत् और अब का संजीवन पूर्ण जान पड़ने लगा। इस प्रकार के सहज-सुख में मग्न होने के कारण मेरी सारी आशंकाएँ एवं चिन्ता तिरोहित हो गई।[2]

अमरता की उपलब्धि—मुझे ऐसा भान होने लगा है कि अब पुनः आवागमन के चक्र में नहीं फँसना पड़ेगा क्योंकि पंचतत्व की काया से मुक्त होकर मेरा मिलन राम से हो जायेगा और पृथ्वी-तत्व का गुण जल-तत्व में समाकर अग्नि-तत्व के साथ मिल जायेगा तथा अग्नि-तत्व, पवन-तत्व से मिल कर आकाश-तत्व में लीन हो जायेगा और सहज-समाधि स्थायी भाव से लगी रहेगी। जिस प्रकार नाना आकार के बने स्वर्णिम आभूषण गलाने पर एक रूप हो जाते हैं उसी प्रकार मैं लोकाचार एवं शास्त्र-पुराण की उपाधियों से रहित होकर शून्य में समा जाऊँगा और तरंगिणी की जल-तरंगों सा दिखलाई पड़ने लगूँगा और अपने सुख सागर स्वामी में अपनी जीवात्मा को सम्पूर्ण भाव से लीन कर दूँगा—

पृथी का गुण पांणी सोष्या, पांणी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिल पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगावहिंगे ॥
जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामीं सुखसागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे ॥[3]

रैदास 'पाती तोड़ने अथवा देवार्चन' को ठुकराकर सहज-समाधि के रूप में हरि की सेवा करने को तत्पर होते हैं।[4] उनका स्पष्ट मत है कि उपाधि-रहित

---

[1] कबीर ग्रन्थावली : पद १७।

[2] वही—पद १५।

[3] सन्त सुधासार—पृष्ठ ७३

[4] रैदास जी की बानी—पृष्ठ २७ : तोड़ूँ न पाती पूजूँ न देवा। सहज समाधि करूँ हरि सेवा ॥

सहज-समाधि की 'लिव' बड़े सौभाग्य से लगती है और उसके लगते ही जन्म-मरण का भय भाग जाता है—

सहज समाधि उपाधि रहित होइ बड़े भागी लिव लागी ।
कहि रविदास उदास दास मति, जनम मरन-भय भागी ॥[1]

गुरु नानक ने सहज-समाधि को सुख-दुःख से अतीत आत्मानन्द की स्थिति मानी है। न नींद सताती है न बुभुक्षा, यहाँ नामामृत का निरन्तर बास बना रहता है और आत्मा सब प्रकार की चिन्ताओं से निर्द्वन्द्व होकर स्वयं में समाई रहती है—

हिथे ऊंध न भूख है हरि अमृत नामु सुख वासु ।
नानक दुखु सुखु बिआपति नहीं जिथै आतमराय प्रगासु ॥[2]

इस वर्णनातीत आनन्द के विषय में स्वानुभूति से गुरुओं ने कहा है कि जिस प्रकार जल, जल से मिल कर तदाकार हो जाता है उसी प्रकार आत्मस्थित वियुक्त परमात्म ज्योति परमात्मा से मिलकर तद्रूप हो जाती है। जिस प्रकार बूँद का पृथक् व्यक्तित्व समुद्र में लीन होकर समुद्र की ख्याति धारण कर लेता है उसी प्रकार साधक 'पूरन पुरख' के साथ मिलकर अपना नाम-रूप खो बैठता है और स्वयं परमात्म स्वरूप हो जाने के कारण अपने आपको जान लेता है। इस स्थिति को चाहे शून्य के नाम से पुकारिये अथवा 'सहज समाधि' कहिये, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, वे अभिन्न हैं। इस स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति स्वयं ही गुप्त और मुक्त है। उसके रहस्य को उद्घाटन करने की क्षमता अन्य में नहीं, वह स्वयं ही अपने को विज्ञापित करता है। इस दुर्लभ सम्मिलन स्थिति में पहुँचकर वह त्रिगुणातीत हो जाता है और समस्त संशय, भ्रम एवं भय से मुक्त हो जाता है—

मिलि जलु जलहि खटाना राम । संगि जोती जोती मिलाना राम ॥
समाइ पूरन पुरख करते आपहि जाणीये ।
तँह सुन सहजि समाधि लागी एकु एकु बखणीए ॥
आपि गुपता आपि मुकता आपि आपु बखाना ।
नानक भ्रम भै गुण विनासै, जलु जलहि खटाना ॥[3]

दादूदयाल के मत से इस स्थिति में पहुँच जाने पर त्रिगुणात्मिका प्रकृति के समस्त गुण-आकारों के विकार साधक की साधना में बाधा नहीं पहुँचाते

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ १८४ ।
[2] श्री गुरुग्रंथ साहिब, महला ३, पृष्ठ १४१४ ।
[3] वही—वडहंसु, महला ५, पृष्ठ ५७८ ।

क्योंकि मन के पूर्ण स्थिर हो जाने पर आत्म-चेतना प्रेम-रस के पान में तल्लीन हो जाती है। तन-मन-पवन और पाँचों इन्द्रियों को समेटकर निरंजन में लौ लगाने से आत्मा सहज भाव से परमात्मा के निकट पहुँच जाती है। इस साधना में शून्य मार्ग से आना-जाना होता है और सुरति को चैतन्य-पथ पर चलना पड़ता है तथा वह स्वयं को लय में लगाये रखती है।[1] दादू ने इस अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त करने की कुछ विधियाँ बताते हुए कहा है—

> अन्तरगति ल्यौ लाइ रहु, सदा सुरति सौं गाइ।
> यहु मन नाचै मगन ह्वै, भावै ताल बजाइ॥
> छाड़ै सुरति सरीर का, तेज-पुंज में आइ।
> दादू ऐसै मिलि रहे, ज्यौं जल जलहि समाइ॥[2]

इसमें अपने 'अहं' का पूर्ण विसर्जन कर साधक साधना-पथ पर अग्रसर होता है। अहं का निषेध करके ही 'साहिब जी की सेज' तक पहुँचा जा सकता है क्योंकि उस 'बारीक महल' में 'राम और मैं' दो के लिए स्थान ही नहीं है।[3] जब साधक उस परिपक्व स्थिति को पहुँच जाय कि सर्वस्व समर्पित भाव से कह सके—

> तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।
> सब कुछ तेरा, तूं है मेरा, यह दादू का ज्ञान।[4]

इस समर्पण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि देने वाला स्वयं को अपूर्ण या खाली अनुभव न कर और भी पूर्ण समझने लगता है क्योंकि वह जिसे समर्पण करता है वह भी तो 'वही' होता है। तभी इस प्रकार की दुर्लभ अद्वैतता सम्भव है—

> तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कंत।
> तेज-पुंज की सेज पर, दादू बन्या बसन्त॥
> साईं सुन्दरि सेज परि, सदा एक रस होइ।
> दादू खेलै पीव सौं, ता सनि और न कोइ॥[5]

ऐसी स्थिति में पहुँचने पर भी सारी बाहरी बातें ज्यों की त्यों रहती हैं, केवल आभ्यन्तरिक परिवर्तन से अहंताजनित आवरण सामने से उठ जाता है और

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, लय को अंग ४, ५, १४।

[2] वही—२४, ३६।

[3] वही—परचा को अंग, ४३, ४४।

[4] वही—सुन्दरी को अंग २३।

[5] वही—३३, ३४।

भ्रान्ति में डालने वाली वस्तु अस्तित्वशून्य हो जाती है। उस समय साधक प्रत्यक्ष दर्शन की अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहने लगता है—

अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दू तुरक भेद कुछ नाहीं, देखौं दरसन तोरा॥
सोई प्राण प्यंड पुनि सोई, सोई लोही मासा।
सोई नैन नासिका सोई, सहजैं कीन्ह तमासा॥
यहु सब खेल खालिक हरि तेरा, तैं ही एक करि लीन्हा।
दादू जुगति जानि करि ऐसी, तब यहु प्राण पतीना॥[१]

निरंजन के निकट पहुँचने को उन्होंने 'जीव-मुक्त की अवस्था' माना है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् मिलने वाली मुक्ति में उनका विश्वास नहीं है। जीते जी यदि राम की उपलब्धि हो जाय तो अपना जन्म सफल हो जाय—

मरिकरि मुकति जहाँ जग जाइ। तहाँ न मेरा मन पतियाइ।
जीवत जनम सुफल करि जाना। दादू राम मिलै मन माना॥[२]

और यही उनकी 'सहज-समाधि' है जिसमें लौ लगते ही मन थक जाता है, वाणी मूक हो जाती है। चाहे कोई कितना चिन्तन करे किन्तु उसका अनुभव सदा अपार, अगम्य और इन्द्रियों की पकड़ से परे होता है। सागर में मिल जाने वाली बूँद कैसे तौली जा सकती है? अवरुद्ध वाणी कैसे बोल सकती है? अनल-पक्षी की भाँति मन बन्धन-मुक्त होकर निस्सीम गगन में दूर-दूर तक उड़ जाता है और विचित्रता तो यह है कि उसका भी वर्णन नहीं करते बनता—

थकित भयौ मन कह्यौ न जाइ। सहज समाधि रह्यौ ल्यौ लाइ॥
जे कुछ कहिए सोच विचारा। ज्ञान अगोचर अगम अपारा॥
साइर बूंद कैसे करि तोले। आप अबोल कहा कहि बोले॥
अनल पंखि परै परि दूरि। ऐसै राम रह्या भरपूरि॥
इब मन मेरा ऐसे रे भाई। दादू कहिबा कह्या न जाई॥[३]

प० परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि "दादूदयाल की सहज समाधि का भी यही रहस्य है। इसमें जीव अपने को सदा अपने प्रियतम के सम्पर्क में समझा करता है और उसका शरीर संसार के भीतर ही रहकर उसके प्रभाव में यन्त्रवत् काम करता है।"[४]

---

[१] दादूदयाल की बानी, भाग २, ६६।

[२] वही—५३।

[३] वही—२४४।

[४] प० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ४४६।

मलूकदास ने इसी सहज-समाधि को 'चौथा पद' कहा है जिसकी प्राप्ति तीनों दशाओं की विस्मृति पर ही सम्भव है। इस स्थिति का उन्होंने बड़ा ही स्पष्ट चित्र अंकित किया है—

रस रे निर्गुन राग से, गावै कोइ जाग्रत जोगी।
अलग रहै संसार से, सो (इस) रस का भोगी ॥
धरम करम सब छांड़ि, अनूठा यह मत पूरा।
सहजै धुन लागी रहै, बाजे अनहद तूरा ॥
लहरै उठतीं ज्ञात की, बरसै रिमझिम मोती।
गगन गुफा में बैठ के, देखै जगमग जोती ॥
सिवनगरी आसन किया, सुन ध्यान लगाया।
तीनों दसा बिसार के, चौथा पद पाया ॥[1]

संक्षेप में सन्तों की परमकाम्य यही 'सहज-समाधि' की स्वाभाविक साधना का स्वरूप है। आगे चलकर हमें 'सहजभाव' के अन्तर्गत अधिक विस्तार से इसे उन्हीं की स्वानुभूतिपरक वाणी के माध्यम से जानने-समझने का अवसर मिलेगा।

● ● ●

---

[1] मलूकदास जी की बानी—शब्द १३, पृष्ठ २१।

प्रकरण ३ :

क. योग—पूर्ववर्ती परम्परा और प्रवृत्तियाँ

योग शब्द की परिभाषा—भारत योग की सबसे प्राचीन और अमूल्य सम्पत्ति है। भारतीय दर्शनशास्त्रों में इसे अविसंवादि महत्व प्रदान किया गया है तथा चार पुरुषार्थों—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—में तो अन्तिम दुर्लभ वस्तु को उपलब्ध करने का यह अमोघ साधन स्वीकार किया गया है। जब तक साधक, शरीर, इन्द्रिय और इन्द्रियों के स्वामी मन पर पूर्ण आधिपत्य नहीं पा जाता तब तक दुःख निवृत्ति अथवा मोक्ष की सम्भावना व्यर्थ है। जीव और ब्रह्म का पूर्ण रूप से मिलन अर्थात् विजातीय स्वजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य होकर जीव और ब्रह्म अथवा आत्मा और परमात्मा का अद्वैत-साक्षात्कार ही योग है। जिस अवस्था में भगवान् की सत्ता, चैतन्य एवं आनन्द तत्व स्वतः साधक की वाणी, भावना एवं कार्य व्यापार में स्फुरित होने लगे उसी दुर्लभ स्थिति का नाम है 'योग'।

योग के विभिन्न अर्थ—१—आत्म तत्व का साक्षात्कार अथवा आत्मा परमात्मा का अद्वैतानुभूति ही योग है।

२—देहात्म बुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न या विदेह होना योग्य है—योगेनान्ते तनुत्यजाम्।

३—दो परस्पर विरोधी द्वन्द्वों (सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण) से ऊपर उठकर समत्व बुद्धि प्राप्त करना भी योग कहलाता है। जैसे समत्वं योग उच्चते (गीता)।

४—कर्मों के बन्धन को विच्छिन्न करने के लिए उनके प्रति पूर्ण तटस्थ भाव धारण कर मुक्तावस्था को प्राप्त करने के उपाय को भी योग कहा गया है—योग : कर्मसु कौशलम्।

५—मनःशक्ति की वृद्धि तथा विकास के लिए तथा आत्यसंयम-जनित आध्यात्मिकपूर्णता प्राप्ति के लिये की जाने वाली प्रक्रिया को योग (या राज योग) कहते है। महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को रोककर के स्वरूप-प्रतिष्ठ होना योग है—योगश्चिवृत्ति निरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ पातंजल योगदर्शन २-३॥ अर्थात् जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है अर्थात् वह कैवल्य-अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

६—योग का सर्वसम्मत अर्थ है चैतन्य के विविध स्तरों का खुलना और योग का लक्ष्य प्रायः आत्मा की विज्ञानमय स्थिति पर पड़े हुए आवरण को हटाना, चित्त को अधिकाधिक चिन्मय बनाना और विश्व-जीवन के जगमग प्राण स्वरूप को अपने अन्दर अनुभव करना होता है। शान्त जीवन में अनन्त जीवन को भरना और शान्त चिन्मय सत्ता को अनन्त की वृत्ति, शक्ति और ज्ञाप्ति में मिला देना ही है।[1]

योग की आवश्यकता—अन्तःकरण पर पड़े अनेक पूर्वजन्मों के संस्कार-जनित आवरण हटाकर ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्तरों को खोलने के लिये योग की आवश्यकता अनिवार्य है। अन्तःकरण के मल को दूर करने का व्यावहारिक उपाय योग प्रस्तुत करता है। अन्य दर्शनों में हमें अध्यात्म-जगत् की सैद्धान्तिक चर्चा मिलती है किन्तु 'योग दर्शन' में हम उन्हीं को व्यावहारिक रूप में आँखों से देखते हैं। योग परम (आत्म) सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति बुद्धि और तर्क द्वारा न मानकर बुद्धि की सम्पूर्ण क्रिया बन्द हो जाने पर मानता है अतः योग, साधक के लिए आत्मसाक्षात्कार के क्रियात्मक उपाय प्रस्तुत करता है। वैदिक, अवैदिक (बौद्ध, जैनादि) सभी मत और दर्शनशास्त्रों ने इसे अविरोधी भाव से ग्रहण किया है।

योग की विशेषता—यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वादविवाद को स्थान नहीं है। यह सर्व-सम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवों को सर्वसंतापहर भगवान् से मिलाने में योग, भक्ति और ज्ञान का प्रधान सहायक है। प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ-ज्ञान की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था।[2]

योग की प्राचीनता—योग की प्राचीनता असन्दिग्ध है। इसका वैज्ञानिक विश्लेषण भारतीय मनीषियों ने मानव-कल्याण के लिए बहुत प्राचीन काल में किया था। मोहनजोदड़ों की खुदाई में प्राप्त अनेकयोगासनोपविष्ट मूर्तियों से योग की प्राचीनता स्वतःसिद्ध हो जाती है।[3] वैदिक साहित्य—ऋग्वेद संहिता, अथर्ववेद, यजुर्वेद और सामवेद में प्राण विद्या की महत्ता का प्रतिपादन कई स्थानों पर किया गया है।[4]

---

[1] कल्याण योगाङ्क—डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार : वेदान्त और योग, पृष्ठ ७४।

[2] पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३४६।

[3] मेमोअर्स ऑव् आर्किलाजिकल सर्वे ऑव् इण्डिया, पृष्ठ ३३-४।

[4] ऋग्वेद संहिता : मण्डल ६, सूक्त ६७, मन्त्र ४६, १६।१।८।२,१२। ६८, २।३।१०।३।

ऐतरेय आरण्यक में प्राण विद्या का उत्कृष्ट विवेचन दीर्घतमा ऋषि द्वारा किया गया है। उपनिषदों के अन्तर्गत कठ २।३।१०, ११, १५, १६, १७, श्वेताश्वतर २।११, बृहदारण्यक ४।३।२० आदि में योग की विशिष्ट प्रणालियों एवं नाड़ियों की विशद चर्चा की गई है। छान्दोग्य में प्राण की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के द्वारा श्रीमद्भगद्गीता अध्याय ६।२१, २२, २३, २६, ३०, ३१,३२ में कहा गया है कि योग-साधन के लिये मन को राग-द्वेष शून्य, पवित्र और स्थिर बनाना चाहिये, इसके बिना मन आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। जो सब भूतों में व्याप्त मुझ एक को ही सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन करता है, वह व्यवहार में रहकर भी योगी है। सर्वत्र परमात्म दृष्टि की केवल भावना ही योग नहीं है बल्कि उसको आचरण में उतारना सच्चा योग है। विक्रम पूर्व द्वितीय शतक में रचित पातंजल-योगसूत्र, योग का बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है—भागवत में भक्ति के साथ अष्टांग-योग का प्रचुर वर्णन मिलता है। द्वितीय स्कन्ध अध्याय १, २ तथा तीसरे स्कन्ध के २५वें और २८वें अध्याय में कपिल का देवहूति के प्रति योग का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार स्कन्ध एकादश के २३, २४ और २९ में हंस रूपधारी भगवान् द्वारा सनकादिकों को उपदेश, ध्यान-योग का विशद वर्णन और यम-नियमादि की चर्चा की गई है।

पातंजलयोग-सूत्र

योग और सांख्य—यों तो अनादिकाल से इस देश में योग विद्या का प्रचार रहा है किन्तु योग को एक सुव्यवस्थित शास्त्र का रूप देने का श्रेय पतंजलि मुनि को ही है। योग का तत्वज्ञान सांख्य से मिलता-जुलता है परन्तु सांख्य के विपरीत ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने के कारण इसे 'सेश्वर सांख्य' भी कहा जाता है। योग के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं अपितु वह केवल योगसिद्धि में मार्ग-दर्शन करने वाला परम गुरुतुल्य है। सांख्य की भाँति योग का भी परम-लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होना है परन्तु योग इसके लिए क्रियात्मक उपाय बताता है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों की स्वाभाविक गति वाह्योन्मुख होती है। जब वह साधना के द्वारा उन्हें अन्तरोन्मुख कर लेता है तभी उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, अतः चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। विषयों के प्रति विरक्ति-भावना, योग-साधना का अनिवार्य अंग माना जाता है। योगाभ्यास से चित्त को, वासनाओं और अनेक जन्मों के संचित कर्मफलजनित संस्कारों से निर्विषय एवं निर्मल बनाया जाता है। जब मन पूर्ण निर्विषय बन जाता है तब साधक को असंप्रज्ञात या निरालम्ब समाधि

प्राप्त हो जाती है और उसी स्थिति में उसे दुर्लभ कैवल्य-पद की अनुभूति होती है। मूल पातंजलदर्शन चार पादों (चरणों) में विभाजित है। इनकी सूत्र-संख्या—५१ + ५५ + ५५ + ३४ = १९५ है। जिम्मर ने योग सूत्रों के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्हें सारे संसार में दार्शनिक गद्य की चमत्कारपूर्ण रचना बताया है। ये सूत्र अपनी आश्चर्यजनक गम्भीरता, स्पष्टता, संक्षिप्तता, सार-गर्भिता और अभिव्यक्ति की स्थिति-स्थापकता के लिए अद्भुत हैं।[1] पतंजलि के ग्रन्थ में एक खास बात यह है कि उसमें आत्मविजय की पद्धति का वर्णन बिना किसी ईश्वरवाद, तत्वज्ञान और आत्मविद्या के सिद्धान्तों का विवरण दिये ही कर दिया जाता है। उनकी पद्धति का आधार मानव-मन और चेतना के मूक स्वभाव का अध्ययन है।[2]

भक्ति के आधारभूत तात्विक सिद्धान्तों के निर्माण में जो कार्य आचार्य रामानुज ने किया था, ठीक वैसे ही उनसे सहस्राब्द पूर्व महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग के तत्ववाद और साधना को क्रमबद्धता प्रदान करने के लिये किया था। यह तो स्पष्ट ही है कि पातंजल-दर्शन अति सूक्ष्म और जटिल बौद्धिक शास्त्र है। वह साधारण जनता की समझ से परे 'उपरले स्तर के बुद्धिवृत्ति के लोगों का दर्शन है।'[3] किन्तु नाथपन्थियों से होती हुई सन्तों में जो हमें योग की साधना प्राप्त होती है, उसमें पातंजल-योग के तत्ववाद का अंश कम अपितु प्रक्रिया-प्रधान रूप बराबर बना रहता है। यही रूप जन-जीवन की व्यावहारिक साधना में समाविष्ट होकर देशी भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है। महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा दी है किन्तु सभी प्रकार का निरोध योग नहीं कहा जा सकता। क्रोध की स्थिति में प्रेम और प्रेमावस्था में क्रोध की वृत्ति का निरोध हो जाता है परन्तु इसे योग नहीं कह सकते। भाष्यकार व्यास के अनुसार अविद्यादि क्लेशराशि को नष्ट करने वाले निरोध को ही वास्तविक निरोध समझना चाहिये। इसी से सात्विक भाव की वृद्धि होती है और चित्त 'सहजावस्था' को प्राप्त होता है। 'चित्तवृत्ति-निरोध का अर्थ है मन में एक मात्र ज्ञान का उदित रखकर अन्य सभी का निरोध अथवा सर्वव्यावहारिक ज्ञानों का (निद्रा ज्ञान का भी) निरोध करना, अतएव बार-बार चेष्टा का इच्छापूर्वक जो चित्तवृत्ति निरोध है वही योग कहलाता है। चेष्टा न करके अथवा स्वत: का इच्छा के आधीन रूप में यदि कदाचित् चित्त का स्तब्ध भाव हो

[1] जिम्मर—भारतीय दर्शन, पृष्ठ २८२।

[2] श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर—महायोगी, पृष्ठ २१०।

[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ ७२।

भी जाय तो उसको योग नहीं कहा जा सकता।[1] 'किसी एक इच्छित विषय में चित्त को स्थिर रखना अर्थात् अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को किसी विषय में स्थित का नाम योग है।[2]

चित्त की वृत्तियाँ—चित्त वस्तुतः प्रकृतिजन्य होने के कारण अचेतन है परन्तु पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण चेतन के समान परिलक्षित होता है। चित्त के जिन परिवर्तनों के कारण पुरुष को पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान होता है उन्हें 'वृत्तियाँ' कहते हैं। सागर में जिस प्रकार उत्ताल तरंगें उठती-गिरती रहती हैं उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती हैं।

संस्कार : अभ्यास और वैराग्य—वृत्तियाँ उत्पन्न होकर, चित्त में क्षय प्राप्त करने पर भी नितान्त नष्ट नहीं हो जातीं अपितु उनका सूक्ष्म रूप 'संस्कार' के रूप में अचेतन मन में पड़ा रहता है और यथावसर स्थूल रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कारों की उत्पत्ति और संस्कारों से वृत्तियों का आविर्भावचक्र निरन्तर चलता रहता है। चित्तवृत्तियों के सर्वथा निरोध करने के लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बताये गये हैं। चित्त की वृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर चल रहा है। उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।[3] स्वभाव से चंचल मन को किसी एक ध्येय में स्थिर करने के लिये बार-बार चेष्टा करते रहने का नाम सूत्रकार ने 'अभ्यास' बतलाया है।—योग १।१३। देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णा रहित चित की जो वशीकार नामक अवस्था है—वह (अमर) वैराग्य है। वैराग्य से जब साधक विषय-कामना से सर्वथा शून्य हो जाता है और उसके चित्त की वृत्ति एकाग्र भाव से अपने ध्येय में केन्द्रित हो जाती है तभी समाधि की परिपक्वावस्था में प्रकृति और पुरुष विषयक विवेक ज्ञान प्रकट होता है।—योग ३।४५। उस ज्ञान से सम्पन्न हो जाने पर साधक त्रिगुण भावों से परे तृष्णा रहित हो, पूर्ण निष्काम हो जाता है। ऐसी सर्वथा राग रहित अवस्था को 'पर-वैराग्य' कहते हैं। यही ज्ञान की चरम अवस्था या चरम शुद्धि है, क्योंकि उस समय अन्य किसी प्रकार की प्रवृत्ति शेष नहीं रहती।

---

[1] श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्यकृत बंगला भाष्य अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर पातंजल योग दर्शन : भूमिका भाग, पृष्ठ १४, लखनऊ विश्वविद्यालय।

[2] वही—पृष्ठ ६।

[3] पातंजल योग दर्शन १।१२, व्याख्याकार श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका (गीता प्रेस)।

अष्टांगिकयोग—१-२, यम-नियम—यम, संयम को कहते हैं। बाहरी और भीतरी इन्द्रियों का संयम ही यम है। धर्म का त्रिकालवाधित भाग—सत्य, अहिंसा, संयम, दया, प्रेम, परोपकार, ब्रह्मचर्य आदि बातों को यम की संज्ञा दी गई है। संध्या करना, खाना-पीना, जनेऊ पहिनना, गन्ध लगाना, हजामत बनाना आदि बातें नियम के अन्तर्गत आती हैं। यम का अर्थ है अचल धर्म और नियम का अर्थ है चल धर्म। स्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब यमों का विचार न करके केवल नियमों को ही महत्व दिया जाता है तब समाज का नाश होता है।[1] यम के पाँच प्रकार माने गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (भोग सामग्री के संयम का अभाव)। कुछ विद्वानों ने यम-योग के बारह भेद किये है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अखंग, ह्री, असंचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय। नियम भी पाँच प्रकार के होते हैं—शौच—आन्तरिक और वाह्यशुद्धि; सन्तोष, तप—सुख-दुःख, उष्ण-शीतादि परस्पर विपरीत द्वन्द्वों को सहन करना, स्वाध्याय यानी कैवल्य शास्त्र का पारायण एवं ओंकार का जप तथा ईश्वर-प्रणिधान—परमात्मा में भक्तिपूर्वक समस्त कर्मों का समर्पण करना।

३—आसन—निश्चल (हलन-चलन से रहित) सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है—स्थिरसुखमासनम्। २।४६। घेरण्ड संहिता के आधार पर कहा गया है कि प्रथम शिवजी ने चौरासी लाख आसन कहे हैं परन्तु उनमें चौरासी सौ और कम से कम चौरासी आसन श्रेष्ठ हैं। उनमें से भी केवल बत्तीस आसन मानव लोक के लिये शुभ है। बत्तीस आसनों की संख्या इस प्रकार है—सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमंडूकासन, वृक्षासन, मंडूकासन, गरुड़ासन, वृषभासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजंगासन, और योगासन।[2] शिव-संहिता के साक्ष्य पर केवल चार प्रकार के आसन—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन ही योगियों के योगकार्य में आवश्यक हैं।[3] उक्त दोनों संहिताओं में,

---

[1] श्री साने गुरु जी—भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३२-३३, अनुवादक, बाटू राव जोशी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन।

[2] घेरण्ड-संहिता, द्वितीयोपदेश ३-६।

[3] शिव-संहिता, तृतीय पटल, श्लोक १००।

उल्लिखित आसन-प्रकारों की क्रियाविधि का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आसन-सिद्धि को प्राणायाम का प्रमुख आधार माना गया है। आसनों से आलस्य का नाश होकर प्राणवायु के निरोध करने की शक्ति प्राप्त होती है। भूख-प्यास, राग-द्वेष, शीत-उष्ण आदि ऊर्मियों का दमन करने की शक्ति प्राप्त होती है। अतः वे द्वन्द्व चित्त को चंचल बनाकर साधन में विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते। ध्यान विधि के लिये साधक को ऐसे आसनों को काम में लाना चाहिये जो सरल साध्य और सुखकर हों।

४—प्राणायाम—आसनों की सिद्धि हो जाने पर श्वास-प्रश्वास के गति विच्छेद का नाम प्राणायाम है। प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलता प्रश्वास है। इन दोनों की क्रिया सदैव चलती रहती है। बाहर से वायु और नासिकारन्ध्र से भीतर का वायु बाहर निकलता हैं। इन दोनों की गति को नष्ट कर देने की क्रिया ही प्राणायाम है। सूत्रकार ने चार प्रकार के प्राणायाम का उल्लेख २।५०-५१ में किया है।[1]

अर्वाचीन योग-प्रणाली में अति प्रचलित रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन शब्द अपने वर्तमान पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत नहीं होते थे। ऐसा होता तो सूत्रकार अवश्य ही उसका उल्लेख करते। वाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति—ये तीन रेचक, पूरक और कुम्भक नहीं है। भाष्यकार ने वाह्यवृत्ति को 'प्रश्वास-पूर्वक गत्याभाव' कहा है। यह रेचक नहीं क्योंकि रेचक प्रश्वास-विशेषमात्र होता है। वास्तव में अर्वाचीन व्याख्याकारों ने अर्वाचीन प्रणाली के साथ उन्हें मिलाने की चेष्टा की है, परन्तु वह सुसंगत नहीं हो सका है।[2] विद्वानों ने प्रायः वाह्य को रेचक, आभ्यन्तर को पूरक तथा स्तम्भ वृत्ति को कुम्भक की संज्ञा दी है।[3] श्वास को नासिका रन्ध्र से भीतर भरना पूरक, उसे देर तक भीतर ही रोके रहना कुम्भक और भीतर रोककर रखी गई वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना रेचक प्राणायाम कहलाता हैं। दीर्घकालीन प्राणायाम के अभ्यास से ही शीघ्र योगसिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। प्राणायाम में सफलता प्राप्त करने के पूर्व साधक को तीन प्रकार के 'बन्ध' करने अनिवार्य हैं—मूल-बन्ध, उड्डियान और जालन्धर; लिंग स्थान और गुदास्थान के बीच की संकुचित माँस पेशी को बायें

---

[1] वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिदेशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्मः ॥५०॥ वाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थ : ।५१॥

[2] पातंजल योग दर्शन—हरिहरानन्द आरण्य-कृत भाष्य, पृष्ठ १६६। लखनऊ विश्वविद्यालय।

[3] प० बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३६१।

पैर की एड़ी से दबाकर अधोगत अपानवायु को ऊपर खींचने से मूल-बंध सिद्ध होता है। इस बन्ध की साधना से वृद्धावस्था का नाश होता है।[1] जब रेचक-पूर्वक प्राणवायु का प्राणायाम करते समय उदर का मध्य भाग पीठ की ओर खींचा जाता है और नाभिस्थान किंचित् ऊपर की ओर खींच लिया जाता है तब मृत्यु-मातंग केसरी उड्डियान-बंध सिद्ध होता है।[2] गले को संकुचित करके जब ठुड्डी, हृदय-स्थान पर स्थिरतापूर्वक टिका दी जाती है तो उसे जालन्धर-बंध कहते हैं। यह जालन्धर-बन्ध स्वयं सिद्ध है और योगियों को सिद्धि देने वाला है। छः माह इसका अभ्यास करने से साधक को निश्चित सफलता मिलती है।[3]

प्राणायाम के पूर्व नाड़ी-शुद्ध का विधान किया गया है। माला की भाँति गुँथी हुई नाड़ियों (कमल नाल के तन्तु की भाँति सूक्ष्म आकार वाली) के भीतर जब तक पवन का भली भाँति प्रवेश नहीं हो जाता तब तक प्राणायाम की सिद्धि दुर्लभ है।[4] नाड़ी की शुद्धि होने पर साधक का शरीर स्थूल व क्षीण न होकर सम हो जाता है, उसकी अपूर्व कान्ति हो जाती है तथा उससे सुगन्ध निकलने लगती है। कण्ठ स्वर मधुर, जठराग्नि तीव्र तथा चित्त प्रफुल्लित एवं उत्साह से भर जाता है।[5] इस प्रकार तीनों बन्ध-युक्त प्राणायाम की साधना से कुंडलिनी नामक नाड़ी जागृत होती है। अपान एवं प्राण वायु के ऊर्ध्व-निम्नगामी होने से दोनों एक-दूसरे से मिल जाते हैं और उनकी सम्मिलित शक्ति से एक जाज्वल्यमान् उष्णता का आविर्भाव होता है जिससे कुंडलिनी जग उठती है और सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है। सुषुम्ना में प्राणवायु का प्रवेश होने से वह ब्रह्मरन्ध्र की ओर उन्मुख होने लगता है और उस समय साधक समाधि-अवस्था को प्राप्त हो जाता है। प्राणायाम के शनैः-शनैः अभ्यास से साधक के संचित कर्म-संस्कार तथा

---

[1] घेरण्ड-संहिता, तृतीयोपदेश १४-१५ तुलनीय—
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥—हठयोग प्रदीपिका

[2] घेरण्ड-संहिता, तृतीयोपदेश १०—
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डियानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंग केसरी ॥—हठयोग प्रदीपिका

[3] घेरण्ड-संहिता, तृतीयोपदेश १२-१३ तुलनीय—
कंठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ —वही

[4] घेरण्ड-संहिता ५।३४।

[5] शिव-संहिता ३।३१-३२।

अविद्यादि क्लेश क्षीण होते जाते हैं। ये कर्म संस्कार एवं अविद्यादि क्लेश ही ज्ञान का आवरण है जिससे मनुष्य मूढ़ होकर प्रकाश अथवा आत्म-ज्ञान से वंचित रहता है। किन्तु जैसे-जैसे यह आवरण झीना पड़ता जाता है वैसे-वैसे साधक का ज्ञान सूर्य की भाँति प्रकाशित होता जाता है। प्राणायाम के विषय में अपना अनुभव व्यक्त करते हुए योगिराज अरविन्द ने लिखा है कि "प्राणायाम बुद्धि को तीव्र बनाता है और मस्तिष्क को वेगवान्। अभ्यास के पूर्व मैं एक महीने में कविता की दो-सौ पंक्तियाँ लिख पाता था। प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करने पर मैं आध घन्टे में २०० पंक्तियाँ लिखने लगा। पहले मेरी स्मरणशक्ति ज्यादा मन्द थी पर बाद में जब भी प्रेरणा प्राप्त होती, कविताएँ लिखने बैठ जाता और उन समस्त पंक्तियों को क्रमशः तब तक याद रखता जब तक कि फुर्सत के वक्त उन्हें लिपिबद्ध न कर लेता। मुझे ऐसा अनुभव होता कि जैसे मेरा मस्तिष्क विजली की मुद्रिका से घिर गया है"—'दक्षिणा) फरवरी १६५२, पृष्ठ २३५। प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणा की सक्षमता उत्पन्न होती है यानी साधक उसे अपनी इच्छानुसार जिस किसी स्थान पर स्थिर कर सकता है।[१]

५—प्रत्याहार—उक्त विधि से प्राणायाम का अभ्यास करते-करते जब विभिन्न इन्द्रियाँ और मन की शुद्धि हो जाती है तथा वे वाह्य विषयों से हट कर मन की भाँति निरुद्ध हो जाती हैं तब उसे 'प्रत्याहार' कहते हैं। साधक को कच्छप-वृत्ति से समस्त इन्द्रियाँ तथा उनके विषयों से मन को हटाकर आत्म स्वरूप में लीन करना चाहिये। सामान्य दशा में इन्द्रियाँ निरंकुश हाथी की भाँति स्वेच्छाचारी रहती हैं और अपनी इच्छानुसार मन को दौड़ाया करती हैं। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ पूर्णतया उसके वशबर्ती हो जाती हैं, उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। प्रत्याहार की सिद्धि हो जाने पर साधक का मन समुचित रूप से उसके वश में हो जाता है, वह मनोजयी बन जाता है।

ये पाँच योग के बहिरंग साधन कहे जाते हैं क्योंकि कार्य-सिद्धि से इनका बाहरी सम्बन्ध रहता है। अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग साधन के नाम से ख्यात हैं जिन्हें समष्टि रूप में 'संयम' की संज्ञा दी जाती है। तीनों को सम्मिलित नाम देने का तात्पर्य यह है कि तीनों जब एक ही विषय को लक्ष्य करके किये जाते हैं तभी योगांग होते हैं अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते।[२]

६—धारणा—किसी एक स्थान जैसे—नाभि चक्र, हृदय कमल, नासिकाग्र,

---

[१] पातंजल-योगसूत्र २।५२-५३।

[२] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ १२०।

जिह्वाग्र में अथवा वाह्य वस्तु जैसे सूर्य चन्द्रादि देवता अथवा किसी इष्ट मूर्ति में चित्त की वृत्ति को केन्द्रित करने का नाम 'धारणा' है ।[1] इस प्रकार नाना विषयों में भ्रमण करते हुए विक्षिप्त चित्त को एक वस्तु में बाँधने की साधना को धारणा कहा जाता है । ७—ध्यान, ८ समाधि— धारणा से चित्त की वृत्ति जब निश्चल हो जाती है तब ध्येय मात्र की एकाकार चिन्ता को ध्यान कहते हैं । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । ३।२। जब ध्यान निरन्तर अभ्यास के कारण ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है । उसको ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती उस समय उस ध्यान का नाम—समाधि हो जाता है ।[2] ध्यान की स्थिति में ध्यान, ध्याता तथा ध्येय वस्तु पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु समाध्यवस्था में तीनों का पार्थक्य नष्ट हो जाता है और मात्र ध्येय वस्तु ही अवशिष्ट रह जाती है । सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषय को चिन्तन करने वाली एकाग्रता-अवस्था का उदय हो जाना—यह चित्त का समाधि-परिणाम है ।[3] इस स्थिति में पहुँचने पर योगी त्रिकालज्ञ हो जाता है । उसे अतीत और अनागत का ज्ञान हो जाता है । सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है । संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात् कर लेने पर पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है । दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता हूँ । शरीर के रूप में संयम कर लेने से जब उसको ग्राह्य-शक्ति रोक ली जाती है तब चक्षु के प्रकाश का उसके साथ सम्बन्ध न होने के कारण योगी अन्तर्ध्यान हो जाता है । इसी प्रकार यदि योगी शब्द में संयम कर लेता है तो उसके शब्द को कोई नहीं सुन सकता । उसे अपनी मृत्यु एवं अरिष्टों से भी—मृत्यु का ज्ञान हो जाता है । शक्ति-बल, हाथी आदि को परास्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है । उसे सूक्ष्म व्यवधान-युक्त और दूर देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है । संयम करने से योगी को समस्त लोकों, तारो के व्यूह, ताराओं की गति का ज्ञान, भूख-प्यास की निवृत्ति एवं पृथ्वी और स्वर्ग लोक के बीच बिचरने वाले सिद्धों के दर्शन होने लगते हैं ।[4]

कैवल्यपाद नामक चतुर्थ चरण के प्रारम्भ में जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि, से होने वाली पाँच प्रकार की सिद्धियों की चर्चा की गई है । पूर्व जन्म

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ-सम्प्रदाय ३।१।

[2] पातंजल योग दर्शन ३।३ व्याख्याकार : श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका (गीता प्रेस)।

[3] वही—३।११।

[4] वही—१४-३२।

के संस्कारों के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धियाँ जन्म से लेकर ही पैदा होते हैं। कपिल, वेद व्यास तथा शुकदेव आदि ऐसे ही महर्षि थे। रसायनादि औषधि के सेवन से मनुष्य अपने शरीर का कल्प करके अपूर्व शक्तिशाली बन जाता है। इसे 'ओषधिजा' सिद्धि कहते हैं। विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये किसी मन्त्र के अनुष्ठान से शक्ति का प्रादुर्भाव होना 'मन्त्रजा' सिद्धि कहा जाता है। तपस्या से प्राप्त होनेवाली 'तपजा' एवं धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से जो शरीर, इन्द्रियों और चित्त में अपूर्व शक्तियों का विकास होता है उसे 'समाधिजा' सिद्धि कहते हैं। इसी से कैवल्य-प्राप्ति सम्भव है।[1] शेष सिद्धियाँ लोकप्रतिष्ठा भले दिला दें, किन्तु कैवल्य की प्राप्ति कराने में असमर्थ है। श्रुतियों के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने तीनों की व्याख्या इस प्रकार की है।[2] १. वर्तमान काल में जीव के द्वारा जो कर्म होता है और जिसका फल आगे क्रमानुसार आने वाला है—ऐसे ही रहे कर्म को क्रियमाण कर्म कहते हैं। २. यह क्रियमाण कर्म जिस पिछले कर्म-भाण्डार में जाकर जमा होने वाला है, उस कोश को संचित कर्म कहना चाहिये और ३. जन्म से मरने तक संचित कर्म के कोश से शरीर के साथ नित्य भोगार्थ जो कर्म आता है उसे प्रारब्ध कर्म कहना चाहिये। समाधि के द्वारा समस्त क्रियमाण और संचित कर्म जले हुए बीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म-फल का क्षय, भोग के बिना नहीं होता। श्रुति-सिद्धान्त है—प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः। परन्तु कभी-कभी योगीजन, योगबल से अनेक शरीरों का निर्माण कर तथा प्रारब्ध कर्म को शीघ्र भोग कर मुक्ति पा जाते हैं। समाधिजनित विवेक ज्ञान के द्वारा चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेने वाले योगी की आत्मभाव विषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।[3]

घेरण्ड-संहिता—योगीश्वर घेरण्ड मुनि द्वारा प्रणीत यह योगशास्त्र का लघु ग्रन्थ है जो सप्तम उपदेशों में विभाजित है। ये उपदेश योग शास्त्र के जिज्ञासु किसी चडकापालि नामक राजा को दिये गये थे। प्रथमोपदेश में मंगलाचरण के अनन्तर षट्कर्मों का वर्णन किया गया है। घेरण्ड ऋषि के कथनानुसार योगाभ्यासी के लिए सप्त साधन करने आवश्यक है जैसे देह शुद्धि, दृढ़ता, स्थैर्य धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष (चक्षु इन्द्रिय से देखना, कान से सुनना) और निर्लिप्त।[4]

[1] पातंजल-योगसूत्र ४।१।

[2] आत्म-विद्या—अनुवादक माधवराव सप्रे, पृष्ठ ३५।

[3] पातंजल योगदर्शन ४।२५ व्याख्याकार—श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका (गीता प्रेस)।

[4] घेरण्ड-संहिता, प्रथमोपदेश ६।

१. षट्कर्म – शोधन छः कर्मों से होता है। आसनों से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धैर्य और प्राणायाम से हलकापन आता है। उन सातों साधनों में प्रथम शोधन छः कर्मों से होता है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं (धौति—शरीर की भीतरी शुद्धि, दाँत, हृदय, नाभि आदि को निर्मल बनाना वस्ति—जल वस्ति और स्थल वस्ति—नाभि पर्यन्त जल में बैठकर या स्थल में पीठ के बल पड़कर उत्कट आसन से गुदा देश को कुंचित-प्रसरित करना, नैति—बित्ता भर महीन तागे को नासिका रन्ध्र से प्रवेशकर मुख-मार्ग से निकालना, लौलिकी—अति प्रबल वेग से पेट को दोनों ओर घुमाना; शाटक—अनिमेष दृष्टि से जब तक अश्रुपात न हो, किसी छोटी वस्तु की ओर टकटकी लगाकर देखना,—कपालभाति—बाँये नासिका-रन्ध्र से पवन को खींचकर दाहिने नासिका रन्ध्र से निकालना।

२. आसन—द्वितीयोपदेश में बत्तीस आसनों—जिनकी चर्चा आसन प्रकरण में की जा चुकी है—की क्रिया-विधि का विस्तार से वर्णन किया है।

३. मुद्रा—तृतीयोपदेश में विभिन्न मुद्राओं का वर्णन किया गया है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरी, योनिमुद्रा, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, मांडवी, शाम्भवी और पंचधारिणी मुद्राओं का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है।

खेचरी—प्रसिद्ध खेचरी मुद्रा विधि इस प्रकार है। जीभ के नीचे जीभ की जड़ और जीभ इन दोनों को जो नाड़ी जोड़े रहती है, उसको काट दे और नित्य ही जिह्वा के अग्र भाग और जीभ को चलाता रहे तथा जीभ को माखन से दुहता रहे तथा लोहे के चीमटे से खींच ले। अभ्यासक्रम से जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि वह त्रिकुटी का स्पर्श करने लगती है। फिर उसी जीभ को क्रम से तालु-देश में ले जाकर कपालकुहर (तालुदेश मध्यस्थ विवर) में ऊपर की ओर उलटकर प्रवेश करे और पुनः दोनों भौहों के बीच के भाग को देखे। यही खेचरी मुद्रा है। खेचरी मुद्रा सिद्ध, भूख-प्यास तथा आलस्य से परे हो वृद्धावस्था और मरण को पार कर जाता है। अग्नि उसे जला नहीं सकती तथा पवन और पानी शुष्क-आर्द्र नहीं कर सकते। उसे सर्प-दंश का भय भी नहीं रह जाता।[1]

बज्रोली—दोनों हथेलियों से पृथ्वीतल को पकड़कर, दोनों पैरों को ऊपर उठा, मस्तक को भी आकाश की ओर उठाकर केवल हाथ के बल खड़ा रहने को मुनियों ने बज्रोलि मुद्रा कहा है। इसके अभ्यास से योगी वीर्य सिद्ध बनकर अमर हो जाता है।[2]

---

[1] घेरण्ड-संहिता, तृतीयोपदेश २६-२७।

[2] वही–४०।

शाम्भवी—त्रिकुटी में दृष्टि को स्थिर कर वहीं आत्माराम को देखना शाम्भवी मुद्रा है। यह मुद्रा कुल-वधू की भाँति यत्नपूर्वक रखी जाने वाली परम गोपनीय कही गई है।[1]

४. प्रत्याहार—चतुर्थोपदेश में ऋषि ने प्रत्याहार-विधि का वर्णन किया है। जिस विषय में मन चंचल होकर भ्रमण करे, उस विषय की ओर से मन को लौटा कर अपने वश में करना चाहिये। साधक को यश-अपयश, मिष्ठ-कटुवचन, सुगन्धि-दुर्गन्धि, एवं स्वादजन्य षट्रसों से मन को लौटाकर द्वन्द्वों का मोह छोड़ अपने वश में करना चाहिये।[2]

५. प्राणायाम—घेरण्ड-संहिता के पंचमोपदेश में प्राणायाम-विधि का वर्णन किया गया है। प्राणायाम अभ्यास के उपयुक्त स्थान-निदान के पश्चात् काल-निर्णय में वसन्त अथवा शरद्-ऋतु को योगाभ्यास के लिए उपयुक्त ठहराया गया है। मिताहार एवं सात्विक भोजन पर विशेष बल दिया गया है। नाड़ी-शुद्धि के उपायों पर पीछे विचार किया जा चुका है। घेरण्ड मुनि ने आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम बताये हैं यथा-सहित, सूर्य भेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, केवली। इनकी क्रिया-विधि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अधम प्राणायाम में साधक को पसीना आ जाता है। मध्यम में पीठ काँपने लग जाती है और उत्तम प्राणायाम में योगी का शरीर पृथ्वी से पृथक् होकर ऊपर उठ जाता है। प्राणायाम साधन से आकाश में उड़ने की शक्ति आ जाती है। देह और प्राण पवन के रोग नष्ट हो जाते हैं। उन्मनि स्थिति के जगने पर मन आनन्दित हो जाता है।[3]

भस्त्रिका कुम्भक विधि—प्रसिद्ध भस्त्रिका कुम्भक विधि के बारे में ऋषि का कथन है कि जिस प्रकार लोहार की धौंकनी बार-बार वायु को छोड़ती है वैसे ही पवन को नासिका के दोनों रन्ध्रों से खींचकर धीरे-धीरे उदर में भरे। ऐसे बीस बार खींचकर कुम्भक करे और फिर शनैः-शनैः वैसे ही निकाल दे। भस्त्रिका कुम्भक विधि से साधक सदैव आरोग्य-लाभ करता है।

भ्रामरी कुम्भक विधि—भ्रामरी कुम्भक विधि में साधक निशीथ काल में निश्शब्द एकान्त स्थान में दोनों हाथ से कान बन्दकर पूरक और कुम्भक करे। भीतर के नाद को दाहिने कान से सुने जो पहले दादुर-ध्वनि सा सुनाई पड़ेगा पुनः वंशी-रव सा, फिर मेघ गर्जन सा, तदनन्तर क्रमशः झांझ, भेरी, कांस्य-घट तुरई,

---

[1] घेरण्ड-संहिता, तृतीयो पदेश ५६-६०

[2] वही—चतुर्थोपदेश २-५।

[3] वही—५।५५-५६।

मृदंग और नगाड़े सी आवाज सुनाई पड़ेगी। इस प्रकार दैनिक अभ्यास से विभिन्न प्रकार के राग सुनने में आयेंगे। वह अनाहद शब्द स्वतः ध्वनित होता है जब उसमें मन मिल जाय तभी भ्रामरी कुम्भक विधि की सिद्धि समझना चाहिये।[1]

केवली कुम्भक-विधि—श्वास पवन जब भीतर से बाहर आता है तब 'हं' वर्ण की उत्पत्ति होती है। जब श्वास भीतर की ओर जाता है तब 'सः' शब्द उत्पन्न होता है। ये दोनों दिन-रात में २१६०० बार आते-जाते हैं। 'हं' को शिव और 'सः' को तन्त्रकार ने शक्ति की संज्ञा दी है, इससे इसको अजपा नाम गायत्री कहा गया है जिसका कि जाप सब जीव करते है। उपस्थ, हृदयकमल तथा दोनों नासिका रन्ध्रों में अजपा का स्वतः गमन-निर्गमन होता रहता है। मनुष्य को जीवनपर्यन्त पूर्व संख्यानुसार अजपा का जाप करते रहना चाहिये। यदि अजपा की संख्या दूनी कर केवली कुम्भक विधि की जाय तो मन उन्मनि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। केवली कुम्भक में सिद्ध हो जाने पर साधक योगविद्या में निष्णात हो जाता है।[2]

६. ध्यान-योग—षष्ठोपदेश में वर्णित ध्यान-योग तीन प्रकार का कहा गया है—स्थूल सूक्ष्म और ज्योतिर्ध्यान। स्थूल ध्यान में साधक नयनाभिराम हरे पल्लवों वाले कल्पवृक्ष का ध्यान करता है, ब्रह्मरंध्र स्थिति सहस्रदल वाले कमल की कल्पना करता है। नादविन्दुमय मनोहर सिंहासन पर आसीन हंस के जोड़े को देखता है। ज्योतिर्ध्यान में कुंडलिनी शक्ति का ध्यान कर प्रज्वलित त्रिकुटी में अपनी दृष्टि स्थिर करता है। स्थूल ध्यान की अपेक्षा सौ गुना ज्योतिर्ध्यान और ज्योतिर्ध्यान से लाख गुना सूक्ष्मध्यान है। इसमें जब साधक की कुँडलिनी जाग उठती है तब वह चक्षुगोलक से निकलकर आत्मा से सम्पृक्त राजमार्ग में विहार करने लगती है। उस समय योगी को शाम्भवी मुद्रा के योग से ध्यान करना चाहिये।[3]

७. समाधि योग—इससे परे कोई योग नहीं है। साधक को गुरु की कृपा, भक्ति और अनुग्रह से सौभाग्यवश ही इसकी प्राप्ति होती है। इसमें साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' की बिचारणा करता हुआ शोकादि से स्वयं को निर्लिप्त मान सच्चिदानन्द स्वरूप बनकर नित्य मुक्त स्वभाव वाला हो जाता है। समाधि योग के दो भेद हैं—ध्यानयोग समाधि, नाद योग समाधि। समाधि योग से प्राप्त फल की चर्चा करके घेरण्ड ऋषि ने अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है।

---

[1] घेरण्ड-संहिता, ५।७७-८०।

[2] वही—५।६६।

[3] वही—६।१८—२०।

शिवसंहिता—योग का यह उपयोगी ग्रंथ देवाधिदेव शिव-रचित कहा जाता है। इसमें कुल पांच पटल हैं। योग के ये उपदेश पार्वती को सम्बोधित करके दिये गये हैं। प्रथम पटल में पाप-पुण्य की मीमांसा वैध-अवैध कर्मों की व्याख्या, योग-महिमा, मिथ्याजनित जागतिक ज्ञान (विवर्त) एवं उसके स्वरूप तथा कर्मफल की विशद चर्चा की गई है।

पिण्ड-ब्रह्माण्ड—संहिता का द्वितीय पटल अपेक्षा कृत अधिक उपयोगी है। इस जीव देह में सातों द्विप सहित सुमेरु (पर्वत), नदियाँ, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र क्षेत्रपाल सब विराजमान हैं। सम्पूर्ण ऋषि मुनि नक्षत्रपुंज, ग्रह मंडल, पुण्यप्रद तीर्थ और पीठ देवता भी इस देह में रहते हैं।[1] सृष्टि का संहार करने वाले चन्द्रमा और सूर्य निरन्तर इस देह में घूमते रहते है और यह देह के आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच भूतों का अधिष्ठान-स्थान है। प्रकृति में जितने भूत विद्यमान हैं, वे सभी इस देह में विराजमान है। ये सभी पदार्थ सुमेरु को घेरकर अपने-अपने विषय का व्यवहार करते हैं। जो इस देह वृत्तान्त को भली भाँति जान चुका है, वह निस्सन्देह पूर्ण योगी है।[2] यह जीव-देह ब्रह्माण्ड कहलाता है, इस देह में सुमेरु के समान मेरुदण्ड स्थित है। उसके ऊपर द्विदल पद्मकर्णिकाकार में चन्द्रमंडल और उसके ऊपर नाद चक्र में सूर्यमण्डल स्थित है जिनके द्वारा देह की पुष्टि और सृष्टि का विस्तार होता है। चन्द्रमा नित्य अमृत की वर्षा करता है। वह सुधाधारा दो भागों में बंट गई है। शरीर की पुष्टि के लिए यह सुधा, इड़ा नामक नाड़ी के छिद्र से लेकर मन्दाकिनी के जल के समान सारे शरीर को पोषण करती है।[3] यह सुधारश्मि इड़ा नामक नाड़ी के रूप में वाम भाग में रहता है। विशुद्ध दुग्ध के समान आनन्दप्रद चन्द्रमा सृष्टि के लिये सुषुम्ना मार्ग के द्वारा मेरु में प्रस्थान करता हैं। मेरुदण्ड के मूलदेश में बारह कलाओं वाला सूर्य स्थित है, वह प्रजापति स्वरूप दक्षिण मार्ग में ऊपर को जाने वाली किरणों के द्वारा प्रवाहित होता है। सूर्य अपनी आकर्षिणी शक्ति के द्वारा देह की समस्त अमृतमयी धातुओं को सोख सकता है, वह निरन्तर वायुपुंज के साथ देह में घूमता रहता है।[4] मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ है। उनमें चौदह प्रधान हैं। इनमें प्रथम तीन श्रेष्ठ कहीं गई है। इन तीनों में भी सुषुम्ना सर्व-

---

[1] शिव-संहिता द्वितीय पटल, श्लोक १.२—कु० रामचन्द शर्मा सनातन धर्म प्रेस मुरादाबाद।

[2] शिव-संहिता २।३,४,५।

[3] वही—२।६,७,८।

[4] वही—२।९-१०,११।

प्रधान है ! यह योगियों को परम प्रसन्नता देने वाली है। दूसरी नाड़ियाँ इसका आश्रय लेकर ही मनुष्य देह में में बस रही हैं। तीनों नाड़ियाँ नीचे को मुख करके स्थित हैं, ये कमल के तार के समान हैं। इड़ा सोमस्वरूप, पिंगला सूर्य स्वरूप और सुषुम्ना अग्नि रूप है। ये तीनों मेरुदण्ड के आश्रय से मनुष्य देह में स्थित हैं।[1] इन तीन नाड़ियों के मध्य में परम प्रसन्नता देने वाली चित्रा नामक नाड़ी है, इसी नाड़ी के मध्य में परम सूक्ष्म ब्रह्मरंध्र विद्यमान है। यह चित्रा नाड़ी अनेक वर्ण वाली, शुद्ध और तेज से कांतिमान् है। अमृत के समान आनन्द देने वाली इस नाड़ी द्वारा योगी समस्त पापों को नष्ट कर सकते हैं।[2]

मनुष्य-देह में जो मूलाधार पद्म विद्यमान है, वह चार अंगुल चौड़ा गुदा से दो अंगुल ऊपर और दो अंगुल नीचे स्थित है। इस पद्म की कलियों के भीतर रमणीय योनि-मण्डल है जो परम गोपनीय है। इसी के बीच विद्युत् के समान आकार वाली परम देवता कुण्डलिनी शक्ति स्थित है जो साढ़े तीन वलय वाली सुषुम्ना का मार्ग रोके हुए पड़ी है। यह कुण्डलिनी शक्ति जगत् की सृष्टि करने वाली और मुक्तिदात्री है। वाम-भाग में स्थित इड़ा नामक नाड़ी मध्यवर्तिनी सुषुम्ना को लपेटती हुई नाक के दाहिने रन्ध्र तक चली गई है। ऐसे ही दाहिने भाग में स्थित पिंगला नामक नाड़ी बीच में की सुषुम्ना को लपेटती हुई नाक के बायें रन्ध्र तक चली गई है। इड़ा और पिंगला, इन दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्ना के छः स्थानों में छः पद्म (चक्र) मूलाधार ४ दल वाला स्वाधिष्ठान, ६ दल मणिपूर, १० दल अनाहत, १२ दल विशुद्ध, १६ दल, आज्ञा; द्विदल और छ शक्तियाँ—डाकिनी, काकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिणी और शाकिनी स्थित हैं।[3]

तृतीय पटल में पंच प्राणवायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान), योगाभ्यासी साधक के लक्षण, नाड़ी-शुद्धि के उपाय, साधक की दैनिक क्रिया, प्राणायाम साधन विधि एवं उससे होने वाले लाभ बताये गये हैं।

चतुर्थ पटल में मुद्राओं का वर्णन है। मुद्राओं की महत्ता बतलाते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जो पुरुष गुरुघाती, सुरापायी, चोर और गुरुपत्नी-गामी होता है, वह भी मुद्रा-बन्धन के द्वारा उन पापों से छूट जाता है।

पञ्चम पटल में योग-साधन के समय सम्भावित भोग और धर्म रूप विघ्नों कथन किया गया है। अन्त में षट्चक्रों की भेदन-क्रिया एवं उनसे प्राप्त लाभ

---

[1] शिव-संहिता २।१२-१७।

[2] वही—२।१८-२०।

[3] वही—२।२१-२७।

की चर्चा करते हुए राजाधिराज राजयोग की प्रशंसापरक विशेषताओं के साथ यह संहिता समाप्त होती है।

'शिव-संहिता' में षट्चक्र-भेदन क्रिया—योगिराज शिव-पार्वति को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे प्रिये! सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं है। कुम्भक के समान अन्य कोई बल नहीं है। खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय भी नहीं है।[1] उपस्थ के मूल में कुण्डलिनी-शक्ति अधिष्ठित है जो साढ़े-तीन वलय में नाड़ियों के समूह से घिरी अपनी पूछ को मुख में डालकर सुषुम्ना के छिद्र को घेरे हुए पड़ी है। यह कुण्डलिनी शक्ति सर्पिणी के रूप में सो रही है तथा अपने तेज से उद्दीप्त है, यह वाग्देवता स्वरूप है, उसके प्रभाव से ही जीवों की वाक् शक्ति प्रवृत होती है।[2] स्वर्ण-प्रभातुल्य यह कुण्डलिनी ही सत्व, रज और तम, इन तीनों गुणों को प्रकट करने वाली विष्णु की शक्ति है। कुण्डलिनी के अधिष्ठित स्थान योनिमण्डल में बन्धूक पुष्प के समान काम-बीज विद्यमान हैं जो क्रियाशक्ति और विज्ञानशक्ति के साथ मिलकर देह में विचरण करता है, कभी ऊर्ध्वगामी होता है और कभी लिंगान्तर्गत सलिल में प्रविष्ट होता है। इसी को मूलाधार पद्म कहते हैं, इसमें व से स तक के चार वर्णों वाले चार पत्ते दमक रहे हैं।[3] इसका ध्यान करने वाला योगी त्रिकालज्ञ हो जाता है और उसके सम्मुख पहले कभी न सुने गये समस्त शास्त्र अपने रहस्य के साथ अभिव्यक्त हो जाते हैं। वह प्रफुल्ल चित्त, तुष्ट और वायु-विन्दु धारण करने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है।

लिंग मूल में स्थित कान्तिवान् छः पत्तों से सुशोभित स्वाधिष्ठान-चक्र रक्त वर्ण का है। उसके छः दलों पर (ब, भ, म, य, र, ल) ये छः वर्ण विराजमान हैं। इसमें राकिणी शक्ति निवास करती है। इस पद्म का ध्यान करने वाले साधक की सेवा करने के लिए मुग्धचित्त कामतुल्य-कामिनियाँ तरसती हैं। वह नीरोगी, निर्भीक और मृत्यु को ग्रास बनाने की अनुपम क्षमता प्राप्त कर लेता है।[4] नाभि के मूल देश में दश पत्तों से सुशोभित कांचन वर्ण वाला मणिपूरि-चक्र है, इसमें लाकिनी शक्ति का निवास है तथा इसके दश दलों में ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ ये दश वर्ण दमक रहे हैं। इसको सिद्धि करने वाले साधक को पातालसिद्धि प्राप्त हो जाती है, उसे देवताओं का साक्षात् दर्शन होने लगता है। हृदय देश में स्थित गहरे लाल रंग वाला

[1] शिव-संहिता ५।३०।

[2] वही—५।५५-५६।

[3] वही—५।६०-६३।

[4] वही—५।७५-७६।

बारह पत्तों का अनाहत चक्र है, इसके बारह पत्तों पर कवर्ग, चवर्ग तथा ट, ठ वर्ण अङ्कित हैं तथा इसमें काकिनी शक्ति का निवास है। इस चक्र के सिद्ध पुरुष के पास अप्सराएँ कामातुर होकर आने लगती हैं, वह दूरश्रवा, गगनविहारी तथा खेचरी-भूचरी शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है।

तपे हुए सोने के वर्ण वाला कण्ठ देश में स्थित सोलह पत्तों का विशुद्ध-चक्र है जिस पर शाकिनी शक्ति विराजमान है और उसके पत्तों पर क्रमशः अ, आ, इ ई उ ऊ ऋ ॠ, ऌ ॡ ओ औ, अं अः—ये सोलह स्वर सुशोभित हैं। विशुद्ध-चक्र से भेदन में सफल साधक योगीश्वर कहलाने लगता है और अपने क्रोध से त्रिलोक को कँपा देने की शक्ति रखता है। उसका शरीर वज्र तुल्य दृढ़ एवं मन अन्तर्मुख, हो जाता है तथा पृथ्वी पर बीते हुए हजारों वर्ष उसे क्षण भर से प्रतीत होते हैं। दोनों भौहों के मध्य स्थित दो दल वाला हाकिनी शक्ति से युक्त ह और क्ष वर्ण से अङ्कित आज्ञा-चक्र है, इसका ध्यान करने से परम सिद्धि प्राप्त होती है।

हे पार्वति ! मैं ही मस्तक के ऊपर स्थित सहस्त्रदल पद्म में तृतीय लिङ्गरूप में मुक्ति देता हूँ, इस लिङ्ग के ध्यान से योगीन्द्र पुरुष मेरे समान हो जाता है। वरुणा और उसी नाम से प्रसिद्ध इड़ा और पिंगला के सङ्गम (वाराणसी) में विश्वनाथ रहते हैं, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। तत्वदर्शी ऋषियों ने इस आज्ञापूर (वाराणसी) के माहात्म्य का अनेकशः वर्णन किया है। जिस स्थान पर ब्रह्मरन्ध्र विराजमान है, वहाँ सुषुम्ना मेरुदण्ड के योग से चली गई है, इड़ा, सुषुम्ना से संयुक्त आज्ञा चक्र के दक्षिण भाग में वाम नासिका पुट में प्रस्थान करती है। इसको ही गंगा कहते हैं—वरुणा-असी या गंगा-यमुना और सरस्वती के संगम पर स्नान करने की बात सन्त कवियों ने बार-बार कही है "आस पास घन तुरसी का विरवा बीच बनारस गाऊँ रे"।

ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रदल पद्म मूलदेश में चन्द्रमा स्थित है जिससे निरन्तर अमृत की धारा स्रवित होती रहती है। आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से वाम नासा-पुट में गमन करने वाली उत्तरदाहिनी शाखा वरुणा कहलाती है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य के देहस्थान को वाराणसी समझकर ध्यान करना चाहिये। मूलाधार में जो चार दल वाला कमल है, वहाँ पर सूर्य का वास है। उससे निरन्तर विषजल की धार बहती है, वह सन्ताप देने वाला विष अपने आप पिंगला में बहता रहता है। आज्ञाचक्र के वाम भाग उत्तर की ओर प्रस्थान करने वाली पिङ्गला को असी कहते हैं। जो योगी आज्ञाचक्र के ध्यान में निमग्न होकर लौटी हुई जीभ को तालु-मूल में लगाकर आधे क्षण के लिए भी चित्त को स्थिर कर पाता है, उसके पाप-पहाड़ पल भर में नष्ट हो जाते हैं।[1]

[1] शिव-संहिता ५।६७-११४।

ख. नाथ-पन्थ में प्रयुक्त योग

नाथ पंथ में काया-साधना—नाथ-पन्थ में प्रयुक्त योग-मार्ग विशुद्ध साधना का मार्ग है। इस पन्थ की प्रमुख साधना-पद्धति हठयोग से सम्बन्धित है जो तत्त्ववाद की अपेक्षा प्रक्रिया में विशेष आस्था रखती है। नाथ-पन्थियों ने अपनी साधना को व्यावहारिक बनाने पर अधिक बल दिया है। वे अपने सिद्धान्तों की सार्थकता इसी जीवन में ही अनुभव करने में देखते हैं। उनका एक मात्र लक्ष्य भव-बन्धनों से मुक्त होकर शिवत्व की प्राप्ति करना है। नाथ-पन्थी की दृष्टि में यह शिवत्व अथवा परमतत्व 'केवल' स्वरूप है। यह भाव-अभाव दोनों की पहुँच के परे हैं, अगम और अगोचर है। उसे न तो हम बस्ती कह सकते हैं और न शून्य। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है (बस्ती) और न यह कि वह कुछ नहीं है (शून्य)। वह भाव (बस्ती) और अभाव (शून्य) सत् और असत् दोनों से परे है। वह आकाश-मण्डल में बोलने वाला बालक है—ब्रह्म का निवास ब्रह्म-रन्ध्र अथवा शून्य में ही माना गया है। अतः उसका नाम कैसे रखा जा सकता है क्योंकि वह तो नाम और रूप दोनों उपाधियों से परे है—

> **बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।**
> **गगन-सिसर मह्हि बालक बोले ताका नांव धरहुगे कैसा।।**[1]

इस 'केवलावस्था' तक पहुँचना जीव का परम-साध्य है। नाथ-पन्थ की साधना उस परम साध्य तक पहुँचने की व्यावहारिक विधि प्रस्तुत करती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध जो भी कल्पित किया जाय किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति की मुक्ति उन दोनों के योग पर ही निर्भर है। नाथ-पन्थ उसी योगानुभूति तक पहुँचाने वाला पन्थ है। उसका चरम लक्ष्य जीव को योग की युक्ति से परिचित कराना है जिससे अपरिचित जीव पिंजरे में तोते की भाँति वद्ध है—

> **सप्त धातु का काया पींजरा, ता मांहि जुगति बिन सूवा।**
> **सतगुरु मिले तो ऊबरै बाबू, नहीं तो परले हुवा।।**[2]

योग-साधना में प्रवृत्त होने के पूर्व सर्वप्रथम साधक की दृष्टि काया की ओर जाती है क्योंकि काया की नश्वरता जीव की समस्त साधना पर पानी फेर देती है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करा कर उसे मृत्युजयी बनाना ही योग का प्रमुख

---

[1] डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित गोरखबानी, सबदी १।

[2] वही—पद २१।३, पृष्ठ ११५।

उद्देश्य है। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक रसेश्वर सम्प्रदाय की चर्चा सुनी जाती है। इस सम्प्रदाय में काया-साधना तथा अमरता-प्राप्ति पर विशेष बल दिया जाता था। उसका कथन था कि मृत्यु के उपरान्त मिलने वाली मुक्ति किस काम की, जब कि उस शरीर के द्वारा उसका आनन्द नहीं लिया जा सकता, अतः 'रस' का सेवन कर हमें इसी शरीर से सिद्धि प्राप्त करते हुए अमरत्व की साधना करनी चाहिये। यह भी कहा जाता है कि मृत्युञ्जयी सिद्ध-साधकों का एक दल चीन से भारत आया था जो विविध रासायनिक क्रियाओं से काया-साधना कर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि में सचेष्ट था। काया की नश्वरता से छुटकारा पाने के लिए पारद और अभ्रक के संयोग से हर और गौरी द्वारा निर्मित काया के अमर होने की बात कही गई है क्योंकि महेश्वर ने स्वयं कहा है कि हे देवि ! पारा मेरा वीर्य है और अभ्रक तुम्हारा रज। इन दोनों के सम्मिलन से जो तत्व उत्पन्न होता है वह साधक को दारिद्रय एवं मृत्यु से मुक्त कर अमर कर देता है।[1] अतः नाथ-पन्थियों ने काया को रोग, मृत्यु एवं जरा से बचाकर सतत बाल स्वरूप, अमर एवं अविनाशी बनाने की बार-बार चर्चा की है। काया-साधना की दृष्टि से योग का प्रारम्भ होना स्वाभाविक ही है—

आरम्भ जोगी कथीला एक सार।
षिण षिण जोगी करे शरीर बिचार ॥

बहुत सी यौगिक-साधनाओं में शरीर को अनेक प्रकार की यातनाओं से दण्डित करते हुए मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा की जाती है, किन्तु नाथ-पन्थियों ने 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' के पथ का अनुसरण कर मध्यम-मार्ग का अवलम्बन किया है और उसे शत्रु दृष्टि से न देखकर उन साधारण बातों पर भी विचार किया है जो शरीर को स्वस्थ एवं निर्मल बनाने में योग देती हैं। गोरखनाथ का कथन है कि "भोजन पर टूट नहीं पड़ना चाहिये (अधिक नहीं खाना चाहिये) न भूखे ही मरना चाहिये। रात-दिन ब्रह्माग्नि को ग्रहण करना चाहिये। शरीर के साथ हठ नहीं करना चाहिये और न पड़ा ही रहना चाहिये। हे अवधूत आहार तोड़ों, मिताहार करो, नींद को अपने पास न आने दो, छठे छमासे काया-कल्प किया करो। इससे तुम कभी रोगी नहीं होओगे। कोई-कोई बिरले योगी ऐसा कर सकते हैं।[2]" आहार उतना ही करना चाहिये जितने से शरीर की रक्षा हो सके और अपने देवत्व की सुरक्षा के लिए संयम से रहना चाहिये। जो योगी मन-पवन को संयुक्त कर उन्मनावस्था में लीन कर देते हैं वे ही तत्व का सार प्राप्त

---

[1] सर्वदर्शन संग्रह—नवा परिच्छेद, पृष्ठ १३७।

[2] गोरखबानी—सबदी ३१, ३३।

करते हैं।[1] स्वयं ब्रह्म ने प्रत्येक व्यक्ति के शरीररूपी क्यारी को जोता-बोया है अर्थात् प्रत्येक हृदय में बीज रूप से परमात्मा विद्यमान है किन्तु हमारी वही क्यारी है जिसमें कुछ उपज हो जाय अर्थात् वही ब्रह्मलीन हो सकता है जो उस अन्तःस्थ ब्रह्म का स्वानुभव कर ले। गोरख प्रत्येक शरीर में अपना उपदेश कर रहे हैं, अनाहत नाद हो रहा है किन्तु इसका लाभ वे ही उठा सकते हैं जिन्होंने अपनी काया को सिद्ध कर लिया है। कहीं कच्ची हाँड़ी में पानी ठहर सकता है? अर्थात् साधना-शून्य काया वाले इससे लाभ नहीं उठा सकते।

घटि घटि गोरख बाही क्यारी। जो निपजै सो होइ हमारी।
घटि घटि गोरष कहै कहांणी। काचे भांडे रहै न पांणी॥

हे अवधूत! शरीर को वश में करने के बाहरी उपायों से योग सिद्धि नहीं होती। पावड़ी पहनने वाला चलने में फिसल जाता है। लोहे की साँकलों से जकड़ने से शरीर नष्ट होता है। नागा, मौनी और केवल दूध पीकर रहने वाले, इतने को योग-लाभ नहीं होता।[2] यह शरीर वस्तुतः सत्यस्वरूप आत्मा का निवास स्थान है, अतः इसका सदुपयोग होना चाहिये। जो इसके सजाने-सँवारने अथवा दण्डित करने में लगे रहते हैं, वे दोनों ही पथभ्रष्ट हैं। इसीलिए गोरखनाथ जी चेतावनी देते हुए कहते हैं—

कंदर्प रूप काया का मंडण अंबिरथा काइ उलीचो।
गोरख कहै सुणां रे भौदू, अरंड अमी कत सींचा॥४।२२॥

उन्होंने साधक को 'मध्यम रहनी' से रहने की शिक्षा दी है, क्योकि इससे मन निश्चल और श्वास स्थिर होता है—मधि निरतर कीजै वास। निहचल मनुवा थिर होइ सास।[3] असावधानी के कारण काया गढ़, पर काल का आधिपत्य हो जाता है और जीव अपने ही घर में बन्दी हो जाता है अतः काया गढ़ को शत्रु के हाथ से छीन लेने में ही जीव का कल्याण हो सकता है—

भणंत गोरषनाथ काया गढ़ लेवा,
काया गढ़ लेवा जुगे जुगी जीवा।
काया गढ़ भीतरि नौ लख षाई, जन्त्र फिरे गढ़ लिया न जाई।

× × ×

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता, काया गढ़ जीति ले गोरष अवधूता॥[4]

---

[1] गोरखबानी—सबदी ३४, ३७।

[2] वही – ३६

[3] वही—१४६।

[4] वही—पद ३६।

काया रूपी गढ़ के भीतर नौ लाख खाइयाँ हैं। (नवरन्ध्र) अथवा चौरासी लाख योनियों के संस्कार जिन्हें पाटकर, (विजय कर) दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) तक पहुँचा जाता है। जिस पर ताला लगा हुआ है (जिसे कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा खोलना आवश्यक है—(देव, देवालय और तीर्थ-त्रिकुटी, काशी) इसी शरीर रूपी गढ़ के भीतर है, वहीं अविनाशी परमात्मा सहज स्वभाव से मुझे मिले हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि हे मनुष्यो, काया-गढ़ को कोई बिरला ही जीत सकता है। जिसने काया-गढ़ को जीत लिया उस योगी की पहचान इस प्रकार है—

षड़ षड़ काया निरमल नेत, भई रे पूता गुरु सौं भेट ॥१०६॥

अर्थात् यदि साधक का शरीर छरहरा (चरबी के बोझ से मुक्त) है और उसके नेत्र निर्मल कान्तिमय हैं तो समझना चाहिये कि उसकी गुरु से भेट हो गई है। कायाशुद्धि की प्रमुख पहचान यही है। इसके लिए शास्त्रों में नेति, धौति, वस्ति आदि षट्कर्मों का विधान किया गया है। मन की स्थिरता के लिए आसनों का प्रयोग भी योगी के लिए अनिवार्य है।

नाथ पन्थ की त्रिविध साधना इन्द्रिय-निग्रह—बिन्दु-साधना—इस योग-साधना में बिन्दु रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। शरीर की दृढ़ता के लिए बिन्दु या रेत की धारणा अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि बिन्दु नाश से काया पर काल का प्रभाव शीघ्र पड़ने लगता है और योगी अपनी साधना में असफल सिद्ध होता है। इसीलिए नाथ-पन्थियों ने योगी के लिए ऊर्ध्वरेता होना अनिवार्य शर्त मानी है।

अरधै जाता उरधै धरै काम दगध जे जोगी करे।
तजै अल्यगन काटे माया, ताका विषनु पषाले काया ॥[1]

बिन्दु ही योग है, बिन्दु ही भोग है, बिन्दु ही चौसठों रोगों का हरण करता है। इस बिन्दु का भेद कोई बिरला ही जानता है। बिन्दु का भेद जानने वाल साक्षात् ब्रह्म स्वरूप है। योनि-मुख में जो बिन्दु की रक्षा करे तथा अग्नि के ऊप पारे की रक्षा करे, वह हमारा गुरु है। योगी की यह कठिन परीक्षा है।[2] जननेन्द्रिय के सम्बन्ध में असंयत व्यक्तियों को गोरखनाथ जी ने प्रत्यक्ष भंगी कहा तथा लंगोट के पक्के व्यक्ति को उत्तम।[3] काल की ललकार है कि मुझसे तु बच नहीं सकते। खड़े, बैठे, जागते-सोते चाहे जिस दशा में रहो उसी दशा में

[1] गोरखबानी—१७।

[2] वही—सबदी १४८, १४२।

[3] वही—१५२।

काया रूपी गढ़ के भीतर नौ लाख खाइयाँ हैं। (नवरन्ध्र) अथवा चौरासी लाख योनियों के संस्कार जिन्हें पाटकर, (विजय कर) दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) तक पहुँचा जाता है। जिस पर ताला लगा हुआ है (जिसे कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा खोलना आवश्यक है—(देव, देवालय और तीर्थ-त्रिकुटी, काशी) इसी शरीर रूपी गढ़ के भीतर है, वहीं अविनाशी परमात्मा सहज स्वभाव से मुझे मिले हैं। गोरखनाथ कहते हैं कि हे मनुष्यो, काया-गढ़ को कोई बिरला ही जीत सकता है। जिसने काया-गढ़ को जीत लिया उस योगी की पहचान इस प्रकार है—

षड़ षड़ काया निरमल नेत, भई रे पूता गुरु सौं भेट ॥१०६॥

अर्थात् यदि साधक का शरीर छरहरा (चरबी के बोझ से मुक्त) है और उसके नेत्र निर्मल कान्तिमय हैं तो समझना चाहिये कि उसकी गुरु से भेट हो गई है। कायाशुद्धि की प्रमुख पहचान यही है। इसके लिए शास्त्रों में नेति, धौति, बस्ति आदि षट्कर्मों का विधान किया गया है। मन की स्थिरता के लिए आसनों का प्रयोग भी योगी के लिए अनिवार्य है।

नाथ पन्थ की त्रिविध साधना इन्द्रिय-निग्रह—बिन्दु-साधना—इस योग-साधना में बिन्दु रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। शरीर की दृढ़ता के लिए बिन्दु या रेत की धारणा अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि बिन्दु नाश से काया पर काल का प्रभाव शीघ्र पड़ने लगता है और योगी अपनी साधना में असफल सिद्ध होता है। इसीलिए नाथ-पन्थियों ने योगी के लिए ऊर्ध्वरेता होना अनिवार्य शर्त मानी है।

अरधै जाता उरधै धरै काम दगध जे जोगी करै।
तजै अल्यगन काटै माया, ताका विषनु पषालै काया ॥[1]

बिन्दु ही योग है, बिन्दु ही भोग है, बिन्दु ही चौसठों रोगों का हरण करता है। इस बिन्दु का भेद कोई बिरला ही जानता है। बिन्दु का भेद जानने वाला साक्षात् ब्रह्म स्वरूप है। योनि-मुख में जो बिन्दु की रक्षा करे तथा अग्नि के ऊपर पारे की रक्षा करे, वह हमारा गुरु है। योगी की यह कठिन परीक्षा है।[2] जननेन्द्रिय के सम्बन्ध में असंयत व्यक्तियों को गोरखनाथ जी ने प्रत्यक्ष भंगी कहा है तथा लंगोट के पक्के व्यक्ति को उत्तम।[3] काल की ललकार है कि मुझसे तुम बच नहीं सकते। खड़े, बैठे, जागते-सोते चाहे जिस दशा में रहो उसी दशा में मैं

---

[1] गोरखबानी—१७।

[2] वही—सबदी १४८, १४२।

[3] वही—१५२।

तुम्हें मार सकता हूँ। तुम्हें पकड़ने के लिए मैंने तीनों लोकों में योनि रूप जाल पसार रखा है उससे बचकर तुम कहाँ जाओगे ? काल को सिद्ध योगी का दृढ़ उत्तर है—

ऊभा षण्डो बैठा षराडो षराडो जागत सूता।
तिहूँ लोक तै रहूं निरन्तरि तौ गोरख अवधूता ॥[1]

शुक्र-रक्षा के साथ ब्रह्मानुभूति की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है, क्योंकि आध्यात्मिक अनुभूति के बिना जो बिन्दु मात्र के अर्थ बन्ध क्रिया का आश्रय ग्रहण करता है उसका शरीर स्थिर होता नहीं देखा गया है।[2] सिंहल की पद्मिनियों के बीच योगभ्रष्ट गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को लक्ष्य कर गोरखनाथ ने कहा था कि हे गुरुदेव, ऐसा कर्म न कीजिये, इससे महारस अमृत क्षीण होता है। स्त्री के साथ रहने वाले पुरुष की अवस्था नदी किनारे के पेड़ के जैसी होती है। उसके जीवन की कम आशा होती है। माया नारी मन को मोहिती है और रात्रि को शुक्र-स्खलन द्वारा अमृत सरोवर को सोखती है। मन में ज्योंही मनसिज पैदा हुआ त्योंही मेरु शिखर यानी सुषुम्ना के ऊर्ध्व मुख ब्रह्मरन्ध्र से अमृत नीचे गिर पड़ता है, इससे शरीर का नाश होता है। मन का घोर मन्थन कर देने वाली आँखों से युक्त बाघिन (माया) जब महारस अमृत को सोख लेती है तो पैर डगमग, पेट ढीला और सिर के बाल बगुले के पंखों की भाँति सफेद हो जाते हैं।[3] गोरखनाथ ने उसे अपना भाई स्वीकार किया है जो बज्रोली करते हुए अमरोली की रक्षा करे, और भोग करते हुए बिन्दु की रक्षा करे।

बजरी करता अमरी राषै अमरि करंतां बाई।
भोग करन्ता जे ब्यन्द राषै ते गोरष का गुरु भाई ॥ सबदी १४१

नाथ-पन्थ में जो त्रिविध साधनाएँ प्रचलित थीं उनमें से प्रथम इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् बिन्दु-रक्षा की साधना थी। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कि बिन्दु-धारण या ऊर्ध्व रेता बनने से आसन में दृढ़ रहने की क्षमता उत्पन्न होती है और साधक अपनी साधना में उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करता चला आता है। यही कारण है कि नाथ-पन्थियों ने साधना के मूल स्वरूप बिन्दु-धारण पर विशेष जोर दिया है।

इन्द्रिय-निग्रह से केवल बिन्दु-रक्षा से ही प्रयोजन नहीं है वरन् समस्त इन्द्रियों और उनके विषयों से है किन्तु समस्त इन्द्रियों में जननेन्द्रिय ही प्रबल

---

[1] गोरखबानी—सबदी ९९-१००।

[2] वही—२३७-८।

[3] वही—पद ४३।

होती है इसीलिए नाथ-गुरुओं ने इस पर अपेक्षाकृत विशेष बल दिया है। वैसे तो गुरु गोरखनाथ का कथन है कि—

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा, सुरति लुकाइबा कानं।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबानं॥[1]

अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाओ। नेत्रों के आगे से देखने की शक्ति को, कान के आगे से सुनने की शक्ति को तथा नाक के आगे से वायु को छिपाओ। ऐसा करने से फिर केवल निर्वाणपद शेष रह जाता है।

प्राण-साधना—इन्द्रिय-निग्रह की साधना में पूर्ण सफलता पा लेने पर साधक प्राण-साधना में अग्रसर होता है। सहस्रार-चक्र में स्थित अमृत की प्राप्ति में प्राण-साधना का महत्वपूर्ण सहयोग रहता है। यों तो मनुष्य का जीवन ही श्वास-क्रिया पर टिका हुआ है। जब तक देह में प्राण है तभी तक मनुष्य की देह कंचन-कलेवरा है—अन्यथा लोष्टवत्। श्वास-क्रिया का बन्द हो जाना वस्तुतः मानव की सबसे बड़ी विवशता है और है काल की प्रबल चोट—

बायू बन्ध्या सयल जग, बायू किनहुँ न बंध।
बाइ बिहूणा ढहि पड़े, जोरै कोइ न संध॥

परन्तु यदि हम श्वास-क्रिया के बन्द हो जाने पर भी जीवित रह सकें तो हमारे ऊपर काल की प्रबल चोट का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, इसीलिए प्राण-विजय की कामना से योगी प्राण-साधना में प्रवृत्त होता है। शरीर के अन्तर्गत प्राण वायु के नियमित सञ्चालन एवं कुम्भकादि की क्रिया प्राण-साधना के अन्तर्गत आती है।

पूर्ण प्राण-विजय 'केवल' कुम्भक के द्वारा प्राप्त होती है क्योंकि इसमें श्वास-क्रिया पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती है। यह पूरक और रेचक की अपेक्षा नहीं रखता। केवल कुम्भक में सूर्य और चन्द्र का योग होने से प्राण सुषुम्ना में समा जाता है और साधक अजरामर बनकर अमृत का पान करता रहता है। गुरु गोरखनाथ ने कहा भी है कि "हे अवधूत! शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग रोक लो। इससे चौंसठ सन्धियों में वायु का व्यापार होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक सिद्ध हो जायगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।[2] पवन का संचार रोकने के लिए शरीर में फैले हुए सहस्र नाड़ी जाल और शरीर के रोम-रोम में जिसमें नाड़ी-मुखों का अन्त है, भस्म धारण करना विहित बतलाया गया है। प्राणायाम के द्वारा प्राण को पकड़कर उसे वश

---

[1] गोरखबानी—सबदी ७५।

[2] वही—सबदी ५०।

में करना चाहिये इससे उन्मन अवस्था सिद्ध होती है, अनाहत नाद की तुरी बजने लगती है और ब्रह्मरन्ध्र में बिना सूर्य या चन्द्रमा के ब्रह्म का प्रकाश चमक उठता है—

> अवधू दम्भ कौं गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहदतूरं।
> गगन मण्डल में तेज चमकै, चन्द नहीं तहाँ सूरं॥
> सास उसास बाइ कौं भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं।
> छठै छमासि काया पलटिबा, तब उनमनी जोगं अपारं॥
> अवधू सहस्र नाड़ी पवन चलैगा, कोटि झमंकै नादं।
> बहतरि चन्दा बाई सोष्या किरणि प्रगटी जब आदं॥[१]

इस प्रकार सूर्य-चन्द्र के संयोग से जब नाद में बिन्दु समा जाता है और अनाहत नाद की तुरी बजने लगती है तब ब्रह्मरन्ध्र में अमृत का निर्झर झरने लगता है। उन्मनावस्था के सिद्ध होने पर नाद उलट जाता है। यह नाद सूक्ष्म शब्द तत्व का क्रियमाण स्वरूप है जो क्रमशः स्थूल रूप में परिणत होता हुआ सृष्टि का कारण होता है। उसका सृष्टि निर्मायक स्थूल स्वरूप अपने मूलस्रोत की ओर मुड़ जाता है और नीचे उतरता हुआ बिन्दु ऊर्ध्वगामी हो जाता है और वायु में ही, जिसके ऊपर काल का प्रभाव बहुत दिखाई देता है, अमर तत्व पहचाना जाता है।[२] श्वास-क्रिया के माध्यम से परम गति अथवा ब्रह्म-तत्व की उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए गोरखनाथ जी का कथन है कि "श्वासा को नीचे जाने वाली और ऊर्ध्व के बीच में उठाकर रक्खा अर्थात् केवल कुम्भक किया और मध्य शून्य (ब्रह्मरन्ध्र) में जा बैठा।"[३] पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में समा लेने से बालक रूप प्रत्यक्ष होता है। उदय के घर में अस्त लाने से अर्थात् मूलाधार स्थित सूर्य को अस्त करने से और चन्द्र के घर ब्रह्मरन्ध्र में पवन का सम्मिलन करने से बँधा हुआ हाथी (मन) अपनी शाला में आ जाता है।"[४]

आभ्यन्तर ज्ञान—जो योगसाधन को केवल शारीरिक कष्ट-साधना तक सीमित रखते हैं वे योगसिद्धि से कोसों दूर हैं। बिना मन की ओर जाती हुई वहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाये आभ्यन्तर अनुभूति के शरीरस्थ नाड़ियों और अष्टांग योग का समस्त वाह्य ज्ञान झूठा है। इसीलिए गुरु ने चेतावनी देते हुए कहा है कि हे खण्डित ज्ञानियों! तुम बाहरी बातों से युद्ध करते

---

[१] गोरखबानी—सबदी ५१-५४।
[२] वही—५५।
[३] वही—७८।
[४] वही—८८।

हुए क्यों पच मरते हो। इनसे तब तक कुछ लाभ नहीं होगा जब तक तुम वास्तविक आभ्यन्तर ज्ञान अर्थात् परमपद की ओर न जाओगे। इस सूक्ष्म ज्ञान के बिना आसन और प्राणायाम उपद्रव किया करते हैं। रात-दिन पच मरने पर भी इनके द्वारा आरम्भ अवस्था से आगे नहीं बढ़ा जा सकता।[1] अतः मन की ओर जाती हुई वहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करो। रक्त और मांसमय काया को ब्रह्माग्नि में भस्म कर दो अर्थात् उसकी ओर अनासक्त हो जाओ।...जो ऐसा कर सके, नाथ (परब्रह्म) उसे स्वयं अपने पास बुलाते हैं।[2] वस्तुतः सच्चा दरवेश वही है जो दर की बात जानता है, जिसे परमात्मा के निवास-स्थान एवं ब्रह्मरन्ध्र का पूर्ण ज्ञान है। जो प्रत्याहार की साधना से पाँचों इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है और दिन रात सतर्क रहता है। ऐसा दरवेश स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।[3] हणवत जी ने भी आभ्यंतर ज्ञान को ही विशिष्टता प्रदान की है।

अठसठि तीरथ जाकें चरणां, सोई देव तुम्हारे अंतह करना।
हणवन्त कहै मन अस्थिर धरणां, बाहरि कितहूँ भटकिन मरणां॥
डॉ० ह० प्र० द्विवेदी—नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ १२४।

मन-साधना—मन, शरीर का केन्द्रित चेतन स्वरूप माना गया है। शरीर की विभिन्न वाह्य इन्द्रियाँ मन के ही संकेत पर अपना कार्य सम्पादित करती हैं। मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है। मन के वश में हो जाने से अनायास ही सारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है अतः नाथ पन्थियों की अन्तिम किन्तु विशिष्ट साधना, मन साधना है। जगत् के विभिन्न व्यापारों से मन को बलात् खींचकर अन्तःकरण की ओर उन्मुख कर देना ही नाथ-पन्थी योगी का प्रमुख कर्त्तव्य है।

गोरखनाथ जी ने मनमारण पर विशेष जोर दिया है। उनका कथन है कि "शरीरधारियों! जीव हत्या क्या करते हो, पञ्चभौतिक मन-रूपी मृग को मारो जो तुम्हारी बुद्धि रूपी बाड़ी को चर रहा है। अरे, योग का मूल ही दया-दान है। मुक्ति के लिए इस द्रोही मन को मारो जिसके न शरीर है, न मांस है, न रक्त न वर्ण। जिस मन ने देव-दानव सब को ग्रस लिया है, उसे गुरु-ज्ञान के बाण से मारो।[4] मन को काया के बाहर नहीं जाने देना चाहिये, यानी उसकी

---

[1] गोरखबानी—सबदी १३४।
[2] वही—१८०।
[3] वही—१८२।
[4] वही—२२८-९।

बहिर्मुख वृत्ति रोकनी चाहिये। रात-दिन उसे अन्तर्मुख बनाये रखना चाहिये। शरीरिक मुद्रा किसी काम की नहीं, मन की मुद्रा करनी चाहिये। शरीर के छिद्रों को मूँदने से योग सिद्ध नहीं होता, मन को मूँदने से योग सिद्ध होता है, क्योंकि चित्त-वृत्ति का निरोध ही तो योग है—

काया थै मन जांन न देह। राति दिवस अभि अन्तरि लेह।
मन मुद्रा कै रूप न रेष। जगत रूप मन ही मन देषि ॥[1]

श्री चर्पटनाथ जी ने केशों को मूँड़ने की अपेक्षा मन को मूँड़ने की शिक्षा दी है—

मन नहीं मूँडै मूडै केस, केसां मूड्या क्या उपदेश !
मूडै नहीं मन मरदक मान, चरपट बोलै तत गियान ॥[2]

श्री चौरंगीनाथ जी ने भी मस्त मन को मारने पर बल दिया है—

मारिबा तौ मन मस्त मारिबा, लूटिबा तौ पवन भण्डार।
साधिबा तौ थिर तत्त साधिबा, सेइबा निरंजन निराकार ॥[3]

इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह से आसन की दृढ़ता एवं बिन्दु-स्थैर्य तथा प्राण-साधना से प्राणायाम एवं मन-साधना से प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर साधक में नाड़ी-संशोधन एवं कुण्डलिनी-जागरण की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है। अमरौंध शासन के साक्ष्य से वीर्य-स्खलन की दो अवस्थाएँ हैं जिन्हें पारिभाषिक पदावली में प्रलयकाल और विषकाल कहा जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में उपलब्ध आनन्द घातक होता है। तीसरी अवस्था नाना भाव विनिर्मुक्त सहजानन्द की अवस्था है। इसमें बिन्दु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है तब यह सहज-समाधि प्राप्त होती है।[4]

कुण्डलिनी-जागरण—कमल-नाल के तन्तु के समान सूक्ष्म नाड़ियों को धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि कपालभाति आदि षटकर्मों के द्वारा शुद्ध करके तथा त्रिविध साधना में स्नात होकर ही साधक कुण्डलिनी-जगाने में सफल हो सकता है। हठयोग का अभ्यासी शरीर की रचना-प्रक्रिया से पूर्ण परिचित रहता है। पायु और उपस्थ के बीच मूलाधार के त्रिकोण या अग्नि-चक्र में अवस्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े-तीन बलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति निम्नमुखी कुण्डलिनी स्थित है। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही

---

[1] गोरखबानी—पद ५०।१।
[2] नाथ सिद्धों की बानियाँ—श्री चरपटनाथ जी की सबदी, पृष्ठ २५।
[3] वही—श्री चौरङ्गीनाथ की सबदी, पृष्ठ ४८।
[4] नाथ सम्प्रदाय—पृष्ठ १२५।

व्यष्टिमय व्यक्त रूप है। परमेश्वरी कुण्डलिनी ही ब्रह्मद्वार का आच्छादन करके सोई हुई है। इसे जगाकर शिव से सम-रस कराना ही योगी का चरम प्रतिपाद्य है। अन्यान्य विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है किन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के उद्बोधन से हठात् अनायास ही मोक्षद्वार खुल जाता है।[1] नाड़ी-शुद्धि हो जाने के पश्चात् प्राणादि वायुओं का शमन हो जाने पर सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है। साधक अनेक प्रकार के अभ्यासों से इड़ा और पिंगला के मार्ग का अवरोध कर सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्म नाड़ी से कुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुख करता है और वह आगे बढ़ती हुई मेरुदण्ड के समानान्तर सुषुम्ना नाड़ी पर स्थित षटचक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार-चक्र के ब्रह्मरन्ध्र का स्पर्श करती है। सहस्रदलों के कमल के आकार का सहस्रार-चक्र ही इस शरीर रूपी तीर्थ का कैलाश है जहाँ पर शिव निवास करते हैं। इस महातीर्थ तक पहुँचाने की क्षमता केवल सुषुम्ना नाड़ी में ही है, इसीलिए इसे शाम्भवी-शक्ति कहा जाता है।[2] कहा जाता है कि शक्ति, कुण्डलिनी रूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार में विराजमान है। जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान-धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परमपवित्र सुषुम्ना का मार्ग खुल जाय जिसको ढककर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई है।[3] गुरु गोरखनाथ सिद्ध संकेत करते हुए कहते हैं कि षोड़श कला वाली नाड़ी (इला) में चन्द्रमा का प्रकाश है, द्वादश वाली (पिंगला) में भानु का, सहस्र नाड़ी सुषुम्ना अथवा सहस्रार में प्राण का मूल निवास है, वहाँ असंख्य कला वाले शिव (ब्रह्म-तत्व) का स्थान है। कुण्डलिनी शक्ति जब उलट कर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाती है और नख से शिख तक सर्वाङ्ग में वायु व्याप्त हो जाती है अर्थात् वायु-भक्षण होने लगता है तब सहस्रार स्थित अमृत प्रस्रावक चन्द्रमा ही राहु (मूलाधार पद्म स्थित सूर्य) को ग्रस लेता है जिससे अमृत का पान सम्भव होता है।[4] नाथ गुरु का स्पष्ट आदेश है कि—

> इली सोधि धरि प्यांगुली पूरी, सुषमनी चढ़ु असमानं।
> मछिन्द्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि नैं थानं ।। पद ५।१६

---

[1] उद्घाटयेत् कपाटं तु तथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डिलन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ।। —गोरक्षशतक १।५१

[2] नाथ-सम्प्रदाय—पृष्ठ १२७।

[3] वही—पृष्ठ १३०।

[4] गोरखबानी—सबदी ६३-२१७।

कुण्डलिनी-जागरण की प्रयत्न साधित साधना में साधक को रसायनादि की सहायता से शरीर की दुर्बलताओं को दूर कर छठे-छमासे काया-पलटने (काया-कल्प) का भी विधान है।

अजपाजाप—षट्चक्र भेदन स्थिति के पश्चात् बहिर्मुख मन को अन्तर्मुख बनाये रखने के लिए आत्मचिन्तन का सबसे शक्तिशाली माध्यम अजपाजाप है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर मन को एकाग्र करने से मन वश में होता है। अनुभवी योगियों ने अजपाजप को सहज जप कहा है। उनके अनुसार मनुष्य प्रतिदिन २१,६०० बार साँस लेता है। इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैतभावना ही अजपाजाप है। अजपाजाप का योगी बिना ब्रह्म भावना के अपनी एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाने देता। इस जाप में माला की आवश्यकता नहीं है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर मन्त्रावृत्ति की जा सकती है। अभ्यास से मन्त्रावृत्ति दृढ़ हो जाने पर स्वत: ही मन में यह भावना होने लगती है और इस प्रकार प्रत्येक साँस ब्रह्मभावना में परिवर्तित होकर जप-कार्य में लगी रहती है। एक अनुभवी महात्मा के अजपाजाप के सम्बन्ध में उद्गार है—

"राम हमारा जप करै, हम बैठे आराम।"

नाथ गुरु की सीख है कि जिह्वा की टकसाल बनाकर वहाँ अभेद्य परम तत्व रूप हीरे को सुशब्द अर्थात् अजपा मन्त्र के द्वारा बेधों—सुसबदे हीरा बेधिले अवधू जिभ्या करि टकसाल।[1] ओम् शिव को नमस्कार है—ओम् शिव को नमस्कार है। रात-दिन प्राणवायु के चलते रहने से बराबर 'सोऽहम् हंसा' का जाप साँस के द्वारा होता रहता है। उस पवन-मन्त्र का मूल ॐकार है। उसीसे सारी सृष्टि बनी है। वही सारे संसार में व्याप रहा है। वही प्रत्येक शरीर में प्रवाहित हो रहा है।[2]

गोरखनाथ जी का उपदेश है कि मन लगाकर ऐसा जाप जपो कि 'सोऽहम्' 'सोऽहं' का वाणी के उपयोग के बिना अजपाजाप हो जाय। दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करो और रात-दिन ब्रह्मज्ञान का स्मरण करो।...इड़ा और पिङ्गला में समाई हुई नासाग्र तक जिसका विस्तार है, ऐसी वायु के द्वारा जब २१,६०० जाप होने लगते हैं अर्थात् श्वास-क्रिया ही स्वयं जप-क्रिया हो जाती है तब अनाहत नाद अपने आप उत्पन्न हो जाता है तथा सुषम्ना में सूर्योदय हो जाता है और रोम-रोम में तुरी बजने लगती है और ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति प्रकाशित हो जाती है।[3]

[1] गोरखबानी—सबदी ६०।

[2] वही—पद ११।

[3] वही—३०।

सिद्धि प्राप्ति का लक्षण—इस प्रकार विषयों में बिखरा हुआ मन प्रत्याहार के द्वारा सिमट कर अन्तर्मुख हो जाने पर कायिक मन से ऊपर उठ जाता है तथा उन्मन दशा को प्राप्त ब्रह्मरूप माला में पिरोया जाकर जीव-पुष्प खिल उठता है। सिद्धि के प्रज्वलित होने पर धुँवा उठने लगता है। यह धुँवा प्राण ही है। जैसे धूम, अग्नि का होना सिद्ध करता है वैसे ही प्राणों का ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होना सिद्धि प्राप्ति का लक्षण है। योगी की अन्तिम अवस्था 'निष्पत्ति' की है। इसको प्राप्त कर योगी भेद भाव विवर्जित सम-दृष्टि वाला हो जाता है। सिद्धियों के लोभ से असम्पृक्त, काल प्रभाव से मुक्त, ऐसा निष्पत्ति प्राप्त योगी सब के लिए वन्दनीय है।

शब्द-तत्व—अधोमुखी कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वमुख होकर उद्बुद्ध होती है तब उससे जो स्फोट होता है, उसे 'नाद' कहते हैं। यह नाद वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे संसार में समाया हुआ है उसी का प्रकाशन जब एक व्यक्ति में होता है तो उसे 'नाद' कहते हैं। बद्ध जीव उस नाद-श्रवण से वञ्चित रहता है। कुण्डलिनी-शक्ति के जागने से प्राण स्थिर होकर शून्य-पथ से उस अनाहत नाद को सुनने लगता है। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण सात स्तरों में विभक्त है। शास्त्र में जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं, वही उपाधि-रहित शब्द-तत्व है।[1] नाथपन्थियों में इस शब्द-प्राप्ति पर विशेष जोर दिया गया है। गुरु गोरखनाथ का कथन है कि हे! अवधूत शब्द को प्राप्त करो, शब्द को प्राप्त करो, स्थान अथवा तीर्थ को मान देना आदि क्रियाएँ सब धन्धा हैं। शब्द की प्राप्ति से आत्मा में परमात्मा वैसे ही दिखाई देने लगता है जैसे जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब। शब्द से ही शरीर सिद्ध होता है। इसी शब्द को प्राप्त करने के लिए निन्यानबे करोड़ राजा चेले हो गये और प्रजा में से कितने हुए उसका तो अन्त ही नहीं मितता।[2] गोरखनाथ जी का कथन है कि शब्द ही ताला है, वही परमतत्व को बन्द किये रहता है। शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमतत्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का निर्माण करती है, इसलिए मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड़कर वापिस आना पड़ता है, इसीलिए वही कुञ्जी भी है जिससे ताला खोला जाता है। गुरु के शब्द में भी परमतत्व रहता है जो उसी के मनन-चिन्तन से खिलता है। अन्तरी शब्द (नाद) का जागरण इसी शब्द (गुरु-उपदेश) के

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६४।

[2] गोरखबानी—सबदी, १२४, १२६।

कारण होता है। जब इस प्रकार स्थूल शब्द के द्वारा सूक्ष्म शब्द से परिचय हो जाता है तब स्थूल शब्द सूक्ष्म मूल शब्द में समा जाता है।[1] अनाहत-नाद के श्रवण पर बल देते हुए गोरखबानी में कहा गया है कि—

ऊभा बैठा सूता लीजे। कबहूं चित्त भंग न कीजे।
अनहद सबद गगन में गाजे। प्यंड पड़े तौ सतगुर लाजे॥[2]

अर्थात् गगन में अनाहद नाद की गर्जना हो रही है। खड़े, बैठे, सोते, हर घड़ी उसे सुनना चाहिये—कभी चित्त भङ्ग न करना चाहिये। निद्रा के वश असावधान अथवा अचेत होकर मृत्यु की ओर नहीं जाना चाहिये। यदि शरीर पात हुआ तो गुरु के लिए लज्जा की बात होगी। इसी प्रकार—

नाद नाद सब कोइ कहै। नादहि ले कौ बिरला रहै।
नाद बिन्द है फीकी सिला। जिहि साध्या ते सिधे मिला॥[3]

नीचे जाती हुई वायु को ऊपर लेकर अर्थात् ब्रह्माण्ड में ले जाकर द्वादशांगुल पवन का आयाम कर उन्मनावस्था में रहे। जब पवन सुषुम्ना मार्ग में गरजती हुई प्रवेश करती है, तब रात दिन वायु से ध्वनि निकलती है और अनाहत नाद सुनाई देता है।—(आत्म बोध) पृष्ठ १७५

मुख से नाद-नाद की रट लगाने वाले तो बहुतेरे हैं किन्तु नाद में लीन कोई बिरला ही रहता है। सामान्यतया नाद-बिन्दु शुष्क शिला के समान है किन्तु जिसने इन्हें साध लिया वह सिद्धावस्था में पूर्णतः लीन हो जाता है। अनाहत प्राप्ति के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

तब जांनिबा अनाहद का बन्ध, ना पड़ै त्रिभुवन नहीं पड़े कन्ध।
रक्त की रेत अंग थे न छूटे, जोगी कहता हीरा न फूटे॥[4]

जब त्रैलोक्य में योगी के लिए कोई बधा न हो और उसका शरीर-पात न हो। शुक्र शरीर से स्खलित न हो तथा साक्षात् ब्रह्म का अनुभव हो जाय तभी समझना चाहिये कि अनाहत नाद प्राप्त हो गया। आभ्यन्तरिक अनाहत नाद के निरन्तर बजने पर श्रृंगानिदादि वाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं रह जाती।

नाद हमारै बावै कवन, नाद बजाया तूटै पवन।
अनहद सबद बजाता रहै, सिध संकेत श्री गोरष कहै॥ गोरखबानी॥१०६॥

---

[1] गोरखबानी—सबदी २१।
[2] वही—१७७।
[3] वही—१८१।
[4] वही—८५।

शब्द-तत्व की महिमा बताते हुए 'ज्ञान-तिलक' में कहा गया है कि शब्द ही ताला है, जो ब्रह्म को बन्द किये हुए है और शब्द ही वह कुञ्जी है जिससे वह ताला खोला जाता है और परमात्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं। जैसे काँटे से काँटा निकाला जाता है और कुञ्जी से ताला खोला जाता है वैसे ही शब्द से शब्द भी खोला जाता है। इस प्रकार शब्द के द्वारा अन्तर में प्रकाश होता है।[1]

खेचरी मुद्रा—हठयोग प्रदीपिका (३-५३) में कहा गया है कि एक ही सृष्टिमय बीज, बीज है, एक ही खेचरी मुद्रा, मुद्रा है, एक ही निरालम्ब देव, देव है और एक ही मनोन्मनी अवस्था, अवस्था है। योगियों का कहना है कि खेचरी मुद्रा अति साधित है। इसमें योगी की ऊर्ध्वंगा जिह्वा सहस्रार-चक्रस्थित चन्द्र स्रवित अमृत का पान करती है। इसी अमृत-पान की क्रिया को विपर्यय में अमर वारुणी का पीना कहा गया है तथा जिह्वा को उलटकर तालु देश में ले जाना ही 'गोमांस भक्षण' है।[2]

मनोन्मनी अवस्था—मन के सुस्थिर होने की दशा का नाम मनोन्मनी अवस्था है। इसी को सन्त कवियों ने 'उन्मुनिरहनी' कहा है। राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीव-मुक्ति, सहजा और तुर्या, ये सब एक ही समाधि के वाचक शब्द हैं। इस स्थिति में पहुँचकर मन और प्राण का पूर्ण सम्मिलन हो जाता है और चञ्चल मन सुस्थिर हो जाता है। इन्द्रियों का स्वामी मन हैं, मन का प्राण, प्राण का लय और लय का नाद। मन और प्राण की लय लगने पर एक अभूतपूर्ण आनन्द की उपलब्धि होती है।[3] गोरखनाथ के पूछने पर "स्वामी कौण सो जोगी कैसे रहैं" मत्स्येन्द्रनाथ उत्तर देते हैं—

अवधू मन जोगी जै उनमनि रहै। उपजै महारस सब सुष लहै।
रस ही मांहि अषण्डित पोर। सतगुर सबद बंधावै धीर ॥[4]

ज्ञान-तिलक में कहा गया है कि जैसे चकमक पत्थर पर रगड़ करने से अग्नि झरती है अथवा जैसे दही को मथकर घी निकाला जाता है वैसे जब अपने आपा में आत्मा प्रकट हो जाय तभी समझना चाहिये कि गुरु ने शिक्षा दी है। इस संसार में तमाशबीन की तरह रहना चाहिये। उसमें लिप्त न होना चाहिये। देखता सुनता तो सब कुछ रहे परन्तु स्वयं कुछ बोले नहीं, स्वयं उस प्रपञ्च में न

---

[1] गोरखबानी, पृष्ठ २०७।

[2] हठयोग-प्रदीपिका ३।४६।८।

[3] वही ४।२६-३०।

[4] मछीन्द्र गोरखबोध, पृष्ठ २०१।

पड़े। योगियों के लिये गोरखनाथ का यह उपदेश है कि "तुम अपने आत्मा की रक्षा करो। हठपूर्वक खण्डन-मण्डन में न पड़ो। यह संसार काँटे के खेत की तरह है जिसमें पग-पग पर काँटे चुभने का डर रहता है इसलिए देख-देखकर डग रखना चाहिये।"[१] जगत के जंजाल को छोड़ो और योग को युक्ति से अमृत का पान करो तो बालक (पाप-पुण्य से निर्लिप्त) हो सकते हो। ब्रह्माग्नि से मूल को सींचने से जो फूल खिल चुका है, वह फूल भी कली हो जाता है।"[२]

योग-युक्ति के दो अंग—योग-युक्ति के मुख्यत: दो अङ्ग प्रचलित हैं—प्रथम 'करनी' और द्वितीय 'रहनी'। नाथ-पन्थ में प्रचलित हठयोग अथवा षट्कर्मों का सारा जंजाल 'करनी' के अन्तर्गत आता है। मन और इन्द्रियों का सहज निरोध ही हठयोग का मार्ग है। 'करनी' की यह सहज साध्यता बहुत कुछ 'रहनी' पर भी आश्रित है। योगी की यह 'रहनी' मध्यम मार्ग की बतलाई गई है। उसे भोग और त्याग में समत्व रखना चाहिये। भोग्य-पदार्थों के सम्मुख रहते हुए भी उनमें उसे आसक्त नहीं होना चाहिये। इसीलिये कहा है कि नौ लाख पतुरियाँ उसके आगे नाचती हों और सहज ज्ञान-वैराग्य का अखाड़ा उसके पीछे हो अर्थात् इन दोनों के बीच उसकी स्थिति हो। इस प्रकार की स्थिति में भी जब जोगी रमे अर्थात् साधना में रत रहे तब उसका भीतरी भण्डार भरपूर हो सकता है।[३] मन तथा शरीर की कृच्छ्रसाधना का नाथ-पन्थ में निषेध है। जहाँ इन्द्रियों का क्रीतदास बनकर योगसिद्धि दुर्लभ है, वैसे ही भौतिक आवश्यकताओं से सर्वथा निर्लिप्त रहना भी ठीक नहीं। इसीलिए मन के विषय में कहा गया है—

दाबि न मारिबा षाली न राषिबा जांनिबा अगनि का भेवं।
बूढ़ी हीं थै गुरवानो होइगी, सति सति भाषंत श्री गोरषदेवं॥

अपनी सच्ची 'रहनी' के ही बल पर नाथ गुरु परमात्मा के पास से आई हुई उस चिट्ठी को पढ़ लेने का दावा करते हैं जो न लेख में लिखी गई है और न कागज पर।[४] गुरु गोरखनाथ का स्पष्ट मत है कि—

कथणी कथै सो सिष बोलिये, बेद पढ़ै सो नाती।
रहणी रहै सो गुरू हमारा, हम रहता का साथी॥[५]

'भूतकला' और 'देवकला' अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता

---

[१] गोरखबानी—सबदी ७२।७३।

[२] वही—८७।

[३] वही—ज्ञानतिलक ३९।

[४] वही—सबदी २६४।

[५] वही—२७०।

दोनों का सन्तुलित योग ही नाथपन्थियों की 'रहनी' का सार तत्व है। उसके बिना योगसिद्धि दुर्लभ है—

देवकला ते संजम रहिबा, भूतकला आहारं।
मन पवन ले उनमन धरिया, ते जोगी ततसारं ।। गोरखबानी सबदी ३४।।

इसी सन्तुलन के अभाव में यदि योगी बन में चला जाता है तो भूख सताती है, नगर में जाता है तो माया आकृष्ट करती है, भर भर-कर खाने से शुक्रवृद्धि से काम-वासना सताती है अत: जल–बूँद से निर्मित काया को समत्वावस्था में लाने के लिए कहा गया है कि अधिक न खाना चाहिये और न भूखे ही मरना चाहिये। रात–दिन ब्रह्माग्नि को ग्रहण करना चाहिये। शरीर के साथ हठ नहीं करना चाहिये और न पड़ा ही रहना चाहिये।[1] जालन्धरनाथ की भी सीख है कि—

थोड़ो खाइ सो कलपै झलपै, घणों खाइ ते रोगी।
दुहू पखां की सन्धि विचारैं, ते को विरला जोगी ।।

इस प्रकार नाथ-पन्थ की 'रहनी' युक्ताहारविहार की रहनी है। पथ भ्रष्ट करने वाले मन को सतत किसी न किसी काम में लगाये रखना चाहिये क्योंकि इस मन की शक्ति अपरिमित है—

यहु मन सकती, यहु मन सीव। यहु मन पंचतत्व का जीव ।।
यहु मन लै जो उन्मन रहै, तौ तीनों लोक की बातें कहै ।।[2]

मन का निरालम्ब रहना दु:साध्य है। या तो वह इस संसार में आशा-पाश में बद्ध रहता है अथवा विरक्त अवस्था में रहता है। या तो मन कामिनी के क्रोड़ में विश्राम करता है या गुरु का आश्रय ग्रहण कर विरक्ति-लाभ करता है। अतः सतर्कता के साथ साधक को द्वितीय अवस्था की ओर मन को प्रेरित करना चाहिये।[3] गोरखनाथ जी ने सत्य ही कहा है कि जीव और सीव (शिव-ब्रह्म) एक ही स्थान के निवासी हैं, इसलिये जीवों के बदले द्रोही मन को मारना चाहिये जो बुद्धि रूपी वाटिका को उजाड़ डालता है। ऐसे अशरीरी वर्णहीन रक्त शून्य मन को गुरु-ज्ञान रूपी बाण से आहत करना चाहिये।[4] 'मारिबा रे नरा मन द्रोही' के आधार पर इस विद्रोही मन का संहार तभी सम्भव है जब हम उसकी रक्षा को अपना लक्ष्य बना लें अन्यथा जगत् के आकर्षण से उसे

---

[1] गोरखबानी—३०-३१।

[2] वही—५०।

[3] वही—१७२।

[4] वही—पद ३२।

एकदम रोकना सरल कार्य नहीं। किसी भी क्षण थोड़ा अवसर पाकर उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर हो सकती है। इसीलिए कहा गया है—'दाबि न मारिबा षाली न राषिबा।' मन की इस द्विविध रक्षा के लिए उसे सतत किसी न किसी काम में लगाये रखना आवश्यक है—

कै चलिबा पंथा। कै सीबा कंथा॥
कै धरिबा ध्यान। कै कथिबा ज्ञान॥

मन को स्थिर रखने के लिए गुरु गोरखनाथ का नाथपन्थियों के लिये आदेश है कि हँसना चाहिये, खेलना चाहिये, मस्त रहना चाहिये किन्तु कभी काम-क्रोध का साथ नहीं करना चाहिये। हँसना, खेलना और गीत भी गाना चाहिये किन्तु अपने चित्त को दृढ़ करके रखना चाहिये।[1] इस प्रकार नाथ-पन्थ में अस्वाभाविक जीवन से हटकर सहज जीवन बिताने की ओर संकेत किया गया है। एक स्थान पर नाथ गुरु ने ऐसा भी कहा है कि हँसना, खेलना और ध्यान धरना चाहिये। रात-दिन ब्रह्म-ज्ञान का कथन करना चाहिये। इस प्रकार संयमपूर्वक हँसते-खेलते हुए जो अपने मन को भंग नहीं करते वे निश्चल होकर ब्रह्म के साथ रमण करते हैं।[2] मन के स्थिरीकरण के लिए साधक को अपने आहार-विहार, एवं जीवनचर्या में बड़ी सतर्कता एवं उपयुक्तता बरतनी पड़ती है। गोरखबानी के निम्नलिखित संकेत योगी के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है—

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू, दिढ करि राषहु चीया।
काम क्रोध अहंकार निवारो, तो सबै दिसंतर कीया॥ सबदी २६॥
अवधू अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइगा रोगी।
छठे छमासे काया पलटिवा ज्यूं को विरला जोगी॥ सबदी ३३॥
गोरष कहै सुणहु रे अवधू जग में ऐसे रहणा—
आंषे देषिबा काने सुणिबा मुष थे कछू न कहणां॥ सबदी ७२॥
नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठि करि बाद न करणां।
यहु जग है काटै की बाड़ी, देषि देषि पग धरणां॥ सबदी ७३॥

जोगी के लिए नाना तीर्थों में भटकना भी अनावश्यक ही नहीं निस्सार बताया गया है। क्योंकि चलने-फिरने या पर्यटन से पवन की साधना रुक जाती हैं, नाद-बिन्दु और वायु-साधना शिथिल पड़ जाती है। योगी तो अपने भीतर ही 'अठसठ तीरथ' देखता है। यदि मन चङ्गा है तो उसके लिए कठौती में ही

---

[1] गोरखबानी—सबदी ७।
[2] वही—८।

गङ्गा है।[1] प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने नाथों की योग-साधना को सब विद्याओं में श्रेष्ठ 'काल बंचणी' विद्या माना है जिसके द्वारा साधक नौ द्वारों को बन्द कर दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में समाधिस्थ हो अमृत का पान कर फिर बूढ़े से बालक हो जाता है।[2] सचमुच विकारों के भीतर से निर्विकार तत्व को ग्रहण करना बड़ी कठिन साधना है। योगी अञ्जन अर्थात् विकारों के भीतर निरञ्जन अर्थात् विकारहीन शिव को प्राप्त करने की उसी प्रकार चेष्टा करता है जैसे तिल में से कोई तेल निकाल लेता है। मूर्त जगत् के भीतर अमूर्त परमतत्व का स्पर्श पाने के पश्चात् ही योगी की वह निरन्तर क्रीड़ा प्रारम्भ होती है जो चरम आनन्द है—

> अंजन मांहि निरंजन भेट्या तिल सुष भेट्या तेलं।
> मूरति मांहि अमूरति परस्या, मैं निरंतरि षेलं॥ गो० ज्ञान० ४१

इस प्रकार नाथों की योग-साधना का दृढ़ कण्ठ-स्वर उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदार बनाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कण्ठ स्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नहीं आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलाई नहीं जा सकी है।[3]

●●●

---

[1] गोरखबानी—सबदी १३५, १६३।

[2] कल्याण योगांक—पृष्ठ ७०६।

[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ १८७।

ग. सन्त-साहित्य में योग-साधना

योग का मूल—मनुष्य का उद्भव असीम अनन्त विश्वतत्व से होने के कारण उसके हृदय में निरन्तर विश्वात्मा से युक्त होने की व्याकुलता चलती रहती है। वह लहर के समान अपने सर्वस्व को विश्व सागर में लीन करने के लिये लालायित एवं विक्षुब्ध रहता है। समर्पण की यह व्याकुलता ही योग का मूल है। विद्वानों ने इस मिलन की भूमिका में परस्पर साधर्म्य भाव का होना आवश्यक माना है तथा उसकी पूर्ति समजातीय भाव—'ज्यों जल में जल पेसि न निकसे' और पस्पर परिपूरक भाव—'जैसे शिव के साथ शक्ति का, पुरुष के साथ प्रकृति का' से ही सम्भव माना है। आचार्य सेन महोदय ने कहा है कि "इस प्रकार की परिपूरकता के क्षेत्र में एक-दूसरे के लिए व्याकुल आकांक्षा रहती है, इसीलिए ऐसा योग एक साधन मात्र न होकर एक अनुपम रस-वस्तु हो उठता है।"[1]

परम्परा प्राप्त योग-साधना—पिछले पृष्ठों में योग की क्रमागत प्राचीन परम्परा पर विचार करते हुए नाथ-पन्थ में प्रयुक्त योग-साधना का विश्लेषण किया जा चुका है। परवर्ती सन्त कवियों ने नाथ-सम्प्रदाय की शृंखला में ही अपनी योग-साधना की कड़ियाँ जोड़ीं किन्तु उसका स्वरूप युगानुकूल परिस्थितियों एवं प्रभावों से अछूता न रह सका और नाथपन्थियों की हठयोग की साधना का परम्परागत रूप ही सन्त-साहित्य की योग साधना में ब्रह्मानन्द के मिलन-सुख को स्पष्ट करने के लिए प्रतीक रूप में सुरक्षित रह सका। सन्त-कवियों की बानियों में हमें योगपरक शब्दावली तथा रूपक और प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग देखने को मिलता है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, षट्चक्र, त्रिकुटी, दसम दुआरि, अलिपत गुफा, अनहदि सबदु, सुंनि समाधि, सहजि, अजपा-जाप एवं सहस्रार-चक्र में स्थित अमृतकुण्ड के रस-पान की चर्चा मिलती है।

सन्तों ने नाथपन्थी हठयोग की प्रचलित साधनाओं का उल्लेख करते हुए भी स्वानुभूतिमूलक सहजयोग पर ही विशेष बल दिया है। सन्त कबीर के सम्बन्ध में आचार्य सेन महोदय का मत है कि "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिए वे ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी,

---

[1] कल्याण योगाङ्क—पृष्ठ २६८।

वैष्णव तथा योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है। कबीर के योगमतवाद के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अंशों में इसे मान लिया है, कुछ अंशों तक विशेष भाव से आत्मसात् कर लिया है, कुछ अंशों तक छोड़ दिया है और फिर किसी-किसी अंश पर कठोर प्रहार भी किया है।"[1]

कबीर के हमें ऐसे बहुत से योगपरक पद मिलते है जिसमें परस्पर विरोधी भावों की झलक मिलती है। कहीं वे हठयोग की क्रियाओं की बड़े विस्तार से चर्चा करते हुए दृष्टिगत होते हैं तो कहीं ऐसी शुष्क साधना करने वालों पर व्यंग्य करते हैं तथा 'सहज-शील' का उपदेश देते हैं। कायिक-साधना की अपेक्षा मानसिक-साधना पर वे जोर देते हैं। इस प्रकार का अन्तर उनकी अन्तरंग साधना की विकसित-परिष्कृत रुचि का परिचायक है। अपरिपक्व स्थिति में ये योगियों के आतङ्क से असम्पृक्त न रह सके। हठयोगी कायिक क्लिष्ट साधना भी की एवं तत्सम्बन्धित पदों की रचना भी, किन्तु परीक्षण करने के बाद उनके हाथ कुछ न लगा अतः उसे छोड़कर उन्होंने स्वानुभूतिमूलक सहज योग को साधना की अन्तिम स्वीकृति के रूप में स्वीकार किया।

योग की प्राथमिक स्थिति—एक स्थल में उन्होंने कहा है कि हे बैरागी ! पवन को उलटकर (प्राणायाम के द्वारा) शरीर के अन्तर्गत छः चक्रों को (कुण्डलिनी से) बेधकर अपनी आत्मा में शून्य (ब्रह्म-रन्ध्र) के प्रति प्रेम जगा और उस ब्रह्म की खोज कर जो आवागमन एवं जन्म-मरण से अतीत है। मेरे मन ! तू उलटकर अपने आप में समा जा। गुरु की कृपा से तुझे दूसरी ही बुद्धि मिल गई है अन्यथा तू अभी तक बेगाना ही था।[2] बटुवा तो एक (शरीर) है जिसमें बहत्तर (नाड़ियों की) आधारियाँ हैं और जिसका एक ही (ब्रह्म-रन्ध्र) द्वार (मुँह) है। ऐसे बटुवे के साथ जो नौ-खण्ड की पृथ्वी माँग लेता है, वही सारे संसार में सच्चा योगी है और ऐसा योगी नवोनिधि प्राप्त करता है जो मूलाधार चक्रस्थित ब्रह्म को सहस्त्रार में ले जाता है।[3] इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के संगम स्थल को 'त्रिकुटी' कहा जाता है। कुण्डलिनी के लय हो जाने को सूर्य-चन्द्र का संयोग होना बतलाया जाता है। इसी आधार पर कबीर ने कहा है कि प्राणायाम के द्वारा पवन को उलटकर षट्-चक्रों को बेधते हुए सुषुम्ना को भर दिया। इससे सूर्य-चन्द्र का संयोग हो गया और ब्रह्माग्नि

---

[1] कल्याण योगाङ्क (कबीर का योग) श्री क्षितिमोहन सेन—पृष्ठ २९६।

[2] सन्त कबीर—रागु गउड़ी ४७।

[3] वही—रागु आसा ७।

प्रज्वलित हो उठी तथा उसमें समस्त कामनाएं, वासनाएं और अहंकार जल कर भस्म हो गये।[1] अन्यत्र उन्होंने विशुद्ध हठयोगी क्रिया-साधना को अपनाने की शिक्षा देते हुए कहा है कि जब मैं उन्मन मुद्रा में रहकर विशुद्ध हुआ तब पवन (प्राणायाम) पर अधिकार पा लिया तथा जन्म-मरण-जरा से परे हो गया। जब मैंने शक्ति के सहारे (ऊपरी प्रवृतियों को) उलट लिया (अन्तर्मुखी कर लिया) तब गगन (ब्रह्म-रन्ध्र) में प्रवेश पा सका। जब मैंने कुण्डलिनी (सर्प) से (षट्) चक्र बेध लिये तब मैं एकाकी स्वामी (ब्रह्म) से भेट कर सका। मोहासक्ति से रहित हो जाने पर मेरे (सहस्त्रदल स्थित) चन्द्र ने (मूलाधार स्थित) सूर्य का ग्रास कर लिया। कुम्भक की भरपूर साधना करने पर शून्य में अनाहत की वीणा बज सकी।[2] इस प्रकार योग की इस प्रथम स्थिति में नाथपन्थी प्राणायाम कुण्डलिनी-उद्दीपन, षट्चक्र भेदन, तथा अनहद-नाद के श्रवण की उन्होंने पर्याप्त चर्चा की है। वे स्पष्ट कहते हैं कि पवन-साधन से मेरे मन में सुख का बानक बन सका है और मैं इसे योग-प्राप्ति के फलस्वरूप ही समझता हूँ। गुरु ने मुझे योग का सूक्ष्म मार्ग दिखलाया जिसमें इन्द्रिय रूपी चञ्चल मृग आकर चोरी से चर जाया करते हैं। मैंने अपने (शरीर के) दरवाजे बन्द कर लिये और (उन मृगों को स्थिर करने के लिये) अनाहत बाजे बजाये। कुम्भ के कमल (सहस्त्रदल) में जो जल भरा हुआ था, उसे नष्ट कर मैंने चैतन्य और ऊँचा किया तभी मुझे (मेरे मन को) सन्तोष हुआ।[3]

द्वितीय स्थिति—द्वितीय-स्थिति में पहुँच जाने पर उनके अस्पष्ट जटिल वर्णनों में सरलता आ जाती है। शुष्कता के स्थान पर सरसता का सञ्चार होने लगता है, एक अनोखी लालसा से उनकी आत्मा ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिये तड़प उठती है। फिर भी वे नाथपन्थी विधानों से पूर्ण मुक्ति नहीं पा सके—

> अष्ट कँवल दल भींतरा, तहाँ श्री रंग केलि कराइ रे।
> सतगुर मिलै तो पाइये, नहीं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे॥
> कदली कुसुम दल भींतरा, तहाँ दस आंगुल का बीच रे।
> तहाँ दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे॥
> बंक नालि के अंतरै, पछिम दिसा की बाट रे।
> नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे॥

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ७।

[2] सन्त कबीर—रागु रामकली १०।

[3] वही—रागु सोरठि १०।

गगन गरजि मघ जोइये, तहाँ दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहै, तराँ भीजत है सब सन्त रे ॥[1]

तृतीय स्थिति—इस स्थिति में उनको योग के जटिल बन्धनों से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है और वे सहज योग साधना में योग की चरम परिणति देखने लगते हैं। काय-क्लेश के स्थान पर वे जीवन के सहज स्वाभाविक कार्य-व्यापारों पर विश्वास करने लगते हैं। इसी स्थिति में उन्होंने योग के साथ प्रेम का संयोग कराके अपने यौगिक वर्णनों में एक विचित्र मधुरता का सन्निवेश कर दिया है—

हे पण्डित ! एक अकथनीय आश्चर्य सुनो। सुर-नर-गन्धर्व समूह को मुग्ध करने वाले तथा त्रिभुवन को एक शृंखला में बाँधने वाले उस राम के अनाहत की यन्त्रिका बज रही है जिसकी दृष्टि मात्र से आत्मा उस नाद में लीन हो जाती है। यह अकाश ही एक भट्ठी है जो शब्द की सिंगी और चुंगी से जागृत की जाती है। यह पृथ्वी ही एक स्वर्ण-कलश है जिसमें (ब्रह्मानन्द रस की) एक निर्मल धारा चू रही है और जो शनैः शनैः रस में रस की मात्रा बढ़ाती जाती है। पवन ही इस रस के लिए प्याले के रूप में सुसज्जित किया गया है। बोलो, तीनों लोकों में इस रस का पीने वाला एक योगिराज कौन है ? पुरुषोत्तम का ज्ञान इस प्रकार प्रकट हुआ है कि कबीर उसी रङ्ग में रञ्जित हो गया है। समस्त संसार तो भ्रम में भूला हुआ है। केवल मेरा मन उस रामरूपी रसायन में मतवाला हो गया है।[2] कहीं वे समस्त यौगिक विधानों पर ही तीव्र व्यंग्य करते हुए पूछने लगते हैं कि (शरीर के नष्ट हो जाने पर) जहाँ जो कुछ था, वहाँ अब कुछ नहीं है–पाँच तत्व भी वहाँ नहीं रह गये। ऐ बन्दे, मैं पूछता हूँ कि इड़ा, पिंगला और सुषुम्नायें आवागमन में कहाँ चली जाती हैं ? तागा (साँस), टूटने पर आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) नष्ट हो जाता है, फिर यह तेरी बोलने की शक्ति कहाँ समा जाती है।[3]

यहाँ कबीर नाथपन्थियों की योग साधक से पृथक् योग की एक नई परिभाषा देते हैं। इस नवीन योग साधना करने वाले योगी (स्वयं) का परिचय देते हुए वे कहते हैं—श्रुति और स्मृति ही मुझ योगी के कुण्डल और मुद्रा है तथा समस्त क्षितिज मेरे पहनने का वस्त्र। मेरा उठना-बैठना शून्य गुफा (ब्रह्मरन्ध्र) ही में है और मेरा सम्प्रदाय कर्मकाण्ड (कलुष) से रहित है। ब्रह्माण्ड और उसके खण्ड

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ४।
[2] सन्त कबीर—सिरी रागु २।
[3] वही—रागु गउड़ी ५२।

मेरी सिंगी और पृथ्वी मेरा बटुवा है। सारा संसार ही भस्म से परिपूर्ण है। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीन क्षणों में हो मेरी त्राटक लगी हुई है। मेरे शरीर-तन्त्रि के सुस्थिर हो जाने पर अनाहत नाद की अटूट स्वर-साधना चल रही है जिसको सुनकर मन आनन्द से भर जाता है। कबीर का कथन है कि (मेरे सदृश) जो बैरागी खेल जाता है (साधना करता है) वह आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[1] ऐसा योगी ध्यान को सुई बनाकर उसमें शब्द का तागा डालता है और ज्ञान रूपी कथा को सीता है। वप पञ्चतत्व का तिलक करता है और गुरु के दिखाये हुए मार्ग पर चलता है, दया की फावड़ी से अध्यात्म-भूमि की सफाई करता है, माया की धूनी में ज्ञान दृष्टि की अग्नि प्रज्वलित करता है। अन्तर में ब्रह्म-भाव को धारण कर चारों युगों का त्राटक लगाता है। उसका सबसे बड़ा योग राम नाम है, वही उसका प्राण है। कबीर के कथनानुसार जो उस राम की कृपा को धारण करता है वही सच्चा निशान लगा सकता है।[2]

योग के कष्टसाध्य आचारों की व्यर्थता—कहीं वे कुण्डलिनी-जागरण की व्यर्थता बतलाते हैं तो कहीं समाधि तक पर व्यंग्य करने से नहीं चूकते। उनका कथन है कि ब्रह्मरन्ध्र से एक बूंद भी नहीं बरसती और नाद न जाने कहाँ समा गया ?[1] परब्रह्म परमेश्वर परमहंस को पृथ्वी से उठा ले गये। सुरति-निरति की साधना करने वाले तथा भाँति-भाँति की कथावार्ता कहने वाले, देह के साथ रमणशील बाबा कहाँ गये।[3] इसी प्रकार योगी की कुण्डलिनी-साधना पर फटकार बताते हुए कहते हैं कि अरे योगी ! तुम सर्पिणी-सर्पिणी क्या कहते हो। सर्पिणी तो सचमुच प्रबल माया है जिसने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को भी छल लिया। त्रिभुवन को डसने वाली, निर्मल जल (आत्मा) में प्रविष्ट सर्पिणी को मारो।[4] कबीरदास जी के मत से सच्चा योगी वही है जिसकी मुद्रा मन में रहती है और जो अहर्निशि जागरण करता रहता है। मन ही उसका आसन, समाधि, जप-तप, कहना-सुनना, खप्पर और सिंगी है तथा मन में ही बाजते अनहद-नाद को वह रसिक सुना करता है। पञ्च इन्द्रियों के विषयों को जला कर जो उनकी भस्म अपने शरीर में मल सके, वही लंका जला सकता है अर्थात् वही योग-सिद्धि प्राप्त कर सकता है—

---

[1] सन्त कबीर—रागु गउड़ी ५३।

[2] वही—रागु आसा, ७।

[3] वही—१८।

[4] वही—२०।

सो जोगी जाके मन मैं मुद्रा। रात-दिवस ना करई निद्रा॥
मन में आसन मन में रहणां। मन का जप-तप मनसूं कहणां॥
मन मैं खप्पर मन मैं सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंज-परजारि भसम करि बंका। कहै कबीर सो लहणै लंका॥
—क० ग्र० पद २०६॥

कबीर की सुचिन्तित योग साधना—कबीर द्वारा सुचिन्तित 'अवधू जोगी' जग से न्यारा होता है जो निरति की मुद्रा और सुरति की शृंगी बनाकर नाद की धारा को कभी भी खण्डित नहीं करता। चेतना की चौकी में आसीन होकर वह संसार की ओर देखता भी नहीं और निरन्तर आकाश का वासी बन आसनस्थ होकर महारस का पान करता है और कन्था में रहता हुआ दिल के दर्पण में देखता है। ब्रह्माग्नि में काया को भस्मसात् कर त्रिकुटी के संगम में जागता रहता है और ऐसे ही योगीश्वर की 'लौ' सहजशून्य से लगी रहती है।[1] एक अन्य स्थल में वे अपने नवीन योग की चर्चा करते हुए कहते हैं कि मौन उस योगी की मुद्रा है, दया झोली है, विचार ही हाथ का आभूषण है, तन-मन का संयम ही उसका फटी कन्था को सीना है।[2] कबीर ने अपने इस नवीन योग का प्रेम के साथ सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है। वे कहते हैं—

कोई है रे सन्तु सहज सुख अन्तरि जाकउ जपु तप देउ दलाली रे॥
एक बूंद भरि तनु-मनु देवउ जो मदु देउ कलाली रे॥

उस एक बूँद महारस के बदले में वे तीर्थ, व्रत, संयम-नियम तथा देहस्थित सूर्य और चन्द्र रूपी आभूषण देने को तैयार हैं तथा आत्मा रूपी प्याले में उसे भर कर पीने के लिये प्रस्तुत हैं। उसकी बहती हुई निर्मल धारा में उनका मन शुद्ध हो गया है। वे अन्य सभी रसों को सारहीन समझते हैं, एक यही महारस सच्चा है—'कहि कबीर सगले मद छूछे इहै महा रसु साचो रे।'[3] इस मंहगे 'राम रसायन' को पीने का सौभाग्य बड़े भाग्य से मिलता है। ईश्वर और गौरी ने इसे पिया था और वे उसके अनिर्वचनीय आनन्द की मदिरता में डूब गये थे—

यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, राम तनीं मतवारी रे॥

ऐसे अमूल्य रस की प्राप्ति भी सहज साध्य नहीं। चन्द्र और सूर्य की भट्ठी में सुषुम्ना रूपी चिगवा की सहायता से इस अमृत रस की उत्पत्ति होती है जिसके

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ६९।
[2] सन्त कबीर—रागु रामकली ७।
[3] वही—१।

पीने से समस्त आसक्तियाँ निर्मूल हो जाती हैं। जो एक बार इसे पी लेता है उसकी वाणी स्वाद बताने के पूर्व ही अवरुद्ध हो जाती है। कबीर के कथनानुसार इस महार्घ रामरसायन को पीने का भगवद्दत्त सौभाग्य किसी बिरले को होता है।[१]

सिक्ख गुरु और हठयोग की साधना—गुरुओं की वाणी में हमें नाथ-पन्थियों की हठयोगपरक साधना की झलक मिलती है। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में एक स्थान में कहा गया है कि "हे मेरे मन! किसी प्रकार का भ्रम न करो और मनमाने अमृत रस का पान करो। वह अमृत धारा गगन में दसवें द्वार (ब्रह्म-रन्ध्र) पर लहरा रही है। अहर्निशि जागते हुए जीवन्मुक्त होकर और पाँचों चोरों को शब्द-वाण से मारकर 'अलिपत गुफा' में निर्लिप्त भाव से लौ लगाये रहो। सांसारिक आसक्तियों में मन को न भटकाकर निरन्तर 'सहज' में समाये रहो। जो अवधूत सद्गुरु की सीख ग्रहण कर निरन्तर जागता रहता है उसी का तत्व से साक्षात्कार होता है। संसार तो अज्ञान में लिप्त आवागमन के बन्धन में पड़ा रहता है। दिन-रात अनहद का संगीत ध्वनित हो रहा है जिसे गुरु की कृपा से सुनकर उस 'अज्ञेय' को जाना जा सकता है। 'सुन्न-समाधि' में मन को स्वाभाविक रूप से अनुरक्त करके तथा आसक्तियों का त्याग करके द्वैत-भावना को मिटाया जाता है।"[२] गुरु अमरदास की वाणी है कि हरि ने जीव को गुफा—शरीर के अन्दर रखकर पवन का बाजा बजाया अर्थात् श्वास-क्रिया का सञ्चार किया। बाजा-बजाकर नव द्वारा तो उसने प्रगट कर दिये एवं दसवें द्वारा को गुप्त ही रखा किन्तु गुरु के द्वारा अपनी श्रद्धा-भक्ति देकर मैंने वह द्वार देख लिया—

> बजाइआ बाजा पउण नउ दुआरे परगटु कीए दसवा गुपतु रखाइआ।
> गुर दुआरे लाइ भावनी इकना दसवा दुआरु दिखाइआ॥[3]

गुरु-वाणी है कि 'सुंन' में निरन्तर ध्यान को केन्द्रित करना चाहिये ताकि न हंस (जीव) उड़े और न शरीरपात हो। सहज-गुफा ही को अपना सच्चा घर समझना चाहिये।[४] अन्यत्र भी कहा गया है—

> नउ दरवाजे काइआ कोटु है, दसवै गुपतु रखीजै।
> बजर कपाट न खुलनी, गुर सबदि खुलीजै॥

---

[१] कबीर-ग्रन्थावली—पद ७१।

[२] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—रामकली, महला १, पृष्ठ ६०४।

[3] सन्तसुधा सार—गुरु अमरदास, पृष्ठ २६७।

[४] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—रामकली, सिध गोसटि, महला १, पृष्ठ ६३६।

अनहद बाजे धुनि बजदे, कुर सबदि सुणीजै।
तितु घटि अन्तरि चानणा, करि भगति मिलीजै ॥[1]

क्रिया-बहुल शुष्क योग के प्रति अनास्था—योग के प्रति अपार श्रद्धा भाव होते हुए गुरुओं को भी कबीर की भाँति क्रियाबहुल शुष्क हठयोग में कोई आस्था नहीं है। बिना भक्ति के वे इन क्रियाओं को शारीरिक व्यायाम मात्र मानते हैं। भक्तिहीन योग उनकी दृष्टि में पाखण्ड एवं अहंकार की वृद्धि करने वाला होता है, अतः ऐसी योग-साधना के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। योग की इसी निस्सारता पर प्रकाश डालते हुए गुरु नानकदेव ने कहा है—पवन को ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ाकर लीन हो जाते हो और धौति, वस्ति, नेवली, नेति, त्राटक, कपालभाति आदि यौगिक षट्कर्म करते हो किन्तु बिना भक्ति के तुम्हारी ये सारी प्रयत्न साध्य क्रियाएँ व्यर्थ हैं। बिना राम नाम के प्राणायाम की साधना लुहार की धोकनी से अधिक नहीं। जब तक मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद की प्रचण्ड पँचाग्नि प्रज्वलित है तब तक हठयोग की कोरी क्रियाओं से कुछ होने का नहीं। अन्तर के चोर को हटाये बिना परमात्म-रस का स्वाद कैसे लिया जा सकता है। सद्गुरु की शिक्षा से ही काया-गढ़ पर विजय पाई जा सकती है।[2] चित्त की वृत्तियों का हठपूर्वक निग्रह करने से एवं व्रतोपवासादि करने से शरीर अवश्य क्षीण हो जाता है किन्तु उस दुर्लभ रस की उपलब्धि नहीं। वस्तुतः राम नाम के समान न तो कोई योग है और न साधन—

हठ निग्रह करि काइआ छीजै। वरत तपन करि मनु नहीं दीजै ॥
राम नाम सरि अवरु न पूजै ॥[3]

सच्चा योगी—गुरु नानकदेव ने सच्चे योगी के वेषादि की व्यवस्था करते हुए कहा है कि तू सन्तोष और शील की मुद्राएँ बना और उद्यम की झोली। परमात्मा के ध्यान का भस्म धारण कर काल का सतत स्मरण ही तेरी कथा हो। अपने आचरण को कुमारी कन्या की भाँति पवित्र रख और श्रद्धा को अपना दण्ड बना ले। सब को तू अपनी ही जमाता का समझ, मानो सारे मनुष्य तेरे 'आ ई-पन्थ' के ही है। यह मान कि मन को जीत लिया तो सारे संसार को जीत लिया। प्रमाण उसी को कर जो 'आदि ईश' है। जो

---

[1] गुरुग्रन्थ साहिब—रामकली, सिध गोसटि, महला २, पृष्ठ ९५४।
[2] वही—रामकली, महला १, पृष्ठ ९०५।
[3] वही—रामकली, महला १, पृष्ठ ९०५।

आदि हैं, जो शुभ्र है, जो अनादि है तथा जो अनन्त और युग-युग से 'एक रूप' है। आगे वे कहते हैं—आध्यात्मिक ज्ञान का तू भोजन कर तथा दया को अपना भण्डारी बना ले। घट-घट में जो सतत नाद प्रवाहित है वही तेरी सारंगी है। जिसने सारी सृष्टि को (अपने पाश में) नाथ रखा है, वही तेरा नाथ (स्वामी) है—

> मुन्दा सन्तोखु सरम पतु झोली धिआन की करहि बिभूति।
> खिंथा कालु कुआरी काइआ, जुगति डण्डा परतीति॥
> आई पन्थी सगल जमाती, मनि जीतै जगु जीतु॥
> आदेसु तिसै आदेसु आदि अनील, अनादि अनाहति जुगु-जुगु एको वेसु॥
> भुगति गिआनु दइआ भण्डारणि घटि घटि बाजहि नाद।
> आपि नाथु नाथी सभ जाकी, रिद्धि सिद्धि अवरा साद॥[1]

सच्चा योग—सच्चे योग पर अपने विचार प्रकट करते हुए गुरु नानकदेव ने कहा कि कन्था पहनने, दण्ड धारण करने, भस्म रमाने एवं कानों को फड़वाकर कुण्डल पहनने तथा शृंगी बजाने में योग की साधना सिद्ध नहीं होती। वास्तविक योग तो आसक्तियों के बीच निर्लिप्त भाव से रहकर भगवान् में लीन होने में है। योग न तो नगर के बाहर मढ़ी अथवा श्मशान के निवास में है, न ध्यान एवं तीर्थ-सेवन में वरन् माया के बीच रहता हुआ भी जो तटस्थ भाव से हरि के साथ रमण करता रहे, वही सच्चा योगी है। सद्गुरु के मिलते ही सारे संशय और भ्रम दूर हो जाते हैं, विषय-कषायों में दौड़ता मन रुक जाता है, परमात्म-प्रेम का निर्मल निर्झर फूट निकलता है और सहज ही उसमें ध्यान लग जाता है। इसमें साधक को किसी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ता। अनायास सारी क्रिया स्वत: होती रहती है। इसी शरीर में प्रभु का परिचय मिल जाता है। सच्चा-योगी तो वही है जो जीवन्मृतक हो कर वासनाओं से एकदम ऊपर उठ जाता है।[2] गुरु नानक के स्वर में स्वर मिलाते हुए गुरु अमरदास ने भी कहा है कि श्रम अथवा लज्जा की मुद्रा कानों में धारण करो, दया का कन्था पहनो, जन्म-मरण को खेल समझने के विचार की भस्म मलो। जो इस प्रकार की वाह्याडम्बर शून्य आन्तरिक साधना कर सके, वही सच्चा योगी है। हे योगी! रात-दिन अटूट भाव से अनाहत-ध्वनि को प्रति-ध्वनित करने वाली किंगरी बजाओ ताकि परमात्मा से अविच्छिन्न प्रेम बना रहे। सत्य और सन्तोष की कन्था-झोली बनाकर नामामृत का निरन्तर

---

[1] सन्त सुधासार—जपु जी २८-९, पृष्ठ २३०-१।

[2] श्री गुरु-ग्रन्थ—सूही, महला १, पृष्ठ ७३०।

पान करते रहो। परमात्मा के ध्यान को दण्ड तथा 'सुरति' की शृंगी बनाओ। बुद्धि की दृढ़ता ही तुम्हारा आसन बने जिससे सारी द्वैत-भावना नष्ट हो जाय। शरीर रूपी नगर में नाम की भिक्षा माँगो, तभी योग की प्राप्ति होगी। किंगरी को यन्त्रवत् बजाने से न तो तुम्हारा अहंकार नष्ट होगा और न शान्ति मिलेगी, फिर अशान्त चित्त से परमात्मा की प्राप्ति कैसे सम्भव है? परमात्मा से भय और प्रीति यही किंगरी के दो तुम्बे बनाओ तथा अपने शरीर को दण्ड-गुरु से दीक्षित होने पर ही इस प्रकार की किंगरी बजा सकते हो और इसी से तृष्णा की निवृत्ति हो सकती है। जो परमात्मा के आदेश (हुकमु) के अनुसार कार्य करता है, वही सच्चा योगी है।[1]

दादू की प्रेमानुभूति संवलित योग-साधना—दादूदयाल की साधना अनुभूति पर आश्रित होने के कारण हठयोगियों की कष्ट-साध्य क्रिया-साधना में विश्वास नहीं करती। यही कारण है कि योगपरक विविध क्रियाओं की सूचना देने वाले पदों का उनमें अभाव है। फिर भी गुरु नानक की भाँति उनकी बानियों में भी हमें अनेक शब्द मिलते हैं जो योग-साधना के प्रति उनकी जानकारी का परिचय दे जाते हैं। दादू के अनुसार उनकी साधना की प्रथमावस्था तन एवं मन का मानमर्दन कर उन्हें अपने वश में लाना है तभी त्रिगुणात्मिक प्रकृति से उत्पन्न आकार-प्रकार के सभी विकास प्रभावहीन हो जाते हैं, मन के सहज की दशा में प्रवेश पा जाने से आत्मा प्रेम-रस का आस्वादन करने लगती है।[2] इस साधना का मार्ग शून्यमय रहता है, सुरति को चैतन्य के पथ पर ले चलना पड़ता है और वह लय में स्वयं को लीन किये रहती है। दादू के मत से न तो इसे योग-समाधि का मार्ग कहा जा सकता है और न भक्ति योग का, इसे वे इन दोनों के बीच का 'सहज मार्ग' कहते हैं जहाँ किसी प्रकार की साधना-विशेष का प्रयोग न करने पर भी साधक को समाधि का सा आनन्द मिला करता है और वह मृत्यु के प्रभाव से भी अप्रभावित रहता है।[3] एक स्थल पर योग-साधना की क्षीण झलक उपस्थित करने वाला पद मिलता है किन्तु उसका पर्यवसान प्रेमानुभूति में ही होता है।

इब तौ ऐसी बनि आई। राम चरण बिन रह्यौ न जाई॥
साई कूं मिलिबे के कारण, त्रिकुटी संगम नीर नहाई।
चरण कंवल की तहँ ल्यौ लागे, जतन जतन करि प्रीति बनाई॥

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ—रामकली, महला ३, पृष्ठ ९०८।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १, लै को अंग ४।

[3] वही, भाग १, लै को अंग १३, १०।

जे रस भीना छावरि जावै, सुन्दरि सहजै संगि समाई।
अनहद बाजे बाजरण लागे, जिभ्या-हीरणे कीरति गाई ॥
कहा कहौं कछु बरणि न जाई, अविगति अन्तरि जोति जगाई।
दादू उनकौ मरम न जाणै, आप सुरंगे बैन बजाई ॥[1]

अन्यत्र वे कहते हैं कि बाबा ऐसा योगी कौन है कि अंजन (माया) का त्याग कर निरञ्जन (अकलुष, निर्लिप्त) रहे और नित्य सहज रूप से रस का भोग करता रहे। छाया-माया से विवर्जित होकर, पिण्ड-ब्रह्माण्ड से भी न्यारा बनकर, चन्द्र-सूर्य से भी अगम और अगोचर उस तत्व का ग्रहण कर विचार करे। द्वैतभाव से रहित कभी पाप-पुण्य में लिप्त न हो तथा धरती और आकाश से ऊपर उठकर उस तत्व में लीन हो जाय। वह कभी जीवन-मरण की वाञ्छा न करे, उसे आवागमन के चक्र में पुनः न पड़ना पड़े, वह उसके साथ निवास करने लग जाय जहाँ वह पानी और पवन के स्पर्श से असंपृक्त बना रहे। जहाँ वह गुण और आकार की पहुँच से परे होकर एकाकी स्वयं में रमण करे और इस प्रकार उस परम पुरुष से मिल जाय।[2] आगे वे परम योग के कतिपय लक्षणों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

इहै परम गुर जोगं, अमी महा रस भोगं।
मन पवना थिर साधं, अविगत नाथ अराधं ॥
तहँ सबद अनाहत नादं ॥१॥
पँच सखी पर मोधं, अगम ज्ञान गुर बोधं।
तहँ नाथ निरंजन सोधं ॥२॥
सतगुर माँहि बताया, निराधार घर छावा।
तहँ जोति सरूपी पावा ॥३॥
सहजै सदा प्रकासं, पूरण ब्रह्म बिलासं।
तहँ सेवग दादू दासं ॥४॥[3]

दादू ने अपने भीतर ही 'पिव' को पा लिया है। जो उसमें पूर्णतः समा गया है, वही इस रहस्य को जान सकता है। जहाँ वह अखण्ड ज्योति जगती है, वहीं राम नाम से लगन लगती है तथा वहीं निकटस्थ राम का पूर्ण निवास है तथा "तिरबेणी तटि तीरा, तहँ अमर अमौलिक हीरा। उस हीरे सूँ मन लागा, तब भरम गया भौ भागा।" और तभी पूर्ण, परम निधान 'हरि' को सहज

---

[1] दादूदयाल की बानी—भाग २, पद ७२।
[2] वही—पद २१०।
[3] वही—भाग १, पद २१२।

भाव से लखा जा सकता है।[1] एक पद में वे निरंजन योगी के विषय में कहते हैं कि वह सर्वत्र एकाकी रमण करता है और खप्पर, झोली, डण्डा अधारी, मढ़ी, शृंगी, मुद्रा, विभूति, कन्था जय, जप और आसनादि के बन्धनों में नहीं बँधता। वह काया रूपी बनस्थली में पाँचों चेलों के साथ ज्ञान की गुफा में एकाकी निवास करता है। उस आत्मा रूपी योगी का धीरज ही कन्था तथा स्थिरता ही आसन है, सहज भाव ही मुद्रा और 'अलख' ही अधारी हैं। अनहद नाद ही शृंगी हैं। वह दर्शन के निमित्त निरन्तर जागरण करता हुआ निरञ्जन की नगरी में भिक्षा माँगता है।[2] दादू को अपने गुरु के द्वारा सन्देह को निवारण करने वाले मृत्युञ्जयी ज्ञान की प्राप्ति हुई है जो इस प्रकार है—

मन पवना गहि आतम खेला, सहज सुन्नि घर मेला।
अगम अगोचर आप अकेला, अकेला मेला खेला॥
धरती अम्बर चन्दन सूरा, सकल निरन्तर पूरा।
सबद अनाहद बाजहि तूरा, तूरा पूरा सूरा॥[3]

दादू ने उसे काया के अन्तर्गत त्रिकुटी के तोर अनहद की वेणु बजाकर सहज भाव से पा लिया है, वह उसके रोम-रोम में समा गया है, सुख के सरोवर में मन रूपी भौंरे ने कमल का रस (ब्रह्मरंध्र से स्रवित अमृत) रूपी लिया है, वहाँ आत्मा रूपी हंस मोती चुगते हैं और उनके इस आनन्द को प्रियतम देखता है।[4]

दादू के प्रस्तुत कथन उनकी योग विषयक आस्था के परिचायक हैं—

सुन्न सरोवर मन भवर, तहाँ कंवल करतार
दादू परिमल पीजिये, सनमुख सिरजनहार॥[5]
(दादू) तन मन पवना पंच गहि, लै राखै निज ठौर।
जहाँ अकेला आप है, दूजा नाहीं और॥[6]
सहज सुन्नि मन राखिये, इन दून्यूं के मांहि।
लय समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नांहि॥[7]

दादू के बिचार से जो योगी 'सबद' की सुई से 'सुरति' के धागा से काया

---

[1] दादूदायल की बानी, भाग १—पद ७६।
[2] वही—पद २३०, ३१।
[3] वही—पद २४२।
[4] वही—परचा को अंग १०, १२, १४।
[5] वही—परचा को अंग ५३, ५६, ६६।
[6] वही—२८४।
[7] वही—लय को अंग, १०।

रूपी कन्था को सीता है, ऐसी कन्था को वह युग-युग तक पहनाता है, वह कभी भी नहीं फटती। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

ज्ञान गुरू की गूदड़ी, सबद गुरू का भेष।
अतीत हमारी आतमा, दादू पंथ अलेष॥[1]

दादू की योग-साधना का पर्यवसान जिस तीव्रगामी प्रेम-प्रवाह में होता है, वह द्रष्टव्य है—

परम तेज परगट भया, तहं मन रह्या समाइ।
दादू खेलै पीव सों, नहि आवै नहिं जाइ॥
नैनहु आगें देखिये, आतम अन्तर सोइ।
तेज पुंज सब भरि रह्या, झिलमिलि झिलमिलि होइ॥
तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कन्त॥
तेज पुंज की सेज परि, दादू बन्या बसन्त॥[2]

सन्त रैदास—इन तीन प्रमुख सन्त कवियों के अतिरिक्त अन्य सन्तों की बानियों में योग-साधना की झलक पाई जाती है। सन्त रैदास का यह पद योग-साधना का एक सर्वांग चित्र प्रस्तुत करता है—

ऐसा ध्यान धरों बरो बनवारी, मन पवन दै सुखमन नारी।
सो जप जपहूँ जो बहुरि न जपना, सो तप तपौं जो बहुरि न तपना॥
उलटी गंग जमुन में लावौं, बिनही जल मंजन ह्वै पावौं।
पिण्ड परै जिव जिस घर जाता, सबद अतीत अनाहद राता॥
सुन्न मण्डल में मेरा बासा, ता ते जिव में रहौं उदासा।
कह रैदास निरंजन ध्यावौं, जिस घर जाँव सो बहुरि न आवौं॥[3]

सुन्दरदास का भक्ति-योग—सन्त सुन्दरदास ने भक्ति-योग की चर्चा करते हुए कहा है कि सर्वप्रथम दृढ़ वैराग्य भाव को ग्रहण कर एवं विश्वास की भावना लेकर समस्त वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिये। जितेन्द्रिय होकर उदासीन रहना चाहिये, चाहे घर में रहो या वन में। अन्य देव की सेवा न करके एक मात्र 'निरञ्जन' की आराधना करनी चाहिये। मानसिक-पूजा ही की सारी सामग्री तैयार करनी चाहिये तथा सारे सांसारिक बन्धनों का बहिष्कार करना चाहिये। अत्यन्त अनुपम शून्य का सुन्दर मन्दिर है जिसमें ज्योति स्वरूप मूर्ति बिराज रही है। सहज सुखासन में स्वामी को बैठाकर दास्य-भाव से उनकी सेवा

[1] दादूदयाल की बानी—भेष को अंग, ४६-७।

[2] वही—परचा कौ अंग ६४, ६६, १०६।

[3] रैदास जी की बानी—५६।

करनी चाहिये। संयम के जल से स्नान करके प्रेम के पुष्प चढ़ाना चाहिये, चित्त रूपी चन्दन को उनके अंगों में चर्चित करना चाहिये तथा ध्यान की धूप जलानी चाहिये। भावना का नैवेद्य उनको अर्पित कर मनसा वाचा किसी प्रकार की कामना उनसे पाने की न करनी चाहिये अर्थात् निष्काम कर्म-योग का व्रत लेना चाहिये। ज्ञान का दीपक जलाकर उसकी आरती उतारना चाहिये और अनहद-नाद का घंटा बजाना चाहिये तथा तन-मन का समर्पण कर दीन भाव से उनके चरणों में लोट जाना चाहिये।[1] स्पष्ट है कि सुन्दरदास जी योग की साधना में किसी प्रकार की हठपूर्वक नियन्त्रित की हुई क्रिया-विशेष को अपनाने के पक्षपाती नहीं हैं। उन्होंने योग का भक्ति से समन्वय स्थापित कर योग की समस्त कष्टसाध्य नीरस एवं उलझनपूर्ण चर्या को सहज भाव से मानसिक-साधना में बदल दिया है। वे तो भक्ति रूपी अमृत के स्वाद को पा लेने के अनन्तर योगादि की क्रिया करने को हलाहल-पान करना समझते हैं—

योगहु यज्ञ व्रतादि क्रिया तिनकौं नहिं तौ सुपनैं अभिलाखै।
सुन्दर अमृत पान कियौ तब तौ कहि कौन हलाहल चाखै॥[2]

मलूक का आत्मतत्वान्वेषण—सन्त मलूकदास ने आत्मतत्व के अन्वेषण के लिए अपने भीतर ही खोज करने की बात कही है। उनके मत से ब्रह्म का वास्तविक निवास हमारे अन्तर में वहाँ पर है जहाँ से अनाहत-नाद ध्वनित होता है और जहाँ पर वह परम ज्योति के रूप में गगन-मण्डल में क्रीड़ा करता हुआ सा प्रतीत होता है। उसका गुणगान कोई जाग्रत योगी ही संसार से पृथक् रहकर समस्त 'भरम-करम' का त्याग कर-कर सकता है। सहज भाव से उसकी उस ब्रह्म में निष्ठा लग जाती है, अनहद का तूर्य बज उठता है, ज्ञान की लहरें उठने लगती हैं और रिमझिम-रिमझिम मोती बरसने लगते हैं। शिव नगरी में आसन जमा कर, 'सुन्न' से ध्यान लगाकर तथा तीनों दशाओं को विस्मृत कर तुरीयावस्था को पाया जाता है लौर तभी आत्मब्रह्म से आलोकित होकर सारा शरीर जगमगाने लगता है। 'सुन्न महल' में 'निरगुन की सेज' पर पौढ़ कर चेला और गुरु (जीव और ब्रह्म) दोनों पारस्परिक संकेत करने लगते हैं और इस प्रकार परम विश्राम की सहज ही उपलब्धि हो जाती है।[3]

सुरति-शब्दयोग—पिछले पृष्ठों में सन्तों की योग-साधना के प्रारम्भिक स्वरूप की चर्चा करते हुए देखा गया है कि प्रायः आरम्भ में सभी सन्त

---

[1] सन्तसुधा सार—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ५८२।

[2] वही—पृष्ठ ६२४।

[3] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ १७, २१, २३।

हठयोग के विविध कर्म-संकुल आडम्बरों से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाते किन्तु जैसे-जैसे इस क्षेत्र में उनका अनुभव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इन सारे गोरख-धन्धों से उनकी अरुचि होती जाती है तथा वे आसन एवं प्राणायाम को दूर कर कपट शून्य हो नित्य भगवद्‌भजन करने की सम्मति देते हैं। क्योंकि जो हमारा आराध्य है जब वही त्रिभुवन का भोग कर रहा है तो हमारी योग-साधना से क्या लाभ[१]। नित्य भगद्‌भजन करने अथवा नाम-स्मरण के लिये मन का पूर्ण स्थिर होना पहली शर्त है क्योंकि यह चंचल मन बड़ा ही मायावी है, इस पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं किया जा सकता। मन को बलात् निमन्त्रित भी नहीं किया जा सकता क्योंकि विषय-विकार की वायु से वह मरकर भी पुनः जीवित हो जाता है।[२] उसकी स्थिति उस टुकड़े-टुकड़े हुई मछली सी है, जो पकाने के लिए छीके पर रखी हुई है, किन्तु किसी कारण से पुनः उछल कर दह में चली जाय।[3] अतः ऐसे अविश्वसनीय चञ्चल-चपल मन को वश में लाने के लिये सन्त कवियों ने 'सुरति शब्द योग' की साधना बतलाई है, जिसके द्वारा मन पर सुदृढ़ एवं स्थायी प्रभाव पड़ता है। डॉ० बड़थ्वाल के शब्दों में "वह योग जिसके द्वारा सुरति एवं शब्द का संयोग सिद्ध होता है और उक्त सीमाएँ शब्द में फिर से लीन हो जाती है, शब्द योग अथवा सुरति शब्द योग कहलाता है और वह शब्द सर्वप्रथम भगवान्नाम के रूप में मुँह से निकलता है और अन्त में स्वयं शब्द रूप ब्रह्म हो जाता है।[४] शब्द ब्रह्म की धारणा अत्यन्त प्राचीन है, इसका प्रतीक प्रणव या ओंकार है। नाथ गुरुओं ने शब्द-ब्रह्म की महिमा का अनथक गान किया है। गुरु गोरखनाथ ने तो यहाँ तक कहा है—

ओम् सबदहि ताला सबदहि कूचि सबदहि सबद भया उजियाला।
कांटा सेती काटा षूटै, कूंची सेती ताला ....जब घटि होय उजाला॥[५]

अर्थात् शब्द ही ताला है जो ब्रह्म को बन्द किये हुए है और शब्द ही वह कुञ्जी है जिससे वह ताला खोला जाता है और परमात्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं। प्रणव शब्द ब्रह्म का प्रथम विवर्त है इसीलिए वह उसको बन्द किये हुए है परन्तु प्रणव की ही उपासना से, परब्रह्म का दर्शन भी हो सकता है, जो

[१] कबीर ग्रन्थावली—परिशिष्ट पद १०६।

[२] वही—मन कौ अंग २३।

[३] वही—मन कौ अंग, २४।

[४] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ २२६।

[५] गोरखबानी—ज्ञान तिलक, पृष्ठ २०७।

वाङ्मय से गोचर नहीं है इसीलिए वह कुञ्जी है। जैसे काँटे से काँटा निकाला जाता है और कुञ्जी से ताला खोला जाता है, वैसे ही शब्द से शब्द भी खोला जाता है। इस प्रकार शब्द से अन्तर प्रकाशित हो गया।

सुरति-निरति—सुरति के साथ-साथ एक अन्य शब्द 'निरति' भी है। इन दो शब्दों का सन्तों की साधना में अत्यधिक महत्त्व है किन्तु उनके उद्भव और अर्थ का ठीक-ठीक निर्माण अभी विवादास्पद ही बना हुआ है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के मत से सुरत या सुरति, स्रोत शब्द का अपभ्रंश है। दर्शनग्रन्थों में स्रोत का अर्थ है चित्तवृत्ति प्रवाह, अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है जिसमें शब्द की धारणा की जाती है अर्थात् चित्त की वृत्ति का प्रवाह शब्द में लय किया जाता है। शब्द का किसी वाह्य मन्त्र से तात्पर्य नहीं है। शरीर के भीतर और बाहर एक प्रकार की ध्वनि बराबर हो रही है जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकार का आघात किये हुए उत्पन्न हो—कहते हैं। गुरूपदिष्ट मार्ग से अभ्यास करने से इस ध्वनि की डोर हाथ आ जाती है और उसके सहारे चढ़कर चित्त की वृत्ति बीच की भूमिकाओं को पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधि पद में सहज ही लीन हो जाती है।[1]

डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग स्मृति के अर्थ में किया है। उनका सिद्धान्त है कि सत्तत्व ब्रह्मतत्व इसी शरीर में है। परमात्मा और आत्मा तथा आत्मा और जीव में कोई तात्विक अन्तर नहीं। कल्पना कीजिये कि एक न बुझने वाला वृहत् प्रकाशपुञ्ज है जिस पर एक के ऊपर एक दूधिया काँच और अन्य धातुओं के कई खोल चढ़े हुए हैं, जिससे प्रकाश बाहर नहीं दिखाई देता परन्तु हमारे न देख सकने पर भी प्रकाश तो वहाँ है ही। यही दशा हमारे भीतर के प्रकाश की है। अन्तर केवल इतना ही है कि उक्त प्रकाश-पिण्ड के ऊपर से परतें हटाकर हम उसका दर्शन कर सकते हैं किन्तु आत्मा के ऊपर की (पञ्च कोशों की) परतें नहीं हटाई जा सकतीं। अब यदि हमारे वश ऐसी क्रान्तदर्शी किरण हो जो घनी से भी घनी धातुओं में प्रवेश कर उनको भी पारदर्शी बना दे तो इन खोलों के ऊपर उसका प्रयोग कर उन्हें बिना हटाये ही हम उस प्रकाशपुञ्ज का दर्शन कर लें। ब्रह्म-ज्योति के सम्बन्ध में सुरति, यही क्रान्तदर्शी किरण है, जिसके द्वारा जीव इसी जीवन में ब्रह्म-साक्षात्कार करके मुक्त हो सकता है, जीवनमुक्त हो सकता है।[2]

---

[1] कल्याण—साधनाङ्क, सन्तमत में साधना—डॉ० सम्पूर्णानन्द; पृष्ठ ३७८।

[2] डॉ० बड़थ्वाल—योग-प्रवाह, पृष्ठ २४-५।

सन्त योगी आध्यात्मिक जागृति की तुलना बालकपन से करते हैं—'साहिब सों सन्मुख रहै, तो फिर बालक होइ।'—क० ग्र० २६।१२। शैशव में स्मृति मानों भूल की ओर रहती है, धीरे-धीरे अहं की भावना और यहाँ की स्मृति वहाँ की स्मृति को दबाती जाती है, वहाँ की स्मृति विस्मृति में बदलती जाती है। मन की वहिर्मुख वृत्ति का कारण 'यहाँ' की प्रत्यभिज्ञा है। 'वहाँ' की सुरति उसे अन्तर्मुख बनाती है। मन के प्रसरणशील स्वभाव का पीछे की ओर मोड़ना ही, सुलटीसुरति को उलटी करना ही साधना मार्ग है। जब तक सुरति सिमट कर बिना टूटे सूत्र की भाँति आत्मा में एक तान भाव से नहीं लगती, तब तक लक्ष्य सिद्धि नहीं होती। दादू की उक्ति है—

जब लगि सुति सिमटै नहीं, मन निहचल नहिं होइ।
तब लगि पिव परसै नहीं, बड़ी विपति यह मोहि॥[१]

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम और निरति का वैराग्य किया है। डॉ० बड़थ्वाल परमात्मा के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध तादात्म्य-भाव से स्थापित हो जाने की अवस्था को 'निरति' की संज्ञा देते हैं। वे इसे नृत्य का परिवर्तित रूप तथा ब्रह्मानन्द का द्योतक मानते हैं। यही वह अवस्था है जिसमें जीव स्वयं परमात्मा होकर आध्यात्मिक आनन्द में निमग्न हो कर नाचने लगता है। इसमें माया का सर्वथा त्याग और आत्मतत्व का पूर्ण प्रतिष्ठापन हो जाता है।[२]

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार सुरति अन्तर्मुखी वृत्ति को और निरति बाहरी प्रवृति की निवृत्ति को कहते हैं। निरति वस्तुतः अभावात्मक वस्तु है और सुरति भावात्मक। जब बाह्यमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी वृत्ति में लीन होती है तो जीव को, जीव और ब्रह्म के अभेद की प्रतीति होती है। जब निरति, अभेद प्रतीति रूपी अहं भाव से मुक्त होकर शब्द में लीन होती है, तभी जीव अपने सच्चे रूप में स्थित होता है। निरति निवृत्ति रूप होने के कारण स्थूल है और सुरति अन्तर्मुखी होने कारण सूक्ष्म। इसीलिये एक स्थल में सुरति को राग और निरति को वीणा का तार कहा गया है :—

ग्रह चन्द्र तपन जोत बरत हैं, सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्न में, कहै कबीर पिउ गगन गाजै॥[३]

डॉ० त्रिगुणायत के अनुसार वास्तव में सुरति को हम बहिर्मुखी आत्मा कह सकते हैं, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति नहीं क्योंकि अपने शब्द सुरति योग में कबीर ने

---

[१] दादूदयाल की बानी, भाग १, विरह को अंग २६।

[२] वही— योग-प्रवाह, पृष्ठ ३२।

[३] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृष्ठ २४३।

बहिर्मुखी आत्मा को शून्य रूपी शब्द में लीन करने का उपदेश दिया है। यदि सुरति का अर्थ अन्तर्मुखी वृत्ति होता तो वे अपनी साधना में सुरति को अन्तर्मुखी करने का आदेश न देते। कबीर के शब्द सुरति योग में सुरति के द्वारा शब्द को भेदित करने की बात कही गई है। सुरति को हम आत्म रूप मानेंगे। आत्म-साधना के सहारे शब्दब्रह्म में लीन करने की प्रक्रिया को शब्द सुरति योग कहा गया है। मुण्डक ३।१-२ में एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों की कल्पना की गई है, उनमें से एक तो फल का आस्वादन करता है और दूसरा फल से उदासीन है। शरीर रूपी वृक्ष में बैठे दो पक्षी वस्तुतः उपभोक्ता और उदासीन आत्मा के प्रतीक हैं। कठ में भी प्राप्ता आत्मा का लक्ष्य प्राप्तव्य आत्मा की उपलब्धि माना गया है। कबीर ने अपने शब्द सुरति योग में प्राप्ता आत्मा को सुरति और प्राप्तव्य आत्मा को निरति के नाम से अभिव्यक्त किया है। सुरति का सीधा-साधा अर्थ संसार में पूर्णतया रत आत्मा से लिया गया है। निरति से आत्मा के उस रूप से सङ्केत है जिसकी संसार में रति नहीं है। कबीर के इस साखी के अनुसार—

> **सुरति समानी निरति में, निरति भई निरधार।**
> **सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभु दुवार॥**

अर्थात् सुरति (प्राप्ता आत्मा) साधना करके निरति (प्राप्तव्य आत्मा) में लीन हो जाता है। निरति (प्राप्तव्य-आत्मा) शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नित्य ब्रह्म रूप होने के कारण निराधार रहती है। इस प्रकार जब सुरति का निरति से तादात्म्य हो जाता है तभी स्वम्भु अर्थात् कल्याण और आनन्द के द्वार खुल जाते हैं।[1]

इस प्रकार विद्वानों ने सुरति के स्रोत (चित्तवृत्ति का प्रवाह), स्मृति, प्रेम अन्तर्मुखी वृत्ति, तथा वहिर्मुखी वृत्ति आदि अनेक अर्थ किये हैं। प० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में 'सुरति' हमारे जीव का वह निर्मल रूप है जिसमें हमारे मूल सत्य का प्रतिविम्ब बराबर झलका करता है।[2] 'सुरति' शब्द की सम्यक जानकारी के लिये परम्परागत सङ्केत सहायक सिद्ध होंगे। सिद्धों ने इस शब्द का प्रयोग निस्सन्देह 'प्रेम-क्रीड़ा' के अर्थ में किया था। सरहपा इसे प्रज्ञोपाय या कमल कुलिश योग का ही पर्याय मानते हैं और काण्हपा उसी को सुरतवीर मानते हैं, जो एवंकार बीज लेकर मधुकर रूप में कुसुमित अरविन्द (महासुख चक्र) तक चला जाता है और मकरन्द पान करता है।[3] नाथ-सम्प्रदाय में सिद्धों के मैथुनपरक अर्थ का बहिष्कार कर नादपरक अर्थ प्रचलित किया गया। 'मछीन्द्र गोरष

---

[1] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कबीर की विचार धारा, पृष्ठ ३१५-६।

[2] प० परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २०४।

[3] डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ४०६।

बोध' में गोरखनाथ अपने गुरु से पूछते हैं कि सबद, सुरति और निरति कौन है तथा किस प्रकार दुविधा को मिटाई जाती है। उत्तर में वे अनाहद नाद को शब्द, चित्त को सुरति और निरालम्ब स्थिति को निरति बतलाते हैं। इस प्रकार सुरति शब्द की वह अवस्था है जब वह साधना की अवस्था में चित्त में स्थित रहता है तथा साधना में चित्त को प्रेरित करता है। और निरति वह निरालम्ब अवस्था है जो चित्त के शब्द या नाद में लीन हो जाने पर आती है। इसीलिए साधना में प्रवृत्त चित्त को सदा सुरति में लगाये रखने को कहा गया है :—

अवधू सुरति मुषि बैठे, सुरति मुषि चलै, सुरति मुषि बोले, सुरति मुषि मिलै।
सुरति-निरति मैं नृभै रहै, ऐसा बिचार मछिन्द्र कहै ॥[1]

सन्त कवियों ने सुरति का प्रयोग नाथ गुरुओं के शब्द सुरति योग के आधार पर ही किया है। कबीर द्वारा किये गये सुरति 'शब्द के प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(१) **सुरति ढीकुली लेज ल्यौं, मन नित ढोलनहार।**
कंवल कुवां में प्रेम रस, पीवै बारम्बार ॥—क० ग्र०, पृष्ठ २८

(२) **सुरति समांणी निरति मैं, अजपा माहै जाप।**
लेख समाणां अलेख में, यूं आपा मांहै आप ॥—वही, पृष्ठ १४

(३) **त्रिवेणी मन न्हवाइए, सुरति मिलै जो हाथि रे।**

(४) **उलटै पवन चक्र षट बेधा, सुन्नि सुरति लै लागी।—वही**

दादूदयाल ने 'सुरति' के प्रयोग में अपनी स्वाभाविक प्रेम-भावना का परिचय दिया है—

चेतन पैडा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ ॥
—दादू० की बानी १, पृष्ठ ८६

सुरति समाइ सनमुख रहै, जुगि जुगि जन पूरा।
दादू प्यासा प्रेम का, रस पीवै सूरा ॥—वही
जहाँ जगत-गुर रहत है; तहं जे सुरति समाइ।
तौ इनही नैनो उलटि करि, कौतिग देखै आइ ॥
सुरति सदा स्याबति रहै, तिनके मोटे भाग।
दादू पीवै राम रस, रहै निरंजन लाग ॥—वही, पृ० ६०

इस प्रकार सन्त कवियों ने जो सुरतिवाची अनेक प्रयोग किये हैं, उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुरति, सन्तों की वह आत्मलीन अवस्था है जिसमें साधक की अन्तर्मुखी वृत्ति की डोर अटूट भाव से आराध्य के प्रति लगी रहती

---

[1] **गोरखबानी, पृष्ठ १६६।**

है। वस्तुतः सुरति ढेकुली की उस रस्सी के समान है जिसके सहारे मन 'कंवल-कुवां' से प्रेम-रस का बारम्बार पान करता है। चित्तवृत्ति का स्थिर भाव से परमात्मा में लीन हो जाना ही सुरति का निरति में समा जाना है। सुरति का निरति में, जप का अजपा में, शब्द का शून्य में, ससीम का असीम में अथवा व्यक्त का अव्यक्त में लीन हो जाना सब एक सी ही स्थिति का परिचायक है। निस्सन्देह इतनी ललित और सहज सजीव भाषा में संस्कृत के कवियों ने भी 'सुरति शब्द योग' का वर्णन नहीं किया।

उलटी साधना—नीचे की ओर जाती हुई श्वास की स्वाभाविक धारा को उलटकर ऊपर की ओर ले जाने को नाथयोगी 'उलटी साधना' कहते हैं। इस साधना में नाद को पलटकर सुरति को निरति में लीन करना, अथवा सूर्य को उलटकर चन्द्र में मिलाना पड़ता है। गोरखनाथ के साक्ष्य पर—

उलटंत नादं पलटंत व्यंद, बाई कै घरि चीन्हसि ज्यंद।
सुंनि मण्डल तहँ नीझर झरिया, चन्द सुरजि ले उनमनि धरिया॥
उलटन्त पवनं पलटन्त बांणीं, अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यांनीं।[१]

अर्थात् चन्द्र और सूर्य के योग से जब उन्मनावस्था आती है तब ब्रह्मरन्ध्र—शून्य मण्डल—में अमृत का निर्झर झरने लगता है। नाद उलट जाता है। नाद सूक्ष्म शब्द-तत्व का क्रियमाण स्वरूप है जो क्रमशः स्थूल रूप में परिणत होता हुआ सृष्टि का कारण होता है। उसका सृष्टि निर्मायक स्थूल स्वरूप अपने मूल-स्रोत की ओर मुड़ जाता है और नीचे उतरता हुआ विन्दु ऊर्ध्वगामी हो जाता है तथा वायु में ही अमर-तत्व पहचाना जाता है। जो उन्मनि समाधि लगाकर पवन को उलटते और सुषुम्ना के मार्ग में पलटकर लगा देते हैं और अमृत का पान करते हैं, वही ब्रह्मज्ञानी है। सन्तों की उलटी साधना का स्वरूप बिल्कुल इसी प्रकार का है। कबीर के कथनानुसार हमारे हृदय-सरोवर में उस 'अविनासी' का निवास है। काया में ही कोटि तीर्थ, काशी, कमलापति सभी कुछ वर्तमान है, अतः उलटी साधना के द्वारा उस अविनाशी से मिला जा सकता है—

उलटि पवन षट चक्र निवासी, तीरथ राज गंग तट वासी।
गगन मण्डल रवि ससि दोउ तारा, उलटी कूची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारी, पंच मारि एक रह्यौ निनारी॥[२]

यह साधना वस्तुतः तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। बिना उलटी चाल के अर्थात् प्राण और मन की स्वाभाविक बहिर्मुख गति को उलटकर अन्तर्मुख किये बिना उस परब्रह्म से मिलन असम्भव है—

[१] गोरखबानी, सबदी ५५, ६०।

[२] कबीर ग्रन्थावली, पद १७१।

कहै कबीर कठिन यह करणीं, जैसी षंडे धारा।
उलटीं चाल मिलै परब्रह्म कौ, सो सतगुरु हमारा ॥[1]

इसी साधना के बल पर मतवाला मन राम-रस के पान में समर्थ होता है—

मन मतवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई ॥[2]

अन्यत्र भी उन्होंने गंगा (पिंगला) को उलटकर यमुना (इड़ा) से मिलाने एवं बिना संगम-जल के स्वानुभूति में स्नान करने को कहा है—

उलटी गंगा जमुन मिलावत, बिनु जल संगम मन महिं न्हावउ।[3]

रैदास—ऐसा ध्यान धरौं बनवारी, मन पवन दै सुखमन नारी।
उलटी गंग जमुन में लावों, बिनही जल मंजन ह्वै पावों ॥[4]

गुरु नानक—उलटिओ कमल ब्रह्म वीचारि, अमृत धार गगनि दस दुआरि।
त्रिभवण वेधिआ आपि मुरारि ॥[5]

× × ×

उलटा शब्दु गगनि घरु छाया। नानक शब्दे शब्द समाया ॥[6]

दादूदयाल—दादू उलटि अपूठा आप में, अंतरि सोधि सुजाण।
सो ढिग तेरा बावरे, तजि बाहिर की बाणि ॥
सहज योग सुख में रहै, दादू निर्गुण जाणि।
गंगा उलटि फेरि करि, जमुना माहै आणि ॥[7]

संक्षेप में यही सन्तों की 'उलटी साधना' का स्वरूप है जिसका मूल प्रयोजन है—समस्त सृष्टि की जन्मदात्री शक्ति को उलटकर नाद में समाहित करना, सूर्य को उलटकर चन्द्र में मिलाना और दशम द्वार से स्रवित होने वाली अमृत की रसवन्ती का पान कर अद्वैततत्व का साक्षात्कार करना।

अजपा-जाप या सहज-जप—सन्त-साहित्य की योग-साधना पर एक विशेष प्रभाव डालने वाली क्रिया हठयोगियों की 'अजपा जाप' की है। जब प्राणायाम साधना से मूलाधार-चक्र में स्थित कुण्डलिनी उद्दीप्त होकर षट्चक्रों

---

[1] कबीर ग्रन्थावली; पद १७० ।

[2] वही—पद ७४ ।

[3] सन्त कबीर, रागु गउड़ी १८ ।

[4] रैदास जी की बानी, ५६ ।

[5] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, पृष्ठ १५३ ।

[6] प्राण संगली, पृष्ठ १४० ।

[7] दादूदयाल की बानी, भाग १, लय कौ अंग २१, ३३ ।

को बेधती हुई सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रदल कमल में स्थित ब्रह्मरंध्र का द्वार खोलती है तो मस्तिष्क में अनाहद-नाद होने लगता है। यह अखण्ड नाद अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहद-नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है जिसके प्रकट होने से सारे पापों और दुःखों का नाश हो जाता है तथा मन में अलौकिक शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। "अनाहद नाद के प्रकट होने से रोम-रोम से शब्द-ब्रह्म की झंकृति होने लगती है। इस झंकृति को ही 'अजपा-जाप' कहते है जिसके लिये किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती, वह साँस के आवागमन की भाँति स्वाभाविक रूप से होने लगती है।[1]" नाथ-पन्थ में प्रयुक्त योग प्रकरण में उनके 'अजपा-जाप' के बारे में लिखा जा चुका है, जिसकी महिमा का गान करते हठयोगी नहीं थकते। वे अभेद्य परमतत्व रूप हीरे को सुशब्द अर्थात् अजपा-जाप के द्वारा बेधते हैं। इसके द्वारा शून्य में मन को केन्द्रित कर पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करते हुए जो ब्रह्माग्नि में अपने शरीर का हवन करता है उसके चरणों की वन्दना स्वयं आदिनाथ शिव तक करते हैं—

> अजपा जपै, सुंनि मन धरै, पांचों इन्द्री निग्रह करै।
> ब्रह्म अगनि में होमै काया, तास महादेव बंदे पाया।।[2]

सन्तों ने मन को एकाग्र करना और श्वास के नियन्त्रण को अजपा-जाप की एक पूर्व विधि बताई है जैसा कि अनुराग सागर के पृष्ठ १३ में कहा गया है—

> जाप अजपा हो सहज धुन, परखि गुरु गम धारिये।
> मन पवन थिर कर शब्द निरखै, कर्म मनमथ मारिये।।

सन्तों में नाथपन्थियों के अजपा-जप को सहज-जप की भी संज्ञा दी है तथा उसे शून्य के बीच में जपने की बात कही है एवं जो आभ्यन्तर से शून्य में अजपा का जाप करता है, वही तत्व को जानता है ऐसा कहा है :—

> अजपा जपत सुंनि अभि अन्तरियहु तत जानैं सोई।[3]

इस सहज-जप को कबीर ने 'सुरत-सबद-मेला' ही जाना कहा है -

> सहजै ही धुन होत है, हरदम घट के माँहि।
> सुरत सबद मेला भया, सुख की हाजत नाँहि।।[4]

सिक्ख गुरुओं में साधारण-जप, अजपा-जप और लिवजप, ये तीन प्रकार

---

[1] डॉ० रामकुमार वर्मा, अनुशीलन, पृष्ठ ८४।

[2] गोरखबानी, सबदी १८।

[3] कबीर ग्रन्थावली, पद २०६।

[4] सन्तबानी संग्रह, ७।६२।

दृष्टिगत होते हैं। जिह्वा जप का सम्यक् अभ्यास हो जाने पर अजपा-जप का प्रारम्भ होता है, क्योंकि इसमें जिह्वा से सहायता न लेकर श्वास-प्रश्वास के तार पर जप की क्रिया स्वभावतः चलती रहती है। गुरु नानक ने अजपा-जाप के प्रति अपनी अगाध आस्था प्रकट की है—'अजपा जापु जपै मुनि नाम।'[1] लिव-जप की चरम सीमा है जिसमें शरीर, जिह्वा और मन, तीनों की तादात्म्य-भावना के साथ जप चलता है तथा साधक का वैयक्तिक आन्तरिक भाव ब्रह्माण्ड के समष्टिगत आन्तरिक भाव से मिल कर इतनी प्रगाढ़ता के साथ निमग्न हो जाता है कि किसी प्रकार भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं होता। वस्तुतः सहज जप एक प्रकार से अन्तर्जप है, जो बिना उच्चारण के पवन निरोध के साथ-साथ ध्वनि रूप में मन में उठता रहता है। यह जप मन की माला से सम्पन्न होता है। दादूदयाल ने कहा है :—

मन माला तहँ फेरिये, जहँ दिवस न परसै रात।
तहाँ गुरु बाना दिया, सहजैं जपिये तात॥
सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूं पोइ।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूं होइ॥[2]

दादू का कथन है कि यदि तुम उसे अपनी प्रत्येक श्वास के साथ स्मरण करते चलोगे तो एक दिन वह अवश्य जाकर तुमसे भेट करेगा—'साँसै साँस सम्भालता, इकदिन मिलिहै आई।' और सहजो का कहना है कि श्वास की स्वाभाविक पावन पयस्विनी प्रवाहित हो रही है, जो भी चाहे, इसमें स्नान करके पाप-पुण्य के बन्धन से मुक्त होकर दुर्लभ हरिपद को पहुँच सकता है :—

सहज स्वास तीरथ वहै, सहजो जो कोइ न्हाय।
पाप-पुन्न दोनों छूटैं, हरि पन पहुँचे जाय॥
—सन्तबानी संग्रह १, पृष्ठ १६२

सन्त कवियों ने 'सोऽहं' अजपा जाप से पुण्य और पाप दोनों का निराकरण होना बतलाया है तथा इससे त्रिविध ताप के शमन होने की बात कही है। इसी को सन्त दादूदयाल ने सहज धुन की डोर के रूप में वर्णित किया है—'दादू डोरी सहज की, यौ आणै घरि घेरि।'[3] सन्तों का 'सोऽहं' आगे चल कर वैष्णव-प्रभाव से मलीन पड़ गया और वे बावन अक्षरों को शोधकर (रा + म) में चित्त

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ८४०।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १, गुरुदेव को अंग (अजपा जाप) ६६, ६६।

[3] वही—मन कौ अंग ६६।

लगाने के लिए जोर देने लगे और इसीलिए उनमें वैष्णवों के नाम-जप की भावाकुलता की अभिव्यक्ति अतिरंजित ढङ्ग से हो गई—

> कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
> बावन आषिर सोधि करि, ररै ममै चितलाइ॥
>
> —क० ग्र०, पृष्ठ ६८

दादू ने अपने सहज प्रेम संस्कारवश भावना-युक्त राम के इस जप को सहज जप की श्वास निरोध पद्धति से समन्वित कर दिया—

> राम सबद मुख ले रहै, पीछै लागा जाइ।
> मनसा बाचा कर्मना, तेहि तत सहज समाइ॥
> अन्तरगति हरि हरि करै, तब मुख की हाजत नाँहि।
> सहजै धुनि लागी रहै, दादू मन ही माँहि॥[1]

नाथ योगियों ने जप की अन्तिम परिणति निःशब्दता में मानी है। मौन को सर्वोत्तम भाषण कहा गया है। शब्द ताला है किन्तु निःशब्द उसकी कुञ्जी है। कबीर भी जप की अन्तिम परिणति निःशब्द मौन ही मानते हैं—'जाप मरै अजपा मरै, अनहदहू, मरि जाय।'

सन्तों का सहज योग—अजपा-जाप अथवा सहज-जप की अन्तिम परिणति अथवा विकसित रूप सहज योग है और यही वस्तुतः सन्तों की योग-साधना की चरम-सीमा है। जब अजपा जाप का स्वाभाविक आयास रहित क्रम, जीवन के प्रत्येक कार्य व्यापार में अवतरित हो जाता है तब यह अवस्था आती है। इसे सहज योग अथवा सहज समाधि कहते हैं। कबीर ने 'सहजै होय सो होय' कहकर इस साधना की प्रयत्न-शून्यता बताई है। डॉ० वर्मा ने इसके दो रूप माने हैं—पहला रूप तो हठयोग की सिद्धि के फलस्वरूप है जिसमें अजपा-जाप की स्फूर्ति इन्द्रियों में भी अवतरित होकर उन्हें विशुद्ध कर देती है और दूसरा रूप वह है जब जीवन के समस्त कार्य-व्यापार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में जब चित्तवृत्तियों का साधारणीकरण हो जाता है तो माया मोह से मुक्त होकर जीवन विशुद्ध हो जाता है।[2] कबीर ने सहज योग के विषय में कहा है—

> सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
> पाँच राखै परसती, सहज कहीजै सोइ॥

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, मन कौ अंग, पृष्ठ २१, ६३।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा—अनुशीलन, पृष्ठ ८५।

सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजैं हरि जी मिलै, सहज कही जै सोइ॥[1]

उनके सहज योग में वेद-पुराण पढ़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सहज-योग द्वारा बिना पढ़े ही अनायास ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है—'पढ़े गुने मति होई, मैं सहजैं पाया सोई' कबीर का सहज-योग राम नाम की साधना ही है। युक्ति पूर्वक रामनाम में लौ लगाने से भक्ति दृढ़ हो जाती है और सहज भाव से ही सहज-समाधि लगकर आत्मस्वरूप से परिचय हो जाता है—

सहजै राम नाम ल्यौ लाई। राम नाम कहि भगति दिढ़ाई।
राम नाम जाका मन मांनां। तिन तो निज सरूप पहिचांनां॥[2]

इस स्थिति में पहुँचकर कबीर ने कहा है—अपने में अपने को देख लिया। आप ही आप सूझने लगा। अपने आप ही कहना-सुनना और समझना-बूझना रह गया। अब अपने परिचय की ही तारी लग गई और अपने आप में सदा के लिये प्रवेश कर गया। इस प्रकार मुझे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया और अब मैं करोड़ों कल्पों तक इसी प्रकार सहज समाधि में विश्राम करूँगा।[3] सिक्ख गुरुओं ने इसी सहज योग में अपनी रागात्मिका भक्ति, अपने हृदय का प्यार, अपना निर्मल वैराग्य, अपनी दिव्य शान्ति, अपनी सारी स्तुतियाँ, अपना ध्यान तथा अपनी धारणा और समाधि निमज्जित कर दी है। इसी सहज योग में वे परमात्मा का गुणगान करते हैं और इसी में भक्ति करते हैं तथा इसी के लिव में लवलीन रहते हैं।[4] गुरुओं ने बड़े ही सहज ढङ्ग से कहा है—

सहजै हो गुण ऊचरै, भगति करै लिव लाइ।
सहजै ही हरि मनि बसै, रसना हरि रसु खाइ॥
सहजै हरि नामु मन बसिआ, सची कार कमाइ।
से बड़भागी जिनी पाइआ, सहजै रहे समाइ॥[5]

दादूदयाल के मतानुसार सहज-योग की साधना में किसी साधना-विशेष का प्रयोग न होने पर भी पूर्ण समाधि का सा आनन्द मिला करता है और साधक पर काल का कोई वश नहीं चल पाता—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, सहज कौ अंग २, ४।

[2] वही—सतपदी रमैणी, पृष्ठ २२७।

[3] वही—पद ६।

[4] डॉ० जयराय मिश्र—श्री गुरुग्रन्थ दर्शन, पृष्ठ २५०।

[5] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, सिरी रागु, महला ३, पृष्ठ ६८।

जोग समाधि सुख सुरति सौं, सहजै सहजै आव।
मुक्ता द्वारा महल का, इहै भगति का भाव।।
सहज सुन्नि मन राखिये, इन दून्यूं के मांहि।
लय समाधि रस पीजिये, तहा काल भय नांहि।।[१]

प० परशुराम चतुर्वेदी ने सत्य ही कहा है कि इसमें सबसे बड़ी व महत्वपूर्ण क्रिया अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर देने की भावना है जिसमें अहम् का भाव नितान्त रूप से नष्ट हो जाता है। इस दशा का वर्णन करते हुए दादू ने कहा है—

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा, तूं है मेरा, यहु दादू का ज्ञान।।[२]

अर्थात् यह स्थूल शरीर, यह मन और ये प्राणादि सब कुछ पूर्णतः न्योछावर कर दिये जाते हैं किन्तु इसके मूल में सदा केवल एक यही भावना काम करती रहती है कि जिसे हम अपना सर्वस्व समर्पित कर रहे हैं वह 'मेरा' अथवा स्वयं 'मैं' ही हूँ। अतएव इस सर्वस्वदान और सर्वस्व की उपलब्धि में वस्तुतः कोई भी अन्तर नहीं रह जाता और देने वाला अपनी कमी का अनुभव करने की जगह अपने को और भी पूर्ण मानने लगता है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तों का सहज योग आगे चलकर भक्ति-योग में परिवर्तित हो जाता है, उसमें भक्ति का तत्व, प्रधान एवं योग का गौण रह जाता है। इस साधना में सन्त, योग की विशिष्ट विशेषता (क्लिष्ट एवं अस्वाभाविक वृत्ति) को किसी प्रकार बर्दाश्त नहीं कर पाते। उनका स्पष्ट निर्णय है—'मीठा सो जो सहजै पावा। अति क्लेस थैं करू कहावा।।'[४] इसी स्थिति में पहुँचकर साधक का 'पूरे सूं परचा' हो जाता है और उसे यह घोषित करने में सहज सुख का अनुभव होने लगता है कि मुझे स्थिति प्राप्त हो गई, मन स्थिर हो गया। सद्गुरु की कृपा से शरीर के द्वारा अनन्य कथा का आचरण होने लगा तथा हृदय में त्रिलोकीनाथ की अनुभूति जग गई—

थित पाई, मन थिर भया, सतगुरु करी सहाय।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राय।।[५]

---

[१] दादूदयाल की बानी, भाग १, लय कौ अंग ९-१०।

[२] दादूदयाल की बानी, भाग १, सुन्दरी कौ अंग २३।

[3] प० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ४४५-६।

[४] कबीर ग्रन्थावाली, पृष्ठ २३३।

[५] वही—परचा कौ अंग २९।

साधना की इसी पवित्रस्थली में तत्व की उपलब्धि होने से युग-युग का सन्ताप दूर हो जाता है और अभूतपूर्व शीतलता से आत्मा तृप्त हो जाती है, प्रज्वलित अग्नि शान्त हो जाती है और साधक अग्नि से पुनः जल में परिवर्तित हो जाता है।[1] इसी परम सौभाग्यशाली स्थिति में पहुँचकर साधक मदमत्त हाथी की भाँति प्रभु के प्रेम में मग्न रहता है और अकल्पनीय आशाओं को जीतकर राम के नशे में मस्त होकर जीते जी ही मुक्ति पाकर संसार से पृथक् हो जाता है।

●●●

[1] कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग ३१-३२।

प्रकरण ४

क. भक्ति—पूर्ववर्ती परम्परा और प्रवृत्तियाँ

'भक्ति' शब्द की परिभाषा—'भक्ति' शब्द का सामान्य अर्थ 'सेवा' है। महामुनि शाण्डिल्य के मतानुसार ईश्वर में निरतिशय अनुराग का नाम 'भक्ति' है।[1] देवर्षि नारद ने इसको 'परमप्रेम रूपा' माना है। उनके मत से भगवान् में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है।[2] ज्ञान, कर्म आदि साधनों के आश्रय से रहित और सब ओर से स्पृहाशून्य होकर चित्तवृत्ति अनन्य भाव से जब केवल भगवान् में केन्द्रित हो जाती है तो, इस एकनिष्ठ प्रेम-भावना को 'भक्ति' की संज्ञा दी जाती है। भक्त-प्रवर तुलसीदास जी ने 'ईश्वर' के प्रति परानुरक्तिजन्य भक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

> **कामिहिं नारि पिआरि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।**
> **तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥**
>
> **—रामचरित मानस, उत्तर काण्ड १३०**

आत्मनिरीक्षण की शब्दावली में व्यक्त किया गया यह अनमोल तत्व गोस्वामी जी के जीवनपर्यन्त के अनुभवों का आसव है। कामी व्यक्ति के मन की छटपटाहट, हृदय की व्याकुलता तथा प्रिय मिलन की तीव्र आतुरता का वर्णन शब्दों में नहीं बँध पाता। यह तो प्रत्येक के लिए स्वानुभूतिगम्य है। इस भूमिका पर पहुँचकर प्रेमी अपने व्यक्तित्व का सर्वस्व, समर्पित कर प्रेमिका से मिलकर तदाकार हो जाना चाहता है और इसमें उसको अनुपम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है। चित्त की यही अवस्था जब स्त्री-विशेष के लिये न रहकर प्रेम, रूप और तृप्ति की समष्टि किसी दिव्यतत्व या राम के लिये हो जाय तो वही सर्वोत्तम भक्ति की मनोदशा है। विषयी की विषयों के प्रति जो निरतिशय आसक्ति होती है उसी को लौटाकर यदि ईश्वर में लगा दिया जाय तो वह अहैतुकी या शुद्ध भक्ति हो जाती है। इस स्थिति में पहुँचकर मानवीय आत्मा सुख की खोज अपने से बाहर संसार की किसी अन्य वस्तु में नहीं करती वरन् जिस चैतन्य तत्व से उसका प्रादुर्भाव हुआ है उसी में पूर्णतः लीन हो जाने के लिये

---

[1] सा परानुरक्तिरीश्वरे—शा० भ० सूत्र २।

[2] सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा—नारदभक्ति सूत्र २ (गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ २०)।

वह कामासक्त मन की सी व्यग्रता प्राप्त करती है। यही भक्ति का उत्कृष्ट रूप है जो लौकिक विषय वासनाओं की भाँति मृत्यु का कारण न होकर अमृतस्वरूप है जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।[1] 'तत्वमसि' के उपासक वेदान्ती शङ्कराचार्य ने इसीलिए आत्मस्वरूप के अनुसन्धान को भक्ति माना है—

'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।'

भक्ति का स्वरूप और स्वाद—भक्ति स्वभाव से ही रस रूप, दिव्य एवं चिन्मय है। वह तत्वज्ञान रूपी फल का अनुपम रस है। रस की माँग प्राणि-मात्र में स्वाभाविक है। रस उसे नहीं कहते जिसमें क्षति हो अथवा तृप्ति हो। जो तत्व क्षति या तृप्ति से रहित है, वह स्वरूप से ही अगाध तथा अनन्त है पर यह रहस्य तभी खुलता है जब साधक अपनी रस की स्वाभाविक माँग से निराश नहीं होता अपितु उसके लिये नित्य नव उत्कण्ठापूर्वक लालायित रहता है। भक्ति वह प्यास है, जो कभी बुझती नहीं और न कभी उसका नाश ही होता है अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।[2] जो भगवत्प्रेमामृतरस का पान कर लेता है वह अष्टसद्धि-नव निधियों की तो बात ही क्या, मोक्षरूप सिद्धि भी नहीं चाहता। ये सिद्धियाँ तो ऐसे प्रेमी भक्त की सेवा के लिये अवसर खोजा करती हैं। स्वयं भगवान् ने भागवत में कहा है कि मुझमें चित्त लगाये रखने वाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़कर ब्रह्मा का पद, इन्द्रासन, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरों का आधिपत्य, योग की सब सिद्धियाँ और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते।[3] नारदपाञ्चरात्र के मतानुसार मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अनेक प्रकार की विलक्षण भुक्तियाँ, सेविका की भाँति हरि-भक्ति रूपी महादेवी की सेवा में लगती रहती हैं—

हरिभक्तिमहादेव्या: सर्वा मुक्त्यादिसिद्धय:।
भुक्त्यश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रता: ॥

सृष्टि-प्रक्रिया में सर्वप्रथम काम की अभिव्यक्ति कही गयी है। इसे ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त में भी स्वीकार किया गया है—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्॥ ८।७।१७॥ काम मन की प्रबल शक्ति है। प्राकृत मनुष्य की कामना वहिर्मुखी होती है। अपने केन्द्र में बैठकर वह इन्द्रिय द्वारों

[1] यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति—नारद-भक्तिसूत्र ४।

[2] कल्याण—भक्ति अकं २०१४, पृष्ठ ७२, भक्ति का स्वरूप—श्रीशरणानन्द जी।

[3] श्रीमद्भागवत ११। १४। १४।

के भीतर से बाहर की ओर झाँकता रहता है किन्तु जब वह इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर अपने आत्मतत्व में लीन हो जाता है तभी उसे एक मात्र सत्य तत्त्व के दर्शन होते हैं। काम का मूलरूप परम कल्याणकारी और श्रेयस्कर है। सृष्टि के मूल में यही सक्रिय एवं गतिशील है।[१] किन्तु यही काम लौकिक वासनाओं से कलुषित हो जाने के कारण अहितकर और दुःखदायी भी हो जाता है। मानव की बहिर्मुखी कामना की आँच से झुलस कर वह अपने श्रेयस्कर तत्त्व को जला डालता है। अतृप्त आकांक्षाओं की नींव पर ही मानव-जीवन का प्रासाद निर्मित है। मनुष्य की एक इच्छा पूरी नहीं हो पाती कि दूसरी आकर उसे अतृप्त कर देती है। मनुष्य, तृप्ति-अतृप्ति के द्वन्द्वों में पड़ा हुआ इस संसार से विदा हो जाता है। उसकी सारी आयु बिछौना बिछाते ही समाप्त हो जाती है।[२] अन्तर्मुखी आत्मानन्द (प्रगाढ़ निद्रा का सुख) उसे उपलब्ध नहीं हो पाता। मानव को आत्मतृप्ति या सन्तुष्टि वाह्य सांसारिक वस्तु में नहीं मिल सकती। यह तो उसे बाहर से हटकर अन्दर की ओर उन्मुख होने में प्राप्त होती है। जीव अपने निकट स्थित प्रकृति को छोड़ नहीं पाता, क्योंकि वह उससे बद्ध है और न वह अन्तस्थ प्रभु को ही देख पाता क्योंकि वह उसकी अनुभूति से अलग है इसीलिए वह आनन्द से वंचित होकर अनेक प्रकार के क्लेश भोगता है।[३] किन्तु जब वह वाह्य बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर अपनी सारी भावनाएँ प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है, सारी वृत्तियाँ 'अखिलानन्द-सन्दोह में केन्द्रित कर देता है तभी वह आत्माराम बन जाता है, दुःख से परे हो जाता है।

इस संसार में सत्-असत्, पुण्य-पाप, प्रकाश-अन्धकार, चेतन-जड़, गुण-दोष आदि का परस्पर विरोधी दुर्द्धर्ष संग्राम छिड़ा हुआ है। इन्द्रियों के आधीन होने के कारण हम सत् पक्ष को छोड़कर असत् की ओर बड़ी स्वाभाविकता के साथ मुड़ जाते हैं किन्तु जब दृढ़ता के साथ अपनी इन्द्रियों पर काबू रखते हुए सन्मार्ग की ओर मन को मोड़ते हैं तभी मोह के ऊपर विवेक की विजय होती है। कर्म-जाल को काटना सचमुच बड़े जीवट का कार्य है। त्याग और

---

[१] 'काम मंगल से मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम'—प्रसाद, कामायनी, श्रद्धा सर्ग।

[२] डासत ही गई बीति निसा सब, कबहूँ न नाथ नींद भरि सोयो—विनय पत्रिका, तुलसीदास।

[३] अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥—अथर्ववेद १०।८।३२

वैराग्य की ओर प्रयाण करते ही संसार के वैभव-विलासों की सशक्त शृङ्खला चुम्बक की भाँति लौहवत् दृढ़ मन को अपनी ओर खींचने का उपक्रम करती है। कभी तो साधक प्रकृति के प्रपञ्चों की ओर मुड़ता है और कभी जागरूक होकर चिन्मय प्रकाश की ओर। कर्म और ज्ञान का यह द्वन्द्व, साधक को परस्पर विरोधी दिशाओं में खींचता हुआ बड़ी विकट स्थिति उत्पन्न कर देता है। आनन्द की स्थिति न सत् के प्रसार अर्थात् प्रकृति के प्रपञ्च में है और न चित् अर्थात् जीव के ज्ञान प्रयत्न में। वह सत् और चित् दोनों से परे आनन्द स्वरूप परमेश्वर है। सच्चिदानन्द परमेश्वर में ही सत् (प्रकृति), चित् (जीव) और आनन्द का लय हो जाता है। जीव की सारी साधना आनन्द तत्त्व को उपलब्ध करने की है। आनन्द तत्त्व को उपलब्ध करके वह तद्रूप हो जाता है। अपने उद्गम-स्रोत तक पहुँचने या उसमें जा मिलने की आकुलता, जिस आनन्दतत्त्व से हमारा मूल स्वरूप निर्मित हुआ है, उसे ही पुनः अनुभव करने की व्यग्रता—यही उपासना का हेतु है। इसी की साधना 'भक्ति' है। ज्ञान, कर्म और भक्ति का सम्बन्ध अन्योन्य है। सृष्टि की प्रत्येक रचना अथवा निर्माण की पृष्ठभूमि में काम की भावना निहित रहती है और यही ज्ञान, और कर्म की प्रेरणा प्रदान करती है। रचना-क्रम में परमात्मा से भाव और भाव से तप रूप ज्ञान तथा कर्म प्रकट होते हैं, जो पीछे नाम-रूपात्मक जगत् में परिणत हो जाते हैं। विलीनीकरण में यह क्रम विपरीत हो जाता है। नाम तथा रूप, भाव में और भाव, परमात्मा में लय को प्राप्त होते हैं। भक्त भी इसी प्रकार अपनी चित्तवृत्तियों को नाम-रूप के सहारे भाव में, फिर भाव के सहारे परमात्मा में लीन कर देता है। भक्ति-योग इसी भाव-पद्धति का दूसरा नाम है।[1]

प्रभु के प्रति अपनी प्रेम-भावना समर्पित करते हुए ऋग्वेद का एक ऋषि कहता है कि जैसे पति, पत्नी के प्रति आकर्षित है वैसे ही हम उस महान् देव के प्रति आकृष्ट हों। भक्त की भगवान् में आसक्ति और कामी पुरुष की स्त्री में आसक्ति—इन दोनों के आकर्षण का स्वरूप समान है। यद्यपि दोनों के धरातल में स्पष्ट ही महान् अन्तर है—एक बहिर्मुखी और दूसरा अन्तर्मुखी है। कामासक्त स्थिति में हम किसी वाह्य केन्द्र की परिक्रमा करने लगते हैं। किन्तु भक्ति की साधना में अपने ही चैतन्य-केन्द्र की प्रदक्षिणा करनी होती है। जो जिसकी प्रदक्षिणा करता है, उसके गुणों का आधार उसकी आत्मा में होता जाता है, क्योंकि वह उसके प्रभाव क्षेत्र में खिचकर उसके साथ तन्मय होता जाता है। रति के आकर्षण-केन्द्र नारी से हटकर जब पुरुष

---

[1] डॉ० मुन्शीराम शर्मा, भक्ति का विकास, पृष्ठ ७३।

अपने ही चैतन्य केन्द्र में समाविष्ट हो जाता है तब उसे अलौकिक स्वाद का अनुभव होता है। विषय-रस के अस्तित्व की सचाई जितनी ठोस है, उससे कहीं अधिक सत्यात्मक भक्ति-रस की उपलब्धि है। वस्तुत: के आधिदैविक धरातल से ही उतरकर वह रस स्थूल भूतों में आता है। प्राणों में जो मधु है, वही सब कुछ है। स्थूल भूतों का मधु तो उसी की अनुभूति है। जो मन विषयों से मिठास खींचता है वही जब मुड़कर भीतर की ओर मिठास ढूंढ़ता है तब उसे अपने चैतन्य केन्द्र में मधु का भरा हुआ छत्ता मिल जाता है। यह कोश मिल जाय, तभी सच्चा भक्ति का स्वाद आता है।[1] संक्षेप में यही भक्ति के स्वरूप और स्वाद का आस्वाद है जिसको चखकर चखने वाला भक्ति की कौन कहे, मुक्ति तक को उपेक्षित भाव से देखता है।

भक्ति का उद्भव और विकास—भारत के आदि साहित्य वेदसंहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में यद्यपि 'भक्ति' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किन्तु देवताओं की स्तुतियों (ऋग्वेद ६।१।५; ८।६३।३; ८।८१।३२; ७।३२।२२; १०।१६४।४) में स्रोता के हृदय की सर्वतोभावेन प्रेम एवं अनुराग की भावना व्यक्त हुई है। इन प्रेम संवलित भावुक स्तुतियों में भगवच्छरणागति की भावपूर्ण व्यञ्जना सन्निहित है। वैदिक ऋषियों का बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत होने पर भक्ति की भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा किसी एक की ओर अग्रसर होती है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की भावना से प्रेरित होकर उपनिषद्कालीन साधक इतस्ततः बिखरी हुई शक्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ अपने ध्यान को किसी एक रूप में केन्द्रित करता है और वहिर्मुख जीवन को अन्तर्मुख बनाते हुए अद्वैत-तत्त्व के साक्षात्कार पर विशेष बल देता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३ में उस परमप्रभु के प्रसाद से ही सिद्धि प्राप्ति का उल्लेख हुआ है। जिस पुरुष की देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं। उपनिषद्-साहित्य में यह 'भक्ति' शब्द का प्रथम प्रयोग माना जाता है। कठोपनिषद् १।२।२३ में 'नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूस्त्वाम्' के द्वारा भक्ति की ओर सङ्केत किया गया है। वृहदारण्यक ४।३।२१ में कहा गया है कि जिस प्रकार प्रिया के आलिङ्गन-पाश में बद्ध पुरुष की वाह्य और आन्तरिक चेतना लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार प्राज्ञ-आत्मा से

---

[1] कल्याण—भक्ति अङ्क, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'भक्ति का स्वाद' नामक निबन्ध से साभार उद्धृत।

आलिङ्गित जीव सारी सुध-बुध खोकर पूर्णकाम हो जाता है। यद्यपि उपनिषदों में ज्ञान का चूड़ान्त दर्शन विद्यमान है, फिर भी ज्ञान के कान्तार में भक्ति की अन्तस्सलिला मन्दाकिनी की सरस धारा सूखने नहीं पायी। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति, तीनों का समन्वय किया गया है। इसमें वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञपरक काम्य-कर्म के स्थान पर निष्काम-कर्म की प्रतिष्ठा करके निवृत्ति परायण ज्ञानकाण्ड के स्थान पर प्रवृत्ति परायण भगवद्-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित है।

आगे चल कर सात्वतों के उदय से (१५०० ईसा पूर्व) पाञ्चरात्र-मत में भक्ति को एक आन्दोलन का रूप प्राप्त होता है। वैष्णव-धर्म की प्राचीनतम संज्ञा भागवतधर्म या पाञ्चरात्र-मत है। जो आश्रितों को सुख दे, वह सात्, परमात्मा जिनका है, वे सात्वत अर्थात् महाभागवत हैं। पहले सात्वतों के उपास्यदेव वासुदेव, कृष्ण ये दो नाम पृथक्-पृथक् प्रयुक्त होते थे किन्तु आगे चलकर विष्णु-नारायण की भाँति दोनों एक-दूसरे के पर्याय बन गये और अन्त में वासुदेव-कृष्ण भी विष्णु नारायण से मिलकर अभिन्न हो गये और वैष्णव-धर्म इस प्रकार पूर्ण संघटित हो गया। पाञ्चरात्र धर्म, सात्वतधर्म का अन्तिम विकसित रूप था, इसमें भगवान् की भक्ति का समर्थन अनेक तन्त्रों या संहिताओं के आधार पर किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में शरणागति के छः प्रकारों—आनुकूल्यस्य संकल्प, प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्, रक्षिष्यतीती विश्वास, गोप्तृत्व वरणम्, आत्मनिक्षेप और कार्पण्यम् की विशद चर्चा की गई है। पाञ्चरात्रों के अनुसार जीव अनादि, चिदानन्दघन भगवत्स्वरूप ही है। सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् की निग्रह शक्ति जीव के विभुत्व, शक्तिमत्व तथा सर्वज्ञत्व का लोप कर देती है जिससे जीव क्रमशः अणु, किञ्चित्कर, तथा अल्पज्ञ बन जाता है और अपने पूर्व कर्मों के अनुसार भव-सङ्कटों के विकट कान्तार में भटकता रहता है। करुणावरुणालय-प्रभु के हृदय में जीव के क्लेशों को देखकर स्वतः कृपा का आविर्भाव होता है। यही 'कृपा' भगवान् की अनुग्रह शक्ति है। इसके द्वारा जीव, निर्मल ज्ञान प्राप्तकर चिद् स्वरूप ही आनन्दरस पूर्ण वैष्णव-धाम में प्रवेश कर जाता है।

पाञ्चरात्र-शास्त्र के अनुसार इष्ट देवता को मन्दिर में स्थापना कर सात्वत विधि से अर्चना करनी चाहिये। भगवान् की अनुग्रह शक्ति से संवलित भक्ति ही बद्ध जीव को संसार के दुःखों से मुक्ति दिलाने का एक मात्र साधन है। सर्व-स्वभाव से अपने आपको भगवान् के प्रति समर्पण कर देना ही शरणागति है। शरणागति, वैष्णव-भक्त की मानसिक भावना है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों का जल, सागर में जाकर तद्रूप हो जाता है, उसमें किसी प्रकार

का भेद नहीं दिखलाई पड़ता, उसी प्रकार जीव भी भगवान् में मिलकर 'ब्रह्मभावापत्ति' को प्राप्त हो जाता है। मुक्त दशा में जीव, ब्रह्म के साथ बिल्कुल एकाकार नहीं हो जाता प्रत्युत् संश्लिष्टावस्था में रहता है। इस प्रकार पाञ्चरात्र-मत, जीव-ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन करता हुआ भी परिणामवाद का पक्षपाती है।

भागवतभक्ति का स्वरूप : पुराणों का परिचय—ऋषियों के द्वारा वेदों और उपनिषदों में जिस परमतत्त्व के स्वरूप और महिमा का वर्णन किया गया है, वह सर्वसाधारण की बुद्धि से परे असाधारण दार्शनिक प्रज्ञा की अपेक्षा रखता है, अतः महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने कृपा करके उस गूढ़ परमतत्त्व को सरस, सुबोध भाषा में लिखकर पुराणों की रचना की है। प० बलदेव उपाध्याय के मत से 'सनातन धर्म की विजय-वैजयन्ती को धार्मिक नभो-मण्डल में उड़ाने वाले पुराण ही हमारी जनता के मानस को आकृष्ट करने वाले सबसे सुन्दर लोकप्रिय धर्मग्रन्थ हैं।' पुराणों में वैष्णव-धर्म का इतिहास एवं चर्या निहित है। अठारह पुराणों में लगभग नौ-पुराणों का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से नितान्त स्फुट है। मत्स्य, कूर्म, वाराह और वामन पुराण विष्णु के चार अवतारों के उद्देश्य स्वरूप तथा नारद, ब्रह्म-वैवर्त, पद्म, विष्णु और श्रीमद्भागवत-पुराण विष्णु के आध्यात्मिक स्वरूप एवं महिमा को प्रतिष्ठा करने के लिए रचे गये हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण—समस्त पुराणों में श्रीमद्भागवत की महिमा महान् है। इसे भक्ति-शास्त्र का सर्वस्व माना गया है तथा वेद रूपी कल्पवृक्ष का परिपक्व फल कहा गया है, जिसे शुकदेव जी ने अपनी मधुर वाणी के द्वारा पीयूषवर्षी बना डाला है (भाग० १।१।२)। बल्लभाचार्य ने भगवान् को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि भाषा' माना है। वैष्णव-धर्म के अवान्तरकालीन समस्त सम्प्रदाय—बल्लभ, चैतन्य आदि भागवत से अनुप्राणित हैं। भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले शाण्डिल्यभक्ति सूत्र एवं नारदभक्ति सूत्र भी इससे प्रभावित हुए जान पड़ते हैं।

भागवत का साध्य-पक्ष—भागवत में भगवान् की विभूतियों, सगुण अवतारों तथा लीलाओं का बड़ा ही रस-पूर्ण वर्णन किया गया है। ब्रह्मादि सब देवता भगवान् का गुणगान करते हुए भी उनके तात्विक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं—भागवत २।६।३६। भगवान् विशुद्ध केवल ज्ञानस्वरूप, सत्य, पूर्ण, अनादि, अनन्त नित्य, निर्गुण और अद्वय है—भाग० २।६।६२। भागवत का अध्यात्मपक्ष पूर्ण अद्वैतपरक तथा व्यवहारपक्ष विशुद्ध भक्तिपरक है। अद्वैत-ज्ञान के साथ भक्ति का समन्वय भागवत की विशेषता है। भागवतकार निर्गुण-सगुण, जीव-जगत, सब कुछ ब्रह्म को ही मानता है। ब्रह्म स्वयं स्वरूपतः निर्गुण है। माया के संयोग

से सगुण, अविद्याजन्य प्रतिविम्बरूप में जीव और विवर्त रूप में जगत् बन जाते हैं। मुनिगण जिसे ब्रह्म कह कर पुकारते हैं, वही परमपुरुष भगवान् का स्वरूप है। वे नित्यानन्दरूप, अशोक, शान्त, अभय, सत्-असत् से परे आत्म-तत्वरूप हैं। शब्दों के द्वारा उनका प्रकाशन असम्भव है—शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो २।७।४७। भागवत में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों के समान ही किया गया है। जिस परम प्रभु को योगी लोग 'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं' सम्बोधित करते हुए तद्‌भिन्न पदार्थों के त्यक्ताभिलाषी बन अनन्य प्रेम से आलिङ्गन करते रहते हैं, उसी को विष्णु का परमपद कहा जाता है—भाग० २।२।१८।

परमात्मा संसार की उत्पत्ति का निमित व उपादान दोनों कारण है, परन्तु उसका कोई कारण नहीं है। वह स्वयम्भू स्वयं स्थित है। इसी तरह इस जगत् को धारण करने वाली शक्ति या नियम भी वही है और वही उसके प्रलय का कारण है। मूल-तत्व आत्मा है, व्यापक-तत्व ब्रह्म है। सत्य से आत्मा की प्राप्ति है और आत्मा की प्राप्ति ब्रह्म है। यह आत्मा देह-बद्ध होकर जीवात्मा हो जाता है और देह-विकारों से रहित होने पर परमात्मा हो जाता है।[1] चित ही हमारे शरीर में सबसे अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली अंश है। ब्रह्माण्ड में जो शक्ति-चेतना, ज्ञान व क्रिया रूप में पायी जाती है वही शरीर में एकत्र होकर ज्ञाता व कर्ता के रूप में उपलब्ध होती है। समष्टिगत से वह व्यष्टिगत हो जाती है, अतः परमात्मा को पहिचानने के लिए चित्त पर ही प्रक्रिया करने की, उसी का सहारा लेने की आवश्यकता है।

साधन-पक्ष—भागवत, भक्तिशास्त्र का विश्वकोष माना जाता है। इसमें भक्ति के तत्वों एवं प्रेम-सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भक्ति के दो प्रधान भेद माने गये हैं—(१) साधन रूप—वैध और नवधा (२) साध्य रूप—प्रेमा या प्रेम लक्षणा। भक्ति तो हृदय का अनन्य भाव है जो बिना किसी अन्य अभिलाषा के—निर्हेतुक—भगवान् के प्रति हुआ करता है। हरिभाऊ उपाध्याय के कथनानुसार "भक्ति मन की दौड़ है। मन जिसे चाहता है उसकी तरफ दौड़ता है। इसी तरह वह जिसे चाहता है उसे अपनी तरफ खींचता भी है। यही आकर्षण-क्रिया भक्ति का बीज है। जब इसका रूप आकर्षक हो जाता है, प्रेम व समर्पणोत्सुक हो जाता है तब यह भक्ति कहलाती है।"[2] साध्यरूप प्रेमलक्षणा भक्ति का अनन्य अव्यभिचारी, एकान्त और अन्यभावसंस्पर्श शून्य चित्त का

---

[1] श्री हरिभाऊ उपाध्याय—भागवत धर्म, प्रथम सं० १९५१, अध्याय ३।३५, पृष्ठ ९२।

[2] वही—भागवत धर्म, अध्याय ३।४०।९८।

निर्मलतम प्रवाह कहा गया है जो निरन्तर अविच्छिन्न गति से भगवान् की ओर बहता रहता है। श्रीमद्भागवत में ज्ञान और कर्म से भक्ति को उच्चस्थान प्रदान किया गया है। उसके माहात्म्य-प्रकरण में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की सन्तान कहा गया है। जिनके हृदय में एक मात्र श्रीहरि की भक्ति निवास करती है, वे त्रिलोक में अत्यन्त निर्धन होने पर भी परम धन्य हैं क्योंकि इस भक्ति की डोर से बँधकर तो साक्षात् भगवान् भी अपना परमधाम छोड़कर उनके हृदय में आकर बस जाते हैं।[१] ज्ञान की हीनता दिखलाने के लिये भागवतकार ने एक बड़ी ही रोचक और व्यावहारिक उपमा की अवतारणा की है। हे भगवान्! कल्याण करने वाली आपकी भक्ति को छोड़कर जो प्राणी केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये क्लेश उठाते हैं उनके हाथ केवल क्लेश ही लगता है जिस प्रकार भूसा काटने वाले को अन्न की प्राप्ति न होकर केवल परिश्रम ही प्राप्त होता है।[२] भागवत के एकादशस्कन्ध में भगवान् स्वयं भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए उद्धव से कहते हैं कि हे सखे, जो सब ओर॰ से निरपेक्ष-बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदि की आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरण को सब प्रकार से मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्द स्वरूप मैं उसकी आत्मा के रूप में स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुख का अनुभव करता है वह विषयलोलुप प्राणियों को किसी प्रकार नहीं मिल सकता।[३] जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है, न देवराज इन्द्र का, न उसके मन में सार्वभौम सम्राट् बनने की इच्छा होती है और न वह स्वर्ग से श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है। वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता।[४]

हे उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढेर को भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति समस्त पाप-राशि को पूर्णतया जला डालती है।[५] योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-अनुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं जितनी दिनों-दिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति।[६] मैं सन्तों का प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा-

---

[१] श्रीमद्भागवत, ३।७३।

[२] वही—१०।१४।४।

[३] वही—११।१४।१२।

[४] वही—११।१४।१४।

[५] वही—११।१४।१६-२१।

[६] वही—११।१४।१६-२१।

भक्ति से ही पकड़ में आता हूँ। मुझे प्राप्त करने का एक मात्र यही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति, जन्म से ही चाण्डाल तक को जाति-दोष से मुक्त कर परम पवित्र बना देती है।[१] जब तक सारा शरीर पुलकित नहीं हो जाता, चित्त पिघल कर गद्गद् नहीं हो जाता, आनन्द के आँसू आँखों से नहीं छलकने लगते तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भक्ति की बाढ़ में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता, तब तक इसके शुद्ध होने की कोई सम्भावना नहीं है।[२] जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद् हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षण के लिये भी रोने का ताँता नहीं टूटता, जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है—मेरा वह भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है।[३] जैसे आग में तपाने से सोना मैल छोड़ देता है और निखर कर अपने असली शुद्ध रूप में आ जाता है वैसे ही मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा कर्मवासनाओं से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ।[४] भागवत में भक्ति के नौ प्रकार के साधनों का उल्लेख है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन या शरणागति।[५]—(तुलनीय रामचरित्र मानस अरण्यकाण्ड शवरी को नवधा भक्ति का उपदेश)।

मुक्ति से बढ़कर भक्ति के इस आकर्षण में एक ज्ञातव्य रहस्य है। ज्ञान के द्वारा उपलब्ध ब्रह्मानन्द की अपेक्षा प्रेमाभक्ति की कक्षा कहीं ऊँची है। ब्रह्मानन्द, रस नहीं होता परन्तु भक्ति, रस है। ब्रह्मानन्द तथा रस में महान् अन्तर है। भक्त, वासना के विनाश से जायमान मुक्ति की तनिक अपेक्षा भी नहीं रखता। वह तो वासना के विशोधन से उत्पन्न अलौकिक रसानन्द के लिए लालायित रहता है। इसीलिए मुक्ति की अपेक्षा भक्ति का स्थान कहीं ऊँचा और महत्वपूर्ण होता है।[६]

भागवत में सगुण साकार भगवान के अनेक अवतार और चरित्र लीलाओं का गान करते हुए भी उनका शुद्ध स्वरूप निर्गुण, निराकार बतलाया गया

---

[१] श्रीमद्भागवत, ११।१४।१९-२१।

[२] वही—११।१४।२३-२४-२५।

[३] वही—११।१४।२३-२४-२५।

[४] वही—११।१४।२३-२४-२५।

[५] वही—७।५।२३-२४।

[६] बलदेव उपाध्याय, भागवत-सम्प्रदाय, पृष्ठ १७८।

है। उसकी भक्ति का उसमें विरोध न होकर वह अमृतत्व का कारण मानी गई है। भगवत्प्राप्ति का एक मात्र उपाय प्रभु की साध्यरूप प्रेमलक्षणा भक्ति ही है। इस अमूल्य भक्ति को पाकर भक्त बड़ी-बड़ी योगसिद्धियाँ और मोक्ष को भी हेय समझता है। भक्ति की एकनिष्ठता की ज्वाला में जाति-दोष, कर्म-विपाक तथा पाप-राशि भस्म हो जाती है और साधक शुद्धात्मा होकर भगवद्रूप हो जाता है।

भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या : शाण्डिल्यभक्ति सूत्र-नारदभक्ति सूत्र—यों तो गीता और भागवत आदि में भक्ति को ज्ञानादि से श्रेष्ठ मान कर उसे प्रधानता दी गई है किन्तु ये भक्ति-शास्त्र नहीं कहे जा सकते। शास्त्रीय रूप में भक्ति का विवेचन करने वाले ग्रन्थ शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, नारदभक्ति सूत्र, रूपगोस्वामीकृत उज्जवलनीलमणि और भक्तिरसामृतसिन्धु तथा मधुसूदन सरस्वती का भक्तिरसायन आदि हैं। इनमें भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। अन्तिम तीन, सोलहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं और प्रथम दो, सम्भवत: गुप्त-साम्राज्य काल तक बन चुके थे। नारद भक्तिसूत्र की अपेक्षा शाडिण्ल्य भक्तिसूत्र अधिक प्राचीन है क्योंकि नारद ने अपने भक्तिसूत्र के १८ वें सूत्र में 'आत्मस्सविरोधेनेति शाण्डिल्य:' कह कर उनका नाम लिया है। ये दोनों ही भागवत पर आश्रित माने जाते हैं क्योंकि भागवत की भाँति इन दोनों में भी राधा की चर्चा नहीं है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रों का विशेष प्रचार उत्तरभारत में तथा नारद का दक्षिणभारत में कहा जाता है। भाषा-शैली और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से नारदभक्ति-सूत्र शाण्डिल्य की अपेक्षा अधिक बोधगम्य, सरस और प्रभाववादी है। सन्त कबीर पर नारदभक्ति सूत्रों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। वे अपने को 'नारदी भगति में मगन' हुआ कहते हैं। दोनों सूत्र-ग्रन्थों में ईश्वर विषयक अनुराग को ही भक्ति की संज्ञा दी गई है, किन्तु शाण्डिल्यभक्ति सूत्रों में कुछ विशेष रूप से की गई है। सोलहवीं शताब्दी में रचे गये उज्ज्वलनीलमणि तथा रसामृतसिन्धु में, प्रथय राधाकृष्ण के प्रेम पर आधारित और द्वितीय भक्ति का गम्भीर विवेचत करने वाले ग्रन्थ हैं किन्तु दृष्टिकोण-वैभिन्य से ये हमारे अध्ययन की सीमा में नहीं आते।

शाण्डिल्यभक्ति सूत्र—इसमें कुल एक सौ सूत्र हैं। शाण्डिल्य ने सूत्रसंख्या २९-३० में 'तामैश्वर्यपरां काश्यप: परत्वात्' और 'आत्मैकपरां बादरायण:' में काश्यप और बादरायण का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि शाण्डिल्य और नारद से भी पूर्व इन आचार्यों ने भक्ति की शास्त्रीय व्यवस्था की होगी किन्तु उनके ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं हैं। महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति, ईश्वर के

प्रति परम अनुराग रूपा है—सा परानुरक्तिरीश्वरे ।।२।। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अतः जीव की सत्ता साहजिक न होकर त्रिगुणात्मक प्रकृति की उपाधिजन्य है जैसे स्फटिक पर पड़ी हुई जपादि पुष्पों की अरुणिमा स्फटिक की नहीं, अपितु पुष्पों की है। उपाधि से रहित हो जाने पर जीव शुद्ध-बुद्ध-ब्रह्मभावापन्न हो जाता है परन्तु ज्ञान के द्वारा यह उपाधि नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि संसार अज्ञान कल्पित नहीं है जो ज्ञान से उसका नाश हो। केवल भक्ति ही इस त्रिगुणात्मिका उपाधि को नष्ट करने में समर्थ है—(स्वप्नेश्वर भाष्यकृत शाण्डिल्य भक्तिसूत्र से)। ईश्वर में जिसकी सम्यक् निष्ठा या भक्ति होती है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है—तत्संस्थास्यामृतत्वोपदेशात् ।।३।। ज्ञान, योग और कर्म—इन सब में भक्ति श्रेष्ठ है—तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ।।२२।। भक्ति, क्रियारूप नहीं है क्योंकि ज्ञान की भाँति वह भी कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती। भक्ति के उदय होने से ज्ञान क्षय होता है इसलिये ज्ञान और भक्ति की एकता नहीं है। द्वेष की विरोधिनी तथा रस शब्द से प्रतिपाद्य होने के कारण भक्ति रामस्वरूपा हैं—तयोपक्षयाच्च ।।५।।; द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्चरागः ।।६।। वह भक्ति मुख्य है, क्योंकि ज्ञानयोगादि इतर साधन उसकी अपेक्षा रखते हैं। अन्य साधन अङ्ग हैं और भक्ति अङ्गी है—सा मुख्येतरापेक्षित्वात् ।।१०।। क्योंकि ज्ञान गौण है और भक्ति प्रधान, इसीलिये ज्ञान का अभाव होने पर भी केवल परमानुराग रूप भक्ति से ही गोपाङ्गनाओं की मुक्ति हो गई—तदभावाद्वल्लवीनाम् ।।१४।। योग की भाँति भक्ति का राग से विरोध नहीं है, भक्ति स्वयं रागात्मिका है क्योंकि ईश्वर विषयक राग को भक्ति कहते हैं, अतः वह त्याज्य नहीं है। विषय राग ही त्याज्य है—हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् ।।२१।। आचार्य काश्यप के अनुसार भक्ति ऐश्वर्यपरा अर्थात् ईश्वर के ईश्वरत्व में होती है। बुद्धि जब एकमात्र परमेश्वर का ही आश्रय लेती है तभी वह मोक्षदायिनी होती है क्योंकि परमेश्वर सब जीवों से परे हैं—तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् ।।२९।। आचार्य बादरायण उसे आत्मैकपरा अर्थात् आत्मरति रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि परमात्मा और जीवात्मा का भेद कल्पित है, वास्तविक नहीं है—आत्मैकपरा बादरायणः ।। ३०।। किन्तु शाण्डिल्य उसे उभयपरा मानते हैं। उसके उभय-परक होने में कोई वैषम्य नहीं है। जैसे आयु-भेद से एक ही रामचन्द्र, बालक रामचन्द्र, युवा रामचन्द्र और वृद्ध रामचन्द्र—इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार उपाधि-भेद से जीव और ईश्वर का भी भिन्न व्यवहार होता है ।।३१-३२।।

भक्ति की दृढ़ता और निर्मलता का ज्ञान लौकिक प्रीति की भाँति वाह्य चिह्नों के द्वारा होता है। जैसे लोक में प्रियतम की चर्चा से प्रिया के पुलक,

अश्रुपात आदि होते देख उसकी आन्तरिक प्रीति का अनुमान लगा लिया जाता है उसी प्रकार भगवत्कथाश्रवण, नामकीर्तन आदि में रोमाञ्च, अश्रुपात आदि देखकर विशुद्ध एवं दृढ़ भक्ति का अनुमान करना चाहिये—तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोक वल्लिंगेभ्यः ।। सूत्र ४३ ।। भगवान् के प्रति एकान्त भाव या अनन्य प्रेम ही पराभक्ति है ।। सूत्र ८३ ।। भगवान् को समर्पित किया हुआ कर्म अपना शुभाशुभ फल देने में असमर्थ होने के कारण बन्धनकारक नहीं होता। उसकी वह बन्धनहीनता ही पराभक्ति की प्राप्ति का द्वार है—प्रबन्धोऽर्पणस्य मुखम् ।।६४।। पूर्व पुण्य के फलस्वरूप गौणी भक्तियाँ प्राप्त होती हैं और पराभक्ति की प्राप्ति में सहायक होती है। गौणी भक्ति के तीन भेद हैं—आर्त-भक्ति, जिज्ञासा भक्ति, अर्थार्थिता भक्ति। इन तीन भक्तियों का उल्लेख परा-भक्ति की स्तुति के लिये किया गया है ।। सूत्र ७२ ।। एक बार का किया हुआ स्मरण, कीर्तन आदि लघु होकर भी बड़े-बड़े पापों को नष्ट करने में पूर्ण समर्थ है ।। सूत्र ७६ ।। भक्ति में उच्च जाति से लेकर चाण्डालादि नीच जाति तक के मनुष्यों का समान रूप से अधिकार है ।। सूत्र ७८ ।। अनन्य भक्ति के द्वारा बुद्धि का आत्यन्तिक लय होने से परमात्मा का साक्षात्काररूप बोध प्राप्त होता है। जीवन की संसृति का कारण अज्ञान न होकर अभक्ति है। अनन्य भक्ति से ब्रह्मानन्द लक्षणा मुक्ति प्राप्त होने पर जीव का कर्म और भोक्तृत्व नष्ट हो जाता है, केवल आयु का बन्धन शेष रहता है अर्थात् शेष आयु में वह जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है। पराभक्ति से तत्वज्ञान का उदय होने पर विकारबुद्धि का लय हो जाता है और उसे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन होने लगता है, अतः भक्ति का आश्रय ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है—(सूत्र ९६–१००)।

नारदभक्ति सूत्र—इसमें कुल ८४ सूत्र हैं। देवर्षि नारद के अनुसार भगवान् में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।।सूत्र२।। वह अमृत स्वरूपा है—अमृतस्वरूपा च ।।३।। जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।।४।। प्रेम स्वरूपा भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य को किसी वस्तु के पाने की साध नहीं रह जाती, न वह शोक करता है न द्वेष, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे (विषय भोगों की प्राप्ति में) उत्साह होता है—यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ।।५।। वह आनन्द से मत्त, स्तब्ध (निष्क्रिय) और आत्माराम बन जाता है—यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति ।।६।। वह प्रेमाभक्ति कामना युक्त नहीं है क्योंकि वह निरोध स्वरूपा है यानी त्यागमयी है—सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ।।७।। भगवान् की भक्ति करने में लौकिक-वैदिक कर्मों, भगवद्

विरोधी सभी बातों एवं अन्य आश्रयों का त्याग करना पड़ता है। प्रियतम भगवान् के अतिरिक्त दूसरे समस्त आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है तथा लौकिक और वैदिक कर्मों में भगवान् के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता है ।।८।११।। तथा निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ।।८।। तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ।९।। अन्याश्रयाणां त्यागेऽनन्यता ।।१०।। लोक वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ।।११।। परन्तु विधि-निषेध से परे अलौकिक प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का मन में (दृढ़ निश्चय करने के पश्चात् भी) जब तक प्रेमोन्मत्तता की दशा में कर्म का ज्ञान न छूट जाय तब तक शास्त्र की रक्षा करनी चाहिये अर्थात् भगवद्नुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये। ऐसा न कर मनमाना आचरण करने से पतित होने की आशङ्का रहती है। लौकिक कर्मों को भी (वाह्य ज्ञान रहने तक विधिपूर्वक) करना चाहिये, पर भोजनादि कार्य तो, जब तक शरीर रहेगा, तब तक होते ही रहेंगे ।।१२-१४।। श्री व्यास जी के मतानुसार भगवान् की पूजादि में अनुराग होना भक्ति है—पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ।।१६।। गर्ग के मत से भगवान् की कथादि में अनुराग होना भक्ति है —कथादिष्विति गर्गं ।।१७।। शाण्डिल्य के मत से आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है—आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ।।१८।। परन्तु देवर्षि नारद के मत से समस्त कर्मों और आचारों को भगवान् के लिये अर्पण करना और उसके विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति है—नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।।१९।। प्रेमरूपा भक्ति की महिमा बतलाते हुए नारद जी कहते हैं कि वह कर्म, ज्ञान और योग, इन सबसे श्रेष्ठ है—सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ।।२५।। क्योंकि वह किसी फल-प्राप्ति की अकांक्षा से नहीं की जाती, वह स्वयं अपना फल है—फलरूपत्वात् ।।२६।। भक्ति में कर्म और ज्ञान-योग का सा अहंकार नहीं होता और भगवान अभिमानियों से द्वेष तथा दैन्य भाव रखने वालों से प्रीति करते हैं—ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ।।२७।। किन्हीं आचार्यों के मत से भक्ति का साधन ज्ञान ही है—तस्या ज्ञानमेव साधनमित्यैके ।।२८।। दूसरे आचार्य भक्ति और ज्ञान को एक-दूसरे के परस्पर आश्रित समझते हैं—अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ।।२९।। परन्तु नारद के मत से भक्ति स्वयं फलरूपा है—स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ।।३०।। भक्ति की फलरूपता को समझाने के लिये देवर्षि कहते हैं कि राजगृह और भोजनादि में ऐसा ही देखा जाता है (वहाँ केवल जानने-सुनने से काम नहीं चलता, न तो जान लेने मात्र से राजा की प्रसन्नता होगी और न भूख ही मिटेगी—राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्। न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ।।३१-३२।। अतएव (संसार के बन्धन से) मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये—

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ।।३३।। इसके पश्चात् भक्ति के साधन और सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि विषय-वासना का त्याग, अखण्ड भजन और लोकसमाज में भी भगवद्-गुण श्रवण एवं कीर्तन से भक्ति साधन सम्पन्न होता है ।। सूत्र ३४-३७ ।। परन्तु सबसे मुख्य साधन बड़ों (गुरु की) और भगवान् की लेश मात्र कृपा ही है—मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।।३८।। बड़ों (महापुरुषों या सन्तजनों) का सङ्ग अत्यन्त दुर्लभ है—महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।।३९।। वह भी भगवान् ही की कृपा से प्राप्त होता हैं—लभ्यतेऽपि तत्कृपमेव ।।४०।।—बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता—तुलसी । क्योंकि भगवान् और उनके भक्त में भेद-भाव का अभाव है—तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ।।४१।। अतएव उस (महत्संग) की ही साधना करो—तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ।।४२।।

प्रेमा रूपा भक्ति और गौणी भक्ति के स्वरूप को बतलाते हुए नारद जी कहते हैं कि प्रेम का स्वरूप गूंगे के स्वाद की भाँति अनिर्वचनीय है—अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।।५१।।; मूकास्वादनवत् ।।५२।। वह गुण रहित, कामना रहित, प्रतिक्षण बढ़ता हुआ तथा अखण्ड एवं अत्यन्त सूक्ष्म अनुभव रूप है—गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।।५४।। इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है—तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाष्यति तदेव चिन्तयति ।।५५।। गौणी भक्ति (सत्व, रज, तमरूप) गुणों के भेद से या आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी के भेद से तीन प्रकार की होती है । इनमें तामसी की अपेक्षा राजसी और राजसी की अपेक्षा सात्विकी भक्ति उत्तम है—।। सूत्र ५६-५७ ।।

स्वानुभूति रूप, शान्तिरूप, परमानन्द रूप होने के कारण भक्ति, ज्ञान-योगादि की अपेक्षा सुलभ है ।। सूत्र ५८—६०।। भक्ति के सिद्ध हो जाने पर लोक हानि की चिन्ता भक्त को नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह अपने आपको और लौकिक-वैदिक (सब प्रकार के) कर्मों को भगवान् के अर्पण कर चुका है । सब आचार भगवान् के अर्पण कर चुकने पर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी भगवान् के प्रति ही करना चाहिये ।। सूत्र ६१-६५ ।। निष्काम होकर नित्य दास्य और नित्य कान्ता भाव से भगवान् से प्रेम करना चाहिये, ऐसे अनन्य भक्त ही श्रेष्ठ हैं । ये कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुपूरित नेत्रों वाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलों और पृथ्वी को पवित्र कर देते हैं—।। सूत्र ६६-६८ ।। भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद नहीं है, क्योंकि सब भक्त भगवान् के ही हैं ।। सूत्र ७२-७३ ।।

भक्त को वाद-विवाद के पचड़े में न पड़ना चाहिये । क्योंकि वाद-विवाद

अनिश्चित है और वह बढ़ता ही रहता है। भक्तों को अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन करना चाहिये और निश्चिन्त होकर सर्वभाव से भगवान् का भजन करना चाहिये। आधा क्षण भी भजन बिना, व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये, इससे भगवान् शीघ्र ही भक्तों के हृदय में प्रकट होते हैं क्योंकि तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्वों में भक्ति ही श्रेष्ठ है ।। सूत्र ७४-८१ ।।

प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी ११ प्रकार की होती है—१—गुणमाहात्म्यासक्ति (भगवान् के गुणों और माहात्म्य में आसक्ति) २—रूपासक्ति, ३—पूजासक्ति, ४—स्मरणासक्ति, ५—दास्यासक्ति, ६—सख्यासक्ति, ७—कान्तासक्ति ८—वात्सल्यासक्ति, ९—आत्मनिवेदनासक्ति, १०—तन्मयतासक्ति और ११—परम विरहासक्ति। सनत्कुमार, व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डीन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्य लोगों की निन्दा-स्तुति का कुछ भी भय न कर एकमत से ऐसा ही कहते हैं—कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है—(सूत्र ८२-८३); देवर्षि नारद विरचित भक्ति सूत्र (व्याख्याकार, हनुमान प्रसाद, पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर)।

वैष्णव-भक्ति का विकास: विष्णु की महत्ता—'विष्णु' शब्द की उत्पत्ति 'विष्लृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है व्याप्त होना। जो व्यापक है, वह विष्णु है। वैष्णव-मत अत्यन्त प्राचीन है। इस मत ने अपनी उदार शिक्षा, उच्चतम आदर्श एवं उन्नत तत्वज्ञान के द्वारा भारत का बड़ा कल्याण किया है। वैष्णव-धर्म में भगवान् विष्णु और उनके अवतारों की उपासना ही प्रधान मानी जाती है। ऋग्वेद में हमें विष्णु से सम्बन्धित ६, ७ सूक्त प्राप्त होते हैं। मैकडानेल के मतानुसार ऋग्वेद में विष्णु एक साधारण देवता के रूप में चित्रित किये गये हैं। ऋग्वेद १।१५४ के विष्णु-सूक्त में जिस विष्णु का यशोगान किया गया है, वह सूर्य के रूप में है क्योंकि सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा समस्त संसार में व्याप्त है और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देने के कारण 'त्रिविक्रम' कहलाता है। उनकी महिमा बड़े-बड़े डगों द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्योलोक को माप देने पर ही निर्भर है। मनुष्य केवल विष्णु के दो पग— पृथ्वी और अन्तरिक्ष को ही देख सकते हैं। तृतीय पद विष्णु का परमपद है। वह पक्षियों की उड़ान से भी परे है। उसी ओर विद्वज्जन सदा टकटकी लगाकर देखा करते हैं। ब्राह्मणों की रचना-काल तक उनके नाम का प्रयोग 'यज्ञोऽहं वै विष्णुः' आदि के द्वारा यज्ञ के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। कभी-कभी उन्हें इन्द्र से भी बड़ा बताया जाने लगा ।। ऋग्वेद ७।९९ ।। शतपथ ब्राह्मण १।२।५ में आई हुई कथा के अनुसार विष्णु पहले वामन रूप में दिखलाई पड़ते हैं और फिर लेटकर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सारे भूमण्डल को

घेर लेते हैं। यहाँ पर विष्णु में एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव परिलक्षित होता है। यहाँ पर वैदिक काल के सबसे पराक्रमी देवता देवेन्द्र का पद उनके हाथ से छिनकर विष्णु के पास पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। इन्द्र-सूक्त के समानान्तर विष्णु-सूक्त की रचना की जाती है और इन्द्र की महत्तासूचक अनेक पर्याय विष्णु के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। ऋग्वैदिक विष्णु में अन्य देवताओं की अपेक्षा मानवोचित गुणों का अधिक विकास हुआ है और उनमें अलौकिक व्यापकत्व, अतुलनीय पराक्रम, अनुपम अमृतत्व एवं पोषण शक्ति है। पुराणों में विष्णु के नाना अवतारों की कथा विस्तार के साथ अङ्कित है। वामन, वराह, मत्स्य एवं कूर्मावतार विष्णु के अद्भुत पराक्रम के साक्षी हैं। पाञ्चरात्रों ने जिस यज्ञपुरुष नारायण को अपना आराध्य माना था, यह विष्णु ही हैं। यह विष्णु वेद के ज्योतिःस्वरूप, निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म ही है। विष्णु-सहस्रनाम में विष्णु की महता और गुणों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। महाभारत में इन्हीं विष्णु के साथ वासुदेव कृष्ण की एकता स्थापित की गई है। इस प्रकार वैदिक देव विष्णु, जागतिक देव नारायण और ऐतिहासिक देव वासुदेव कृष्ण, तीनों वैष्णवधर्म के आराध्य-देव बनते हैं। गोपालकृष्ण की लीलाएँ इन्हीं के साथ बाद में संयुक्त हो जाती हैं। वैष्णवधर्म के विष्णु, हरि, कृष्ण और नारायण चारों देव एक ही हैं, इस मत का प्रतिपादन ब्रह्मपुराण अध्याय ७० के इन श्लोकों—विष्णुत्वं श्रूयते भस्य हरित्वं च कृते युगे। वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च॥ नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवो अव्यय एव च...॥ में हुआ है।[१]

वैष्णव-धर्म—वेदों में भक्ति का उद्गम खोजते हुए उपनिषद्, पाञ्चरात्र, गीता, भागवत एवं शास्त्रीय व्याख्या करने वाले सूत्र-द्वय के आधार पर भक्ति-धारा में अवगाहन करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि भक्ति की दो शाखाएँ हैं—प्रथम वैदिक या औपनिषदिक भक्ति और द्वितीय आगमिक, तान्त्रिक अथवा स्मार्त। पहले प्रकार की भक्ति वेद और उपनिषदों पर आधारित है और द्वितीय आगम अथवा स्मृति ग्रन्थों पर। सात्वत धर्म का अन्तिम विकसित रूप पाञ्चरात्र-धर्म था। इसे परिस्थितियों के अनुसार अनेक नवीन बातों को अपनाना पड़ा। निरीश्वरवादी जैन एवं बौद्ध धर्मों से प्रेरणा ग्रहण कर सात्वत-धर्म अन्य कई विशिष्ट धार्मिक विचारों के साथ समन्वित होकर वैष्णव-धर्म बन गया। उपर्युक्त वैदिक और तान्त्रिक मतों का समन्वय गीता में हुआ। गीता में उपनिषदों की अनेक उक्तियाँ किंचित् परिवर्तन के साथ ज्यों की त्यों अवतरित की गई हैं। उसमें सभी उपनिषदों का सार सिमट कर आ गया है—ऐसा कहा जाता है।

---

[१] डॉ० मुन्शीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृष्ठ ३३०।

किन्तु किसी भी प्रामाणिक उपनिषद् में वासुदेव कृष्ण को ब्रह्म का सर्वोच्च पद नहीं दिया गया। गीता में कृष्ण को परब्रह्म, पुरुषोत्तम और परमात्मा के नाम से पुकारा गया है। वैदिक अथवा औपनिषदिक ब्रह्म तथा स्मार्तोक्त वासुदेव का समन्वय गीता की विशेषता है। गीता द्वारा प्रतिपादित इस सामञ्जस्यपूर्ण निष्ठा को नवीन वैष्णव-धर्म ने बड़ी रुचि के साथ अपनाया। भागवत में निर्गुण रूप के साथ भगवान् के अनन्त अवतारों की भी चर्चा की गई है। अवतारवाद का यह व्यापक और उदार सिद्धान्त तत्कालीन समस्त परस्पर विरोधी धर्मों को समेट कर एक कर लेने की अपने में अद्भुत क्षमता रखता है। इसी समन्वय के कारण वैदिक तथा अन्य विरोधी मतों को पचाकर वैष्णवधर्म प्रबल हो उठा और सुदूर बाली, जावा, सुमात्रा और कम्बोज देश तक उसका व्यापक प्रचार हुआ।

वैष्णव-धर्म को अपना तत्कालीन रूप धारण करने में एक नवीन घटना ने भी कम योग नहीं दिया। डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार ईसा पूर्व पहली शताब्दी तक के किसी भी प्रामाणिक भागवतधर्म सम्बन्धी ग्रन्थ अथवा शिलालेख में गोपालकृष्ण की चर्चा नहीं पाई जाती और न कोई परिचय ही मिलता है। किन्तु ईसा पश्चात् की शताब्दियों में कृष्ण कथा की भरमार होने लगती है, अतएव अनुमानतः दोनों समयों के बीच कोई न कोई नवीन घटना अवश्य घटी होगी। डॉ० भाण्डारकर इस नवीन घटना का आधार किसी आभीर जाति का पश्चिम के देशों से घूमते हुए आकर भारतवर्ष में मथुरा प्रदेश के आस-पास से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड़ के प्रान्तीय क्षेत्रों में फैलकर बस जाना मानते हैं। इस जाति का मुख्य उद्यम गो-पालन और चारण था। इस जाति का आराध्य देव भी एक बाल-गोपाल था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण में सम्मिलित कर लिया गया।[1] नवीन वैष्णवधर्म का संघटन वस्तुतः चार विचारधाराओं के परिणामस्वरूप हुआ जिनमें पहली विचारधारा के मूल स्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी के दार्शनिक देवता नारायण थे, तीसरी के ऐतिहासिक देवता वासुदेव और चौथी के आभीर देवता बाल गोपाल थे और इन चारों ने नवीन वैष्णवधर्म के निर्माण में कुछ न कुछ सहयोग अवश्य दिया।

वैष्णव भक्ति के प्रसार के पाँच युग—भगवान् के प्रति ज्ञान-ध्यान एवं निवृति प्रधान इस युग को विद्वानों ने **वैष्णव भक्ति का प्रथम युग** माना है। राजा वसु उपरिचर के साथ **द्वितीय युग** प्रारम्भ होता है जिसमें अहिंसक यज्ञों की प्रधानता थी। यह युग, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की सम्मिलन भूमि पर स्थित

---

[1] डॉ० भाण्डारकर, वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म, पृष्ठ ५२।

था। महाभारत के साक्ष्य पर राजा उपरिचर के पश्चात् वैष्णवी भक्ति की धारा लुप्त-प्राय सी जान पड़ती है और पुनः द्वापर के अन्त में कृष्ण के द्वारा उसका उद्धार होता है। उन्हीं के साथ वैष्णव भक्ति के तृतीय युग का प्रारम्भ होता है। गीता में वे ज्ञानयोग की प्रशंसा करते हुए भी अन्त में निष्कर्ष रूप में यही कहते हैं—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। यही भक्ति-भावना गीता की आत्मा है। इस युग में अवतारवाद की प्रतिष्ठा का बाहुल्य हो जाता है। मत्स्य, कूर्म, वराह जैसे प्राणी भगवान की विभूतियों के केन्द्र मान लिये जाते हैं। अवतारवाद की बढ़ती हुई लोकप्रियता के सम्मुख व्यूहवाद की भावना फीकी पड़ जाती है। उपासकों का ध्यान भगवान के सृष्टि निर्माणपरक गुणों की अपेक्षा ऐश्वर्यों की ओर अधिक रुचि लेने लगता है। अवतारवाद की इस शृंखला में निरीश्वरवादी महात्मा बुद्ध तक आ जाते हैं। इस प्रकार अवतारों की संख्या छः से प्रारम्भ होकर दस होती हुई भागवतपुराण में तेईस तक पहुँच जाती है। भागवत-धर्म ने हिंसापूर्ण सकाम यज्ञों को लेकर वैदिक धर्म से कभी भी समझौता नहीं किया किन्तु कालान्तर में जब उसे निष्काम भाव से अहिंसक यज्ञ करने वालों का एक ऐसा ब्राह्मण दल मिल जाता है तब भागवत और वैदिक धर्म दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

वैष्णवभक्ति के चतुर्थ युग में मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ होता है। मन्दिरों के निर्माण के साथ विपुल शृङ्गारसज्जा से विभूषित देव-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की जाती है। आन्तरिक ध्यान और उपासना के स्थान पर बहिर्मुखी प्रवृत्ति का जन्म होता है। षोडशोपचार में कलश, शङ्ख, घण्टी, पुष्प, धूप-दीप, आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, नैवेद्य, ताम्बूल, आरती, परिक्रमा आदि सम्मिलित कर लिये जाते हैं। इनमें कुछ वस्तुएँ वातावरण को पवित्र करने तथा कुछ मानसिक शुद्धि के लिये हैं।

वैष्णव भक्ति के चतुर्थ युग की विशेषताएँ जन-परम्परा में पोषित दक्षिण के आड्वार सन्तों और शास्त्रीय पद्धति के अनुयायी आचार्यों में भी दिखलाई पड़ती है। इसी युग में उत्तरी भारत में वैष्णवधर्म को राजधर्म के रूप में स्वीकार करने वाला गुप्त-साम्राज्य स्थापित होता है। गुप्तकालीन मूर्ति-कला के ऊपर वैष्णव प्रभाव का दर्शन स्पष्ट है। गुप्त-सम्राट् अपनी पताका पर विष्णु के वाहन गरुड़ का चिह्न अङ्कित करवाते हैं। गुप्तकाल में विष्णु के विभिन्न रूपों और नाना अवतारों की मूर्तियों का निर्माण इतनी मधुरिमा के साथ होता है कि कलापारखी उन्हें देखकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। इसी काल में १०८ पाञ्चरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। प्राचीन पुराणों के नवीन संस्करण इसी युग में प्रस्तुत किये गये। पौराणिकों ने निर्गुण ब्रह्म को लोकग्राह्य

बनाने के लिए साकार रूप प्रदान किया। विविध गुणों के आधार पर नाना देवी-देवताओं की अवतारणा की गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन रूपों में प्रभु की सृजन, पालन तथा संहारक शक्तियों का मानवीकरण किया गया और लोकरञ्जन की भावना से भगवान् के नाम, रूप और लीलाओं का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया गया।

वैष्णव-भक्ति के पञ्चम युग में भगवान् की लीलाओं को विशिष्ट रूप से स्थान मिला। आड्वारों की भक्तिसाधना के बारे में सन्त-साहित्य की धार्मिक पृष्ठभूमि में विचार किया जा चुका है। दक्षिण के इन्हीं आड्वार भक्तों ने सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक प्रेमपूर्ण ललित-वचनों से जनता को आत्मविभोर कर दिया था। तत्पश्चात् मध्ययुग के प्रसिद्ध आचार्यों—रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, तथा विष्णु स्वामी आदि ने वैष्णवधर्म की विजय-वैजयन्ती चारों ओर फहराई।

भक्ति-आन्दोलन के तीन उत्थान—पण्डित बलदेव उपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भागवत सम्प्रदाय' में भक्ति-आन्दोलन को तीन उत्थानों में इस प्रकार विभक्त किया है—

(१) प्रथम उत्थान—(१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० तक) इसमें उन्होंने सात्वत, पाञ्चरात्र, एवं भागवत भक्ति का उल्लेख किया है।

(२) द्वितीय उत्थान—(७०० ई०—१४०० ई० तक) इस काल में उपध्याय जी ने आड्वार-भक्तों एवं आचार्यों की शास्त्रीय भक्ति का उल्लेख किया है।

(३) तृतीय उत्थान—(१४०० ई०—१९०० ई०) इसका प्रारम्भ वे उत्तरभारत में १५वीं शती के प्रारम्भ से मानते हैं जो विशुद्ध जन-आन्दोलन था, क्योंकि यह केवल शास्त्रचिन्तक विद्वानों को ही स्पर्श नहीं करता प्रत्युत् जनता को पूर्ण रूप से आन्दोलित करता है। इस युग की दो शाखाएँ मुख्य हैं—राम-शाखा तथा कृष्ण-शाखा। प्रथम शाखा के उदय का स्थान काशी है जहाँ स्वामी रामानन्द जो इसके प्रवर्त्तन का विराट् कार्य सम्पन्न कर भारतीय-समाज में एक महती धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। वे भक्ति का द्वार निम्न से निम्न जाति के व्यक्ति के लिये भी खोल देते हैं और मुसलमानों के भीषण अत्याचारों से कराहने वाली हिन्दू जनता के उद्धार का मार्ग भो प्रशस्त कर देते हैं। उन्हीं से निर्गुण और सगुण भक्ति की धाराएँ प्रवाहित होती हैं जिसमें प्रथम के सबल प्रचारक कबीर और द्वितीय के समर्थ प्रतिनिधि तुलसीदास हैं। कृष्ण-शाखा का उद्गमस्थल श्रीकृष्ण की लीलास्थली वृन्दावन है। यहाँ चार सम्प्रदाय क्रमशः उत्पन्न हुए—निम्बार्क, बल्लभ, चैतन्य और राधावल्लभीय। ये समस्त सम्प्रदाय भागवत की देन है, इसीलिये ये भागवत को प्रस्थानत्रयी के समान या उससे

भी बढ़कर मानते हैं। कृष्ण-शाखा के कवियों में हिन्दी के अष्टछाप के कवि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये आचार्य वल्लभ की अनुकम्पा तथा प्रसाद के परिणत फल कहे जाते हैं। आनन्दघन, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि रसिक कवियों की कल्पना को अग्रसर करने में निम्बार्क-सम्प्रदाय का विशेष हाथ है। इसमें मथुरा की ब्रजभाषा समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में निबद्ध करने वाली राष्ट्र-भाषा थी। चैतन्य-मत के मैथिलपदकारों ने इसी भाषा में अपने अमर काव्यों की रचना करके बंगला-साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। असमी, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम तथा तमिल भाषाओं में वैष्णव-काव्यों की रचना की प्रेरणा, इसी जन-आन्दोलन से प्राप्त हुई। इस प्रकार वैष्णव-भक्ति के सार्वत्रिक विकास के लिये १५वीं शती भारत के धार्मिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी जिसने उत्तर तथा दक्षिण भारत में सर्वत्र वैष्णव-भक्ति की धारा प्रवाहित कर उसे एकता के सूत्र में बांधने का प्रशंसनीय प्रयास किया।

●●

४ ख. सन्त-साहित्य में भक्ति-साधना

द्रविड़-भक्ति—प्रसिद्ध है कि भक्ति का जन्म द्रविण देश में हुआ था। सातवीं-आठवीं और नवीं शताब्दी में सुदूर दक्षिण के आड्वार भक्तों में शक्ति का प्रचुर प्रचार था। आध्यात्मिक साधना से सम्पन्न ये बारह आड्वार पहुँचे हुए भक्त थे और आज भी दक्षिण के कई मन्दिरों में इनकी प्रतिमाओं की पूजा भगवान् की मूर्तियों के साथ की जाती है। इन आड्वार भक्तों की भक्ति-साधना के प्रधान लक्षण अपने परम आराध्य के प्रति अनन्य भावना, आत्म समर्पण की तीव्र आकांक्षा, साधारणतम सात्विक जीवनचर्या, सांसारिकता के प्रति अनासक्ति एवं कृष्णावतार की विविध लीलाओं का भाव-विह्वल गीतों में पूर्ण तल्लीनता के साथ गायन आदि है। इनमें न तो किसी प्रकार की ऊँचनीचपरक जाति-भेद की भावना है और न इन्होंने स्त्री-पुरुष के भेद-भाव को किञ्चित प्रश्रय दिया है। शूद्र-कुल में उत्पन्न नम्म आड्वार या शठगोपन् एवं गोदा देवी या आदल का स्थान आड्वार भक्त-परम्परा में बड़े महत्व का है। इस प्रकार 'जाति-पाति पूछै नहिं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई' वाले रामानन्दी सुधारवादी सिद्धान्त के मूल बीज इन भक्तों में निहित माने जा सकते हैं। नम्म आड्वार की शिष्य-परम्परा में प्रथम आचार्य रङ्गनाथ मुनि थे, कालान्तर में इन्हीं की शिष्य-प्रशिष्यपरम्परा ने वैष्णव-भक्ति के शास्त्रीय स्वरूप का निर्धारण किया। दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ती हुई भक्ति-धारा ने महाराष्ट्र प्रदेश को भी अछूता नहीं छोड़ा और वारकरी-सम्प्रदाय के भक्तों ने विट्ठल को अपना आराध्य स्वीकार कर अनन्य प्रेम-भावना के साथ निर्गुणभक्ति का प्रचार किया।

उत्तरीभारत में भक्ति के विकास में नामदेव का योग—उत्तरीभारत में नामदेव ने जिस 'निर्गुण पन्थ' का प्रचार किया था, वह महाराष्ट्र का वारकरी-पन्थ ही था जिसने कर्मकाण्ड के जञ्जालों को काटकर सर्वसुलभ भक्ति-मार्ग को अपनाया एवं वाह्याडम्बरों की उपेक्षा कर आन्तरिक प्रेमसाधना पर विशेष जोर दिया। नामदेव ने भक्ति-साधना के लिये पुरोहितों का माध्यम स्वीकार न करके स्वयं विट्ठल का भजन एवं उसकी नैष्ठिक-भक्ति प्रारम्भ की। तीर्थसेवन, व्रत-दानादि को तुच्छ ठहराकर भक्तियुक्त नामस्मरण को महत्ता प्रदान की। वारकरी-सम्प्रदाय के सन्तों ने अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए भी निर्गुण-ब्रह्म की भक्ति-साधना को ही सर्वोत्तम माना। जिस प्रकार गङ्गा, समुद्र से पृथक् रूप होने से कभी मिल नहीं सकती, उसी प्रकार परमात्मा के साथ

तद्रूप हुए बिना भक्ति का होना भी असम्भव है। निर्गुण की इस अद्वैतभक्ति में सगुण रूप की भी एक आवश्यक भूमिका मानी गई है एवं तादात्म्य स्थापित करने के लिये भगवन्नाम का निरन्तर स्मरण एवं उनके अलौकिक गुणों के कीर्तन का विधान किया गया है। इस प्रकार इन भक्तों की साधना का स्वरूप भक्ति-ज्ञान समन्वित है, फिर भी भक्ति ही एक मात्र काम्य है।

नामदेव की भक्ति-साधना—सन्त नामदेव के आराध्य 'गोविन्द' एक होते हुए भी अनेक हैं, कण-कण में समाये हुए हैं, वे यत्र-तत्र सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। माया के चित्र-विचित्र चाकचिक्य में खोया होने के कारण कोई बिरला व्यक्ति ही उस प्रभु को पहचान पाता है। सर्वत्र गोविन्द ही गोविन्द है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं। मुरारि ही एक मात्र प्रत्येक प्राणि-मात्र के घट-घट में व्याप्त हैं।[1] ऐसे आराध्य का आराधन करने के लिये नामदेव अपने जातिगत संस्कारों के अनुसार मन को गज और जिह्वा को कैंची बनाकर यम-यातना के बन्धन को नाप-नाप कर काटते हैं। जाति-पाँति से उनका कोई सरोकार नहीं है क्योंकि वे तो दिन-रात रामनाम की स्मरण-साधना में तल्लीन रहते हैं। भक्ति-भाव से अपने सीने-पिरोने का कार्य करते हुए, बिना राम-नाम के वे एक घड़ी भी नहीं जी सकते। हरि के गुणों का गान करते वे आठों पहर अपने स्वामी का ध्यान करते रहते हैं—

मन मेरो गज जिहवा मेरी काती, मपि मपि काटउ जम की फासी।
कहा करउ जाती, कहा करउ पाती, राम को नामु जपउं दिन राती।
रांगनि रांगउ सीवनि सीवउ, राम नाम बिनु घरीअ न जीवउ।
भगति करउ हरि के गुन गावउ, आठ पहर अपना खसमु धिआवहु।
सुइने की सुई, रूपै का तागा, नामे का चितु हरि सउ लागा।[2]

कभी नामदेव बड़ी तन्मयता के साथ प्रभु को सम्बोधित करते हुए कहने लगते हैं कि यदि आप गिरिवर हैं तो हम (उसमें आनन्द क्रीड़ा करने वाले) मयूर हैं। यदि आप चन्द्रमा हैं तो हम (आपकी ओर अनिमेष दृगों से देखने वाले) चकोर हैं। यदि आप तरुवर हैं तो हम (उसमें बसेरा लेने वाले) पंछी हैं, यदि आप सरोवर हैं तो हम मछली हैं (सरोवर से पृथक् होते ही हम प्राण-विहीन हो जायेंगे), यदि आप दीपक हैं तो हम आप ही में अखण्ड जलने वाली ज्योति हैं तथा आप ऐसे राहगीर के साथ-साथ चलने वाले मञ्जिल के मीत हैं। तुझ शिव स्वरूप

---

[1] वियोगी हरि द्वारा सम्पादित सन्त सुधासार—नामदेव, पद १।

[2] आचार्य विनयमोहन शर्मा—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन (नामदेव के हिन्दी पद), पृष्ठ २४२।

प्रभु की पूजा के लिये हम बेल-पत्र के समान अपने को अर्पित कर देंगे, आपके प्रति हमारी भक्ति-भावना अनन्य है, द्वैत भाव की नहीं।[१] चाहे कोई कोटि उपाय क्यों न करे किन्तु बिना राम-भजन के मुक्ति नहीं। जब तक प्रभु के चरण-कमलों में सच्चा अनुराग नहीं उत्पन्न होता तब तक हे साधो, होम, नेम-व्रत, तीर्थ-सेवन एवं वनखण्ड में वास करना व्यर्थ हैं एवं वे सब प्रवञ्चना मात्र हैं। अनमोल नर-तन पाकर जिसने राम का गुणगान नहीं किया और संसार की वासनाओं में पशुवत् भूला रहा, उसे नामदेव पुकार कर चेतावनी देते हैं कि तेरे सिर पर यमराज शर-सन्धान किये हुए खड़ा है, तू अब भी चेत जा।[२] नामदेव कभी तो अपने प्रभु माधव साँवलिया बीठुलराई को बाप कहकर पुकारते हैं और सगुण भक्तों की भाँति पौराणिक लीलाओं का गान करते हुए उनकी शरणागति की महिमा पर प्रकाश डालते हैं—

> **मेरो बाप माधौ तूं धन केसी, सांवलियो बीठुलराइ।**
> **कर धरे चक्र बैकुंठते आयो, तूँ रे गज के प्रान उधारचो॥**
> **दुहसासन की सभा द्रोपदी, अंबर लेत उबारचो।**
> **गौतम नारि अहल्या तारी, पापिन केतिक तारचो॥**
> **ऐसा अधम अजाति नामदेउ, तव सरनागति आयो॥**[3]

कभी अपने को बावली पत्नी और श्रीरङ्ग को 'भर्तार' कहते हैं, जो उसे रिझाने के लिये रच-रचकर शृङ्गार करती हैं। भले लोग निन्दा करें किन्तु नामदेव का तन-मन तो प्यारे राम की सेवा के लिये बना है और वे डङ्के की चोट पर उनसे मिलेंगे।[४] जिस प्रकार भूखे को अन्न से, प्यासे को जल से एवं संसारी व्यक्ति को अपने कुटुम्ब से लगाव होता है, उसी प्रकार नामदेव का नारायण के प्रति सहज प्रेम है। वे सहज स्वभाव से संसार के प्रति विरक्त होकर भगवान् से अपना सम्बन्ध जोड़ बैठे हैं। जिस प्रकार कोई स्त्री पर-पुरुष से प्रेम करके उसका रात दिन-चिन्तन करती रहती है, लोभी धन-संग्रह में लगा रहता है, कामी-पुरुष प्यारी-कामिनी के ध्यान में डूबा रहता है उसी प्रकार मुरारि से नामदेव की प्रीति-सगाई हो गई है। गुरु-कृपा से द्वैत-भावना नष्ट हो गई और प्रभु के प्रति लगी प्रेम-भावना-जनित ध्यान की लौ कभी नहीं टूटती। जिस

---

[१] आचार्य विनयमोहन शर्मा—'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' में उद्धृत गुरु ग्रन्थ साहिब में सङ्कलित पदों के अतिरिक्त पद २६८।२।

[२] वही—पद २६८।८।

[3] वियोगी हरि द्वारा सम्पादित सन्त सुधासार—पृष्ठ ५०, नामदेव के पद ६।

[४] वही—पद ६।

प्रकार का निश्छल सम्बन्ध माँ और पुत्र के बीच होता है वैसे ही अब उनका मन प्रभु-प्रेम में अनुरक्त है और उनके हृदय में एकमात्र गोविन्द का ही निवास है।[1] प्रभु के प्रति नामदेव का प्रेम सम्बन्ध इतना अधिक बढ़ गया है कि बिना नाम-स्मरण के वे अब छटपटाने लगते हैं जैसे बछड़े के बिना गाय और पानी के बिना मछली तड़पने लगती है—

मोहि लागत तालाबेली। बछरा बिनु गाइ अकेली।।
पानी बिन ज्यूँ मीन तलफे। ऐसे राम नाम बिनु नामा कलपै।।

राम के प्रति अपनी एकाग्र भक्ति का प्रदर्शन करते हुए नामदेव कहते हैं कि "जिस प्रकार वीणा के नाद को सुनकर मृग उसमें विस्मृत हो जाता है और मरणपर्यन्त उसका ध्यान नहीं टूटता। जिस प्रकार बगुला मछली की ओर एकटक देखता रहता है, कामी का पर-स्त्री की ओर ध्यान लगा रहता है और जुवाड़ी अपनी कौड़ी के फेर में रहता है, उसी प्रकार मेरी भी दृष्टि उसी एक 'राम' की ओर लगी हुई है। जहाँ देखता हूँ वहाँ वही दिखाई पड़ता है उसके सिवाय और कुछ भी नहीं।"[2] अन्य देवी-देवताओं की पूजा को निरर्थक बतलाते हुए नामदेव ने उस एक की ही भक्ति को अपनाया। अपने 'रमइया' के प्रगाढ़ अनुराग से मुग्ध वे कहते हैं कि "मारवाड़ी को जैसे जल प्रिय होता है, ऊँट को जैसे लता प्रिय लगती है, मृग को जैसे नाद प्रिय लगता है उसी प्रकार मेरे मन को तू प्रिय लगता है। हे राम! तेरा नाम, रूप और रङ्ग सब बड़ा सुन्दर है और मुझे अच्छा लगता है। जैसे पृथ्वी को वृष्टि, भौंरे को पुष्प-गन्ध, कोयल को आम प्रिय है वैसे तू मुझे प्रिय है। जैसे चकवी को सूर्य, हंस को मानसरोवर, युवती को कन्त, बालक को दूध, चातक को मेघ की जलधार और मछली को पानी प्रिय है वैसे ही मुझे तू प्रिय है और मेरा मन तुझमें रमा हुआ है।"[3] राम-नाम के प्रति लगी हुई अपनी अटूट निष्ठा का उल्लेख करते हुए नामदेव कहते हैं कि "जैसे सोना तौलते समय सुनार का ध्यान तुला की ओर बना रहता है, पतङ्ग उड़ाने वाले की दृष्टि आकाश में उड़ती पतङ्ग पर स्थिर रहती है और वह प्रशंसापरक वचनों को सुनकर भी विचलित नहीं होता। जैसे युवतियाँ पानी से भरा कलश सिर पर रखकर अठखेलियाँ करती चलती है और तालियाँ तक बजाती जाती हैं किन्तु उनका ध्यान सदा उसी पर रहता है, जिस प्रकार पाँच कोस की दूरी पर चरने वाली गाय का मन अपने बच्चे की ओर लगा रहता है और

---

[1] वियोगी हरि द्वारा सम्पादित सन्त सुधासार, पृष्ठ ७।

[2] गुरुग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ८७२-३।

[3] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५३, नामदेव के पद १४।

माँ का मन घरेलू काम-काज करते हुए भी पलने पर लेटे बालक पर केन्द्रित रहता है उसी प्रकार मेरा भी मन राम-नाम में निरन्तर लगा रहता है।"[1] इस प्रकार नामदेव ने निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना प्रदर्शित की है। अद्वैत भाव को मानते हुए भी वे भक्ति के लिये सेव्य-सेवक भावना को अधिक प्रश्रय देते हैं और सगुण भक्तों की भाँति लीलाओं का गान करते हुए राम को बाप और पति तक कह देते हैं। नाम की साधना करते हुए उन्होंने नाम-जप को विशेष महत्त्व दिया है।

कबीरदास जी ने अपने पूर्ववर्ती नामदेव की भक्ति-भावना का उल्लेख करते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कहा है कि भक्ति के स्वाद को तो इन्हीं भक्तों ने चखा था—

"गुरु परसादी जैदेव नामा। भगत के प्रेम इन्हहि है जाना॥"

निस्सन्देह स्वामी रामानन्द मध्य युग की स्वाधीन चिन्ता के यशस्वी सञ्चालक थे। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में स्वामी जी का एक पद संगृहीत है जिसमें उनके विचार-स्वातन्त्र्य एवं हृदय की सचाई का सुन्दर परिचय मिलता है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी इस पद की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करते।[2]

कत जाईऐ रे घर लागो रंगु। मेरा चितु न चलै मनु भइउ पंगु॥रहाउ॥
एक दिवस मन भई उमंग, घसि चौआ चन्दन बहु सुगन्ध।
पूजन चाली ब्रह्म ठाई, सो ब्रह्म बताइउ गुर मन ही माहि॥१॥
जहाँ जाईऐ तह जल पषान, तू पूरि रहिउ है सभ समान।
वेद पुरान सम देषे जोइ, ऊहाँ तउ जाइऐ जउ ईहाँ न होइ॥२॥
सति गुर मैं बलिहारी तौर, जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द सुआमी रमत ब्रह्म, गुर का सबदु काटै कोटि करम॥३॥

किन्तु दूसरी ओर डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव का कहना है कि इसे मेकालिफ़ ने रामानन्द कृत माना है और इसकी प्रामाणिकता के बारे में इसे आदि-ग्रन्थ में संगृहीत होना बताया जाता है। किन्तु जिस प्रकार सूरदास मदनमोहन और वल्लभसम्प्रदायानुयायी सूरदास में मेकालिफ़ ने कुछ अन्तर नहीं माना, वैसे ही किसी अन्य रामानन्द को ही उन्होंने प्रसिद्ध रामानन्द स्वामी समझ लिया है। रामानन्दी सम्प्रदाय में वस्तुतः अधिकांश वर्ग उन्हें विशुद्ध वैष्णव भक्त मानता

---

[1] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा के पृष्ठ १२२ से अवतरित नामदेवाचा गाथा, पृष्ठ ५७८:८।

[2] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित—सन्त-काव्य, पृष्ठ १५४।

है, केवल तपसी शाखा के भक्त उन्हें योग-मत के भी प्रवर्त्तक मानते हैं। किन्तु 'सिद्धान्त पटल' को अप्रामाणिक सिद्ध किया जा चुका है, अतः ग्रन्थ साहिब के निर्माणकाल तक रामानन्द के नाम पर ऐसे भी पद चल पड़े हों जिसमें उन्होंने 'घट के भीतर' ब्रह्म के दर्शन करने वाले के रूप में वर्णित किया गया है, जो असम्भव नहीं है। कहा जाता है कि द्रविड़ देश में जन्मी भक्ति को उत्तर भारत में लाने वाले स्वामी रामानन्द जी ही हैं। उन्होंने 'सीताराम' को अपना परमोपास्य बनाकर एक ऐसी भक्ति पद्धति का प्रचार किया था जिसका द्वार मानव मात्र के लिये खुला हुआ था। रामानन्द जी ने भक्ति की जो व्याख्या की है, उससे उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ ज्ञात होती हैं[१]—

(क) भक्ति परमात्मा के प्रति अनुराग को कहते हैं;

(ख) इस अनुराग में अनन्यता आवश्यक है;

(ग) भगवान् की सेवा करना ही वस्तुतः उनकी भक्ति करना है;

(घ) तैल धारा के समान ही प्रतिक्षण उनका स्मरण करना ही भक्ति है।

रामानन्द ने भागवत द्वारा निर्धारित नवधा भक्ति का ही अवलम्बन किया है। उन्होंने भक्ति के दो प्रमुख अङ्ग प्रपत्ति और न्यास माने हैं। उनके मत से मुमुक्षुओं का भगवान् की शरण में चले जाना ही श्रेयस्कर है क्योंकि वे परम दयालु एवं उदार हैं तथा उन्हें किसी भी प्रकार के क्रिया-कलाप की आवश्यकता नहीं है। जीव असहाय है, अतः बिना भगवान् की कृपा के वह संसार-सागर से पार नहीं हो सकता। अनन्त कर्म-प्रवाह के द्वारा इस संसार महासागर में चिर-काल से डूबते हुए अस्वतन्त्र चेतन जीव के ऊपर प्रभु की निर्हेतुक कृपा अवश्य उत्पन्न होती है। भगवान् की इस निर्हेतुक कृपा के सभी अधिकारी हैं—ऊँच-नीच धनी-निर्धन आदि। वहाँ कुल-बल, काल और दिखावट की कोई आवश्यकता नहीं। स्वामी जी ने बड़े ही दृढ़ शब्दों में एक मात्र भगवान की भक्ति के प्रति अपने दृढ़ सङ्कल्प को व्यक्त किया है और कहा है कि "हे भगवान् मुझे प्रत्येक जन्म में अपने चरणों में अचल अनुराग और अपने जनों का सङ्ग देने की कृपा करें।"

रामानन्द जी द्वारा प्रचारित भक्ति मार्ग—इनका मार्ग प्रपत्ति का था और इन्होंने अपने शिष्यों को प्रपत्ति की ही दीक्षा दी थी। प्रपत्ति की उदार और उदात्त भाव भूमि पर पहुँचकर साधक ऊँच-नीच एवं जातिगत क्षुद्र-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। भाव के भूखे परम कृपालु भगवान् तो भक्तों की अनन्य

---

[१] **डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव—रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ २८०-८३।**

शरणागति के वश में है। रामानन्द जी द्वारा कबीर का चेताना प्रसिद्ध है—'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये।' और यह भी सर्वविदित है कि दक्षिण से जिस भक्ति को रामानन्द उत्तरभारत में लाये, उसे कबीर ऐसे समर्थ शिष्य ने सप्तदीप नव खण्ड में प्रकट कर दिया। रामानन्द जी ने अपने शिष्यों को प्रधान उपदेश अनन्य भक्ति का ही दिया था। कबीरदास जी ने भी अनन्य भक्ति की इस दीक्षा को शिरसा स्वीकार किया और बाकी तत्वज्ञान को उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षा के अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था।[1] कबीरदास की उक्तियों में परस्पर विरोधी तत्व भी कम नहीं हैं। उनमें कहीं ज्ञान को प्रधानता दी गई है तो कहीं भक्ति की अनन्यता का पूर्ण तन्मयता के साथ गुणगान किया गया है। कहीं सगुणवादी भक्तों की भाँति साकार प्रतीकों से भगवान् को पुकारा गया है तो कहीं उसे 'ऐसा लौ नहिं तैसा लौ' कहकर अपनी असमर्थता प्रकट की गई है। फिर भी आनुपातिक रूप में हमें भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करने वाली उक्तियाँ उनके पदों, साखियों एवं रमैनियों में अधिकता से मिलती है। उनके मत से बिना भक्ति के जीवन व्यर्थ है। सज्जनों की संगत एवं भगवान् के भजन के बिना कहीं भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हरि-भक्ति के बिना संसार में जीना धिक्कार है। सारवस्तु तो केवल हरि भक्ति ही है। धुएँ के धौलहर की भाँति सांसारिक जीवन को नष्ट होते देर नहीं लगती। वही कुल श्रेष्ठ है जो भगवान् का भक्त है। जिस कुल में हरि-भक्त नहीं उत्पन्न हुआ, वह कुल ढाक-पलाश की भाँति निस्सार हैं। वे राम-भक्ति की साधना न करने वाले व्यक्ति को घोर अपराधी मानते हैं और उसको जन्म लेते ही मर जाना ठीक समझते हैं—

भगति बिनु बिरथे जनमु गइओ।
साध संगति भगवान भजन बिनु, कहीं न सचु रहिओ॥ सन्त कबीर...॥
कबीर हरि की भगति बिन, ध्रिग जीमण संसार।
धूवाँ केरा धौलहर, जात न लागे बार॥
कबीर सोई कुल भलो, जा कुल हरि को दासु।
जिहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल ढाक पलासु॥

× × ×

जिहि नर राम भगति नहिं साधी। जनमत कस न मुओ अपराधी॥

उन्होंने भक्ति की भाँति आत्म-ज्ञान का भी दृढ़ता के साथ समर्थन किया है और कहा है 'आपहिं आप विचारिये तब केता होय अनन्द रे।' उनके पदों में

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ६८।

ज्ञान और भक्ति के तुलनात्मक प्रसङ्गों में किसी एक को श्रेष्ठ ठहराना बड़े साहस का कार्य है। कहीं वे ज्ञान को अङ्गी और भक्ति को अङ्ग मानते हैं तो कहीं भक्ति को चरम सिद्धि मानकर ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। ज्ञान की आँधी आने पर माया के द्वारा बँधी हुई भ्रम की टटिया उड़ जाती है, दुविधा की थूनी गिर पड़ती है, मोह की बड़ेरी टूट जाती है, तृष्णा की छानी पृथ्वी पर गिर पड़ती है और कुबुद्धि का भाँड़ फूट जाता है किन्तु :—

"आँधी पीछे जो जल वूठा, प्रेम हरी जन भीना।"

यह प्रेम की दृष्टि वस्तुतः भगवद्भक्ति की अद्वैत कृपा ही है जिसमें हरि के भक्त भींगकर सराबोर हो गये। इस प्रकार उनकी साधना प्रधानतः भक्ति की साधना है। डॉ० द्विवेदी का कथन यथार्थ है कि "कबीरदास का पाठक जानता है कि उनके पदों में उसे एक कोई अनन्य साधारण बात मिलती है, जो सिद्धों और योगियों की अक्खड़ताभरी उक्तियों में नहीं है। वह अनन्य साधारण बात जिसे रामानन्द से पाकर कबीर जैसा मस्तमौला फक्कड़ हमेशा के लिये उनका कृतज्ञ हो गया।...वह बात भक्ति थी। वह योगियों के पास नहीं थी, सहजयानी सिद्धों के पास नहीं थी, कर्मकाण्डियों के पास नहीं थी, 'पण्डितों' के पास नहीं थी, 'मुल्लाओं' के पास नहीं, काजियों के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्न को पाकर कबीर कृतकृत्य हो रहे। भक्ति भी किसकी? राम की। राम नाम रामानन्द का अद्वितीय दान था।[1]" इस अलौकिक दान को पाकर कबीरदास बड़ी द्विविधा में पड़ गये। वे कहने लगे कि गुरु ने तो मुझे राम नाम दिया, मैं गुरु-दक्षिणा के रूप में उन्हें कौन सी वस्तु दूँ। राम नाम की समता में तो कोई भी वस्तु देने योग्य नहीं है। मैं क्या देकर गुरु को सन्तुष्ट करूँ। यह अभिलाषा मन में ही रह गई।[2] गुरु ने ही कृपा करके भक्ति-भगवान् और भक्त के पुनीत त्रिवेणी में अवगाहन करने का अवसर प्रदान किया, अतः सद्गुरु से बढ़कर अपना कोई सगा सम्बन्धी नहीं दिखाई देता। मैं अपने गुरु पर बलिहारी जाता हूँ और माया निर्मित शरीर को उनके ऊपर न्योछावर करता हूँ जिन्होंने अल्पकाल में ही मुझे मनुष्य से देवता बना दिया। गुरु के मिलने पर (हृदय में) ज्ञान का प्रकाश हो गया किन्तु भगवान् की कृपा होने पर ही गुरु का मिलना सम्भव है।[3] गुरुदेव ने हमसे प्रसन्न होकर प्रेमाभक्ति विषयक एक प्रसङ्ग कहा जिससे प्रेम के बादल ने बरस कर सारे शरीर को आर्द्र कर दिया

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १३८।

[2] कबीर ग्रन्थावली—गुरुदेव को अंग, साखी ४।

[3] वही—२,१३।

और उससे हमारी अन्तरात्मा तक भींग गई तथा साधना रूपी वनराजि हरी भरी हो गई।[1] गुरु से साक्षात्कार होने के पूर्व कबीरदास निपट असहायावस्था में थे। वे सर्वत्र एक अभाव और पीड़ा का अनुभव कर रहे थे और ग्लानि में गलते हुए कह रहे थे कि कोई ऐसा गुरु हमें नहीं मिलता जो उपदेश दे और भवसागर में डूबे हुए हमको अपने हाथों का सहारा देकर, केश पकड़ कर खींच ले। ऐसा कोई नहीं मिलता जो हमारे अन्तरतम को पहचान कर कृपापूर्वक हमें संसार-सागर से पार उतार दे और भक्ति की हरी-भरी वनस्थली में पहुँचा दे। सारा संसार अपनी-अपनी वासनाओं की आग में जल रहा था। ऐसा कोई नहीं मिलता था जिसका आश्रय ग्रहण करके वे निर्भय हो जाते। पीड़ा तो इस बात की थी कि जिससे वे निःशंक भाव से हृदय की बात कहते, वही डङ्क मार देता।[2] हाथ में अस्त्र-शस्त्र धारण करने वाले और दूसरों को घायल करने वाले शूरवीर तो बहुत से मिल जाते थे, पर भक्ति की चोट से घायल व्यक्ति नहीं मिलता। जब घायल को घायल व्यक्ति मिल जाता है तभी प्रभु की भक्ति दृढ़ होती है। व्याकुल भाव से खोजते हुए उनका सारा मन और प्राण संशय-विष से जर्जर हो गये, कोई ऐसा प्रेमी नहीं मिल रहा था जिसके प्रेम पूर्ण संसर्ग से समस्त विष अमृत बन जाता—

> सारा सूरा बहु मिलै, घाइल मिलै न कोइ।
> घाइल ही घाइल मिले, तब राम भगति दिढ़ होइ ।।११।।
> प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
> प्रेमी कौ प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ ।।१२।।

ठीक ऐसे ही सङ्कटकाल में सौभाग्यवश रामानन्द ऐसे सद्गुरु से उनकी भेंट हो गई। उनके सामने प्रणत होकर उन्होंने अपने हृदय को स्वच्छ बना लिया। यद्यपि कलिकाल भयङ्कर सङ्घर्ष कर रहा था किन्तु बलशाली गुरुदेव ने रक्षा कर बचा लिया।[3] सच्चे शूर सद्गुरु ने शब्दरूपी बाण मारा और उससे समस्त द्वन्द्व एवं दुविधा नष्ट हो गई। बाण लगते ही कबीर पृथ्वी में मिल गये, वक्षस्थल बिंध गया और हृदय ज्ञान से परिपूर्ण हो गया।[4] सद्गुरु ने हाथ में सीधी मूठ पकड़कर प्रेम-बाण मारा, उससे सारी अनावृत देह सिहर उठी तथा सारे शरीर में दावाग्नि सी फूट पड़ी। उनके शरसन्धान से कबीर ब्रह्मानुभूति के कारण

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव कौ अङ्ग साखी—३३,३४।

[2] वही—गुरु सिष हेरा कौ अङ्ग १, २, ५, ६,।

[3] वही—गुरुदेव कौ अङ्ग ५, ७, ८, १०, १९।

[4] वही—७।

मूक और पागल जैसे हो गये। जो कान संसार के व्यापारों में रत थे, वे बहरे (संसार से विमुख) हो गये और इधर-उधर दौड़ने वाला (चञ्चल) मन पैरों से लँगड़ा (स्थिर) हो गया। बड़ा अच्छा हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बड़ी हानि होती और माया के दीपक पर पतङ्ग के समान भ्रमवश उसी को सब कुछ समझकर कबीर उलझे रहते।[1] जिसके हृदयरूपी घर में हरि नहीं हैं, वह चौसठ कला रूप दीपक और चौदह विद्या रूप चन्द्रमा एकत्र कर भी ले तो भी उसके अन्दर प्रकाश नहीं होगा। संशय ने सारे संसार को खा लिया पर संशय को कोई नहीं खा सका, हाँ, गुरु के शब्द-बाण से घायल कबीर ने भ्रम को बीन-बीन कर नष्ट कर दिया। चैतन्य की चौकी पर बैठकर (स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर) सद्गुरु ने धैर्य प्रदान किया और निर्भय तथा निःशंक भाव से ईश्वर का भजन करने की शिक्षा दी।[2] इस प्रकार सद्गुरु के प्रताप से समस्त दुःख-द्वन्द्व मिट गया—

सद्गुरु के परताप है मिटि गयो सब दुख दन्द।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द ।। सन्त कबीर सा० १।८

गुरु की कृपा से उस परिपूर्ण परमात्मा से परिचय हो गया जिसने समस्त सांसारिक दुःखों को मिटा दिया। आत्मा निर्मल हो गई। अब वह सर्वदा प्रभु के सामने रहती है—

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निरमल कीनी आत्मा, तापै सदा हजूरि ।। गुरुदेव कौ अंग ३५

गुरु ने कबीरदास को अलौकिक राम नाम के रङ्ग से रङ्ग डाला। सचमुच हरि रङ्ग के समान और कोई रङ्ग नहीं है। अन्य सभी संसारी रङ्ग इस रंग के आगे फीके पड़ जाते हैं, वे क्रमशः धूमिल होते जाते हैं किन्तु हरि-रङ्ग कभी फीका नहीं पड़ता, अपितु दिन प्रतिदिन अधिक चटकीला होता जाता है। कबीर को केवल इसी हरि-रङ्ग का सहारा है जिसने उन्हें आपाद मस्तक रंग डाला।[3] गुरु से पाये हुए राम नाम के अलौकिक बीज (गुर बीज जमाया, पदावली २१६) के अङ्कुर को कबीर ने बड़े यत्न के साथ प्रेम के जल से सींचा। उस बीज के रक्षक स्वयं हरि ही थे, अतः उसे कोई उजाड़ नहीं सकता था। कोई राम नाम का सुमिरन करके निर्भयता पाने वाले वैष्णव पुत्र को जन्म

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली—गुरुदेव को अङ्ग** ८, १०, १६।

[2] **वही**—१७, २२, २३।

[3] **वही—पदावली** २१५।

देने वाली वह सुन्दरी धन्य है और सारा संसार तो माया में फँसा हुआ नष्ट हो गया।[1] राम नाम का अनमोल धन पाकर सौ गाँठों से गठी कोपीन को धारण करके भी साधु किसी से शङ्कित और भयभीत नहीं होता। राम के नशे में मतवाला बना हुआ वह इन्द्र को भी अपने सामने रङ्क समझता है।[2] कबीरदास ने मन्दिर की मूर्तियों को कन्धे पर चढ़ाकर सारा संसार ढूँढ़ डाला और सब को ठोंक बजाकर भली-भाँति देख लिया पर प्रभु के बिना अपना कोई भी दिखाई नहीं दिया।[3] राम का जाप करते हुए दरिद्रता और घर का टूटा छप्पर भी श्रेयस्कर है। उन ऊँचे मन्दिरों को जला देना चाहिये जहाँ भगवान् की भक्ति नहीं की जाती, ऐसा उनका निश्चित मत है।[4] इसी राम नाम के बल पर कबीरदास केवड़े के फूल हो गये और भक्तगण मोरों की भाँति उनके चारों ओर मँडराने लगे। जहाँ तक कबीर की भक्ति-सुरभि का प्रसार हुआ, वहाँ राम का निवास हो गया—

कबीर भया है केतकी, भवर भये सब दास।
जहाँ-जहाँ भगति कबीर की, तहाँ तहाँ राम निवास॥
—साध महिमा को अङ्ग ११

संसारी कामों में उलझे लोग भवसागर में डूब गये, उसे पार न कर सके। अनेक कर्म-काण्डों एवं आचार संयम में लगे हुए मनुष्यों ने अहं भावना में अपने मन को जला डाला। अमूल्य सांस एवं भोजन के देने वाले दयालु स्वामी को भुला दिया और इस प्रकार हीरा ऐसे अमूल्य मानव जीवन को कौड़ी के मोल बेंच दिया। सदैव अपने गर्व में ही तने रहे, कभी गुरु के शब्द (उपदेश) पर ध्यान नहीं दिया। कबीरदास भी पहले इसी वर्ग में थे। अनेक जन्मों से नाना योनियों से भव-चक्र में घूमते हुए वे थक कर चूर-चूर हो गये थे। दुःख के बोझ ने उन्हें विवश कर दिया था, सारा संसार उन्हें निस्सार प्रतीत हो रहा था, ठीक ऐसे समय सौभाग्य से गुरु मिल गये और प्रेम-भक्ति के महारस से उनका उद्धार कर दिया—

जेते जतन करत ते डूबे, भवसागर नहिं तार्यो रे।
कर्म धर्म करते बहु संजम, अहं बुद्धि मन जार्यो रे॥

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—साध महिमाँ को अङ्ग ७।

[2] वही—विर्कताई को अङ्ग ८, १०।

[3] वही।

[4] वही—साध महिमा को अङ्ग ११।

सांस ग्रास को दातो ठाकुर, सो क्यों मनहुँ बिसार्यो रे।
हीरा लाल अमोल जनम है, कौड़ी बदले हार्यो रे॥

× × ×

धावत जोनि जनम भ्रमि थाके, अब दुख करि हम हार्यो रे।
कहि कबीर गुरु मिलत महारस, प्रेम-भक्ति निस्तार्यो रे॥[1]

इस प्रकार मध्यकाल की सामान्य धर्मप्राण जनता को सिद्धों की विविध गुह्य साधनाओं एवं नाथपन्थी योगियों की नीरस यौगिक प्रक्रियाओं के जाल से बाहर निकाल कर भाव-भक्ति की पावन-पयस्विनी में स्नान कराने का पुण्य-श्रेय कबीरदास जी को है। यह भाव-भक्ति उनके जन्मजन्मान्तरों की साधना का चरम फल थी, अन्तर्जगत् की अनुपम विभूति थी, उनके गुरु की दिव्य देन थी जिसे उन्होंने संसार में प्रकट कर दिया—

"कहै कबीर मत भक्ति का परगट कर दीना रे।"[2]

कबीरदास ने भक्ति के मार्ग को बड़ा सूक्ष्म बतलाया है। इस मार्ग पर चलने वाले के मन में न तो किसी वस्तु के प्रति विरक्ति रहती है और न आसक्ति ही, (एक प्रकार से वह मध्यम मार्ग का अनुयायी होता है) वह निरन्तर प्रभु के चरणों में ध्यान लगाये रहता है तथा अपनी भक्ति-साधना के सरस भाव में विभोर हो रात-दिन डूबा रहता है। प्रभु के परम प्रेम में उसकी लौ इस प्रकार लगी रहती है जैसे पानी में मछली। वह अपने प्रभु की सेवा में मस्तक अर्पित करने में भी विलम्ब नहीं लगाता। यही भक्ति का मत है जिसे उन्होंने प्रकट कर दिया है।[3]

भक्ति-मार्ग के प्रसिद्ध आचार्य शाण्डिल्य के मतानुसार 'ईश्वर में परम अनुरक्ति' को भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारद ने अपने भक्ति-सूत्र १. २ में भगवद्विषयक प्रेम को भक्ति की संज्ञा दी है और 'समस्त आचरणों को भगवान् के प्रति अर्पित कर देना तथा उनके विस्मरण में परम व्याकुलता का अनुभव करना' भक्त का प्रधान गुण माना है।—भक्ति सूत्र १९। भक्तिरसामृत सिन्धु १।९ में अनुकूल भाव से भगवान् के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है। इस अनुशीलन में ज्ञान और कर्म का आवरण नहीं होना चाहिये और न अनुशीलन करने वाले के हृदय में भगवान् की भक्ति के अतिरिक्त किसी प्रकार

[1] कबीर ग्रन्थावली—पदावली ६३।

[2] सन्त सुधासार—पद ६२।

[3] वही।

की कामना होनी चाहिये।[1] नारदभक्ति सूत्र ७, ८ में भी भक्ति को लौकिक और वैदिक समस्त कर्मों को त्याग करने वाली निरोधस्वरूपा कहा गया है। इस प्रकार भक्ति में पूर्ण निष्काम भावना का होना आवश्यक है। कबीर की भक्ति निष्काम और अहेतुकी है और पूर्ण निष्कामता भक्ति की परिपक्वावस्था है। यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था में बिना हेतु या उद्देश्य के भक्ति में मनुष्य की प्रवृत्ति होती ही नहीं, चाहे वह हेतु श्रेय मार्गी हो अथवा प्रेमयुक्त। इसी प्रकार यद्यपि निष्काम भक्त अपनी साधना का कोई फल स्वयं नहीं चाहता तथापि उसका फल उसे अपने आप प्राप्त हो जाता है। नारदभक्ति सूत्र २५ में 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा' कहकर भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग, इन तीनों से श्रेष्ठ माना गया है। नारद के समान कबीर ने भी भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ ठहराया है। उनके अनुसार मायाग्रस्त जीव का उद्धार केवल भगवद्भक्ति से ही सम्भव है। भक्ति के कारण ही "मौनी-बीर-दिगम्बर वेद पढ़ंते बेदुआ और अरथ विचारत पण्डित को चुनि-चुनि कर मारने वाली राम की अहोरिनी माया 'हरि भगतन की चेरी' बन जाती है।"[2] माया-पाश से मुक्त कर आत्म-ज्ञान द्वारा ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाली भक्ति ही है। बिना भक्ति के न तो मायाजनित संशय-दुख दूर हो सकता है और न मुक्ति ही मिल सकती है—

> भाव भगति बिस्वास बिन, कटै न संसै सूल।
> कहै कबीर हरि भगति बिन; मुक्ति नहीं रे सूल ॥[3]

कबीरदास राम नाम से लौ लगाकर चित्त को अज्ञानावस्था से जगाकर चेतन बनाने पर बल देते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि जिनकी लगन राम से लगी है, वही इस संसार-सागर से पार हो सकेंगे। बिना भाव-भक्ति के जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता, अरे ओ संसारी जीव! जब तक तू भाव भक्ति नहीं करेगा तब तक इस संसार-सागर से तेरा उद्धार कैसे होगा—

> रांम नांम ल्यौ लाइ करि, चित्त चेतनी ह्वै जागि।
> कहै कबीर ते अबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि ॥

× × ×

---

[1] अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ भक्तरसामृत सिन्धु १।६

[2] क्षितिमोहन सेन—कबीर वाणी १२७।

[3] कबीर ग्रन्थावली—चौपदी रमैंणीं, पृष्ठ २४५।

भाव भगति सूं हरि न अराधा, जनम मरन की मिटी न साधा।

× × ×

जब लग भाव भगति नहिं करिहौं, तब लग भवसागर क्यूँ तिरिहौ ॥[1]

कर्म द्वारा जीव, बन्धन में पड़ जाता है इसलिये केवल निर्मल अन्तःकरण से भक्ति करने पर ही भगवान् मिल सकते हैं क्योंकि प्रभु 'दीन दयाल कृपाल दमोदर भगति बछल मै हारी' हैं—

कर्म करत बद्धे अहमेव। मिल पाथर की करही सेव ॥
कहु कबीर भगति कर पाया। भोले भाइ मिले रघुराया ॥[2]

यद्यपि भक्ति-मार्ग में बहुत प्राचीन काल से योग को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था और वह भक्ति-प्राप्ति का उत्तम साधन माना गया था। कबीर ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'जुगुति बिना भगति किन पाई' अर्थात् बिना योग-साधना के भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु योग-मार्ग भक्ति के ही आश्रित है बिना भक्ति के योग की कुछ सार्थकता नहीं है—

हिरदै कपट हरि सूं नहीं साचौ, कहा भयो जे अनहद नाच्यौ ॥
झूठे फोकट कूल मंझारा, राम कहैं ते दास नियारा ॥
भगति नारदी मगन सरीरा, इह विधि भव तिरि कहै कबीरा ॥[3]

योग की आवश्यकता चित्त की चञ्चल वृत्तियों के निरोध के लिये पड़ती है। कबीर के मतानुसार योग की सार्थकता मन को विकार-रहित कर प्रभु की ओर लगाने में ही है। योग, मन को भगवान् में केन्द्रित करने का एक सशक्त माध्यम है। फिर भी यदि मन अपने स्वाभाविक विकारों से मुक्त न हो सका तो योग की उपयोगिता ही क्या रही ?[3] अतः कबीरदास जी योग को रामभक्ति प्राप्ति की महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में ही स्वीकार करते हैं—

जे मन नहिं तजे विकारा, तो क्यूँ तिरिये भौ पारा।
जब मन छांड़े कुटिलाई, तब आई मिले राम राई ॥

वस्तुतः योग में भक्ति का सरस सञ्चार न होने के कारण वह मोक्षप्रद न होकर बन्धन का ही कारण बनता है, इसीलिये भक्त कबीर बन्धन रूप योगसिद्धियों के चक्कर में न पड़कर भक्ति मार्ग में ही दृढ़ रहते हैं—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—चौपदी रमैणी, पृष्ठ २४२, ४४, ४५।

[2] वही—परिशिष्ट भाग, पद ५२।

[3] वही—पदावली २७८।

हरि बिनु भरम बिगूते गन्दा ।
जापै जाऊं अपनपौ छुड़ावण ते बीधे बहु फन्दा ॥
जोगी कहैं जोगी सिधि नीकी और न दूजी भाई ।
लुञ्चित मुञ्चित मोनि जटाधर ए जु कहैं सिधि पाई ॥
तजि बावै दाहिने विकारा, हरि पद दिढ़ करि गहिए ।
कहै कबीर गूंगे गुड़ खाया बूझै तौ का कहिए ॥

कर्म और योग की भाँति ज्ञान भी बिना भक्ति के व्यर्थ और निरर्थक है । प्रभु को वही ज्ञानी जानने में समर्थ होगा जिसके हृदय में राम का वास और मुख में नाम हो ।[1] ब्रह्म विषयक बड़ी-बड़ी बातों के बल पर निस्तार नहीं हो सकता—

ब्रह्मै कथि कथि अन्त न पाया । राम भगति बैठे घर आया ॥
कहु कबीर चञ्चल मति त्यागी । केवल राम भक्ति निज भागी ॥

बिना राम नाम के वे जप-तप, ज्ञान-ध्यान सब को झूठा ठहराते हैं ।[2] भक्ति को श्रेष्ठ ठहराते हुए वे यहाँ तक कह देते हैं कि—

क्या जप तप क्या संजमा क्या तीरथ व्रत अस्नान ।
जब लगि जुक्ति न जानिये, भाव भक्ति भगवान ॥

यों तो कबीर की भक्ति में योग और ज्ञान का समुचित स्थान है परन्तु भक्तिहीन योग अथवा ज्ञान उनके लिये कोई मूल्य नहीं रखता । इसीलिये वे लोक-वेद विहित सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों को व्यर्थ पाखण्ड तक कहने में नहीं चूकते क्योंकि वे भगवान् की ओर न ले जाकर हमें विषयों में फँसा देते हैं । निष्काम-भक्ति के दृढ़ समर्थक विद्रोही कबीरदास की सकाम भावनाओं के दुराग्रही पक्षधरों से कैसे पटती ? यह स्पष्ट ही है । जब वे लोकाचार एवं वेदादि की निन्दा करने लगते हैं तो उनका अभिप्रेत अर्थ वस्तुतः यह होता है कि ये वस्तुएँ राम-भक्ति में बाधा उपस्थित करती हैं । वेद-कितेब को वे झूठा नहीं मानते, झूठा तो वह है जो वाक्य-ज्ञान को भली भाँति विचार कर अपने आचरण का अङ्ग नहीं बनाता । भक्ति स्वयं प्रकाश है, उसे किसी से पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं । पहले वे स्वयं लोक-वेद के अनुयायी थे किन्तु जब सद्गुरु ने कृपा करके भक्ति का दीपक दे दिया तब उन्होंने उन सब का त्याग कर दिया—

पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि ।
आगै थे सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—परिशिष्ट पद ३५ ।
[2] वही—पदावली २५२ ।

वेद-पुराण पढ़ने वाले 'पाँड़े' को चन्दन-भारवाही गर्दभ कहते हुए उस पर खीझ उठने का कारण भी बताते हैं कि 'तू राम न जपसि अभागी'। इस प्रकार की उक्तियाँ उनकी निन्दक प्रवृत्ति की सूचक नहीं है। जीवन में सार-वस्तु एकमात्र राम की भक्ति है, अतः सारे कार्य उसी के लिये किये जाने चाहिये। भक्ति की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है। भक्ति तो प्रेम-प्रीति का विषय है। उसको पाने के लिये विशुद्ध प्रेम, अनन्य भावना एवं सर्वस्व समर्पण चाहिये। अखिल सृष्टि ही भक्ति से ओत-प्रोत है किन्तु जिसमें प्रेम की भावना नहीं, वह उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता—

> **भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम-प्रीति की भक्त।**
> **बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति पर्‌यो सब जक्त ॥**[1]

वेदान्तों में वर्णित 'ब्रह्म जिज्ञासा' वस्तुतः भक्ति ही है, क्योंकि कठोपनिषद् २।२२ में यम ने नचिकेता से स्पष्ट कहा है कि "बहुत पढ़ने-गुनने से भी वह आत्मा स्वरूप परमात्मा नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसमें जिसकी श्रद्धा-भक्ति होती है उसी के सामने वह अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।" परमात्मा जिस पर प्रसन्न हो जाता है वही जिज्ञासा आदि के द्वारा उसे प्राप्त कर लेता है और यह तो स्वतः सिद्ध है कि जब तक हृदय में श्रद्धा-भक्ति की भावना नहीं होगी तब तक जानने की इच्छा भी नहीं जग सकती। इसीलिये आचार्य शाण्डिल्य ने अपने भक्ति-सूत्र का प्रारम्भ 'अथातो भक्ति जिज्ञासा ॥१॥—सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥२॥' कह कर किया है। 'बोधसार' में आचार्य नरहरिपाद ने भी कहा है कि वेदान्त की अपरोक्षानुभूति एक प्रकार से लक्षणा भक्ति का ही परिणाम है।[2] नारद ने भी—'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, ॥ सूत्र २ ॥ कहकर उसमें प्रेम-तत्त्व को विशिष्ट महत्व प्रदान किया है। अनन्त हरि के समान अनन्त हरि कथाएँ भी हैं। भागवत प्रभृति भक्ति-ग्रन्थों में नवधा-भक्ति का उल्लेख हुआ है। नारदभक्ति सूत्र ८२ में भाव-भक्ति के ११ प्रकार माने गये हैं किन्तु सब में जो सामान्य तत्त्व निहित है वह है अनन्यभाव से भगवान् की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिला शर्त आत्म-समर्पण।[3] सन्त कवियों की भक्ति-साधना में इन तत्वों की चरम परिणति हुई

---

[1] सन्त कबीर की साखी (बेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई) १५।११।

[2] अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेः स परिणामः स एव हि ॥

[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १४७।

है। नारदी भक्ति का प्रेम-तत्त्व कबीर की प्रेमाभक्ति का आधारभूत तत्त्व है।[1]

वैष्णव प्रभाव—वे वैष्णव-सम्प्रदाय की सदाचार संवलित प्रेमाभक्ति से जीवनपर्यन्त प्रभावित रहे। वैष्णव प्रेमाभक्ति से कबीर की रचनाएँ अनुप्राणित हैं। वे प्रेम-कथा को अकथ कहते हैं—

> अकथ कहांणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
> गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई।[2]

वैष्णव भावना की सबसे महत्वपूर्ण बात व्यक्तिगत ईश्वर अर्थात् रामकृष्ण की कल्पना और उसकी भक्ति है। यों तो निर्गुणियाँ सन्त, निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं किन्तु उनकी वाणियों में निर्गुण से व्यक्तिगत प्रेम की सम्बन्ध-स्थापना स्पष्ट जान पड़ती है। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य भाव से की गई उपासना में व्यक्तित्व का भान होने लगता है। आत्मसमर्पण या शरणागति का भाव, भक्ति का विशिष्ट रूप है। समस्त सन्त-साहित्य इस विशिष्टता से अनुप्राणित है। वैष्णव-भावना का दूसरा महत्वपूर्ण तत्त्व इष्टदेव के प्रति रति की भावना है। सन्त-साहित्य में मानसिक संयोग-वियोग से युक्त अनेक प्रीति-रति के पद मिलते हैं। सगुण वैष्णव-साहित्य की भाँति सन्त कवियों ने भी सांसारिक विषयों को त्यागने की शिक्षा दी है। संसार को त्यागने का अर्थ सन्तों की दृष्टि में वैराग्य न होकर सांसारिक प्रपञ्चों में अपने मन को न लगने देना है। प्रायः सभी सन्तों ने गृहस्थ-धर्म का पालन कर उत्कृष्ट साधना की है। सन्तों की नारी-निन्दा से तात्पर्य हमें आसक्ति के त्याग से ही लेना चाहिये। इस प्रकार सन्त-साहित्य भी वैष्णव-साहित्य की भाँति विरतिमूलक न होकर रतिमूलक है। वैष्णव-भक्ति के प्रधान ग्रन्थ भागवत और कबीर की कही हुई बातों में अद्‌भुद साम्य है। भागवत-भक्ति के प्रतिष्ठाता व्यास, शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, शङ्कर, प्रह्लाद, ध्रुव, विदुर तथा नारद का नाम उन्होंने कई बार लिया है।[3] वैष्णव-भक्ति से प्रभावित हो कर उन्होंने आरती भी लिखी है—

> ऐसी आरती त्रिभुवन तारे, तेज पुञ्ज तहाँ प्रांन उतारे॥
> पाती पञ्च पहुप करि पूजा, देव निरञ्जन और न दूजा॥
> तन मन सीस समरपन कीन्हाँ, प्रगट जोति तहाँ आतम लीन॥

[1] भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तन दीना।
कहु कबीर जन भयै खलासे प्रेम भगति जिह जानी॥
—कबीर ग्रन्थावली परिशिष्ट पद १६४

[2] कबीर ग्रन्थावली—पदावली १५६।

[3] वही—पदावली १२६, ३०२, ३१६, ३२०, ३३५, ३४०, ३७६, ३८४, ३८५, ३८७, ३६२।

दीपक ग्यांन सबद धुनि घण्टा, परम पुरिख तहाँ देव अनन्ता ।।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ।।

इस आरती में भी वैष्णव आरती की सामग्री—पत्र, पुष्प, दीप, घण्टा आदि को एकत्र किया है । अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने स्थूल को सूक्ष्म मानसिक रूप में प्रस्तुत किया है । आरती लिखने की परम्परा सन्तों में बड़े भक्ति-भाव से चलती रही । सन्त रैदास ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा है कि जिस प्रभु के एक रोम की समता करोड़ों सूर्य नहीं कर सकते, उसके लिये आरती में अग्नि का होम करने से क्या लाभ ? अत: —

सन्त उतारे आरती देव सिरोमनिये ।
उर अन्तर तहाँ बैसे बिन रसना भनिये ।।
मनसा मन्दिर माँहि धूप धुपइये ।
प्रेम प्रीति की माल राम चढ़ाइयै ।।
चहुँ दिसि दियना बारि जगमग हो रहिये ।
जोति जोति सम जोती हिलमिल हो रहिये ।।
तन मन आतम वारि तहाँ हरि गाइये री ।
भनत जन रैदास तुम सरना आइये री ।।[1]

पुनः वे नाम-भक्ति के प्रभाव का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि "हे आरतभञ्जन मुरारे ! तेरा नाम ही आसन और चन्दन घिसने का हुरसा है । तेरा नाम ही केसर है जिसे हम तुझ पर छिड़कते हैं । तेरा नाम ही दीपक और बाती है और उसमें नाम का ही तेल जल रहा है । नाम ही धागा और फूल माला है । तेरा सब दिया हुआ मैं तुझी को अर्पित करता हूँ । तेरे नाम का चँवर मैं तुझ पर डुला रहा हूँ और तेरी आरती के अन्तर्गत तेरे नाम का ही भोग लगाता हूँ ।"[2]

गुरु नानकदेव ने आरती का कितना विराट चित्र प्रस्तुत किया है—"आकाश मण्डल थाल है, सूर्य और चन्द्रमा दो दीपक हैं, उसमें नक्षत्रों के मोती जड़े हुए हैं । मलयानिल तेरी धूप है और पवन तुझे चँवर डुलाता है । हे ज्योतिस्वरूप, समस्त कानन तेरे फूल हैं । हे जन्म-मरण से छुड़ाने वाले ! जहाँ अनहद-नाद की तुरही बज रही है, यह तेरी कैसी आरती है ? तेरी सहस्रों आँखें हैं, फिर भी तू बिना आँख का है । सहस्रों रूप वाला हो कर भी अरूप है । सहस्रों निर्मल चरण धारण करते हुए भी बिना चरण का है ।

---

[1] रैदास जी की बानी—पद ८३ बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
[2] वही—पद ८४ ।

सहस्रों नासिका युक्त होकर भी बिना घ्राण का है। मैं तेरी इस लीला पर मुग्ध हूँ। सब तेरी ही ज्योति से ज्योति पा रहे हैं और तेरे ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। गुरु के उपदेश से वह ज्योति प्रकट होती है, जो तुझे प्रिय लगे वही तेरी आरती है।''—गुरु ग्रन्थ साहिब—जपुजी, रागु धनासरी १।

स्वामी दादूदयाल का आरती-विधान स्थूल न होकर मानसिक-भाव से पूर्ण है—

माहैं कीजै आरती, माहैं पूजा होइ।
माहै सतगुरु सेविये, बूझै बिरला कोइ॥—परचा कौ अङ्ग २६५

रैदास जी के स्वरों में स्वर मिलाते हुए सन्त रज्जब जी भी कहते हैं :—

आरती तुम ऊपरि तेरी। मैं कछु नाहिं कहा कहूँ मेरी॥
भाव-भगति सब तेरी दीन्हीं। ताकरि सेव तुम्हारी कीन्हीं॥
मन चित सुरति सब्द सब तेरा। सो तुम लैं तुमहीं परि फेरा॥
आतम उपजि सौज सब तुमते। सेवा सक्ति नाहिं कछु हमते॥
तुम अपनी आप प्रानपति पूजा। रज्जब नाहिं करन कूँ दूजा॥[1]

और सन्त सुन्दरदास जी ने आरती-विधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

ज्ञान दीप आरती उतारै। घण्टा अनहद शब्द बिचारै॥
तन मन सकल समर्पन करई। दीन होइ पुनि पायनि परई॥
मगन होइ नाचै अरु गावै। गदगद रोमाञ्चित ह्वै आवै॥
सेवक-भाव कहै नहिं चोरै। दिन-दिन प्रीति अधिक ह्वै जोरै॥[2]

कभी वे चिन्तित होकर कहने लगते हैं कि "हे गुसाईं! जब तुम सब ठौर समाये हुए हो तब तुम्हारी आरती कैसे करूँ। तुम्हीं कुम्भोदक हो, तुम्हीं देवता हो, तुम्हीं अलख-अभेद कहे जाते हो, तुम्हीं दीपक, अनुपम धूप, घण्टा और नाद हो, तुम्हीं पाती और फूल हो, तुम्हीं स्वामी हो, और तुम्हीं दास। तुम्हीं जल, स्थल, अग्नि और वायु हो। तुम्हारी सर्व-व्यापकता और अद्वैतावस्था का चिन्तन करते हुए सुन्दरदास से कुछ कहते नहीं बनता।''[3]

भक्तिसाधना के प्रकार—श्रीमद्भागवत (३।२६।८-६-१०) में तीन प्रकार की भक्ति कही गई है—तामसी, राजसी और सात्विकी। भक्ति के ये तीन प्रकार गौणी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। पराभक्ति, भक्ति की अनन्या सिद्धावस्था है। यह निष्काम एवं अव्यवहित होती है। इसमें भगवान् भक्ति और भक्त के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का प्रवेश निषिद्ध है। चाहे सारा शरीर

---

[1] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५२३।
[2] वही—पृष्ठ ५८२।
[3] वही—पृष्ठ ६६३।

भस्मीभूत हो जाय, प्राण भले ही चले जाँय किन्तु भक्त, भगवान् से स्नेह का नाता नहीं तोड़ता। प्रेम-भक्ति से उसका हृदय सिक्त रहता है। इस चिन्तामणि को सहज में नहीं पाया जा सकता, इसके लिये तो मन को भेंटस्वरूप दे दिया जाता है—

> **अब हरि हूँ अपनों करि लीनों, प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥**
> **जरै सरीर अङ्ग नहिं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ॥**
> **च्यन्तामणि क्यूं पाइए ठोली, मन दे राम लियौ निरमोली ॥[१]**

परा-भक्ति में निमग्न भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वह सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्तियों को देने पर ग्रहण नहीं करता।[२] यहाँ तक कि वह अति दुर्लभ कैवल्य परमपद को भी ठुकरा देता है।[३] नारद ने अपने भक्ति-सूत्र—५५ में गौणी और मुख्या नाम के दो भेद किये हैं। महर्षि अंगिरा ने दैवी-मीमांसा दर्शन रसपाद सूत्र—११ में भक्ति के वैधी और रागात्मिका नामक दो प्रकार माने हैं। शास्त्रों के विधि-निषेध का अनुसरण करने वाली एवं विविध विधानों से की जाने वाली भक्ति को वैधी कहते हैं—'विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा।' रस का अनुभव कराने वाली, आनन्द एवं शान्ति देने वाली भक्ति रागात्मिका या रागानुगा (प्रेम की अनुयायिनी) कहलाती है (रसानुभाविकानन्दशान्तिप्रदा रागात्मिका—सूत्र १२)। वैधी भक्ति वह धारा है, जो अपने दोनों किनारों से बँधी रहती है पर रागानुगा वह बाढ़ है, जो किनारों का बन्धन तो मानती ही नहीं, सामने जो कुछ पड़ जाय, उसे भी बहा ले जाती है। रागात्मिका भक्ति का अनुकरण होने के कारण इसे रागानुगा भक्ति कहा गया है।[४] प्रभु-दास सम्बन्ध, सखा-सम्बन्ध, पिता-पुत्र सम्बन्ध और दाम्पत्य-सम्बन्ध—इस तरह चार सम्बन्धगत रागात्मिका भक्ति 'सम्बन्धरूपा भक्ति' कहलाती है। इस प्रकार की सम्बन्ध रूपा भक्ति के अनुकरण करने वालों में तत्तद्भाव दृष्ट होते हैं।[५] दास्य-भक्ति में सेवक-स्वामी के बीच मर्यादा की भावना रहने से भय अथवा शिष्टता का भाव बना रहता है किन्तु सख्य में हिलमिल जाने से घनिष्ठ मैत्री में वह झिझक समाप्त हो जाती है तथा भय के स्थान पर एक प्रकार की ममता अथवा धृष्टता आ जाती है और

---

[१] **कबीर ग्रन्थावली—पदावली ३३४।**

[२] **श्रीमद्भागवत ३।२९।१३।**

[३] **वही—११।२०।३४।**

[४] **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—सूर-साहित्य, पृष्ठ ३०-३१।**

[५] **वही—पृष्ठ ३२।**

यही ममता आगे चलकर प्रगाढ़ प्रेम में परिणित हो जाती है। ममत्व की अभिव्यक्ति दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य—इन चार सम्बन्ध रूपों में होती है।

दास्य-भाव—सर्वप्रथम भक्त के हृदय में यही भावना आविर्भूत होती है कि वह जैसा भी है; भगवान का है। उसके हृदय में विनम्रता की इतनी उत्कट भावना आ जाती है कि वह अपने को राम का कुत्ता तक कह देता है, उसके गले में रस्सी पड़ी हुई है और उसका सिरा राम के हाथ में है, जिधर भी वे ले जाते हैं, उधर ही वह चला जाता है।[1] इस प्रकार दास्य में वह अपने अहं और अस्तित्व को विनम्र भाव से भगवान् के चरणों में समर्पित कर देता है। कभी वह अपने प्रभु से विनती करने लगता है—

कबीर करत है बीनती, भौ सागर के ताईं।
बन्दे ऊपर जोर होत है, जम्भ कूँ बरजि गुसाईं।

हर ऐसा स्वामी जिसको मिला हो, वह किसी दूसरे का आश्रय क्यों लेगा? उसे अनन्त मुक्ति पुकारने जाती है—

जा कै हरि सा ठाकुरु भाई। मुकति अनन्त पुकारणि जाई॥
तीनि लोक जाकै हहि भार। सो काहे न मरै प्रतिपार॥

—सन्त कबीर, राग गउड़ी ३

कभी वे पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर कहने लगते हैं कि तेरा आज्ञा-पत्र मेरे सिर माथे है। उस पर फिर मैं क्या विचार करूँगा? तू ही नदी है, तू ही कर्णधार है और तुझी से मेरा निस्तार होगा। ऐ बन्दे! तेरा अधिकार तो केवल बन्दना करने में ही है। स्वामी चाहे क्रोध करे या प्यार करे—

फुरमानु तेरा सिरै ऊपरि फिर न करत बीचार।
तुही दरिया तुही करी आ तुझै ते निसतार॥
बन्दे बन्दगी इक्तीआर। साहिबु रोसु धरउ कि पिआरु॥

—वही, राग गउड़ी, ६६

कहीं वह अपना तन-मन-धन सब भगवान् को समर्पित करके उनसे अपने बेचने की अभ्यर्थना करने लगता है। यदि राम भक्त को बेचने लग जाय तो कोई नहीं बचा सकता और यदि राम रक्षा करे तो उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। कबीरदास ने अपना तन-मन भी जलाकर अपने स्वामी को क्षण भर के लिए विस्मृत नहीं किया।[2] भक्त को अपने भगवान् पर पूरा विश्वास है, वह क्यों दूसरे के आगे हाथ पसारे। जिसके राम सरीखा स्वामी है

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—निहकर्मी परिव्रता को अङ्ग १४।

[2] वही—पदावली ११३।

वह अन्यत्र गिड़गिड़ा ने क्यों जाय ? जिस स्वामी के ऊपर तीन लोक के प्रतिपालन का भार है, वह अपने भक्त का पालन अवश्य करेगा। कबीरदास ने मूल-मन्त्र को ग्रहण कर लिया है, वह है बनवारी की सेवा। मूल-वृक्ष को सींचने से सारी शाखाएँ स्वतः हरी-भरी हो जाँयगी।[१] सन्त रैदास जी ने भी दास्य-भक्ति का समर्थन किया है—

प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भगति कहै रैदासा॥

दास्य-भाव का अवसान सख्य में होता है। सख्य-भाव में एक प्रकार की निर्भयता आ जाती है जबकि दास्य में सेवक अपनी सारी इच्छाएँ स्वामी पर ही आश्रित रखता है। स्वामी से पृथक् उसकी अपनी कोई इच्छा ही नहीं होती। सन्त दादूदयाल कहते हैं कि "तू मेरा 'साहिब' है और मैं तेरा सेवक। यदि तेरी इच्छा हो तो तू चाहे मेरे मस्तक को सूली पर चढ़ा दे, या करवत (बड़े आरे) से उसे चिरा दे अथवा मेरे चारों ओर आग लगा दे, चाहे पर्वत से गिरा दे या नदी में डुबो दे किन्तु मैं किञ्चित् वेदना का अनुभव नहीं करूँगा क्योंकि जिसमें तू प्रसन्न हो, वही मेरी सबसे बड़ी प्रसन्नता है। तू जिस कनक-कसौटी में परखना चाहे, बार-बार भली-भाँति परख ले[२]"—हे राम, तू मेरा है और मैं तेरा, प्रभु ! मैं तेरे चरणों में झुककर बिनती करता हूँ। हमारा तुम्हारा वास एक ही स्थान पर है। तू स्वामी है और मैं सेवक। तुम्हारी सेवा में मैं अपना तन-मन समर्पित करके आत्मप्रकाश लूँगा एवं ब्रह्मरस में तन्मय हो जाऊँगा। दादू कहता है कि ब्रह्म और जीव का इस प्रकार का मिलन सर्वथा अनुपम है।"[३] धनी धरमदास भी बड़ी विनम्रता से कहते हैं कि "मेरा 'साहेब' बड़ा मिहरबान है। मैं उसका दिल भर दर्शन पाता हूँ। हे प्रभु ! तुम दानी हो और मैं तुम्हारा नित्य का भिखारी। अपने मुखड़े की झलक दिखलाओ, मैं बलिहारी जाता हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी जी भर सेवा करूँगा, मेरी त्रुटियों को क्षमा करना। यदि सेवक से सौ बार भी भूल हो जाय तो भी मेरा उद्धार कर देना। आप मेरे अवगुणों को जानते हुए भी घृणा नहीं करते, धर्मदास ने आपकी शरण ग्रहण की है। मेरे अगले-पछिले गुनाहों को क्षमा कर दीजिये।"[४]

सख्य-भाव—सन्त-साहित्य में हमें सख्य-भाव के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसमें भगवान् भी अपनी मर्यादा का विस्मरण कर भक्त को अङ्क में भर लेते हैं—

---

[१] कबीर ग्रन्थावली—पदावली ११४।

[२] सन्त सुधासार—स्वामी दादूदयाल, पद ४६, ४७।

[३] वही—पद ४६, ४७।

[४] वही—धनी धरमदास, पृष्ठ १२, पद ७।

अङ्क भरे भरि भेटिया, मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूँ मिलै, जब लग दोइ शरीर ।।
देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख ।।

गुरु अर्जुनदेव माया-मोह से प्रीति करने को धिक्कारते हुए कहते हैं कि "इससे कोई सुखी नहीं दिखाई पड़ता, अतः हे भाइयों, प्रभु को ही अपना मित्र बनाओ। वह बड़ा दानी, शीलवान्, निर्मल-हृदय तथा अपार सौन्दर्य की राशि है और हमारा सबसे बड़ा सहायक और सखा है। उसके निश्चल दरबार में बालक और वृद्ध का कोई भेद-भाव नहीं है। उस निर्बलों को सहारा देने वाले से जो भी माँगिये, वह मिलता है। जिसे देखने से पाप दूर हो जाता है वह गुणों का भाण्डार, नूतन तथा पूर्ण दानी है। उसे दिन-रात कभी भी नहीं भुलाना चाहिये। जिनके प्रारब्ध में लिखा है उसी को गोविन्द ऐसे सखा की प्राप्ति होती है। उसके लिये तुम अपना सारा तन-मन-धन और जीवन न्यौछावर कर दो।"[1] कभी पूर्णतन्मय भाव से वे पुकार उठते हैं—

तू मेरा सखा तू ही मेरा मीतु। तू मेरा प्रीतम तुम संगि हीतु ।।
—सन्त सुधासार, गुरु अर्जुन देव, पद ४८

कभी गुरु अर्जुनदेव सख्य-भाव से सन्तुष्ट न होकर अन्य सम्बन्धों से भी भगवान् को सम्बोधित करने लगते हैं—

तू मेरा पिता तू है मेरो माता। तू मेरे जीव प्रान सुखदाता ।।
तू मेरा ठाकुर हउ दासु तेरा। तुझ बिन अवरु नहीं को मेरा ।।
करि किरपा करहु प्रभ दाति। तुमरी उसतति करउं दिनराति ।।
हम तेरे जन्त तू बजावनहारा। हम तेरे भिखारी दानु देहि दातारा ।।
तउ परसादि रंगरस माणे। घट घट अन्तरि तुमहि समाणे ।।
तुमरी कृपा ते जपीऐ नाउ। साध सङ्गि तुमरे गुण गाउ ।।
तुमरी दइआ ते होइ-दरद बिनासु। तुमरी मइआ ते कमल बिगासु ।।
हउं बलिहारी जाउं गुरदेव। सफल दरसन जाको निरमल सेव ।।
दइआ करहु ठाकुर प्रभ मेरे। गुण गावै नानकु नित तेरे ।।[2]

सन्त दादूदयाल की सख्य-भावना में कितनी विरह-कातरता और अनुभूति-जन्य व्याकुलता उभर आई है—

---

[1] सन्त सुधासार, पृष्ठ ३४९।

[2] वही—पृष्ठ ३५०।

कोरण बिधि पाइये रे, मीत हमारा सोइ।
पास पीव परदेस है रे, जब लग प्रगटै नाहिं।
बिनु देखे दुख पाइये, यहु सालै मन माँहि ॥[१]

× × ×

निरखण का मोहि चाव घणेरा, कब मुख देखौं तेरा।
प्राण मिलन कौं भये उदासी, मिलि तूं मींत सबेरा ॥[२]

वात्सल्य भाव—वात्सल्य भाव के अन्तंगत भक्त भगवान् को कभी माँ कहकर पुकारता है और कभी पिता या बाप। इसमें दास्य और सख्य भाव की अपेक्षा ममत्व की तीव्रता अधिक होती है। प्रभु से पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कबीरदास जी कहते हैं—'हउ पूतु तेरा, तूं बापु मेरा।'—सन्त कबीर, रागु आसा ३॥ इसी पद में अपने दयालु बाप की प्रशंसा करते हुए वे नहीं थकते—

बापि दिलासा मेरा कीन्हा। सेज सुखाली मुखि अम्रित दीन्हा ॥
तिसु बाप कउ किउ मनहु विसारी। आगे गइया न बाजी हारी ॥
बलि तिसु बापै जिनि हउ जाइआ। पञ्चा ते मेरा सङ्ग चुकाइआ ॥
—सन्त कबीर, रागु आसा ३

सन्त रैदास अपने 'रमइया बाप' से पञ्चेन्द्रियों के बन्धन से मुक्ति दिलाने की कितनी कातर अभ्यर्थना करते हैं—

जन को तारि तारि बाप रमइया। कठिन फन्द परचो पञ्च जमइया ॥
तुम बिन सकल देव मुनि ढूढूँ। कहूँ न पाउँ जम पास छुड़इया ॥
हम से दीन दयाल न तुम से। चरन सरन रैदास चमइया ॥[3]

गुरु अर्जुनदेव—'तू मेरा पिता तू है मेरी माता। तू मेरे जीव प्रान सुखदाता ॥' मात्र कहकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते अपितु वे वात्सल्य-भाव की सीमा में इतने आगे बढ़ जाते हैं कि स्वयं को प्रभु का पिता तक घोषित कर देते हैं—'तू मेरे लालन तू मेरे प्रान।'[४] सन्त गुरु रामदास भी हरि को बाप कहकर उनकी स्तुति करते हैं—

हरि सुखदाता मेरे मन जापु। हउ तुधु सालाही तू मेरा हरि प्रभु बापु ॥[५]

---

[१] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४२८।

[२] वही—पृष्ठ ४४०।

[3] रैदास जी की बानी—पद ८१ बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

[४] सन्त सुधासार, पृष्ठ ३७१।

[५] वही, पृष्ठ ३२४।

सन्त दादूदयाल ने जो असंख्य पाप किये हैं उनकी कोई सीमा नहीं। उन पापों को तो वही पितृतुल्य कृपालु प्रभु क्षमा कर सकते हैं—

> बेमरजादा मिति नहीं, ऐसे किये अपार।
> मैं अपराधी बाप जी, मेरे तुम ही एक आधार॥[1]

सन्त रज्जब जी अपने को मन्दभागी बताते हुए कहते हैं कि मैं तुम्हारे योग्य सेवक नहीं, मेरे एक भी गुण नहीं है। हे बाप जी, मैंने बहुत व्यभिचार किये हैं, किन्तु आपने समस्त पापियों को पावन किया है, अतः आप अपनी नामवरी की रक्षा कीजिये—

> तुम जोगी सेवक नहीं, मैं मन्दभागी करतार।
> रज्जब गुण नहिं बाप जी, बहुत किये विभचार॥
> सकल पतित पावन किये, अधम उधारन हार।
> विरद विचारौ बाप जी, जन रज्जब की बार॥[2]

परन्तु पिता की अपेक्षा माता पुत्र को अधिक प्यार करती है। माता की वात्सल्य-भावना में पिता की अपेक्षा अधिक तीव्रता एवं हित-चिन्तन की भावना रहती है। पिता कठोर होकर दण्ड भी दे सकता है परन्तु ममतामयी माँ निरन्तर पुत्र की भलाई के बारे में सोचती रहती है। भले ही पुत्र कितने अपराध और अनिष्ट करे, किन्तु माँ उन पर ध्यान नहीं देती। उसके हृदय में पुत्र के प्रति वात्सल्य-भाव से अन्य कोई बात आने ही नहीं पाती, अतः भक्त और भगवान् का सम्बन्ध पुत्र और माता के सम्बन्ध की भाँति मधुर तथा निश्चल है। सन्त कबीर की उक्ति है—

> हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा॥
> सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते॥
> कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता॥
> कहै कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी॥[3]

पुत्र जितने अपराध करता है, उतने माता अपने हृदय में नहीं रखती। हे राम, मैं तेरा बालक हूँ, मेरे अवगुणों का नाश क्यों नहीं करता? यदि (बालक) अत्यन्त क्रोध कर (उस पर) भी दौड़ता है तो माता उसे अपने चित्त में स्थान नहीं देती—

---

[1] दादूदयाल की बानी—बिनती कौ अङ्ग ७, पृष्ठ २४९, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ ५२८-९।

[3] कबीर ग्रन्थावली, पदावली १११।

सुतु अपराध करत है जेते। जननी चीति न राखसि तेते ॥
रामइआ हउ बारिकु तेरा। काहे न खण्डसि अवगनु मेरा ॥
जे अति कोप करे करि धाइआ। ता भी चीति न राखसि माइआ ॥[१]

सन्त दादूदयाल की वाणी में असहाय शिशु का सा रोदन-स्वर मुखर हो उठा है। अरी ओ माँ! हमें मत ठुकरा, मत भुला। तेरे विस्मरण करते ही हमारा मरण हो जायगा। क्या पुत्र के अपराधी होने पर माता उसे त्याग देती है? हे प्रभु! मेरे गुण-अवगुण पर ध्यान मत दो अन्यथा मेरा निस्तार कठिन हो जायगा। तुम्हारा पुत्र और सेवक भले ही अपराधी हो किन्तु तुम तो भली-भाँति पालन करने वाले दीन दयालु माँ के तुल्य हो—

जिनि छाड़ै राम जिनि छाड़ै, हमहिं बिसारि जिनि छाड़ै।
जीव जात न लागै वार, जिनि छाड़ै ॥
माता क्यूं बारिक तजै, सुत अपराधी होइ।
कबहुँ न छाड़ै जीव थैं, जिनि दुख पावै सोइ ॥
अपराधी सुत सेवगा, तुम्ह हौ दीनदयाल।
हम थै औगुण होत है, तुम्ह पूरण प्रतिपाल ॥

दाम्पत्य-भाव—ममत्व की चरम परिणति दाम्पत्य-भाव में ही सम्भव है। परमात्मा के प्रति अनन्य अनुराग, भक्ति की प्रमुख विशेषता है। सन्त कवियों ने इस सम्बन्ध में अपने मधुरतम उद्गारों को अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है। प्रेम अनन्य भावना का समर्थक है। प्रेमी, जिससे प्रेम करता है उस पर अपना एकाधिकार चाहता है। वह नहीं चाहता कि जिससे वह प्रेम करता है उसका प्रेम अन्य को भी प्राप्त हो। एक प्रकार की यह मोह-भावना प्रेम की तीव्रता की ही परिचायक है। इसमें किसी प्रकार की सांसारिक द्वेष की छाया नहीं। वह अपने प्रियतम से कहता है :—

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झपेउं।
नां हौं देखौं और कूं, नां तुझ देखन देउं ॥[२]

नारदभक्ति सूत्र १९ में कहा गया है कि सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करना और भगवान् का थोड़ा सा भी विस्मरण होने में परम व्याकुलता का अनुभव करना भक्ति है। भक्ति का लक्षण बतलाकर देवर्षि नारद प्रेमिकाओं में अग्रगण्य गोपिकाओं का नाम लेते हैं क्योंकि उनका प्रेम-तत्व अवर्णनीय है, शब्दातीत है। उनका तन, मन, धन, लोक, परलोक सब श्रीकृष्ण के अर्पित था। वे दिन-

---

[१] सन्त कबीर, रागु आसा १२।

[२] कबीर ग्रन्थावली, निहकर्मी पतिव्रता को अङ्ग २।

रात कृष्ण का ही चिन्तन करतीं, गद्गद वाणी से उनका गुणगान करतीं और सर्वत्र सर्वदा उन्हीं को देखा करती थीं। पीछे कहा जा चुका है कि दाम्पत्य-भाव की प्रतीक रागानुगा-भक्ति वह बाढ़ है जो किनारों का बन्धन स्वीकार नहीं करती। अन्य सम्बन्ध-भावों (दास्य, सख्य और वात्सल्य) में एक प्रकार की शिष्टता और मन्थरता रहती है किन्तु यह वह सर्वभक्षी अग्नि है जिसमें प्रेमी अपना सर्वस्व होम देता है। इस बाढ़ की उफान में लोक-वेद और कुलकानि सब बह जाते हैं। जो इस प्रेम-रस को पान कर लेता है वह सचमुच संसार की दृष्टि में पागल हो जाता है—

मेरे बाबा मैं बउरा सम खलक सैआनी मैं बउरा।
मैं बिगरिओ बिगरे मति अउरा॥
आपि न बउरा राम कीओ बउरा। सतिगुरु जारि गइओ प्रभु मोरा॥
अबहिं न माता सु कबहु न माता। कहि कबीर रामै रंगि राता॥[1]

राम-भक्ति पैने तीर की तरह है। ये तीर जिसे लगते हैं वही उसकी पीड़ा जान सकता है, अन्यथा—जिसे ये तीर नहीं लगे हैं—वह अपने सारे शरीर को खोज ले। न उसे पीड़ा का कोई स्थान मिलेगा न पीड़ा का मूल ही। सभी नारियाँ एकरूप देख पड़ती हैं। उन्हें देखकर यह नहीं जाना जा सकता कि कौन (प्रियतम की) प्रेयसी है। कबीर कहते हैं कि जो सौभाग्यशालिनी है उसे ही औरों को छोड़कर सुहाग मिलता है—

लागी होइसु जाने पीर।
राम भगति अनीआलै तीर॥
एक भाइ देखउ सम नारी।
किआ जानउ सह कउन पिआरी॥
कहु कबीर जा के मसतकि भागु।
सभ परहरि ता कउ मिलै सुहागु॥[2]

सर्वत्र राम व्याप्त है, उसे देखने के लिये दृष्टि चाहिये। कबीरदास जी ने कहा है:—

जो दरसनु कीन्हा चाहियै। नितु दरपन माजत रहियै॥
जो दरपन लागै काई। तौ दरसनु कीन्ह न जाई॥

कबीर ने सद्गुरु की कृपा से वह सूक्ष्म दृष्टि पा ली है। वे राम के अनुराग में अनुरञ्जित हो भीतर-बाहर सर्वत्र अपने प्रियतम के सौन्दर्य की छटा देखते

---

[1] सन्त कबीर, रागु बिलावलु २।

[2] वही, राग गउड़ी २१।

हैं। यह आध्यात्मिक सौन्दर्य-बोध उनके हृदय में एक अनुपम तृप्ति एवं तुष्टि उत्पन्न कर देता है और वे पुकार उठते हैं—

दुइ दुइ लोचन पेखा। हउ हरि बिनु अउरु न देखा॥
नैन रहे रंगु लाई। अब बेगल कहनु न जाई॥
हमरा भरमु गइआ भउ भागा। जब राम नाम चितु लागा॥
—रागु सोरठ ४

मैंने अपने दो-दो नेत्रों से अवलोकन किया है—हरि के बिना और कुछ नहीं देखा। मेरे नेत्र उन्हीं के अनुराग में अरुण हैं। उनके अतिरिक्त मुझसे अब क्या कहा जा सकता है। जब राम नाम से हृदय लग गया, मेरा सारा प्रेम और भय नष्ट हो गया। सचमुच यह 'राम-रसु' अन्य संसारी रसों से अधिक सुस्वादु एवं इन्द्रियेतर अलौकिक रस है। जो इस रस का पान कर लेता है, वह इसमें छक कर अन्य सब रस ठुकरा देता है :—

राम रसु पीआ रे जिह रस बिसर गए रस अउर॥ रागु गउड़ी, ६४॥

दाम्पत्य-भाव के साधना-सोपान में पहुँचकर साधक, परमेश्वर से पति और प्रेमी का मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। यह स्पृहणीय स्थिति 'भाउ-भगति' की चरम स्थिति है। बड़े भाग्य से यह सञ्जीवन जीवन में आता है। इस स्थिति में पहुँचकर प्रेमी घर-बार की सुध भूल जाता है। उसे अपने शरीर की किञ्चित् परवाह नहीं रहती, इधर-उधर पागलों की भाँति फिरता रहता है। उसके रोम-रोम से प्रिय-विरहजन्य दीर्घ-उच्छ्वासें निकलने लगती है, अविरल अश्रुपात होने लगता है। इस अनूठे रस के नशे में डूबकर वह नवधा-भक्ति के कार्य-कलाप भूल जाता है। सन्त सुन्दरदास प्रेमलक्षणाभक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौं तब, भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यों उनमत्त फिरै जित ही जित, नैक रही न शरीर-सम्भारा॥
स्वास उस्वास उठै सब रोम, चले दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, हम छाकि पर्‌यो रस पी मतवारा॥[1]
न लाज कानि लोक की, न वेद कौ कह्यौ करै।
न शङ्क भूत प्रेत की, न देव यक्ष तैं डरै॥
सुनै न कान और की, दृशै न और अक्षणा।
कहै न मुक्ख और बात, भक्ति प्रेम-लक्षणा॥

[1] सन्त सुधासार, स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ५७७। १५-१६।

प्रेमाधीना छाक्या डोले। क्यों का क्यों ही बानी बोले।
जैसे गोपी भूली देहा। ताकौ चाहै जालौं नेहा॥[1]

इस प्रेमाभक्ति के रस में अनुरक्त भक्त कभी तो खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी नाचता हुआ रोने लगता है, कभी हृदय में उमङ्ग भर कर उच्चस्वर से गाने लगता है और कभी मूकभाव धारण कर लेता है। जिसकी चित्तवृत्ति भगवान् से लग गई है, वह लोक-दिखावे की कृतिम व्यावहारिकता का पालन कैसे कर सकता है।[2] जिस प्रकार जल बिना मीन, दूध बिना बालक और औषधि बिना रोगी को चैन नहीं पड़ता; जिस प्रकार स्वाति-बूंद के लिए पपीहा, चन्द के लिए चकोर और चन्दन के लिए सर्प व्याकुल होता है; जैसे निर्धनी के हृदय में धन और कन्त के हृदय में कामिनी की अनूठी लालसा होती है वैसे ही जो प्रेम लक्षणाभक्ति से व्यथित है उसको कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उस प्रेम में पड़कर वह धर्म-नेम सब भूल जाता है।[3] प्रेमाभक्ति के प्रभाव का वर्णन करते हुए सुन्दरदास जी पुनः कहते हैं :—

यह प्रेम भक्ति जाकैं घट होई, ताहि कछू न सुहावैं।
पुनि भूख तृषा नहिं लागैं वाकौं, निशदिन नींद न आवै॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैनहु नीझर लायौ।
ये प्रगट चिह्न दीसत हैं ताके, प्रेम न दुरै दुरायौ॥[4]

इस प्रेम भक्ति के रहस्य और स्वाद को कोई विरला व्यक्ति ही जान सकता है। जिस सौभाग्यशाली के हृदय में प्रेम-भक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, वहाँ फिर किसी प्रकार की सांसारिक कलुषता कैसे शेष रह सकती हैं :—

प्रेम भक्ति यह मैं कही, जाने बिरला कोइ।
हृदय कलुषता क्यों रहै, जा घट ऐसी होइ॥[5]

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का कथन यथार्थ ही है कि दाम्पत्य-प्रेम जो ईश्वरीय प्रेम का स्थान ग्रहण करता है, हमारे इन ज्ञानी कवियों को बहुत पसन्द है। वास्तव में इन प्रेमात्मक रूपकों के गीतों में ही इनके हृदय अपने को पूर्ण रूप से व्यक्त करते हुए जान पड़ते हैं। ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक बनकर दाम्पत्य-

---

[1] सन्त सुधासार, स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ५७८। १५-१६।
[2] वही, पृष्ठ ५७६। १८-१६।
[3] वही, पृष्ठ ५७८। १६।
[4] वही, पृष्ठ ५७८। २०।
[5] वही, पृष्ठ ५७८। २१।

प्रेम आत्मद्रष्टा कवियों में सब कहीं अपनाया जाता आया है।[1] भारतीय मनीषियों के लिये यह भावना नितान्त अपरिचित न थी। विश्व की प्रेमपूर्ण लीला में सांख्य-दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति नर-नारी के प्रतीक माने जाते हैं। प्रसाद जी की कामायनी में मनु और श्रद्धा—इन दोनों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[2] चूड़ान्त तत्वज्ञान की परिचायक उपनिषदों में भी परमात्मा के साथ जीवात्मा के मिलन की तुलना दो प्रेमियों के परिरम्भरण-सुख के साथ की गई है—जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रियतमा द्वारा परिरम्भण-पाश में बाँध लिये जाने पर वाह्य एवं आन्तरिक चेतना की विस्मृति कर एक अनिर्वचनीय सुखानुभूति करता है, उसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेने पर सभी वाह्य एवं आन्तरिक ज्ञान खो देता है।[3] दाम्पत्य-भाव की उपासना करने वालों में दक्षिण के आड्वार भक्त-कवियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध आड्वार भक्तिन आन्दाल के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम की तीव्रता इतनी अधिक बढ़ गई कि वह स्वयं को कृष्ण-मिलन की भूखी किसी गोपी का अवतार समझने लगी और विवाह-विषयक चर्चा चलने पर अपने गुरुजनों से स्पष्ट कह दिया कि मैं श्री रंगम् के भगवान् श्री रंगनाथ को छोड़कर किसी दूसरे का वरण स्वप्न में भी नहीं कर सकती। कहा जाता है कि भगवान् श्री रंगनाथ के लिये प्रतिदिन जो वह मालाएँ गूँथती थीं, उन्हें पहले आदाल पहनती थीं और तत्पश्चात् वही मालाएँ प्रभु प्रेम से स्वीकारते थे। नम्म आड्वार के गीतों में भी हमें दर्शन-लालसा की उत्कट विरहानुभूति के दर्शन होते हैं—"हेवैकुण्ठ-वासिन्, तुम्हें देखने की अभिलाषा से मैं आकाश की ओर दृष्टि डालती हुई बेहोश हो जाती हूँ, रोने लगती हूँ और विनय करती हूँ। तुम्हारे चरणों को अपने नेत्रों में लगा लेने के लिये मैं प्रार्थना करती हूँ और गाती-गाती थक जाया करती हूँ। उत्सुक होकर चारों ओर दृष्टिपात करती हुई मैं झुक जाती हूँ और लज्जा के मारे पृथ्वी में गड़ सी जाती हूँ। मुझे कब तक विरह में रखोगे।"[4]

---

[1] डॉ० बड़थ्वाल—'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृष्ठ ३५३।

[2] हम दोनों का अस्तित्व रहा, उस आरम्भिक आवर्तन सा,
जिससे संसृति का बनता है, आकार रूप के नर्तन सा,
—कामायनी, काम सर्ग, पृष्ठ ७२

[3] तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेदनान्तरमेवमेवायंपुरुषः प्रज्ञनिनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम् तद्वा अस्य एतदाप्तकाम् आत्मकाम् अकामरूपम्।—वृहदारण्यक ४-३-२६।

[4] 'नम्म आड्वार'—जी० ए० नटेसन, मद्रास, पृष्ठ ६, 'अवतरित मध्यकालीन प्रेम साधना'—परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ २०।

सन्तों ने दाम्पत्य-भाव-जनित प्रेमाभक्ति को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने 'नैनां बैन अगोचरी' निराकार ब्रह्म को, जो जिज्ञासा और उपासना का विषय है, उसे प्रेम-भक्ति का विषय बना दिया है। उपासना में प्रेम की अपेक्षा श्रद्धा और भय की मात्रा अधिक होती है एवं यम-नियम की कठोर साधना का पालन करना पड़ता है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। सन्तों में अपने आराध्य के प्रति उपासनातत्त्व कम, भक्तितत्त्व अधिक पाया जाता है। वे अपने प्रियतम से अनाविल आत्म-समर्पण कर बड़ा महगा प्रेम करते हैं। उनका प्रेम 'छिनहिं चढ़े छिन ऊतरै' की परिपाटी वाला न होकर 'अघट प्रेम पिंजर बसै' का पोषक है। पद-पद पर भक्त को भाव-विह्वल कर देने वाले प्रेम पर सन्तों का विश्वास नहीं है। जो उन्मत भावावेश के द्वारा भक्त को चेतनाहीन बना देता है, ऐसे प्रदर्शनकारी प्रेम से भी वे कोसों दूर भागते है। प्रेम के क्षेत्र में वे गलदश्रु भावुकता को कभी स्वीकार नहीं करते। जो वस्तु जितनी बड़ी होती है, क्रेता को उसके अनुसार उसका उतना मूल्य चुकाना पड़ता है। फिर, प्रियतम ऐसी अलभ्य वस्तु को पाने के लिये यदि प्राण भी देना पड़े तो भी सौदे को सस्ता समझना चाहिये। प्रेम-भक्ति में मन भींग जाने पर यदि सारा शरीर प्रियतम की विरहाग्नि में जलने लगे तो भी प्रेमी अङ्ग नहीं मोड़ता। भले ही प्राण चले जायँ किन्तु वह स्नेह को नहीं तोड़ता। उस अनमोल चिन्तामणि को हँसी-ठिठोली से नहीं पाया जा सकता, उसके लिये तो अपना सर्वस्व लुटा देना पड़ता है। जिस ब्रह्म की खोज करते हुए कबीरदास को अपना सारा जीवन गँवा देना पड़ा, वह परम प्रियतम उसके हृदय में ही वर्तमान मिला और उसको पाकर फिर कुछ पाना शेष न रहा—

> अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं, प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं।
> जरै शरीर अङ्ग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं॥
> च्यन्तामणि क्यूं पाइए ठोली, मन दे रोम लियौ निरमोली॥
> ब्रह्म खोजत जनम गवायौ, सोई रांम घट भीतरि पायौ॥
> कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ विसवासा॥[१]

कबीरदास जी का दृढ़ विश्वास है कि जिनके हृदय में न तो प्रीति है और न प्रेम का स्वाद, जिनकी वाणी राम-नाम का उच्चारण नहीं करती वे मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर भी बेकाम के हैं। जिसने प्रेम रस चखा नहीं, न उसका स्वाद लिया वह इस संसार रूपी सूने गृह में उस अतिथि के समान है जो जैसा आता है वैसा लौट जाता है, उसे वहाँ का कुछ आनन्द नहीं मिलता—

---

[१] कबीर ग्रन्थावली—पद ३३४।

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं नाम।
ते नर या संसार में, उपजि भये बेकाम॥
—सुमिरन को अङ्ग १७

कबीर प्रेम न चखिया, चखि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणा, ज्यूं आया त्यूं जाव॥ १८॥

मुँह से यन्त्रवत् राम-नाम का उच्चारण करने वाले प्रदर्शनकारी भक्तों को कबीरदास फटकारते हुए कहते हैं कि क्या इस प्रकार का कृत्रिम आचरण करने से संसार को मोक्ष मिल सकता है, क्या खाण्ड (शक्कर) शब्द का उच्चारण करने मात्र से मुँह मीठा हो सकता है? क्या अग्नि शब्द का उच्चारण पैर को जला सकता है? क्या जल शब्द कहने से प्यास बुझ सकती है? यदि भोजन शब्द के कहने भर से भूख शान्त हो जाय तो सारा संसार इस आवागमन के चक्कर से निस्तार पा जाय। जिस प्रकार मनुष्य के द्वारा सिखाया गया तोता हरि नाम का उच्चारण करता है किन्तु उसके महत्व से अपरिचित रहता है और जङ्गल में उड़कर चले जाने से पुनः उसका स्मरण नहीं करता उसी प्रकार हार्दिक भाव-भक्ति से शून्य जो व्यक्ति राम-नाम का उच्चारण करते हैं, उनकी सच्ची प्रीति विषय-वासनाओं से ही रहती है और वे अन्त में यम-पाश में बाँधे जाते हैं।[1] प्रेम का घर खाला के घर के समान आमोद-प्रमोद का स्थल नहीं। इसमें प्रवेश पाने के लिये सर्वप्रथम अपने हाथ से अपना मस्तक काट कर पृथ्वी पर रख देना पड़ता है तब कहीं इसमें जाने का सौभाग्य मिलता है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घरु नाहिं।
सीस उतारे भुईं धरै, सो पइठे इहि माँहि॥

गुरु नानकदेव भी कहते हैं कि यदि तुझे प्रेम करने का चाव है तो सिर को अर्थात् अपने अहं भाव को पैरों के नीचे कुचलकर मेरी प्रेम-गली में आ। इस मार्ग में यदि तुम पैर रखना चाहते हो तो तुम्हें अपने मस्तक को अर्पण करने में किसी प्रकार का सङ्कोच न करना चाहिये—

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ।
इतु मारगि पैरु धरीजै। सिरु दीजै काणि न कीजै॥[2]

सन्त दादूदयाल का कथन है कि प्रियतम का प्रेमी अपने सिर को उतार कर उसके सम्मुख रख दे और अपने प्यारे के लिए समस्त अहंभाव का (विरह की) आग में जला दे। अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके प्रिय के आगे उत्सर्ग

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ४०।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ २५३।

कर दे; फिर भी वह मधुरप्रियतम कटु न प्रतीत हो तभी तुझे उसका साथ मिल सकता है। जब तक अपने मस्तक का सौदा न दिया जाय तब तक सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। जो प्रेमी मृत्यु की परवाह नहीं करता, वही उस प्रेम प्याला को पीने का अधिकारी होता है। हरि मार्ग में मस्तक देकर ही, भक्त प्रभु के निकट पहुँचकर परम पद प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है—

दादू आसिक रब्ब दा, सिर भी डेवै लाहि।
अल्लह कारण आप कौं, साड़ै अन्दरि माहि॥
भोरे भोरे तन करं, बड़ै करि कुरबाण।
मीठा कौड़ा ना लगै, दादू तौहू साण॥
जब लगि सीस न सौंपिये, तब लगि इसक न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ॥[1]
हरि मारग मस्तक दीजिये, तब निकटि परम पद लीजिये।
इस मारग माँहै मरणां, तिल पीछै पाव न धरणां॥[2]

श्रीमद्भागवत में अखण्डानन्दस्वरूप तत्त्व के तीन रूप माने गये हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्।[3] ज्ञानी भक्त, भगवान् के केवल चिन्मय रूप का साक्षात्कार करते हैं। वे उसके एक अंश मात्र को जानते हैं और अपने ज्ञान के द्वारा उस चिन्मय अंश में लीन होने की कामना करते हैं। परमात्म-स्वरूप के उपासक योगी होते हैं जिन्हें शक्ति और शक्तिमान् का भेद ज्ञात रहता है किन्तु भक्तों के भगवान् सर्वशक्तिसम्पन्न होते हैं। भक्त, भगवान् की सारी शक्ति के रस का अनुभव कर सकता है इसलिये भक्त की अनन्य कामना भगवान् का प्रेम प्राप्त करने की होती है। वह मोक्ष को ठुकराकर प्रेम को ही परम पुरुषार्थ मानता है—प्रेमा पुमर्थो महान्।

मध्ययुग के सन्त भक्तों का सामान्य विश्वास प्रेम के द्वारा भगवत्प्राप्ति है जिसे वे नाना रूपों में व्यक्त करते हैं। कबीरदास जी कहते हैं कि "हाय, मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मैं अपने प्रियतम से अङ्ग-अङ्ग लगाकर मिलूँगी, जिसके लिये मैंने यह शरीर धारण किया है। हाय, वह सुहावन घड़ी कब आवेगी जब तन मन और प्राणों में प्रवेश कर अपने प्रिय के साथ सदा हिलमिल कर खेलूंगी। हे समर्थ रामराया! मेरी यह कामना पूर्ण करो। तुम्हारी राह देखते देखते

---

[1] दादूदयाल की बानी—भाग १, विरह को अङ्ग ५६-६०-६१।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४३६।

[3] वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भागवत ३।२।११

मेरी सारी रात बीत जाती है, मुझ वियोगिनी के लिये शय्या सिंह के समान पीड़ादायक बन गई है। जब भी मैं उसमें लेटती हूँ वह खाने को तैयार हो जाती है। मुझ गरीब की एक अरदास सुन लीजिये—आकर मेरे शरीर की जलन को शान्त कर दीजिये। आपके मिलन-पर्व पर मैं प्रसन्नतापूर्वक मङ्गल-गीत गाऊँगी।"[1] ईश्वर से वियोगानुभूति की भावना जीव के लिये प्रभु-मिलन का अनुपम साधन मानी गई है। यदि साधक या प्रेमी के हृदय में यह अनुभूति जागृत न हो तो अन्य साधनों के होते हुए भी जीव का ईश्वर से मिलन असम्भव है। प्रियतम की प्राप्ति हँसी-खुशी से होनी नितान्त दुस्साध्य है, जिन्होंने उसे पाया है उसे बड़े-बड़े मूल्य चुकाने पड़े हैं, आँसुओं के खारे समुद्र पीने पड़े हैं। यदि हँसी-खेल में ही वह अनमोल प्रिय मिल जाता तो अभागिनी कोई क्यों होती? स्वाभिमानिनी वियोगिनी भी अपनी प्रेम-साधना में आरूढ़ विरह में तपती रहती है—

> हँसि हँसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ।
> जे हांसे ही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागिन कोइ॥
> आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ।
> जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥

राम की राह देखते-देखते आँखों में झाँई पड़ गई और राम को पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये। वह सोचती है कि इस शरीर को दीपक बना लूँ, उसमें प्राणों की बत्ती डालूँ और रक्त को तेल के समान जलने दूँ। इस प्रकार दीप को प्रज्वलित करने पर मैं अपने प्रिय के मुख का दर्शन कब कर सकूँगी? मेरे नेत्र निर्झर बन गये हैं और रहँट घरी के समान दिन-रात बहते-रहते हैं। पपीहे के समान मैं 'पिउ-पिउ' की रट लगाती हूँ। हे राम! तुम न जाने कब मिलोगे? कबीर कहते हैं कि हास-विलास दूर कर दो और रोने में अपना मन लगाओ। परमप्रिय प्रेमस्वरूप प्रियतम भला बिना रोये कैसे मिल सकता है?[2] प्रेमी भक्त सन्त रैदास कहते हैं कि हे राम! यदि तुम मुझसे सम्बन्ध-विच्छेद कर भी लो, तो भी मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूँगा। हाय, तुम से नाता तोड़कर अन्य सांसारिक नाते जोड़ने में क्या स्वाद है? मैं तीर्थ-व्रत आदि की झंझट नहीं पालता, मुझे तो एक मात्र तुम्हारे चरण-कमलों का भरोसा है। मैं जहाँ-जहाँ भी जाता हूँ, वहीं तुम्हारी पूजा सम्पन्न हो जाती है। तुम्हारे समान मैं अन्य किसी देवता को अपना हितचिन्तक नहीं समझता। मैंने अन्य सारे सांसारिक नाते समाप्त करके

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ३०६।

[2] वही—विरह को अङ्ग, २२, २३, २४, २७।

एक मात्र हरि से अपना मन लगाया है। मैं मनसा वाचा कर्मणा कह रहा हूँ कि सब समय मुझे एक मात्र तुम्हारी ही आशा रहती है—

जो तुम तोरौं राम मैं नहिं तोरौं। तुम सौं तोरि कवन सौं जोरौं ॥
तीरथ बरत न करौं अंदेसा। तुम्हरे चरन कमल का भरोसा ॥
जहँ-जहँ जावौं तुम्हरी पूजा। तुम सा देव और नहि दूजा ॥
मैं अपनो मन हरि सौं जोर्यो। हरि सौं जोरि सबन सौं तोर्यो ॥
सब हीं पहर तुम्हारी आसा। मन क्रम बचन कहै रैदासा ॥[1]

कभी वे भाव-विह्वल होकर चिल्ला उठते हैं :—

दरसन दीजै राम दरसन दीजै। दरसन दीजै बिलम्ब न कीजै ॥
दरसन तोरा जीवन मोरा। बिन दरसन क्यूं जिवै चकोरा ॥

और कभी वे कहते हैं कि हे भगवान्, यह भी कैसी प्रीति है कि तुम मुझे देख रहे हो पर मैं तुम्हें नहीं देख पा रहा हूँ। इस बिसहज प्रीति की रीति से मति-भ्रम में पड़ जाता हूँ। परस्पर की प्रीति तो ऐसी होनी चाहिये कि भक्त और भगवान्, दोनों एक-दूसरे को देखें। तुम मुझे देखो और मैं तुम्हें :—

तू मोंहि देखे, हौं तोंहि देखौं, प्रीत परस्पर होई।
तू मोंहि देखे, तोंहि न देखौं, यहि मति बुधि सब खोई ॥

इसी 'प्रेम भक्ति' के बल पर रैदास का उद्धार हुआ है अन्यथा :—

जा देखे घिन ऊपजै, नरक कुण्ड में बास।
प्रेम भगति सौं ऊधरै, प्रगटत जन रैदास ॥

इनके बारे में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन सत्य ही है कि "रैदास जी के पदों में एक प्रकार की ऐसी आत्म-निवेदन और परमात्म विरह की पीड़ा है जो केवल तत्व-ज्ञान की चर्चा से प्राप्त नहीं हो सकती। वह ऐसे हृदय की अनुभूति है जो ज्ञान की चर्चा से जटिल नहीं बना है, बल्कि प्रेमानुभूति से अत्यन्त सहज हो गया है। अनाडम्बर सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम सन्तों की तुलना की जा सकती है।"[2] विनय और मृदुता में रैदास के समकक्षी दूसरे सन्त गुरु नानक देव हैं। सच्चे हृदय से निकली हुई नानक की वाणियों के सीधे उद्गारों में सच्चे भक्त का हृदय बोलता है। उनकी भक्ति करुणामूलक है। शेख फरीद को दिये गये उपदेश में—

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ १९१।
[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १३८-९।

"फरीद, अगर तुम्हें कोई मारे तो तुम उसका पैर पकड़ो"—नानक के विनम्र व्यक्तित्व का सुन्दर परिचय मिलता है। वे अपनी प्रसिद्ध रचना 'रहिरास' में एक स्थल पर लिखते हैं कि यदि मैं नाम का जप करूँ, तो जीऊँ, यदि भूल जाऊँ, तो मर जाऊँ, उस सच्चे के नाम का जप बड़ा कठिन है। यदि सच्चे नाम की भूख लग उठे, तो खाकर तृप्त हो जाने पर भूख की व्याकुलता चली जाती है। तब हे मेरी माता! उसे मैं कैसे भुला दूँ? स्वामी वह सच्चा है, उसका नाम सच्चा है। वह नित्य सब को आहार देता रहता है, फिर भी उसका भण्डार नहीं चुकता।[1] जिस घर में परमात्मा का गुण-गान होता है और उसका ध्यान किया जाता है, उस घर में स हिला गाओ और सिरजनहार का स्मरण करो। मैं उस आनन्द-गान पर बलि जाता हूँ जिससे कि नित्य सुख प्राप्त होता है। नित्य-नित्य सब जीवों की सार-सँभाल रखी जाती है। वह दाता उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। जबकि उसके दान का हिसाब नहीं रखा जा सकता तब फिर उस दानी का हिसाब कौन रख सकता है? विवाह का संवत् और लग्न का समय-पत्र लिया जाता है, तब सब सम्बन्धी मुझ दुल्हन पर तेल चढ़ाते हैं। मेरे सम्बन्धियों, मुझे आसीश दो कि मेरे स्वामी से मेरा मिलन हो :—

संबति साहा लिखिआ, मिलि करि पावहु तेलु ॥
देहु सज्जण असीसड़ीआ, जिउं होवै साहिब सिउ मेलु ॥[2]

गुरु नानकदेव कितने उल्लास के साथ कहते हैं—

जब लगु दरसु न परसै प्रीतम, तब लगु भूखि पिआसी।
दरसनु देखत ही मन मानिआ, जल रसिकमल बिगासी ॥

भगवद्विरह से पीड़ित नानक को देखने के लिये वैद्य बुलाया गया। वह हाथ पकड़ कर नाड़ी से रोग का पता लगाता है किन्तु उस बेचारे को क्या मालूम कि यह पीड़ा साधारण पीड़ाओं से कहीं अधिक गहरी कलेजे की पीड़ा है—

वैदु बुलाइआ वैदगी, पकड़ि ढंढोले बाँहि।
भोला वैदु न जाणई, करक कलेजे माँहि ॥[3]

गुरु नानक के स्वरों में स्वर मिलाते हुए गुरु अङ्गद भी कहते हैं कि जिस प्रियतम से तू प्रेम करता है, उसके रहते ही मर जा, उसके पीछे इस संसार में

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ २४१।
[2] वही—पृष्ठ २४३।
[3] वही—पृष्ठ २५०।

जीना धिक्कार है। जो मस्तक प्रभु की सेवा में नहीं झुकता, उसे काटकर फेंक दे। जिस शरीर में प्रभु-विरह की वेदना नहीं, उसे लेकर तू जला दे—

जिसु पिआरे सिउ नेहु तिसु, आगे मरि चल्लिऐ।
ध्रिगु जीवण संसार ताकै पाछै जीवणा॥
जो सिरु साईं ना निवै सो सिरु दीजै डारि।
नानक जिसु पिंजर महि बिरह नहीं, सो पिंजर लै जारि॥

सन्त दादूदयाल की वाणी 'विनय मिश्रित मधुरता' से ओत-प्रोत है। अपने उद्गारों को व्यक्त करते समय उनकी प्रीति और नम्रता देखने लायक होती है। उनके बारे मे द्विवेदी जी का कहना है कि "अधिकांश में उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आ जाने लायक होती हैं। इनके पदों में जहाँ निर्गुण, निराकार, निरञ्जन को व्यक्तिगत भगवान् के रूप में उपलब्ध किया गया है, वहाँ वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये हैं। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं पर स्वभावत: सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुर:सर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था और दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम।"[१] दादू ने सहज भाषा में कहा है कि "अपने अहङ्कार को त्यागकर हरि को भजो। तन-मन के विकारों को त्याग दो और सब जीवों से मैत्री-भाव रखो, यही सार तत्व है।"[२] सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री क्षितिमोहन सेन का कथन है कि परमात्मा के प्रति उनकी परम भक्ति थी। परमात्मा में उनका दृढ़ विश्वास था। परमात्मा की असीम शक्ति के ऊपर निर्भर रहकर ही दादू अपने मार्ग पर अग्रसर होते रहे। विचार करके सत्य का प्रत्यक्ष करना ही सब दुखों की औषधि है। वेद पढ़ो, शास्त्र पढ़ो, उनसे कोई लाभ नहीं। सृष्टिकर्ता के अन्तर के प्रेम की व्यथा ही सृष्टि में प्रकाशित हो रही है। यह एक विराट गम्भीर रहस्य है। ब्रह्मचित्त से युक्त हुए बिना यह रहस्य नहीं जाना जा सकता। भगवान् को अपना हृदय दो, प्रेम दो, प्रेम के द्वारा उनके मन के साथ युक्त होओ और तभी ही उनके हृदय का रहस्य क्रमश: प्रकट होता जायगा। ऐसा करके ही सृष्टि के मर्म का रहस्य जाना जा सकता है, नहीं तो वेद-पुराण कण्ठस्थ करते-करते मरने

---

[१] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४५-५।

[२] आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्वैरी सब जीव सौं, दादू यह मत सार॥

तो भी उनके रस-राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता । पण्डित का राज्य शास्त्र में है और रसिक का विहार प्रेम राज्य में है । वहाँ पण्डित के लिये स्थान कहाँ ?[1] प्रियतम के दर्शन के लिये विह्वल दादू की विरह कातर आत्मा पुकार कर कहती है—हे प्रभु ! मुझे दर्शन दो, मुझे तुम्हारी मुक्ति नहीं चाहिये । हे गोविन्द ! मैं तुमसे ऋद्धि-सिद्धि भी नहीं माँगता, मैं तुम्हीं को माँगता हूँ । हे राम ! न मैं योग चाहता हूँ न भोग, मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ । मैं घर नहीं माँगता, धन नहीं माँगता मैं तुम्हीं को माँगता हूँ । मुझे और कुछ नहीं चाहिये, केवल तुम्हारे दर्शन चाहिये मेरे प्राणाधार—

> दरसन दे, दरसन दे हौं तो तेरी मुकति न मांगो रे ।
> सिधि ना मांगो, रिधि ना मांगो तुम्हहीं मांगो गोविन्दा ॥
> जोग न मांगो, भोग न मांगो, तुम्हहीं मांगो राम जी ।
> घर नहिं मांगो, धन नहिं मांगो, तुम्हहीं मांगो देव जी ॥
> 'दादू' तुम्ह बिन और न जानै दरसन मांगो देहु जी ॥

बिना दर्शन के न तो विरहिणी को 'सिंगार-पटार' भाता है और न सोलहों शृङ्गार से अपने को सजाना । है कोई ऐसा परोपकारी जो उसके प्रियतम राम से उसे मिला दे । विरह-व्यथा की पीड़ा सारे शरीर में व्याप्त हो गई है जिससे खान-पान और वस्त्रादि की सुधि भूल गई है । (बिना प्रिय के) कोई उसकी पीड़ा को मिटाने वाला नहीं है । उसे अपने देह-गेह की भी याद भूली हुई है । वह रात दिन पपीहा की भाँति स्वाति जल रूपी दर्शन की प्रतीक्षा में रहती है । उसे कोई अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती । राम के बिना वह मृतक समान हो गई है ।[2] उसे केवल दर्शन की ही प्यास है । वह तब तक जीवित रहना चाहती है जब तक प्यारे के दर्शन न हो जायें । हे दीनदयालु ! दया करके दादू को दर्शन दो, तुम्हारे दर्शन से सब प्रकार का सुख और आनन्द मिल जाता है । तुम्हारे दर्शन के लिये वह रात-दिन रोती रहती है । दर्शन देकर जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से उसे छुड़ाइये ।[3] किन्तु वह निर्मोही जब फिर भी दर्शन नहीं देता तो विरहिणी अपने कठोर प्राणों की भर्त्सना करने लगती है कि ये क्यों अब तक वियोग-दुःख सहन कर रहे हैं, निकल क्यों नहीं जाते ? अरे ओ प्रियतम ! तुम्हारे दर्शन के बिना बहुत दिन व्यतीत हो गये । जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाये रहता है,

[1] कल्याण—सन्त-साहित्य विशेषाङ्क, पृष्ठ २१०, आचार्य सेन—दादू और उनकी धर्म-साधना ।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४२६ ।

[3] वही—पृष्ठ ४२६ ।

पर भी उनके रस-राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता। पण्डित का राज्य शास्त्र में है और रसिक का विहार प्रेम राज्य में है। वहाँ पण्डित के लिये स्थान कहां?[1] प्रियतम के दर्शन के लिये विह्वल दादू की विरह-कातर आत्मा पुकार कर कहती है—हे प्रभु! मुझे दर्शन दो, मुझे तुम्हारी मुक्ति नहीं चाहिये। हे गोविन्द! मैं तुमसे ऋद्धि-सिद्धि भी नहीं माँगता, मैं तुम्हीं को माँगता हूँ। हे राम! न मैं योग चाहता हूँ न भोग, मैं केवल तुम्हें चाहता हूँ। मैं घर नहीं माँगता, धन नहीं माँगता मैं तुम्हीं को माँगता हूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिये, केवल तुम्हारे दर्शन चाहिये मेरे प्राणाधार—

> दरसन दे, दरसन दे हौं तो तेरी मुकति न माँगो रे।
> सिधि ना माँगो, रिधि ना माँगो तुम्हहीं माँगो गोविन्दा॥
> जोग न माँगो, भोग न माँगो, तुम्हहीं माँगो राम जी।
> घर नहिं माँगो, बन नहिं माँगौं, तुम्हहीं माँगो देव जी॥
> 'दादू' तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगो देहु जी॥

बिना दर्शन के न तो बिरहिणी को 'सिंगार-पटार' आता है और न सोलहों शृङ्गार से अपने को सजाना। है कोई ऐसा परोपकारी जो उसके प्रियतम राम से उसे मिला दे। विरह-व्यथा की पीड़ा सारे शरीर में व्याप्त हो गई है जिससे अञ्जन-मञ्जन और वस्त्रादि की सुधि भूल गई है। (बिना प्रिय के) कोई उसकी पीड़ा को मिटाने वाला नहीं है। उसे अपने देह-गेह की भी याद भूली हुई है। वह रात-दिन पपीहा की भाँति स्वाति जल रूपी दर्शन की प्रतीक्षा में रहती है। उसे कोई अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती। राम के बिना वह मृतक समान हो गई है।[2] उसे मात्र दर्शन की ही साध है। वह तब तक जीवित रहना चाहती है जब तक प्यारे के दर्शन न हो जायँ। हे दीनदयालु! दया करके दादू को दर्शन दो, तुम्हारे दर्शन से सब प्रकार का सुख और आनन्द मिल जाता है। तुम्हारे दर्शन के लिये वह रात-दिन रोती रहती है। दर्शन देकर जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से उसे छुड़ाइये।[3] किन्तु वह निर्मोही जब फिर भी दर्शन नहीं देता तो विरहिणी अपने कठोर प्राणों की भर्त्सना करने लगती है कि ये क्यों अब तक वियोग-दुःख सहन कर रहे हैं, निकल क्यों नहीं जाते? अरे ओ प्रियतम! तुम्हारे दर्शन के बिना बहुत दिन व्यतीत हो गये। जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाये रहता है,

---

[1] पाटल—सन्त-साहित्य विशेषाङ्क, पृष्ठ २१०, आचार्य सेन—दादू और उनकी धर्म-साधना।

[2] सन्त सुधासार—पृष्ठ ४२६।

[3] वही—पृष्ठ ४२६।

वैसे ही मैं आतुर वियोगिनी तुम्हारा मार्ग ताकते-ताकते थक गई किन्तु मेरे नेत्रों ने तुम्हारी छवि नहीं देखी। अवधि भी बीत गई लेकिन फिर भी तुम नहीं आए। मेरे चितचोर, कहाँ बिलम गये—(सन्त सुधासार, पृष्ठ ४२६)। दादू की दृष्टि में सारा संसार निर्धन है, कोई धनी नहीं। उसी को धनी समझना चाहिये जिसके पास अमूल्य 'राम' पदार्थ हो। प्रिय से वियुक्त होने पर दादू इस संसार में अपने समान किसी को दुखी नहीं देखते। प्रिय-मिलन के लिये वे संसार भर में रोते फिरते हैं। न तो प्रियतम मिले और न वियोगिनी सुखी हो सकी, बिना प्रियतम के जीवन हरा-भरा कैसे हो? जिन्होंने उसे घायल किया है, वही उसकी दवा हैं। राम के विरह में वियुक्त विरहिणी मछली की भाँति तड़पती रहती है, फिर भी उस निठुर को दया नहीं आती। उसे सच्चा सुख तभी मिलेगा जबकि प्रिय उसे देखता रहे और वह प्रिय को, और इस प्रकार देखते-देखते दोनों एक दूसरे से मिल जायें—(सन्त सुधासार, पृष्ठ ४५७-५८)।

दादू पुकार कर कहता है कि उसके रोम-रोम में प्रिय-दर्शन की प्यास समायी है। अरे, ओ मेरे सिरजनहार, प्रसन्नतापूर्वक राम घटा को बरसाओ। प्रिय की प्रीति, पिञर में प्रविष्ट हो गई है इसलिए दादू के शरीर का रोम-रोम प्रियतम को ही पुकारता है, किसी दूसरे को नहीं। यह असाधारण रुदन घड़ी-दो-घड़ी का नहीं है, अपितु अहर्निशि इसका क्रम चलता रहता है और इसी के सहारे दादू अपने प्रिय में मिल गया।[1] स्वाभाविकता के धनी दादू के सुयोग्य शिष्य रज्जब जी में भी प्रिय विरहजन्य वही मर्मान्तिक पीड़ा है।

> प्राणपति न आये हो, बिरहिण अति बेहाल।
> बिन देखे अब जीव जातु है, बिलम न कीजै लाल॥
> बिरहिण व्याकुल केसवा, निसदिन दुखी बिहाइ।
> जैसे चन्द कुमोदिनी, बिन देखे कुमिलाइ॥
> खिन खिन दुखिया दगधिये, विरह-विथा तन पीर।
> घरी पलक में बिनसिये, ज्यूं मछरी बिन नीर॥
> पीव पीव टेरत दिक भई, स्वाति सुकवी आव।
> सायर सरिता सब भरे, परि चातिग कै नाहिं चाव॥
> दीन दुखी दीदार बिन, रज्जब घन बेहाल।
> दरस दया करि दीजिये; तौ निकसै सब साल॥[2]

प्रिय-दर्शन, प्रेमी के लिये वस्तुतः अनमोल वस्तु है जिसे वह अपने प्राणों से

---

[1] सन्त सुधासार—स्वामी दादूदयाल, बिरह कौ अङ्ग, ३०-३१-३२।

[2] वही—रज्जब जी, पृष्ठ ५१६।

भी प्रिय समझना है। दर्शन की भावना को लेकर प्रायः सभी सन्तों में हमें एक सामान्य स्वर सुनाई पड़ता है। सन्त बषना जी में भी हमें वही चिरपरिचित पीड़ा दिखाई पड़ती है—

> मेरे लालन हो, दरस द्यो क्यूं नाहीं।
> जैसे जल बिन मीन तलपै, यूं है तेरे ताईं॥
> बिन देख्यूं तन तालाबेली, बिरहनि बारहमासी।
> दिल मेरो का दरद पियारे, तुम्ह मिल्यिां तैं जासी॥
> रैणि निरासी होई छमासी, तारा गिणत बिहासी।
> दिन बिरहनि क्यूं बाट तुम्हारी, सदा उडंकत कासी॥
> जल-थल देखूं परबत देखूं, बन-बन फिरौ उदासी।
> बूझौं कोई उहां थै आया, ठावा मोहि बतासी॥
> फिरि-फिरि सबै सयाने बूझै, हौ तो आस पियासी।
> बषना कहै, वहौ क्यूं नाहीं, कब साहिब घर आसी॥[1]

स्वामी सुन्दरदास की वियोगिनी आत्मा प्रिय के विरह-वियोग में बावली हो गई है। शीतल-मन्द-सुगन्ध बयार उसे नहीं सुहाती। वह अब बावड़ी में गिरकर प्राण देने के लिये प्रस्तुत है क्योंकि चारों ओर से उसे विरह ने घेर लिया है। प्रियतम ने आँखों के सङ्केत से उसका मन हर लिया किन्तु फिर भूलकर उसके द्वार पर नहीं आये और न उसकी खोज खबर ली। अब वियोग हृदय में पैठकर उसके सारे शरीर को सन्तप्त कर रहा है। अकेले सेज पर लेटी-लेटी वह बेचारी रात बड़ी कठिनाई से बिता पाती है। वह वियोग की मारी है, विरह की साँकल से जकड़ दी गई है। किसी प्रकार की जड़ी-बूटी से उसको चैन नहीं मिलता। हाय, अब तो वह अपार दुःख पा रही है।[2] मलूकदास कहते हैं कि उस 'जोगी' के बिना रहा नहीं जाता। कौन उस 'जोगी' से मेरा मिलन कराये। मैं प्रियतम की प्यासी हूँ इसीलिये पिया-पिया रटती फिरती हूँ। यदि 'जोगी' मुझे नहीं मिलेगा तो मै शीघ्र अपने प्राण त्याग दूँगी। प्रियतम रूपी सद्गुरु शिकारी ने मुझ हिरनी को प्रेम के बाण से घायल कर दिया है। इस पीड़ा का अनुभव वही कर सकता है जिसने कभी प्रिय का वियोग झेला हो।[3] बाबा धरनीदास भी दर्शन की उत्कट आकांक्षा से व्यथित होकर पुकारने लगते हैं—

---

[1] सन्त सुधासार—रज्जब जी, पृष्ठ ५४६।

[2] वही—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ६०७-८

[3] मलूकदास जी की बानी—बेलवेडियर-प्रेस, प्रयाग—पृष्ठ ६।

भई कन्त दरस बिनु बावरी।
मो तन ब्यापै पीर प्रीतम की, मूरख जानै आवरी॥
पसरि गयौ तरु प्रेम साखा सखि, बिसरि गयौ चितचाव री।
भोजन भवन सिंगार न भावै, कुल करतूति अभाव री॥
खिन खिन उठि उठि पन्थ निहारौं, बार बार पछिताव री।
नैनन अञ्जन नींद न लागै, लागै दिवस विभावरी॥
देह दसा कछु कहन न आवै, जस जल ओछे नावरी।
धरनी धनी अजहुँ पिय पावौं, तो सहजै अनन्द बधावरा॥[1]

स्वामी गरीबदास कहते हैं कि मैं अपने प्राणाधार प्रियतम को कैसे पाऊं? उनके दर्शन के बिना मैं बड़ा दुःख पा रही हूँ। हाय, कोई मिलाने वाला ऐसा नहीं है जिसे देखते हुए मेरा रोम-राम शीतल हो जाय और सन्तप्त शरीर की वेदना शान्त हो जाय। उस प्रियतम पर मैं अपना शरीर न्योछावर कर दूँ। मेरी वेदना कौन सुने, किसे सुनाऊँ, बिना प्रिय के दूसरे की पीड़ा कौन समझ सकता है? प्रियतम से बिछुड़ी वियोगिनी को कौन धैर्य बंधा सकता है? हे प्रिय, भले ही हममें-तुममें दूरी हो, लेकिन मेरा तन-मन तुम्हारे प्रेम में अनुरक्त है, अतः भले ही शरीर लाख योजन पर हो परन्तु मैं चित्त को तो तुम्हारे सम्मुख ही रखती हूँ। कमल जल में रहता है, सूर्य आकाश में किन्तु किरणों का स्पर्श-दान पाकर ही वह खिलता है।—सन्त सुधासार, पृष्ठ ५०६, ६। यहाँ पर यह विचारणीय है कि निर्गुणी सन्तों ने अपनी भावनाएं निर्गुण, निराकार निरञ्जन प्रियतम के प्रति व्यक्त की हैं किन्तु भक्ति की मृदुलता आ जाने से एवं प्रेम-भावना में तीव्रता के समावेश से निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है और उसमें हमें व्यक्तित्व का आभास मिलने लगता है। 'ईश्वर को हृदय फाड़कर दिखा देने की इच्छा होती है। उसमें अपनापन आ जाता है। वह ईश्वर-प्रेम की प्रतिमूर्ति बनकर सामने आ जाता है। ऐसी स्थिति में निराकर ईश्वर अपने को विश्व का नियन्ता न रखकर भक्तों के सुख-दुःख में समान भाग लेने वाला दृष्टिगोचर होने लगता है।[2]

मध्ययुगीन सन्तों की परम साधना अपने आराध्य के साथ 'रङ्गभरि खेलना' है। वह प्रिय की चिन्मय सत्ता में विलीन न होकर अनन्त काल तक उसमें रमते रहने का आकांक्षी है। कबीरदास जी उन दिनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब कि

[1] धरनीदास जी की बानी - बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ ५४।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा — हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २६४।

वे अङ्ग से अङ्ग लगाकर अपने प्रिय से मिलेंगे।[1] इसी प्रकार स्वामी दादूदयाल भी भगवान् के साथ नित्य लीला में रत हैं—प्रिय से रङ्ग भर के खेलता हूँ, जहाँ रसीली बाँसुरी बज रही है। अखण्ड सिंहासन पर आसीन प्रेमानुरक्त प्रिय प्रेम-रस का पान करा रहे हैं। प्रिय के साथ रङ्ग भर के खेल रहा हूँ, यहाँ कभी वियोग की आशङ्का नहीं है। पूर्वजन्म के संयोग से मैंने आदिपुरुष को अपने भीतर पा लिया है, इससे बारहों मास बसन्त बना रहता है और मैं सदैव आनन्दमग्न होकर युग-युग तक कान्त को देखता हुआ रङ्ग भर के खेलता रहता हूँ—

रंगभरि खेलौं पीव सों, तँह बाजै वेनु रसाल।
अकल पाट करि बैठ्या स्वामी, प्रेम पिलावै लाल॥
रंगभरि खेलौं पीव सों, कबहूँ न होइ वियोग।
आदि पुरुष अन्तरि मिल्या, कछु पूरब के योग॥
रंगभरि खेलौं पीव सों, बारह मास बसन्त।
सेवग सदा अनन्द है, जुगि जुगि देखौ कन्त॥

मध्यकालीन भक्तों और सन्तों की लीला में एक ही सामान्य तत्त्व है। अन्तर केवल यही है कि सन्त-भक्तों के सामने प्रभु के व्यक्तिगत सम्बन्ध के साथ उनकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है और भक्तों के सामने उनकी अनन्तता और असीमता तिरोहित हुई सी प्रतीत होती है। सन्तों ने भक्त का पद भगवान् के समान ही माना है और समानता के लिये वे प्रेम को आधार स्वरूप ग्रहण करते हैं। प्रेम के संसार में छोटे-बड़े का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, फिर भगवान् तो प्रेम के वश में रहते हैं। भक्त और भगवान् की भाँति भक्ति की महिमा सन्तों ने बड़ी तन्मयता के साथ गायी है। भगवान् की गम्भीरता, असीमता और अज्ञेयता की तरह भक्ति भी अगाध है, असीम है, अविगत है। जैसे पूर्ण राम हैं, ठीक वैसी भक्ति भी पूर्ण है, ऐसा सन्त दादूदयाल का मत है—

जैसा राम अपार है, तैसी भगति अपार।
इन दोनों की मित नहीं, सकल पुकारैं साध॥
जैसा अविगत राम है, तैसी भगति अलेख।
इन दोनों की मित नहीं, सहसमुखी कहै सेख॥
जैसा पूरा राम है, पूरन भगति समान।
इन दोनों की मित नहीं, दादू नाहीं आन॥

---

[1] वे दिन कब आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अङ्गि लगाइ॥

भक्ति साधना की विशेषताएँ—सन्त कवियों ने निष्काम अथवा अहैतुकी भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है। भक्ति-मार्ग के अनुयायी साधक को किसी प्रकार की कामना अपने हृदय में नहीं रखनी चाहिये। सच्चे भक्त भगवान् से धन-ऐश्वर्य, बल-बुद्धि, प्रभुता-स्वामित्व आदि कुछ भी नहीं चाहते। वे केवल अपने आराध्य का दर्शन और उनके चरणों की अविचल भक्ति चाहते हैं। सन्त कबीर, प्रभु-दर्शन के अतिरिक्त भक्ति का और कोई फल नहीं चाहते। राम को छोड़कर उन्हें स्वर्ग में जाना स्वीकार नहीं है। राम के लिये वे नरक को अङ्गीकार करते हैं :—

> दो जग तौ हम अङ्गिया, यहु डर नाहीं मुझ।
> भिस्त न मेरे चाहिये, बाँझ पियारे तुझ।।

नारदभक्ति सूत्र ७ में कहा गया है कि वह (प्रेमा-भक्ति) कामना युक्त नहीं है क्योंकि वह निरोध स्वरूपा है अर्थात् इसमें भक्त अपने प्रियतम भगवान् और उनकी सेवा को छोड़कर और कुछ चाहता ही नहीं। श्रीमद्भागवत में भगवान् कपिलदेव ने कहा है कि "मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य (भगवान् के समान लोकप्राप्ति), सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य प्राप्ति), सामीप्य (भगवान् के समीप स्थान प्राप्ति), (सारूप्य (भगवान् के समान स्वरूप प्राप्ति) और सायुज्य (भगवान् में लय प्राप्ति) इन पाँच प्रकार की मुक्तियों को देने पर भी नहीं लेते। यथार्थ भक्ति के उदय होने पर समस्त कामनाएँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं क्योंकि भक्ति, निरोधस्वरूपा अर्थात् त्यागमयी है। सकामभाव से की जाने वाली भक्ति को कबीर व्यर्थ मानते हैं। सकाम भक्ति से निष्काम परम प्रभु की प्राप्ति दुर्लभ है।[1] राम की भक्ति करना कायर का काम नहीं है क्योंकि यह असिधारा व्रत की अपेक्षा रखती है। जो जरा भी इस मार्ग में हिला-डुला, वह कट गया और जिसने सर्वस्व भाव से अपने को सौंप दिया वह पार उतर गया।[2] इस भक्तिरूपी राम रस में इतना माधुर्य है कि इसका स्वाद चख लेने पर अन्य रस नीरस प्रतीत होने लगते हैं—"राम रस पीया रे। जिह रस बिसरि गये रस और।"[3] निष्काम निर्गुण भक्ति से जीवनकाल में जीवन-मुक्ति मिलती है—"कहत कबीर जो हरि ध्यावै जीवन बन्धन तोरे"—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१८।

---

[1] जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकांमी निज देव।।

[2] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ७०, २४-२५।

[3] वही—पृष्ठ ३२१, पद १८३ की तीसरी पंक्ति।

शरीर त्यागने पर निष्काम भक्त उस परम पद को पहुँच जाता है जहाँ आकर वह पुनः संसार में नहीं लौटता—कहत कबीर निरंजन ध्यावो, तित घर जाउ बहुरि न आवो—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०६। इस भक्ति के उदय होते ही साधक अपूर्व शान्ति एवं तृप्ति का अनुभव करने लगता है। नारदभक्ति सूत्र ४ में भी कहा गया है—'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' भागवत की निर्गुण भक्ति की भाँति कबीर की भक्ति भी त्रिगुणात्मिका माया से परे है। त्रिगुण पद से ऊपर उठकर चौथे पद में भगवान् की प्राप्ति होती है—चौथे पद को जो नर चीन्है तिनहिं परम पद पाया—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २७२। इस त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँचा हुआ भक्त समस्त द्वन्द्वों से परे एवं समदर्शी हो जाता है। स्तुति-निन्दा दोनों से विवर्जित मान-अभिमान को त्याग कर जो स्वर्ण और लोह को एकसा समझते हैं, वे साक्षात् प्रभु की मूर्ति हैं—

> अस्तुति निन्दा दोउ विवरजित, तजहु मान अभिमाना।
> लोहा कंचन सम जानहिं, ते मूरति भगवाना।।
>
> —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७२

सन्त कवियों के भक्ति के आदर्श 'सती' और 'शूर' हैं। प्रायः अधिकांश सन्तों ने अपनी वाणियों में 'निहकर्मी पतिव्रता को अङ्ग' तथा 'सूरातन को अङ्ग' पर कुछ न कुछ अवश्य कहा है। सन्त कबीर को स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करने वाले सती और शूर ही हैं। सती और शूरवीर ने शरीर को सजाकर तन-मन की बानी फिरवा दी और अपना अहं प्रिय को अर्पित कर दिया, तब वहीं श्मशान उनकी प्रशंसा करता है—

> सात सूरा तन माहि करि, तन मन कीया घांण।
> दिया महोला पीव कूं तब, मड़हट करै बखांण।।

प्रियतम राम के प्रति कबीर की भक्ति, पतिव्रता की भाँति एकनिष्ठ अनन्य भक्ति है। उनका कथन है कि 'ओ अमित गुणों के भण्डार मेरे प्रियतम, मेरा प्रेम एकमात्र तुम्हीं से है। यदि मैं किसी अन्य से हँसू बोलूँ तो अपने मुख को कालिख से रंगवा लूँ।'[1] वह अपने प्रिय पर इतना अधिकार चाहती है कि उन्हें अपने नेत्रों में बिठलाकर पलकें बन्द कर ले। न तो स्वयं किसी को देखे न अपने प्रियतम को किसी को देखने दे।[2] जो कुछ उस बेचारे के पास था उसने सब कुछ अपने प्रिय को अर्पित कर दिया है और यह तन-मन-यौवन धन उसका था

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—निहकर्मी पतिव्रता कौ अङ्ग १।

[2] वही—२।

ही कब ? वह तो प्रिय की धरोहर थी अत: 'तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा ।' स्वामी दादूदयाल के लिए 'गोविन्द ही उनके 'गुसाईं' हैं । वही गुरु, देवता, ज्ञान-ध्यान, पूजा-पाती, तीर्थ व्रत, शील-सन्तोष, योग-भोग, पुराण-वेद, जप-तप और मुक्ति मोक्ष है ।[1] उसके हृदय में हरि समाये हुए हैं, अत: दूसरे के लिए ठौर ही नहीं है । नेत्रों में नारायण और मन में मोहन बसे हैं । पतिव्रता अपने घर में प्रिय की सेवा में तत्पर रहती है, जैसे वे रखते हैं वैसे रहती है। उसने अपने स्वभाव को आज्ञाकारी बना लिया है ।[2]

स्वामी सुन्दरदास 'पतिव्रता को अङ्ग' में कहते हैं कि जो अनन्य भाव से भगवान् का भजन करती है तथा अपने हृदय में अन्य किसी प्रकार की कामना नहीं रखती; जितने भी देवी-देवता हैं उनसे कभी दीनतापूर्ण वचन नहीं बोलती; योग, यज्ञ, व्रतादि क्रियाओं के करने में जिसकी स्वप्न में भी अभिलाषा नहीं होती वहीं अपने प्रिय की प्यारी होती है । सच है, जिसने प्रिय के प्रेमामृत का पान कर लिया है, वह क्यों सांसारिक वासना-विष चखने जाय । जिस प्रकार जल की स्नेही मीन उससे पृथक हो जाने पर निष्प्राण हो जाती है; मणिहीन सर्प, स्वाति बून्द के बिना चातक, रवि बिना कमल और चन्द्रमा बिना चकोर व्याकुल रहते हैं वैसे ही एक प्रभु से स्नेह जोड़कर किसी दूसरे की ओर मन नहीं जाने देना चाहिये ।[3] शूर का धर्म बताते हुए कबीरदास जी कहते हैं—

पकड़ समसेर संग्राम में पैसिये, देह परजन्त कर जुद्ध भाई ।
काट सिर बैरियाँ दाब अहं का तहाँ, आय दरबार में सीस नवाई ॥
सूर संग्राम को देख भागै नहीं, देख भागै सोई सूर नाहीं ।
काम और क्रोध मद लोभ से जूझना, मचा घमसान तन-खेत माँही ।
सील और सोच सन्तोष साही भये, नाम समसेर तहाँ खूब बाजे ।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा, कायराँ भीड़ तहँ तुर्त भाजे ॥
साध को खेल तो विकट बेड़ा मती, सती और सूर की चाल आगे ।
सूर घमसान है पलक दो चार का, सती घमसान पल एक लागे ।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना, देह परजन्त का काम भाई ॥

शूरवीर की परीक्षा तभी होती है जब वह ईश्वर के लिये युद्ध करता है । इस युद्ध में भले ही उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाँय फिर भी वह रणक्षेत्र को नहीं

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १—निहकर्मी पतिव्रता को अङ्ग ६-११ ।

[2] वही—२२-२३-३७ ।

[3] सन्त सुधासार—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ६२४-५ ।

छोड़ता। सती होने का मन में निश्चय कर लेने पर जब हाथ में सिंधौरा ले लिया तो मरने का क्या डर ? भगवान् के प्रेम का घर जिस मार्ग द्वारा प्राप्त होता है, वह अगम्य और अगाध है। जब साधक मस्तक उतार कर पैरों के नीचे रख लेता है तब उसे निकट ही प्रेम का स्वाद प्राप्त हो जाता है। राम की भक्ति वैसी ही कठिन है, जैसी अग्नि की ज्वाला। जो इसमें कूद पड़े वे तो बच गये पर जो तमाशा देखने वाले थे, वे जल गये। कबीर कहते हैं कि मैंने अत्यन्त महँगे मूल्य में हरि रूपी हीरे का व्यापार किया है। इसमें मेरे हाड़ गल गये, शरीर गल गया और व्यवहार में मुझे शिर का मूल्य देना पड़ा। साधु-सती और शूरवीर सदैव नोंक के ऊपर खेल खेलते हैं। जैसे नट आकाश में मोटी रस्सी बांधकर उसके ऊपर से चलता है, यदि वह रस्सी टूट जाय तो उससे लगने वाली चोट को कोई नहीं सहन कर सकता। सती अपने प्रिय के प्रेम का स्मरण करके जलने के लिए निकली। प्रिय का शब्द कान में पड़ते ही उसके प्राण निकल गये और वह शरीर की सुध-बुध भूल गई।[1] गुरु नानकदेव तथा नानकपन्थी सन्तों के अपराजेय आत्मबल पर प्रकाश डालते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "यदि इनके भक्तों की त्याग भावना, दुःख बर्दाश्त करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्भुत प्रेरणादायिनी शक्ति इनकी वाणियों ने दी है, वैसी मध्य युग के किसी अन्य सन्त की वाणियों ने नहीं दी है। इतिहास साक्षी है कि सिक्ख भक्तों को दीवार में चुन दिया गया है, फाँसी पर लटका दिया गया है और जितनी प्रकार की अमानुषिक पीड़ाएँ दी जा सकती हैं, सब दी गई हैं और फिर भी इन भक्तों ने निराशा या पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है उनकी महिमा निस्सन्देह अतुलनीय है।[2] गुरु नानकदेव की प्रसिद्ध रचना 'जपुजी' के अन्तर्गत 'धरम खण्ड', 'ज्ञान खण्ड', 'करम-खण्ड' और 'सच खण्ड' में व्यक्त पुरुषार्थ पूर्ण वाणियों में उक्त कथन की सत्यता देखी जा सकती है। कर्म खण्ड अर्थात् आचरित अवस्था में पहुँचे हुए साधक के कार्य-कलाप को सबल बताते हुए नानक देव जी कहते हैं कि उस अवस्था को और कोई नहीं पहुँचता, केवल महान् बली शूर ही वहाँ पहुँच पाते हैं। उनमें राम का बल कूट-कूट कर भरा हुआ होता है (राम की) उस महिमा में सीता ही सीता रहती है। जिनके रूप या वर्णन नहीं हो सकता—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—सूरातन को अङ्ग, २३-२८-३२-३६।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १५०।

करम खण्ड की बाणी जोरु । तियै होरु न कोई होरु ।।
तिथै जोध महाबल सूर । तिनि महि राम रहिमा भरपूर ।।
तिथै सीतो सीता महिमा माहि । ताके रूप न कथने जाहि ।।—जपुजी ३७

संयम को तू भट्ठी बना और धैर्य को अपना सुनार । बुद्धि को बना निहाई और आत्म-ज्ञान को हथौड़ा । परमात्मा के भय की धौंकनी फूँक और तप की अग्नि जला । प्रेम-भाव का साँचा बनाकर उसमें नाम का अमृत ढाल ले । उसी सच्ची टकसाल में ऊँचा आचरण गढ़ा जा सकेगा । ऐसा काम वही कर सकते हैं जिन पर प्रभु ने कृपा-दृष्टि कर दी है । नानक, मेरा प्रभु एक ही कृपा दृष्टि से निहाल कर देता है ।[1] पवन गुरु है, जल हमारा पिता है और इतनी बड़ी पृथ्वी हमारी माता है । दिन और रात, ये दोनों हमारी धाय हैं जिनकी गोद में सारा जग खेलता है । धर्म हमारा न्यायाधीश है जो अच्छे और बुरे कर्मों को अपने आगे जाँचता है, हमारे कर्म हममें से किसी को तो परमात्मा के निकट ले जाते हैं और किसी को उससे दूर फेंक देते हैं । जिन्होंने नाम का अभ्यास किया है, वे अपना श्रम सफल कर गये । नानक ! उनके मुख प्रकाशमान् हैं। उनके सत्सङ्ग से कितने ही लोग भव-बन्धन से मुक्त हो गये—

पवणु गुरू पाणी पिता माता धरति महतु ।।
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु ।।
चँगिआ ईआ बुरिआ ईआ वाचै धरमु हदूरि ।।
करमी आपो आपणी के नेड़ै कै दूरि ।।
जिनी नामु धिआइया गए मसक्कति घालि ।।
नानक ते मुख उज्जले केती छूटी नालि ।।

—गुरु अङ्गद कृत 'माझ की वार' से उद्धृत

उल्लिखित पंक्तियों में परमेश्वर के प्रति अडिग आस्था, अपने आचरित कर्तव्यों के प्रति दृढ़ आत्म-विश्वास एवं अनुपम वाणी का शौर्य निहित है । ये विचार सन्तों द्वारा लिखित 'सूरातन को अङ्ग' के समानान्तर निस्सङ्कोच रखे जा सकते हैं ।

नम्रता के प्रतिमूर्ति स्वामी दादूदयाल में भी हमें सराहनीय शौर्य के दर्शन होते हैं । उन्होंने भक्त के लिये नम्र, शीलवान्, निष्काम और वीर होना आवश्यक बतलाया है । कायरता को वे साधना की सबसे बड़ी असफलता मानते हैं । सच्चा साधक वही है जो अपने हाथ से अपना मस्तक काट कर रख दे ।

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ २३७ ।

कबीर (क-बीर) अपना सिर काटकर अर्थात् 'क' अक्षर छोड़कर ही वीर हो सके थे। जो साहस और निर्भयता के साथ मिथ्याडम्बर एवं दुराचरण का विरोध नहीं कर सकता, वह न तो वीर हो सकता है और न वीरसाधक। वीरसाधिका की साध तो इतनी चढ़ी-बढ़ी होती है कि यदि मेरे लाख सिर होते तो मैं उन लाखों सिरों को भी (प्रसन्नतापूर्वक) वार देती। क्या करूँ? स्वामी ने मुझे एक ही सिर दिया है, वही मैं सौंप रही हूँ—

> जे मुझ होते लाख सिर, तो लाखौं देती वारि।
> सह मुझ दीया एक सिर, सोई सौंपे नारि ॥[1]

शूरवीर, युद्धक्षेत्र में जाकर पीछे की ओर क्यों पैर रखे, यदि वह ऐसा करता है तो अपने स्वामी को लजाता है और उसके जीवित रहने को धिक्कार है। राम का शूरवीर भक्त-सेवक सदैव सम्मुख रहकर युद्ध करता है, पीछे रहना कायर का काम है। जब तक उसको प्राणों का मोह रहता है तब तक उसे निर्भय बना हुआ नहीं कहा जा सकता। काया-माया को त्याग कर ही वह खुल्लमखुल्ला निर्द्वन्द्व रह सकता है। जब शूरवीर, स्वामी के सम्मुख आकर युद्ध-भूमि में जूझ जाता है तभी उसे स्वामी का साक्षात्कार होता है और उसे काल नहीं खा सकता। जो मस्तक राम की सेवा में अर्पित कर दिया जाता है वही सनाथ हो जाता है। दादू अपना सिर जिसका था, उसको देकर ऋण-मुक्त हो गये। यदि तू प्रभु के प्रेम का प्यासा है तो अपने जीवन की आशा छोड़ दे। सिर का सौदा करने पर ही तुझे भर-भर प्याला पीने को मिलेगा। लड़ाई का भेष सजकर दिखलाने से क्या लाभ? जब शूरवीर युद्ध-भूमि में जूझ जाय तभी उसे सच्चा समझना चाहिये। दादू कहते हैं कि शूरवीर वही है जो सामने की चोटें झेल सके![2]

कबीर, नानक और दादू की भक्ति-साधना का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि यदि प्रथम की विशेष आस्था आत्म-विश्वास में है तो द्वितीय की आत्म-विकास में तथा अन्तिम की आत्मोत्सर्ग में। इस प्रकार उसे क्रमशः विचार-प्रधान, निष्ठा-प्रधान और प्रेम-प्रधान की संज्ञा दी जा सकती है। कबीरदास जी ने जहाँ विचार-स्वातन्त्र्य एवं निर्भयता को प्रश्रय दिया वहीं गुरु नानक ने समन्वय तथा एकता को महत्त्व दिया एवं स्वामी दादूदयाल ने सद्भावना एवं सेवा को अपनी साधना में प्रथम स्थान दिया। सहज समर्पण, सुमिरण एवं सेवा की उत्कट लालसा दादू की भक्ति-साधना की विशेषता है।

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १—सूरातन को अङ्ग १०।

[2] वही—सूरातन को अङ्ग १३, १६, २१; ४०, ६०, ६४।

सन्त सुन्दरदास सच्चे शूरवीर के लक्षण बताते हुए कहते हैं कि नगाड़े पर पड़ी हुई चोट को सुनकर जिसका कमल-मुख खिल उठे एवं अत्यधिक उत्साह उसके शरीर में न समाये। बड़े भाले के चलने पर जबकि कायरों का धैर्य छूट जाता है, शूरवीर अग्नि में गिरने वाले पतङ्ग की भाँति सामन्तों के समूह पर टूट पड़ता है और घमासान युद्ध करता हुआ युद्ध में पैर जमाकर दृढ़ रहता है। शूर की अपेक्षा साधु का कार्य कहीं अधिक साहस और दृढ़ता की अपेक्षा रखता है। शूरवीर, तीर-तलवार से अपने शत्रु को देखकर आक्रमण करता है जब कि साधु, आठों प्रहर स्थूल रूप से न दिखाई पड़नेवाले अपने मन के विकारों से जूझता रहता है। जिस कामदेव ने अपने जोर से तीन लोकों को जीत लिया है, वह साधु के सद्विचारों के सामने पराजय स्वीकार कर लेता है। क्रोध की भयङ्करता को देखकर बड़े-बड़े धीरवानों का धैर्य छूट जाता है किन्तु ऐसे प्रबल शत्रु का संहार साधु अपने क्षमा रूपी अस्त्र से करता है, लोभ रूपी योद्धा को सन्तोष से पछाड़ता है एवं मोह रूपी नृप को ज्ञान के द्वारा मात देता है। सुन्दरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार शूरवीर से भी बढ़-चढ़कर साधु है जो गिन-गिनकर दुष्ट मनोविकारों का संहार करता है।[1] शूरवीर निश्शङ्क होकर अपना मस्तक अर्पित करके महँगे मूल्य से क्रय किया हुआ हरि-रस का आनन्द उठाता है जबकि धरिणी कम्पित हो उठती है और धूल उड़कर आकाश को आवृत कर लेती है उस समय बकवादी कायर भाग जाता है किन्तु शूरवीर अडिग भाव से खड़ा रहता है—

सीस उतारै हथि करि, सङ्क न आनै कोइ।
ऐसे महंगे मोल का, सुन्दर हरि-रस होइ॥
सुन्दर धरती धड़हड़ै, गगन लगै उड़ि धूरि।
सूरवीर धीरज धरै, भागि जाय भकभूरि॥

यहाँ पर यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि क्षमा, दया, नम्रता एवं शील के समर्थक सन्तों का आग्रह शूरताई पर क्यों है? क्या वे इसे भी सन्तों का एक आवश्यक गुण समझते हैं? क्या इसी आधार पर दादू-पन्थ में 'नागा' और नानक-पन्थ में अकाली सिखों का प्रादुर्भाव हुआ? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देना बड़ा सरल है। प्रत्येक मानव के सब से बड़े शत्रु उसके हृदय में स्थित काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य—ये छः अवगुण हैं जो उसे पथ-भ्रष्ट कर कुमार्गगामी बनाते हैं। जीवनपर्यन्त हमें इन्हीं शत्रुओं से जूझना पड़ता है और इन प्रबल-शत्रुओं को परास्त कर कोई भी व्यक्ति पवित्र सन्त-पद का अधिकारी हो सकता है। किन्तु इनको जीतना सहज कार्य नहीं है। सन्तों ने इन्हीं शत्रुओं

[1] सन्त सुधासार—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ६२५-६।

को परास्त करने का ढङ्ग अपने 'सूरातन को अङ्ग' में तथा अन्य वाणियों में बताया है। दादू-पन्थ के नागा और नानक-पन्थ के अकाली सिखों का प्रादुर्भाव तो परिस्थितियों का प्रसाद है। प्रायः सभी सन्त, रूढ़ियों और कुसंस्कारों की विशालवाहिनी से आजीवन जूझते रहे हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के विकट दल का संहार करने के लिये उनकी ज्ञान की तलवार निरन्तर इकसार बजती रही है, एक क्षण के लिये कभी नहीं रुकी। शील और स्नेह का कवच धारण कर संसार रूपी युद्धक्षेत्र में आकर उन्होंने रूढ़ियों, कुसंस्कारों और वाह्याचारों की विकट वाहिनी का नृशंसता के साथ दमन किया है। सच्चे योद्धा कबीर, सिर हथेली पर लेकर ही अपने भाग्य का सामना करने निकल पड़े थे—

> एक समसेर इकसार बजती रहै, खेल कोई सूरमा सन्त झेलै।
> काम दल जीत करि क्रोध पैमाल करि, परम सुखधाम तहं सुरत मेलै॥
> सील से नेह करि ज्ञान को खड़ग ले, आय चौगान में खेल खेलै।
> कहैं कब्बीर सोइ सन्त जन सूरमा, सीस को सौंप करि करम ठेलै॥[1]

कबीर ने समस्त वाह्य-आचारों को अस्वीकार कर मनुष्य को विशुद्ध मानव के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। दादू सब प्रकार के साम्प्रदायिक मोह को तिलाञ्जलि देकर 'निरपख' हो गये। लोगों ने जब उन्हें यह सुझाया कि जगत् की सेवा करने के लिये किसी न किसी दल में अन्तर्मुक्त रहना ठीक होता है, तब उन्होंने कहा—"यह जो धरती, आसमान, पानी, पवन, दिन, रात, चन्द्र, सूर्य ये सभी तो अहर्निशि सबकी सेवा में तत्पर रहते हैं। ये किस पन्थ में हैं, इनका कौन सा सम्प्रदाय है।"[2] जातिगत, कुलगत, धर्मगत, सम्प्रदाय-गत, संस्कारगत और शास्त्रगत की विभिन्न बाधाओं को पार कर ही मनुष्य सामान्य मानव की मिलन-भावभूमि पर पहुँच सकता है। सन्तों ने उस भूमिका तक प्रत्येक व्यक्ति को पहुँचाने का प्रयत्न अपनी वाणियों द्वारा किया है। जहाँ इस प्रकार की क्षुद्रताओं की रात्रि बीत जाती है वहीं पर ज्ञान का निर्मल प्रकाश होता है। नाम की पवित्र भावना हृदय में आ जाने से काम का अस्तित्व शेष रह ही नहीं सकता—

> सूर परकास तहं रैन कहं पाइये, रैन परकाश नहिं सूर भासै।
> ज्ञान परकास अज्ञान कहं पाइये, होइ अज्ञान तहं ज्ञान नासै॥
> काम बलवान तहं नाम कहं पाइये, नाम जहं होय तहं काम नाहीं।
> कहैं कब्बीर यह सत्त बीचार है, समुझ बिचार करि देख माहीं॥

---

[1] कबीर साहेब की शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस,—पृष्ठ ६१, शब्द २६।

[2] दादू यह सब किसके पन्थ में, धरती अरु आसमान।
पानी पवन दिन रात का, चन्द्र सूर रहिमान॥

आदर्श योद्धा कबीर का स्पष्ट मत है कि सच्चे साधक को ज्ञान की तलवार धारण कर संग्राम में प्रविष्ट होना चाहिये और प्राण शेष रहने तक युद्ध करना चाहिये। शत्रु का मस्तक काट कर अर्थात् हृदय में स्थित छः शत्रुओं को निश्शेष कर प्रभु के दरबार में आ शीश झुकाना चाहिये, जहाँ पर सन्तजन प्रभु का गुणानुवाद गा रहे हैं और गगनभेदी ध्वनि में नगाड़े बज रहे हैं। जो शूर इस प्रकार का आचरण करता है वही दरबार की भक्ति का सच्चा आनन्द पाता है।[1] देह को बन्दूक बनाकर उसमें प्राणायाम की बारूद डालकर ज्ञान की गोली को भली प्रकार डालना चाहिये तथा प्रभु के साथ जुड़ी हुई अटूट लौ रूपी जलने वाली वस्तु से रञ्जक में आग पहुँचाते हुए भ्रम की दीवाल को ध्वस्त करना चाहिये। आशाओं के बन्धन को काटकर एवं प्रभु के नाम-रस में डूबकर कोई शूरवीर ही इस खेल में निर्भय होता है। कायर इस प्रकार के खेल में कभी सफल हो ही नहीं सकता—

देह बन्दूक और पवन दारू किया, ज्ञान गोली तहाँ खूब डारी।
सुरत की जाम की मूठ चौथे लगी, भर्म की भीत सब दूर फाटी।
कहै कब्बीर कोइ खेलिहै सूरमा, कायरां खेल यह होत नाहीं।
आस की फाँस कौ काटि निर्भय भया, नाम रस रस्स कर गरक माहीं॥

चित्त की चञ्चल भावनाओं का निरोध करने वाला योगी ज्ञान की कृपाण को बाँधकर तथा मन को मारकर रणधीर हो जाता है तथा सब प्रकार के मार्ग के विघ्नों को पारकर एवं युद्ध में विजय प्राप्त कर वह हरि में मिल जाता है। ऐसे व्यक्ति की ही संसार में कीर्ति गाई जाती हैं तथा सन्त मण्डली में चर्चा होती हैं। इस खेल में कोई योद्धा मन को जीतने वाला) ही भाग ले सकता है क्योंकि यह खेल कायरों की शक्ति से परे है।[2]

अपूर्व तन्मयता, अहैतुक प्रेम, अनन्य परायण विश्वास और एकान्तनिष्ठा को भक्ति की एक मात्र शर्त माना गया है। भक्ति के लिये केवल एक ही बात आवश्यक है,—अनन्य भाव से भगवान् की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिला शर्त आत्म समर्पण।[3] सन्त-साहित्य में इन सब की चरण परिणति हुई है। कबीर सर्वव्यापी केशव को पुकारते हुए कहते हैं—"क्या करूँ, इस भारी भवसागर को कैसे पार करूँ? हे केशव, तुम्हारी शरण आया हूँ। हे मुरारे, मेरी रक्षा करो। घर को छोड़ कर यदि बन को चले जाओ और कन्द-मूल का आहार करो, फिर

---

[1] कबीर साहेब की शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस,—पृष्ठ ९२, शब्द २७।
[2] वही—पृष्ठ ९३, शब्द २९।
[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ १४७, १५१।

भी वासनाओं से पीछा नहीं छूटता। ऐसा यह मन अपवित्र हो गया है। मैं माया के बन्धनों से सुलझने का अनेक प्रयत्न करता हूँ किन्तु बार-बार उसमें उलझता जाता हूँ। मैंने हीरे ऐसे अमूल्य जीवन को यों ही खो दिया, मुझसे कुछ न बन पड़ा। अब मुझे एक मात्र तुम्हारी शरण का ही भरोसा है क्योंकि तुम्हारे समान समर्थ न तो कोई दानी है और न मेरे ऐसा कोई कृपा का याचक पापी।[1]" वे पुनः गोविन्द को बार-बार पुकारते हुए कहते हैं कि "मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नहीं मेरा उद्धार करते! वृक्ष के नीचे मनुष्य शीतलता पाने के लिये जाता है, यदि उस वृक्ष से ही लपट निकलने लगे तो फिर मेरे लिये अन्यत्र ठौर कहाँ है? मनुष्य बन की आग से भयभीत हो जलाशय में जाता है किन्तु यदि जल से भी ज्वाला निकलने लगे तो फिर वह बेचारा कहाँ जाय? हे नाथ, मैं केवल तुम्हीं को जानता हूँ, तुम्हारे ही शरण आया हूँ किन्तु तुम्हीं मुझे जला रहे हो। सचमुच तुम डरने की वस्तु बन गये हो। तुम्हें तो प्रेमामृत बरसा कर मुझ तृषार्त की रक्षा करनी थी किन्तु तुम्हीं उल्टे विरह की ज्वाला में झुलसाने लगे।[2] हे राम! अब मुझे तुम्हारा ही भरोसा है, तुम ऐसे समर्थ स्वामी को छोड़कर मैं और किससे विनती करूँ? जिसके पास राम ऐसा कृपालु सर्व शक्तिमान् स्वामी है वह अन्यत्र पुकारने क्यों जाय? जिसके ऊपर तीन लोक के पालन का भार है वह अपने भक्त की खबर क्यों नहीं रखेगा? कबीरदास कहते हैं कि जिस प्रकार वृक्ष को सींचने से उसकी सारी शाखाएँ हरी-भरी रहती हैं उसी प्रकार मैं एक मात्र बनवारी की सेवा करके सबको सन्तुष्ट रखता हूँ।[3]"

आत्म-समर्पण की उत्कृष्ट भावना का विकास कबीर की भक्ति में हुआ है। वे अपने आपको निःशेष भाव से भगवान् के चरणों में डाल कर कहते हैं—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै है मेरा॥

वे स्वयं को कुत्ते की भाँति भगवान् को सौंपकर उनकी छाया के पीछे डोलते फिरते हैं। कबीर के गले में राम की रस्सी पड़ी हुई है जिस ओर प्रभु खींचते हैं, उधर ही वे जाते हैं। यदि राम तू-तू करके बुलाते हैं तो उनके पास पहुँच जाते हैं और यदि दुतकार देते हैं तो हट जाते हैं। जिस प्रकार प्रभु रखेंगे उसी प्रकार वे रहेंगे और जो देंगे उसी को खाकर अपना पेट भरेंगे।[4] अहं भाव का

---

[1] सन्त सुधासार—पृष्ठ ७३।

[2] वही—पृष्ठ ६८।

[3] वही—पृष्ठ ६६।

[4] कबीर ग्रन्थावली—निहकर्मी पतिव्रता को अङ्ग, ३, १४, १५।

पूर्ण रूप से त्याग ही आत्मसमर्पण की कसौटी है। इस निष्कर्ष में कबीर पूर्ण खरे उतरते हैं। कभी तो वे यहाँ तक कहने लगते हैं—

उस सम्म्रथ का दास हूँ, कदे न होइ अकाश।
पतिब्रता नांगी रहै, तौ उस ही पुरिस कौं लाज ॥
तूं तूं करता तूं भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूं ॥

अरे ओ मेरे मालिक, मैं तुम्हारा गुलाम हूँ, मुझे बेच दो। यह सारा तन-मन-धन तुम्हारा है और तुम्हारे ही लिये है। राम ही गाहक हैं और वही सौदागर। कबीर ने तो सर्वस्व निछावर करके अपने को राम पर कुर्बान कर दिया है।[1] कबीर का राम के प्रति अनन्य परायण विश्वास है। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करने वाला राम के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है—

भगति हीन अस जीवना, जनम मरन बहु काल।
आस्रम अनेक करसि रे जियरा, राम बिना कोई न करै प्रतिपाल ॥[2]

जिस प्रभु ने मनुष्य के पिण्ड को जठराग्नि में वीर्य और रज से उत्पन्न किया है, जिसने कान, हाथ, पैर बनाये हैं, प्राणी के मुख में जिह्वा दी है, जिसने ऊपर को पैर और नीचे शिर करके दस महीने तक जीव को गर्भावस्था में रखा है कि जहाँ अन्न-पानी आदि सब जला करता है किन्तु वहाँ जीव पर अग्नि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार उदर की असह्य जठराग्नि में रहते हुए भी गर्भस्थ जीव कभी नष्ट नहीं होता। कबीर कहते हैं कि वही कृपालु कृष्ण इस प्रकार जीव का प्रतिपालन किया करते हैं। क्या भूखा-भूखा चिल्लाकर लोगों को सुनाता फिरता है? अरे जिस प्रभु ने शरीर का निर्माण करके मुख दिया है, वही पूर्ण परमपिता तेरी भूख हरेगा। चिन्तामणिरूपी प्रभु मन में बसते हैं। उन्हीं का चित्त में स्मरण करो। वे प्रभु तुम्हारे बिना सोचे ही तुम्हारी चिन्ता किया करते हैं। उनका यही स्वभाव है। तू क्यों डरता है, जब तेरे मस्तक पर प्रभु का वरद हस्त रखा हुआ है। चाहे लाखों कुत्ते भूँके पर हाथी पर चढ़कर विचलित नहीं होना चाहिये। यह रामनाम रूपी अमृत से सींचा शरीर गुलाब का फूल है, मन भ्रमर है और भाव तथा विचार ही अनुपम सुगन्ध है, इस पर विश्वास रूपी फल लगा है।[3] प्रभु का विश्वास प्राप्त कर मेरा सारा अहंभाव नष्ट हो गया है। अब मेरे अन्दर द्वैत-भावना नहीं रही, एक मात्र प्रभु की आशा रह गई है—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—पद ११३।

[2] वही—रमैणी, पृष्ठ २२८।

[3] वही—बेसास कौ अङ्ग, १, २, ५, १२, १६।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म विसास।
अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥

सन्त रैदास साधारण मान व बड़ाई तक को भक्ति के मार्ग में बाधा समझते हैं। उनका कहना है कि "अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये हमें सभी बातों की आशा त्यागकर केवल उसी में अपनी सारी वृत्तियों को लगा देना चाहिये और अपना सर्वस्व समर्पित कर उसके लिये आर्तभाव से बेचैन हो उठना चाहिये। इस प्रकार की एकान्तनिष्ठा के आ जाने पर हमें तादात्म्य का अनुभव होने लगेगा और हम अपने अभीष्ट-प्राप्ति में सफल हो जायेंगे। वास्तविक परिचय प्राप्त करने का रहस्य केवल सच्ची' 'सोहागिन' ही जानती हैं जो अपने प्रिय पर अपना तन-मन-धन सब कुछ न्योछावर कर देती है और रञ्चमात्र अभिमान तथा द्वैतभावना नहीं रखती किन्तु जो स्त्री अपने पती में एकनिष्ठ प्रेम नहीं करती वह सदा दुःख पाती है और 'दुहागिन' कहलाती है।[१] जो व्यक्ति हरि सा हीरा छोड़कर अन्य तुच्छ वस्तुओं की आशा करते है वे यमपुरी जाते हैं, ऐसा सत्य-सत्य रैदास कहते हैं। जब तक भय की प्रवृत्तियाँ चञ्चल रहा करती हैं, तब तक अनन्य भक्ति का होना असम्भव है। जो मन हरि से पृथक् होकर कुमार्गी हो काम, क्रोध, मद लोभ, मोह की पूजा में लगा रहता है वह उक्त भक्ति का हो ही नहीं सकता किन्तु जब थोड़े अन्न-अक्षत से अपने परिवार का पोषण करता हुआ हरिभक्त और भगवान् को ही जानता हुआ अन्य सबसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है वही प्रभु का निर्मल भक्त बन जाता है और रात दिन प्रभु-प्रेम में डूबा रहता है।"[२] अनन्य-परायणता में भी रैदास अनूठा महत्व रखते हैं—

मैं अपनो मन हरि से जोरयौं। हरि से जोरि सबन से तोरयौं ॥
सब ही पहर तुम्हारी आसा। मन क्रम बचन कहै रैदासा ॥

नानक देव का आत्म-समर्पण विषयक कथन है—

"न तो मेरी शक्ति कहने की है, और न चुप रहने की ही। न माँगने की शक्ति है, और न देने की ही। न जीने की शक्ति है, और न मरने की ही। राज्य और सम्पत्ति को प्राप्त करने की भी मुझमें शक्ति नहीं है जिनके लिये चित इतना चञ्चल रहता है। न मेरे पास वह शक्ति है, जिससे कि ध्यान और ज्ञान का चिन्तन कर सकूँ और न उस युक्ति को खोज निकालने की ही शक्ति है जिससे कि संसार के बन्धन से छूट जाऊँ। जिस (प्रभु) के हाथ में शक्ति है,

---

[१] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—राग सूही, पद १।
[२] रैदास जी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, साखी १, पद १५।

वही सब रचना रचता है और वही उसे सँभालता है। नानक ! (ईश्वर के आगे) अपनी शक्ति से न तो कोई ऊँच हो सकता है और न कोई नीच।"[१] गुरु अङ्गद का एकनिष्ठता के सम्बन्ध में कहना है कि "जिसका नाम तू सुख में याद करता है, दुःख में भी उसे याद कर। हे सयानी, इसी प्रकार स्वामी से तेरा मिलन होगा। किसी का कोई, पर मेरा तो—जिसे कोई मान नहीं देता—एक तू ही है।"[२] स्वामी दादूदयाल की अनुभूतिपरक भक्ति-साधना की महत्वपूर्ण क्रिया अपने आप को प्रभु के चरणों में पूर्णरूप से समर्पित कर देने की है जिसमें 'अहं' का पूर्णतः लोप हो जाता है। आत्मसमर्पण-जनित अवस्था का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर, सूक्ष्म मन और प्राण सब तुझ पर मैंने न्योछावर कर दिये हैं। मेरा तो कुछ था ही नहीं। सब तेरा ही था फिर भी यह भावना शेष है कि जिसे मैं अपना सर्वस्व दे रहा हूँ वह और कोई नहीं स्वयं 'मैं' ही हूँ। इस सर्वस्वदान और सर्वस्व की उपलब्धि में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। देने वाला अपनी कमी का अनुभव करने के स्थान पर स्वयं को और भी पूर्ण मानने लगता है—

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा प्यण्ड पराण।
सब कुछ तेरा, तूँ है मेरा, यह दादू का ज्ञान ॥[3]

दादू का अटल विश्वास है कि जो सबकी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, वही हमारा स्वामी है। हमारे जीवन और मरण का विचार उसी के हाथ में है। हृदय में राम को सँभालकर मन में पूर्ण विश्वास रखो। वह समर्थ स्वामी है, सब की आशा पूरी करता है। मैं उस पर बलिहारी जाता हूँ जो कीड़े-मकोड़ों से लेकर हाथी तक का प्रतिपालन करता है। ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास के बिना मन डावाँडोल रहता है और अनमोल चिन्तामणि-रूपी प्रभु के निकट होते हुए भी जीव दुःख पाता है। बिना विश्वास के मन चञ्चल रहता है, कहीं भी उसे स्थिरता नहीं मिलती और चारों ओर व्यर्थ के कामों में भ्रमता रहता है। दादू के लिये उसका स्वामी ही खाना और कपड़ा है, वही उसके सिर का ताज और शरीर का प्राण है।[४] दादू अपने स्वामी से केवल यही याचना करता है —

---

[१] सन्त सुधासार—जपुजी ३३ का वियोगीहरि कृत अनुवाद, पृष्ठ २३३।
[२] वही—गुरु अङ्गद, पृष्ठ २७४।
[3] दादूदयाल की बानी भाग १—सुन्दरी कौ अङ्ग २३।
[४] वही—बेसास कौ अङ्ग, ५, २१, २५, ४२, ४३, ५७।

साईं सत सन्तोष दे, भाव भगति बेसास।
सिदक सबूरी साच दे, माँगै दादूदास॥

जहाँ-जहाँ विषय-विकारों के स्थल थे, वहाँ-वहाँ दादू की रक्षा उस प्रभु ने की। उस सच्चे सिरजनहार को दादू ने अपना तन-मन अर्पित कर दिया।[१] दादू 'अहं' का पूर्णतः विसर्जन कर उनकी शरण में चले गये हैं। कितनी विनम्र भावना से वे कहते हैं—

तुम कूं हम से बहुत हैं, हम कूं तुम से नाहिं।
दादू कूं जिनि परिहरो तूं रहु नैननहुं माहिं॥
तुम थैं तब हीं होइ सब, दरस परस दरहाल।
हम थैं कबहुं न होइगा, जे बीतहिं जुग काल॥
तुम कूं भावै और कुछ, हम कुछ कीया और।
मिहर करौ तौ छूटिये, नहीं त नाहीं ठौर॥
खुसी तुम्हारी त्यूं करौ, हम तौ मानी हारि।
भावै बंदा बकसिये, भावै गहि करि मारि॥[२]

दादू की एकनिष्ठ लगन अब प्रभु से लग गई है जिस प्रकार भृङ्गी कीट, दूसरे कीड़ों को भी अपने समान बना लेता है उसी प्रकार मेरा मन तुझसे बिधकर 'तू' बन गया है। स्वाति बूंद की आशा में चातक को रटते-रटते रात बीत जाती है, भले ही उसका शरीर छूट जाय पर उसका स्वभाव नहीं छूटता। मछली निर्जीव होने पर भी पानी से स्नेह नहीं छोड़ती। पतङ्ग शरीर के जलने पर भी दीपक से अपना सहज स्नेह नहीं तोड़ता। दादू ने भी अपना स्वभाव इसी प्रकार का बना लिया है। शरीर भले ही छूट जाय किन्तु वह तुझे नहीं छोड़ेगा।[३] गरीबदास अपने को निपट-अनाड़ी समझकर प्रभु की शरण में चले जाते हैं और कहते हैं कि "मैं बुद्धिहीन बड़ा ही अपराधी हूँ और तुम अपराधों को क्षमा करने वाले हो। गरीबदास की यही विनती है, ओ! समर्थ स्वामी सुनो। कहाँ तक कहूँ? जितने शरीर में रोम है उतनी ही अपार सूक्ष्म त्रुटियाँ मैंने की हैं। हे सिरजनहार स्वामी! उन सब भूलों को क्षमा कर मुझ पर कृपा करो।[४]" भक्त जब अपने अहंभाव का शमनकर अनन्य भाव से भगवान् की शरण में चला जाता है और उनके चरणों में आत्म-समर्पण कर देता है तभी इस प्रकार

[१-२] दादूदयाल की बानी भाग १—बिनती को अङ्ग, ५७, ७८, ७९, ८३, ८५।

[३] सन्त सुधासार—स्वामी दादूदयाल, पृष्ठ ४४१।

[४] वही—स्वामी गरीबदास, पृष्ठ ५०९।

की स्वदोष दर्शन की पाप-प्रक्षालित प्रवृत्ति का उदय होता है। इससे अवशिष्ट मन का मैल भी पूर्णत: कट जाता है और वह शुद्ध-बुद्ध भक्त के रूप में निकल आता है। वाजिद जी के कथन में प्रभु के प्रति कितना दृढ़ विश्वास एवं एकनिष्ठ अनुराग छिपा हुआ है—

आवेंगे किहि काम पराई पौर के।
मोती जर-वर जाहु न लीजै और के॥
परिहरि ये वाजिद न छूवै माथ कौ।
हरि हाँ, पाहन नीकै बीर नाथ के हाथ कौ॥
भूखे भोजन देइ उघारे कापरो।
खाय धणी को लूण जाय कहाँ बापरौ॥
भली-बुरी वाजिद सबै ही सहैंगे।
हरि हाँ, दरगह को दरवेश यहाँ ही रहैंगे॥

स्वामी सुन्दरदास 'अनन्य भक्ति' का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधक या भक्त को सर्वप्रथम दृढ़ वैराग्य धारण कर प्रभु में विश्वास जमा सब कामनाओं का त्याग कर देना चाहिये। चाहे वह घर में रहे या वन में, उसे जितेन्द्रिय एवं निर्लिप्त रहना चाहिये। माया-मोह से दूर निरपेक्ष-भाव वाला होना चाहिये। कञ्चन-कामिनी का त्यागकर आशा-तृष्णा से लिपटना नहीं चाहिये। शील-सन्तोष और क्षमा को हृदय में धारण करते हुए धैर्य और दया का आचरण करना चाहिये। दीनता धारण कर संसार का तटस्थ भाव से तमाशा देखना चाहिये। अपनी प्रतिष्ठा एवं गौरव की परवाह न कर एक-सी स्थिति में निर्वाह करना चाहिये। राजा-महाराजा की चिन्ता न करते हुए हाथी और चींटी को वह एक सा समझे, सार को ग्रहण कर भूसे को छोड़ दे और सब में रमण करने वाले राम में अपना चित्त लगाये। अन्य देवता की आराधना न कर एक निरञ्जन की ही उपासना करे और मानसिक पूजा का विधान करे। चित्त की सहजावस्था के सिंहासन पर प्रभु को आसीन करा के दास्यभाव से संयम रूपी जल से स्नान करावे, प्रेम-प्रीति के फूल चढ़ावे, चित्त रूपी चन्दन को प्रभु के अङ्गों में लगावे, ध्यान की धूप जलावे, भाव रूपी भोजन उनके आगे लाकर रखे और मनसा वाचा निष्काम भाव से रहकर कभी कुछ न माँगे। ज्ञान-दीप की आरती उतारकर 'अनहद नाद' का घण्टा बजावे। तन-मन का समर्पण करके दीन-भाव से प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। मग्न होकर नाचने-गाने लगे और गद्गद होकर रोमाञ्च हो आवे। सेवक भाव को कभी न घटाते हुए दिनोंदिन प्रभु से अधिक प्रीति जोड़े एवं पातिव्रत-भाव से प्रभु के पास रहे। जो वे आज्ञा दें, वही करे। भूलकर भी अन्य भाव मन में न लावे और अखण्ड-भाव से प्रभु की सेवा करे, इसी को अनन्य भक्ति कहा

जाता है।[1] धनी धरमदास की विनम्र प्रार्थना में अहैतुक प्रेम, अनन्य शरणागति एवं अनूठे आत्म-समर्पण का भाव छिपा हुआ है—

भक्ति दान गुरु दीजिये देवन के देवा हो।
चरन कमल बिसरौं नहीं, करिहौं पद सेवा हो।।
तिरथ बरत मैं ना करौं, न देवल पूजा हो।
तुमहिं ओर निरखत रहौं, मेरे और न दूजा हो।।
आठ सिद्धि नौ निद्धि है बैकुण्ठ निवासा हो।
सो मैं ना कछु माँगहूँ, मेरे समरथ दाता हो।।
सुख सम्पति परिवार धन, सुन्दर बरनारी हो।
सुपनेहुँ इच्छा ना उठै, गुरु आन तुम्हारी हो।।
धरमदास की बीनती, साहेब सुनि लीजै हो।
दरसन देहु पट खोलि के, आपन करि लीजै हो।।[2]

सन्त मलूकदास कहते हैं कि हे प्रभु, जगत् के अन्य झूठे नाते छोड़कर तुझसे 'लव' लगाया है और तुम्हारे नाम का स्मरण कर परम पद की प्राप्ति की है। संसार में आकर जिन्होंने यह लाभ पाया है वही तेरे गुणों का गान कर भवसागर से पार हो गये। तुम्हीं मेरे माता-पिता, हितैषी-बन्धु, सब कुछ हो। तुम्हारे बिना संसार में मुझे अँधियारा ही अँधियारा है। वे निपट दैन्य भाव से प्रभु को पुकारते हुए उनकी शरण में जाते हैं – हे दीनबन्धु दीनानाथ, मेरी ओर देखिए। न तो मेरे भाई-बन्धु हैं न कुटुम्ब परिवार, कोई मित्र भी नहीं है जिसके निकट जाऊँ। न तो सोने की सलाई है न चाँदी का रुपया। गाँठ में कौड़ी पैसा भी नहीं है, फिर किस आधार पर मुझे कोई उधार दे। खेती-बारी, बनिज-व्यापार भी नहीं है, ऐसा कोई महाजन भी नहीं है जिससे कुछ माँगू। पराई आशा त्याग कर तुझ ऐसे धनी को पाकर अब मैं किसकी शरण में जाऊँ?[3] हे राम राम! मुझ अशरण को अपना कर भक्ति की मजूरी दीजिये—

राम राय असरन सरन, मोहिं आपन करि लेहु।
सन्तन सङ्ग सेवा करौं, भक्ति-मजूरी देहु।।२५।।
भक्ति-मजूरी दीजिये, कीजै भव-जल पार।
बोरत है माया मुझे, गहे बाँह बरियार।।२६।।

[1] सन्त सुधासार—स्वामी सुन्दरदास, पृष्ठ ५८२-३।

[2] धनी धरमदास जी की शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस, बिनती कौ अङ्ग, शब्द २, पृष्ठ १६।

[3] मलूकदास जी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, पृष्ठ २६।

भाव-भक्ति—सभी सन्त कवियों ने 'भाव-भक्ति' पर विशेष बल दिया है। साधारण भक्ति और भाव-भक्ति में महान् अन्तर है। कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'जब लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भव सागर क्यूँ तिरिहौ।' वे बिना 'भाव-भगति' के संशयजनित पीड़ाओं की शान्ति नहीं मानते। इसके बिना जप-तप आदि सब व्यर्थ है—'किआ जपु किआ तपु सञमो किआ बरतु किया इसनानु। जब लगु जुगति न जानी भाउ भगति भगवान्'—सन्त कबीर, राग गउड़ी ६३। इस सूक्ष्म भाव-भक्ति का आविर्भाव हृदय से होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि बुद्धि से प्रसूत पूजादि के नियम वाह्याडम्बरों में उलझकर गतानुगतिकता का रूप धारण कर लेते हैं और अपने उद्दिष्ट लक्ष्य से हटकर बहुत दूर चले जाते हैं भाव-संस्पर्श से शून्य हो जाने पर ये कालान्तर में कृत्रिम पद्धति-पालन मात्र रह जाते हैं। सन्तों ने स्थूलमूलादि के इन्हीं दोषों को ध्यान में रखकर भाव-भक्ति अथवा मानसिक पूजा पर विशेष जोर दिया है। कबीर ने निर्गुण भक्ति भावना पर ही अधिक बल दिया है। वे 'भोले भाई' से ही 'रघुराया' का मिलन सम्भव बताते हैं।[१] 'कथणीं-बदणीं' को जञाल समझते हुए वे 'भाव-भगति' को ही एक सार वस्तु समझते हैं।[२] उन्होंने इसे 'हरि सूँ गठ-जोरा' भी कहा है—कहै कबीर तन मन का ओरा, भाव-भगति हरि सूँ गठजोरा। भाव-भक्ति, मन की एक स्थिति-विशेष में निरत रहने तथा उसी के अनुसार निरन्तर चेष्टा करने की भावना में निहित है। वाह्य पूजन एवं गुणगान आदि के स्थूल आवरण में इसे नहीं पाया जा सकता। वस्तुतः वह परमतत्व 'अलखु' है उसे इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता।[3] वह तो हमारे हृदय में स्थित है।[४] इस तत्व को भली-भाँति समझकर ही 'भाव-भक्ति' की साधना में अग्रसर होना चाहिये, क्योंकि भाव-भक्ति करने वाला वाह्यार्चन में विश्वास न रखकर अहैतुक निष्काम सेवा-भावना में ही विश्वास रखता है। लोगों ने माथे में चन्दन तिलक लगाकर और हाथ में माला धारण कर 'राम' को पाना खिलौना समझ लिया है किन्तु उसका मर्म तो वही जान सकता है जो विशेष भाव से स्वयं को राम के प्रति अर्पित करके पागल हो जाय।[५] इस भाव-भक्ति की महिमा महान् है क्योंकि इसमें भक्त, भगवान् में मिलकर तद्रूप हो जाता है। उसके लिये आश्चर्य की कोई बात ही नहीं—

---

[१] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ २८०।५२।

[२] वही—पृष्ठ १०५।२०१।

[3] सन्त कबीर—रागु बिभास, प्रभाती ३।

[४] वही—रागु भैरउ ७।

[५] वही—६।

जो जनु भाउ-भगति कुछ जानै ताकउ अचरजु काहो।
जिउ जलु जल महि पैसि न निकसै तिउ ढुरि मिलओ जुलाहो ॥

सन्त रैदास जी का मत है कि बिना साधु-सङ्गति के भाव नहीं उत्पन्न हो सकता और बिना भाव के भक्ति का होना असम्भव है—

साध सङ्गति बिना भाव नहि ऊपजै, भाव बिन भगति नहि होय तेरी।
कहै रविदास एक बेनती हरि सिउ, पैज राखहु राजाराम मेरी ॥

जब तक मन में किसी भी प्रकार की कामना शेष है तब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। नदी जब तक समुद्र में समा नहीं जाती तभी तक उसे अपने अहं की अनुभूति रहती है, जब मन राम-सागर में मिल जाता है तब उसकी सारी बेचैनी समाप्त हो जाती है और उसे शान्ति एवं स्थिरता की उपलब्धि होती है।[1] भक्ति, योग साधन, इन्द्रिय-बन्धन, मिताहार, वैराग्य, एवं अन्य वाह्याडम्बरों में नहीं है जब—

आयो गयो तब भगति पाई, ऐसी भगति भाई।
राम मिल्यो आपो गुन खोयो, रिधि निधि सबै गँवाई ॥

जब वे देखते हैं कि गाय के दूध को बछड़े ने जूठा कर दिया है, पुष्प की गन्ध लेकर भौंरे ने उसे बासी बना दिया है और मछलियों ने पानी को बिगाड़ दिया है तब वे राम को पूजा चढ़ाने में हिचकिचाने लगते हैं और अन्त में मानसिक-पूजा को ही श्रेष्ठ मानते हैं "मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सेऊँ सहज सरूप ॥ पूजा अरचा न जानूँ तेरी। कह रैदास कवन गति मेरी ॥[3]" इसके अतिरिक्त वे परम वैराग्य की स्थिति का होना भी आवश्यक समझते हैं। सोने की पूर्ण शुद्धि पीटे, काटे और तपाये जाने पर नहीं, सुहागे के साथ संयुक्त हो जाने पर ही होती है, वैसे ही हमारी आन्तरिक निर्मलता सत्य की पूरी पहचान हो जाने पर ही निर्भर है। सिख-गुरुओं की प्रार्थना का वास्तविक उद्देश्य परमात्मा से किसी प्रकार की निरी माँग वा याचना नहीं, किन्तु उसके एक और अद्वितीय सत्ता के प्रति अपना भक्तिभाव प्रदर्शित कर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना तथा उसके उदात्त गुणों के निरन्तर स्मरण द्वारा अपनी सारी भावनाओं का परिष्कार करते हुए अपनी मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को पूर्ण बल प्रदान करना है।...सिख गुरुओं ने प्रसङ्गवश, अपनी रचनाओं के अन्तर्गत उन दूसरी साधनाओं के भी यत्र-तत्र उल्लेख किये हैं जो अन्य धर्मों वा सम्प्रदायों

---

[1] रैदास जी की बानी, पृष्ठ ३।

[2] वही, पृष्ठ १३।

[3] वही, पृष्ठ १८।

के अनुयायियों द्वारा विशेष रूप से अपनायी जाती हैं अथवा जिन्हें वे सबसे अधिक महत्व दिया करते हैं। परन्तु वे सब यहाँ भक्ति-भाव की ही परिपोषक है[1]—

हरि चरण कवल मकरन्द लोभित मनो अनदिनो मोहि आही पिआसा।
कृपाजलु देहि नानक सारिङ्ग कउ होइ जाते तेरै नाइ वासा॥

तेरे चरणारविन्दों के मकरन्द से मेरा मन-मधुकर लुब्ध हो गया है। नित्य ही मुझे उस मकरन्द की प्यास लगी रहती है। इस नानक-चातक को अपना कृपा जल दे दे, जिसके कि वह तेरे नाम में रम जाय। नाम-स्मरण, भजन व प्रार्थना, ये सभी हृदय के भक्तिभाव द्वारा अनुप्राणित होने पर ही सच्चे रूप में किये जा सकते हैं और भक्ति रस में मग्न हुए बिना नानकदेव-निर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि सम्भव नहीं।[2] गुरु रामदास का कथन है कि हे मेरे स्वामी! तू ही सच्चा कर्तार है। जो तुझे भाता है वही होगा, जो तू देगा वही मैं पाऊँगा। सब कुछ तेरा ही है, सभी तेरा ध्यान करते हैं जिस पर तू कृपा करता है वही तेरा नाम रूपी रत्न पाता है। गुरु अर्जुनदेव भाव-भक्ति के द्वारा ही संसार-सागर से तरना सम्भव मानते है। बिना भक्ति के शरीर धूल में मिल जायेगा—

भगति भाइ तरीए संसारु। बिनु भगती तनु होसी छारु॥
सरब कलिआण-सूख निधि नामु। बूड़त जात पाए बिश्रामु॥

स्वामी दादूदयाल के भाव-भक्ति में सबसे महत्वपूर्ण क्रिया अपने आपको पूर्णत: समर्पित कर देने की है। स्थूल शरीर, मन-प्राण, सब कुछ पूर्णत: न्योछावर करके वे अहंभाव का सिर्जन कर एक 'तूं' रह जाते हैं। वे निरञ्जन राम की भक्ति को अविचल, अविनाशी एवं सहज प्रकाशशील बताते हैं। राम की ही भाँति भक्ति अगाध, असीम, अविगत, निरञ्जन एवं पूर्ण है। भगवान् और भक्ति दोनों की कोई सीमा नहीं।[3] भक्ति की रट सब लगाते हैं किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता। दादू का कथन है कि भगवान् की भक्ति देह के रोम-रोम में समायी रहती है। सब गुणों से न्यारा देव इस शरीर में ही विराजमान है, अत: उस 'पियारे राम' को तन-मन-प्राण समर्पित कर भाव-भक्त करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये।[4] भाव को भाव में पूर्णत: लय करके,

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ३४८-६।

[2] वही—पृष्ठ ३५०।

[3] दादूदयाल की बानी भाग १—परचा कौ अङ्ग २४४-४८,।

[4] वही—परचा कौ अङ्ग २८०-२।

भक्ति में डुबाकर, प्रेम को प्रेम में मिलाकर प्रीति-रस का पान करना चाहिये अर्थात् भक्त और भगवान् के बीच किसी प्रकार की द्वैत-भावना का एक अंश मात्र भी शेष न रहना चाहिये।[1] जिस प्रकार सुगन्धि, पुष्प में और घृत, दूध में समाया रहता है उसी प्रकार भाव-भक्ति के द्वारा प्राणों को प्रियतम में लगा देना चाहिये—

> प्राण हमारा पीव सौं, यों लागा रहिये।
> पुरुष बास घृत दूध में, अब का सौं कहिये॥

अपने स्वामी से दादूदास की एक मात्र यही याचना है—

> साईं सत सन्तोष दे, भाव-भगति बेसास।
> सिदक सबूरी साच दे, मांगै दादूदास॥

सन्त रज्जब जी ने 'भाव-भगति' को भगवान की बेटी माना है और कहा है कि वह जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं रखती। वह तो अपने पिता के आधीन है, जहाँ वे भेजते हैं उस भक्त का वरण करने के लिये वह चली जाती है। नामदेव, कबीर, रांका-बांका कौन बड़े सम्भ्रान्त कुल के थे किन्तु कुल की मर्यादा का ध्यान न रखते हुए वह उनके घरों में समा गई। दासी-पुत्र विदुर की भी यही स्थिति थी। जयदेव, रैदास, दादू इसी श्रेणी के थे किन्तु भक्ति नीच-ऊँच नहीं देखती। भगवान् से आदेश लेकर आयी हुयी वह भाव-भक्ति राव-रङ्क को एक समान समझती हुई रोके नहीं रुकती।[2] बषना जी उस दिवस को बड़ा सौभाग्यशाली मानते हैं जब कि वह प्रतीक्षित भगवान् का भक्त उनके पास आता है और उसके संसर्ग से उनमें घनी भाव-भक्ति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार त्रिभुवनधनी उनके हृदय में आ जाता है—'भाव भगति रुचि उपजी घणीं, हिरदै आया तुम्हारै त्रिभुवनधणी। सन्त सुन्दरदास की प्रेमलक्षणा अनन्य भक्ति ही भाव-भक्ति का पर्याय है। इस पर पिछले पृष्ठों में विचार किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनर्विचार करना आवश्यक नहीं।

भाव-भक्ति की विशेषताएँ- सन्तों की भाव-भक्ति की कतिपय निजी विशेषताएँ हैं। उसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रपत्तिपरता है। वैसे तो प्रपत्ति-भाव का मूल गीता एवं उपनिषदों तक में प्राप्त होता है किन्तु मध्यकाल में प्रपत्ति-भाव के प्रमुख प्रचारक रामानुजाचार्य थे। स्वामी रामानन्द का मार्ग भी प्रपत्ति का ही था। अपने सुयोग्य शिष्यों को उन्होंने प्रपत्ति की शिक्षा दी थी। स्वामी जी के मतानुसार यही एक ऐसा सरल मार्ग था जहाँ कुल-मर्यादा धन-वैभव, सवर्ण-

---

[1] **दादूदयाल की बानी, भाग १—परचा को अङ्ग २६१-३।**

[2] **सन्त सुधासार—रज्जब जी, पृष्ठ ५२०।**

असवर्णों का कोई भेद-भाव नहीं किया जाता। प्रपत्ति का द्वार ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सबके लिये समान रूप से खुला है। यों तो प्रपत्ति का रूढ़ि अर्थ है आत्म-निवेदन, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में यह शरणागति के अर्थ में व्यवहृत होता है। वैष्णव-आचार्यों ने प्रपत्ति अथवा शरणागति को सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है। कबीरदास जी का भी दृढ़ विश्वास था कि भगवान् का भक्त होने से लिये अनन्य शरणागति को छोड़कर अन्य किसी मार्ग की आवश्यकता नहीं। भाव के भूखे भगवान् भक्तों की अनन्य शरणागति के द्वारा सरलता से वश में हो जाते हैं। भक्त का एक मात्र कर्तव्य सब साधनों को छोड़कर पूर्णरूप से भगवान् की शरण में चले जाना है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति के छः प्रकार अहिर्बुध्न्य संहिता में वर्णित है।[1] अहिर्बुध्न्य ऋषि के शरणागति सम्बधी महत्व को यहाँ दुहरा देना अनुचित न होगा। जैसे नदी पार करने का अभिलाषी नौका में बैठकर सब प्रकार से निश्चिन्त हो जाता है, क्योंकि उसे पार पहुँचाने की सारी जिम्मेदारी नौका वाले की हो जाती है, वैसे ही भक्त भी अपना सर्वस्व सौंपकर भगवान् की शरण में आ जाता है और संसार-सागर से पार उतारने का सारा दायित्व प्रभु के ऊपर चले जाने पर वह सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है।

वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचारित प्रपत्ति के प्रकारों की झलक सन्त-कवियों की वाणियों में स्थल-स्थल पर देखने को मिलती है। भगवान् का अकिञ्चन दास होकर उनके सदा अनुकूल बने रहने का सङ्कल्प—१. अनुकूलता का सङ्कल्प—है। सन्त कबीर कहते हैं कि मैंने अहंभाव से मुक्त होकर प्रभु का विश्वास पा लिया हैं। मेरे अन्दर की द्वैतभावना नष्ट हो गई है और केवल एक प्रभु की ही आशा रह गयी है। शरीर रूपी देवालय नष्ट हो गया। उसकी ईंट-ईंट अलग हो गई। उस चुनने वाले प्रभु से प्रेम कर, जिससे यह देवालय दूसरी बार नष्ट न हो। ओ प्राणियों! सुनो, मन के समस्त भ्रम छोड़कर केवल उसी एक की शरण गहो, तभी तुम्हारा उद्धार होगा।[2] गुरु नानकदेव ने स्पष्ट कहा है कि लाखों सयानपन हों, उस सत्य तक एक भी नहीं पहुँचता तो फिर हम सत्यमय हों तो कैसे? और हमारे उसके बीच में जो दीवाल खड़ी है वह कैसे टूटे? परदा कैसे हटे? (एक ही उपाय है) उस आदेश देने वाले परमेश्वर के आदेश पर चलना, उसकी आज्ञा के अनुसार आचरण करना।[3] गुरु अमरदास कहते है—

---

[1] विस्तार के लिये देखिये पृष्ठ ९ – अहिर्बुध्न्य संहिता।

[2] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ५६।१७, २२।१८, २६७।६।

[3] सन्त सुधासार—गुरु नानक देव, पृष्ठ २०६।१।

असवर्णों का कोई भेद-भाव नहीं किया जाता। प्रपत्ति का द्वार ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सबके लिये समान रूप से खुला है। यों तो प्रपत्ति का रूढ़ि अर्थ है आत्म-निवेदन, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में यह शरणागति के अर्थ में व्यवहृत होता है। वैष्णव-आचार्यों ने प्रपत्ति अथवा शरणागति को सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है। कबीरदास जी का भी दृढ़ विश्वास था कि भगवान् का भक्त होने से लिये अनन्य शरणागति को छोड़कर अन्य किसी मार्ग की आवश्यकता नहीं। भाव के भूखे भगवान् भक्तों की अनन्य शरणागति के द्वारा सरलता से वश में हो जाते हैं। भक्त का एक मात्र कर्तव्य सब साधनों को छोड़कर पूर्णरूप से भगवान् की शरण में चले जाना है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति के छः प्रकार अहिर्बुध्न्य संहिता में वर्णित है।[१] अहिर्बुध्न्य ऋषि के शरणागति सम्बन्धी महत्व को यहाँ दुहरा देना अनुचित न होगा। जैसे नदी पार करने का अभिलाषी नौका में बैठकर सब प्रकार से निश्चिन्त हो जाता है, क्योंकि उसे पार पहुँचाने की सारी जिम्मेदारी नौका वाले की हो जाती है, वैसे ही भक्त भी अपना सर्वस्व सौंपकर भगवान् की शरण में आ जाता है और संसार-सागर से पार उतारने का सारा दायित्व प्रभु के ऊपर चले जाने पर वह सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है।

वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रचारित प्रपत्ति के प्रकारों की झलक सन्त-कवियों की वाणियों में स्थल-स्थल पर देखने को मिलती है। भगवान् का अकिञ्चन दास होकर उनके सदा अनुकूल बने रहने का सङ्कल्प—१. अनुकूलता का सङ्कल्प—है। सन्त कबीर कहते हैं कि मैंने अहंभाव से मुक्त होकर प्रभु का विश्वास पा लिया हैं। मेरे अन्दर की द्वैतभावना नष्ट हो गई है और केवल एक प्रभु की ही आशा रह गयी है। शरीर रूपी देवालय नष्ट हो गया। उसकी ईंट-ईंट अलग हो गई। उस चुनने वाले प्रभु से प्रेम कर, जिससे यह देवालय दूसरी बार नष्ट न हो। ओ प्राणियों! सुनो, मन के समस्त भ्रम छोड़कर केवल उसी एक की शरण गहो, तभी तुम्हारा उद्धार होगा।[२] गुरु नानकदेव ने स्पष्ट कहा है कि लाखों सयानपन हों, उस सत्य तक एक भी नहीं पहुँचता तो फिर हम सत्यमय हों तो कैसे? और हमारे उसके बीच में जो दीवाल खड़ी है वह कैसे टूटे? परदा कैसे हटे? (एक ही उपाय है) उस आदेश देने वाले परमेश्वर के आदेश पर चलना, उसकी आज्ञा के अनुसार आचरण करना।[३] गुरु अमरदास कहते है—

[१] विस्तार के लिये देखिये पृष्ठ ६ – अहिर्बुध्न्य संहिता।

[२] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ५६।१७, २२।१८, २६७।६।

[३] सन्त सुधासार—गुरु नानक देव, पृष्ठ २०६।१।

जिउ तू चलाइहि तिव चलह सुआमी होरु किया जाणा गुण तेरे।
जिव तू चलाइहि तिवै चलह जिना मारगि पावहै ॥

—सन्त सुधासार, पृष्ठ २८७

सन्त दादूदयाल की उक्ति है—"अरे ओ मेरे सिरजनहार! मेरा प्रेम एक मात्र तुम्हीं से ही है। तुम्हीं से मेरी लगन लगी हुयी है। तुम्हीं से मेरा लेना-देना है और एक तुम्हीं पर मैं अनुरक्त हूँ।[१]" भगवान् के प्रतिकूल भाव और चर्चा से विमुख रहना, कोई ऐसा कार्य न करना जिससे वे अप्रसन्न हों। इसी को—२. प्रतिकूलता का परित्याग कहते हैं। भगवान् की भक्ति में बाधा उपस्थित करने वाले षट् दुर्गुणों की सन्त कवियों ने तीव्र भर्त्सना की है और असन्तों से बचने के लिये विशेष सतर्क किया है। कबीर कहते हैं कि जो जान-बूझकर सच्चाई का त्याग कर असत्य को गले लगाते हैं, हे प्रभु! ऐसे लोगों की सङ्गति हमें स्वप्न में भी मत दो कबीर ग्र० ५०।६। इसी प्रकार 'बिष तजि राम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे।' तथा 'कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज। बात बार नहिं पाइये, मनिषा जन्म की मौज।।' में यही भावना स्पष्ट है। गुरु अर्जुन देव कहते हैं—

मिथिआ नाहीं रसनापरस। मन महिं प्रीति निरञ्जन-दरस ॥
परत्रिय रूपु न पेखै नेत्र। साध की टहल सन्त-सङ्गि हेत ॥
करन न सुनै काहू की निन्दा। सभते जानै आपस कउ मन्दा ॥
गुरु प्रसादि बिखिआ परहरै। मन की बासना मन ते टरै ॥

दादूदयाल के विचार से—

दादू जो साहिब कौं भावै नहीं, सो जीव न कीजो रे ॥
परहरि बिषै बिकार सब, अमृत-रस पीजो रे ॥

प्रपत्ति का तीसरा अङ्ग—३. रक्षण का विश्वास है। जब तक भगवान् के रक्षक रूप में अटूट विश्वास न होगा तब तक प्रपत्ति-साधना में परिपक्वता नहीं आ सकती। सन्त कवियों को अपने आराध्य के रक्षक रूप पर अगाध आस्था है—

उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तौ उसही पुरिस की लाज ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०।१७

अब मोहि राम भरोसा तेरा, और कौन का करौं निहोरा।
जाके राम सरीखा साहेब भाई, सो क्यूं अनत पुकारन जाई ॥

—वही, पृष्ठ १२४।११४

---

[१] सन्त सुधासार—गुरु नानक देव, पृष्ठ ४३४।

माता के उदर महि प्रतिपाल सो किउ मनहु बिसारीए।
मनहु किउ बिसारीए एवडु दाता जि अगनि महि आहारु पहुँचावए ॥
—गुरु अमरदास

दादू करणहार करता पुरिष, हम कौं कैसा चिन्त।
सब काहू की करत है, सो दादू का मिन्त ॥
मनसा वाचा कर्मणा, साहिब का बैसास।
सेवग सिरजनहार का, करै कौन की आस ॥[1]
—दादूदयाल

४. गोप्तृत्व वरण—भगवान् को अपने गोप्ता अर्थात् रक्षक के रूप में वास्तविक रूप से वरण करना।

निगम जाकी साखि बोलै, कहै सन्त सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयो, राखि लेहु भगवान ॥
—क० ग्र० पृष्ठ १०६।३०१

परिहरि कांम रांम कहि बोरे, सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नांव अभै पद-दाता, कहै कबीरा कोरी ॥—पद ३४६
तुम बिन सकल देव मुनि ढूंढू, कहूँ न पाऊँ जम पास छुड़इया।
— रैदास

बिनती सुनो सकलपति साईं। सो सेवक पहुँचे तुम ताईं ॥
चिन्तामणि प्रभु चिन्त निवारौ। चरण कमल उर अन्तरि धारौ ॥
कामधेनु कलपतरु कैसो। अन्तरिजामी भानि अंदेसौ ॥
जन रज्जब कूं दीजै दादि। तुम बिन और न आवै यादि ॥[2]
—रज्जब

५. आत्मनिक्षेप—स्वयं को सर्वस्व भाव से प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना—

को काहू का मरम न जांनै, मैं सरनांगति तेरी।
कहै कबीर बाप रांम राया, हुरमति राखहु मेरी ॥
—कबीर ग्रन्थावली १७७।२६

[1] दादूदयाल की बानी भाग १—बैसास कौ अङ्ग ७-८।
[2] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५२०।

कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इत मैं भीत डरौं जमदूतनि, आये सरन तुम्हारी ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७९।२६६

तूं जिनि छाड़ै केसवा, मेरे और निबाहणहार हो।
हम अपराधी जनम के, नखसिख भरे विकार।
मेटि हमारे औगुणां, तूं गरवा सिरजनहार हो ॥
मैं जन बहुत बिगारिया, अब तुम्ही लेहु संवारि।
समरथ मेरा साइयां, तू आपै आप उधारि हो ॥
तूं न बिसारी केसवा, मैं जन भूला तोहि।
दादू को और निबाहिले, अब जिनि छाड़ै मोहि हो ॥
—दादूदयाल की बानी—भाग २, पद १२ ॥

६. कार्पण्य—नितान्त दीनता का प्रदर्शन करते हुए भगवान् की शरण में जाना कार्पण्य है। इसमें भक्त अपनी अकिञ्चनता दिखलाते हुए आत्म-निवेदन के द्वारा भगवान् की महत्ता का गुणगान करता है। सन्तों द्वारा वर्णित दास्यभाव की भक्ति वाले कथन इनके अन्तर्गत आते हैं।

कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी।
तुम्ह समान दाता नहीं, हंम से नहीं पापी ॥
—क० ग्र०, पृष्ठ १४८।१७८

तिल तिल का अपराधी तेरा, रती रती का चोर।
पल पल का मैं गुनही तेरा, बक्सो औगुण मोर ॥
बे मरजाना मिति नहीं, ऐसे किये अपार।
मैं अपराधी बाप जी, मेरे तुम ही एक अधार ॥
—दादूदयाल

मैं अति अपराधी दुरमति, तूं अवगुण बकसन हार।
गरीबदास की इहै बीनती, संभ्रम सुणहु पुकार ॥
—सन्त सुधासार, पृष्ठ ५०९

भाव-भक्ति के भेद—वैष्णव-धर्म के प्रतिष्ठित आधार-ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ प्रकार कहे गये हैं जिनमें वैधी-भक्ति का भी समावेश है।[1] यह

[1] श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥—भागवत ७।५।५२

प्रारम्भ से ही आराध्य के सगुण रूप की अपेक्षा रखती है किन्तु सन्तों की भाव-भक्ति विषयक आस्था किसी विग्रह-पूजन एवं गुणगान में निहित न होकर एक स्थिति-विशेष में निरत रहने की समर्थक है। वह किसी बाह्य कार्य-कलाप पर आश्रित न रहकर अन्तर की आडम्बरशून्य सहज भावना की पुजारिन है। अतः यदि हम सन्तों की वाणियों में भागवत-भक्ति के नौ प्रकारों—गुण, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, पूजन, बन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—की खोज करें तो यहाँ उनका प्रयोग ठीक उस रूप में नहीं किया गया मिलता जो भागवतकार को या साकारभक्ति का गुणगान करने वाले भक्त को इष्ट है। यों तो अनेक विद्वानों ने इन प्रकारों की खोज सन्त कवियों की रचनाओं में की हैं और उनकी विस्तृत सूची भी दी है।[1] नारदभक्ति सूत्र ८२ में वर्णित भक्ति के ग्यारह भेदों में विधानों की अपेक्षा आन्तरिक-भावना को विशेष प्रश्रय दिया गया है—भगवान् के गुणों और माहात्म्य में आसक्ति, प्रभु के रूप, पूजा और स्मरण में आसक्ति, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्ता भाव में आसक्ति, आत्म-निवेदन, तन्मयता और परम विरहासक्ति।[2] नारदभक्ति-सूत्र के ग्यारह प्रकारों में भागवत भक्ति के नौ प्रकारों का सामावेश स्वतः हो जाता है। प्रेमाभक्ति अथवा भाव-भक्ति के सरस रस का पान करने के पश्चात् नवधा-भक्ति एक प्रकार से निरर्थक प्रतीत होती है जैसा कि सन्त सुन्दरदास ने कहा है कि जिसकी परमेश्वर से लगन लग जाती है, वह उस प्रेमरसानुभूति में इतना बेसुध-विभोर हो जाता है कि उसे घर-द्वार तक की सुध नहीं रहती, उसे अपने शरीर-सम्भार तक की स्मृति नहीं रहती। ऐसी विस्मृत अवस्था में वह वाह्य पूजन के विविध विधान कैसे सम्पन्न कर सकता है, उसका रोम-रोम सांसें भरता हुआ प्रिय-वियोग से कातर हो पुकार उठता है, आँसुओं की लहाछेह वर्षा होने लगती है तब फिर—'सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि पर्यो रस पी मतवारा।' यहाँ 'श्रवण' की यह विशेषता है कि सबद के सुनते ही जी निकलने सा लगता है और देह की सारी सुध भूल जाती है। 'कीर्तन' में हरिगुण का स्मरण कर उन्हें गाने की ज्यों-ज्यों चेष्टा की जाती है त्यों-त्यों एक तीर सा लगता है। 'स्मरण' एवं 'वन्दन' में क्रमशः 'मेरा मन राम को स्मरण करता है और वही हो भी जाता है' तथा 'जब मेरा मन राम का ही रूप हो गया तब शीश किसे नवाया जाय' की दशा का अनुभव होता है। 'पाद-सेवन' में 'चरण कंवल मन मानियाँ' की स्थिति ऐसी आ जाती है कि हम सुख एवं दुःख, दोनों को बिलकुल भूल जाते हैं और वैसी सेवा करने लगते

[1] डॉ० मुन्शीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृष्ठ ४७२-८०।

[2] गुणमाहात्म्यासक्ति—एकादशधा भवति॥—नारदभक्ति सूत्र ८२।

हैं कि जिसके बिना रहा नहीं जाना। इसी प्रकार 'अर्चन' में भी 'माहैं पाती मांहि जल माहैं पूजणहार' होने से अवस्था ही कुछ विचित्र-सी रहा करती है तथा 'साच सील का चौका' देकर हमें आरती के समय अपने प्राणों को ही उस 'तेजपुञ्ज' के समक्ष उतार देना पड़ता है। 'दास्य' में 'गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाऊँ' की दशा रहती है। 'सख्य' में भी इसी भाँति 'सो दोसत किया अलेख' के कारण सदा 'अङ्क भरे भरि' मेंटना होता रहता है और 'आत्मनिवेदन' की स्थिति में भेद रहित होने से अपनी दशा की सुध ही नहीं रहती और ऐसा अनुभव होता है कि 'पाला गलिपाँणी भया ढुलि मिलिया उस कूंल'। फिर तो ऐसी अनिर्वचनीय समस्या उपस्थित हो जाती है कि बूँद समुद्र में खो जाती है और लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलती और न ढूंढ़ने वाले का ही पता चलता है। अतएव अन्त में यही कहकर मौन धारण करना पड़ता है कि "मेरा तो मुझमें कुछ था ही नहीं, जो कुछ था उसी का था, इसलिये उसकी ही वस्तु को उसे सौंपते मेरा लगा ही क्या? सारांश यह कि उक्त सारे व्यापार भीतर ही होते रहते है और आप से आप स्वभावतः चलते हैं।"[1] चतुर्वेदी जी के उक्त कथन में सत्यता होने पर भी सन्त कवियों की रचनाओं में हमें नारदभक्ति सूत्र के ग्यारह प्रकारों के प्रभूत उदाहरण मिल जाते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक प्रकार में हमें 'आसक्ति' शब्द जुड़ा मिलता है जो शुष्क सम्बन्ध-निर्वाह मात्र का द्योतक न होकर 'परम प्रेम रूपा' हार्दिक भावों का सम्मिलन कराता है। सन्तों ने नवधा-भक्ति का समर्थन वाह्य पूजन-पद्धति में न करके भाव-मूलक-अर्चन-विधि में यथेष्ट रूप से किया है। स्थूलता की अपेक्षा मानसिक-भाव-पूजा-विधान में उनकी विशेष आसक्ति रही है। निरञ्जनी-सम्प्रदाय के आठवें प्रचारक सन्त तुरसीदास ने सगुण नवधा-भक्ति की भाँति निर्गुण भक्ति की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की है तथा अन्त में प्रेमा भक्ति को जोड़कर उसे दशधा बना दिया है। स्मरण रहे, 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास जी ने स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों को दशधा-भक्ति का आगर कहा है। सन्त तुरसीदास के कथनानुसार सार-मत का श्रवण कर उसे हृदय में धारण करना ही श्रवण और कीर्तन है और परमतत्व की ब्रह्म भावना को जागृत करना स्मरण है। हृदयस्थित परम ज्योतिस्वरूप अशरीर ब्रह्म का ध्यान पाद-सेवन है। अखिल ब्रह्माण्ड में निर्गुण ब्रह्म वाचक ओङ्कार की प्रतिमा का दर्शन करना अर्चन है। गुरु गोविन्द और सन्तों के प्रति अभिन्न भाव रखना बन्दन है। हरि, गुरु और

---

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा पृष्ठ २१२-३।

साधु की निष्काम भाव से निरन्तर आलस्य रहित होकर सेवा करना दास्य है तथा आराध्य के प्रति समता का अभिमान न रखते हुए गुण-अवगुणों से शून्य होकर प्रभु को अपना मित्र समझना ही साख्य है। राम को अपना तन-मन-आत्मा, सब कुछ उसी का मानकर समर्पित कर देना और इस प्रकार उससे ऋण-मुक्त हो जाना आत्मनिवेदन है।[1] इस प्रकार नवधा भक्ति के वृक्ष को सींचते हुए प्रेमा भक्ति के फल की प्राप्ति की जा सकती है—

तुरसी यह साधन भगति, तरलौं सींची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइया, प्रेम मुक्त फल जोय।।

नारद-भक्तिसूत्रकार द्वारा वर्णित भक्ति के ग्यारह भेदों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१. भगवान् के गुणों और माहात्म्य में आसक्ति -

निरमल निरमल रांम गुण गावै, सो भगता मेरे मन भावै।।
जे जन लेहिं रांम कौ नाऊँ, ताकी मैं बलिहारी जाऊँ।।
जिहि घटि रांम रहे भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि।।
जाति जुलाहा मति कौ धीर, हरषि हरषि गुण रमैं कबीर।।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७।१२४

× × +

गोविन्द के गुण बहुत है, लिखे जु हिरदै माँहि।
डरता पांणी नां पीऊँ, मति वै धोये जाँहि।।

—वही, पृ० ७६।८

× × ×

गोव्यन्दा गुंण गाईये रे, ताथै भाई पाईये परम निधांन।।

—वही, पृ० १२६।१२

२. रूपासक्ति—

तौ काहे की परवाह हमारे, राते माते नांउं तुम्हारे।।
झिलिमिलि झिलिमिलि सेज तुम्हारा, परगट खेलै प्रांण हमारा।।
नूर तुम्हारा नैनों माँहीं, तन-मन लगा छूटै नांहीं।।
सुख का सागर वार न पारा, अमी महा रस पीवण हारा।।
प्रेम मगन मतिवाला माता, रांगि तुम्हारे दादू दाता।।[2]

[1] ना० प्र० पत्रिका, पृष्ठ ८६-८८ पर उद्धृत, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ४७३ से अवतरित।

[2] सन्त सुधासार—स्वामी दादूदयाल, पृष्ठ ४३३।

३. पूजासक्ति—

जोइ जोइ पूजिय सोइ सोइ कांची, सहज भाव सत होई।
कह रैदास मैं ताहि को पूँजू, जाकै ठावं-नावं नहिं होई ॥[१]

४. स्मरणासक्ति—

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जञ्जाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥

—सुमिरन को अङ्ग ५

जिस घर में परमात्मा का गुणगान होता है और उसका ध्यान किया जाता है, उस घर में सोहिला गावो और सिरजनहार का स्मरण करो—[२]

सिमरउ सिमरि सिमरि सुखु पावउ। कलि कलेस तन माहि मिटावउ ॥
सिमरउ जासु बिसुम्भर एकै। नामु जपत अनगनत अनेकै ॥
प्रभु का सिमरनु सभ ते ऊँचा। प्रभ कै सिमरनि उधरे मूचा ॥
प्रभ कै सिमरनि तृसना बुझै। प्रभ कै सिमरनि सभु किछु सुझै ॥
प्रभ कै सिमरनि नाहीं जम त्रासा। प्रभ के सिमरनि पूरन आसा ॥[३]

५-६—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति के उदाहरण 'भक्ति साधना के प्रकार' शीर्षक अवतरण में दिये जा चुके हैं। परम विरहासक्ति के उदाहरण दाम्पत्य-भाव में व्यक्त हुए हैं।

१०. तन्मयतासक्ति—

हम तौ रैनदिन पलक पहर छिन, कबहूँ न बिसरत जियतै एक खिन।
तुम्हरे जिय की गति तुमही पै जानो, ध्यान टरत नहिं नेकु नैननि इन।[४]

११. आत्मनिवेदनासक्ति—

तुम्ह बिन रांम कवन सौं कहिये, लागी चोट बहुत दुख सहिये ॥
बेध्यौं जीव बिरह कै भाले, राति-दिवस मेरे उर साले ॥
को जानैं मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयौ सरीरा ॥
तुम्ह से बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै बियोगी ॥
निस बासुरि मोहि चितवत जाई, अजहूं न आइ मिले रांम राई ॥
कहत कबीर हम कौं दुख भारी, बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी ॥[५]

---

[१] रैदास जी की बानी, पृष्ठ ४।५।

[२] सन्त सुधासार—गुरु नानकदेव, पृष्ठ २४२।

[३] वही—गुरु अर्जुनदेव, पृष्ठ ३५३-४।

[४] वही—स्वामी गरीबदास, पृष्ठ ५०७।

[५] कबीर ग्रन्थावली, पद २८७।

भक्ति के साधन—इस भाव-भक्ति के अनेक साधन और अनेक स्तर हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि सारा संसार अनेक प्रकार के दुःखों और जञ्जालों से परिपूर्ण है। यहाँ सार-वस्तु केवल प्रभु का सुमिरन अथवा नाम-स्मरण है। कबीरदास जी ने इसे 'भक्ति का सार' तक कह दिया है। वे अपने मत की पुष्टि के लिये ब्रह्मा और शिव की साक्षी देते हैं—

> कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
> राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेश॥
> भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार।
> मनसा वाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार॥
>
> —सुमिरण कौ अङ्ग २, ४

नाम-स्मरण—संसार के समस्त धर्मों में प्रायः नाम-स्मरण को विशेष स्थान दिया गया है। योगियों का कथन है कि कुछ शब्दों की मुहुर्मुहुः पुनरावृत्ति से एक बहुत बड़ी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है इसीलिए 'ओङ्कार' को सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (जपुजी) में कहे गये इस वचन को सिख-धर्म का मूल-मन्त्र माना जाता है—'ओङ्कार सति नामु करता पुरखु निरभउ, निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि'।

अर्थात् उस गुरु की कृपा से, जो एक ही है, जिसका नाम सत्य है अर्थात् जो सदा एकरस रहता है, जो सब का स्रष्टा है, जो समर्थ पुरुष है, जिसे किसी का भी भय नहीं है, न किसी से जिसका बैर है, जिसका अस्तित्व काल की पहुँच से परे है और जो अजन्मा एवं स्वयम्भू है—भागवतादि पुराणों में नाम-माहात्म्य की चर्चा प्रभूत मात्रा में हुई है। 'विष्णुसहस्र नाम' नामक छोटी पुस्तिका का पाठ, जिसमें विष्णु के सहस्र नाम पर्यायरूप में उल्लिखित हैं, असंख्य हिन्दू बड़ी श्रद्धा से करते हैं। सूफी-साधना में भी 'जिक्र' अर्थात् नाम-स्मरण को विशेष महत्व दिया गया है। मध्यकालीन सगुण और निर्गुण सभी भक्तों में नाम-सुमिरन की साधना का चरम विकास हुआ है। सूर, तुलसी से लेकर कबीर, रैदास, नानक, दादू, रज्जब, गरीबदास, सुन्दरदास आदि सभी ने नाम के प्रति अपना असीम श्रद्धा संवलित विश्वास प्रकट किया है। तुलसीदास जी ने नाम-महिमा का गुणगान करते हुए कहा है कि निर्गुण और सगुण-ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। ये दोनों ही अकथनीय, अथाह और अनुपम हैं। मेरी सम्मति में नाम इन दोनों से बड़ा है जिसने अपने बल से दोनों को अपने वश में कर रखा है।[1]

---

[1] अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा। अकल अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नाम दुहू ते। किए जेहिं जुग निज बस निज बूते॥
—द्रष्टव्य रामचरित मानस, बालकाण्ड—२२-२३

भक्ति के साधन—इस भाव-भक्ति के अनेक साधन और अनेक स्तर हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि सारा संसार अनेक प्रकार के दुःखों और जञ्जालों से परिपूर्ण है। यहाँ सार-वस्तु केवल प्रभु का सुमिरन अथवा नाम-स्मरण है। कबीरदास जी ने इसे 'भक्ति का सार' तक कह दिया है। वे अपने मत की पुष्टि के लिये ब्रह्मा और शिव की साक्षी देते हैं—

> **कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।**
> **राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेश॥**
> **भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार।**
> **मनसा वाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार॥**
>
> —सुमिरण कौ अङ्ग २, ४

नाम-स्मरण—संसार के समस्त धर्मों में प्रायः नाम-स्मरण को विशेष स्थान दिया गया है। योगियों का कथन है कि कुछ शब्दों की मुहुर्मुहुः पुनरावृत्ति से एक बहुत बड़ी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है इसीलिए 'ओङ्कार' को सर्वशक्तिमान् कहा जाता है। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब (जपुजी) में कहे गये इस वचन को सिख-धर्म का मूल-मन्त्र माना जाता है—'ओङ्कार सति नामु करता पुरखु निरभउ, निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि'।

अर्थात् उस गुरु की कृपा से, जो एक ही है, जिसका नाम सत्य है अर्थात् जो सदा एकरस रहता है, जो सब का स्रष्टा है, जो समर्थ पुरुष है, जिसे किसी का भी भय नहीं है, न किसी से जिसका बैर है, जिसका अस्तित्व काल की पहुँच से परे है और जो अजन्मा एवं स्वयम्भू है—भागवतादि पुराणों में नाम-माहात्म्य की चर्चा प्रभूत मात्रा में हुई है। 'विष्णुसहस्र नाम' नामक छोटी पुस्तिका का पाठ, जिसमें विष्णु के सहस्र नाम पर्यायरूप में उल्लिखित हैं, असंख्य हिन्दू बड़ी श्रद्धा से करते हैं। सूफी-साधना में भी 'जिक्र' अर्थात् नाम-स्मरण को विशेष महत्व दिया गया है। मध्यकालीन सगुण और निर्गुण सभी भक्तों में नाम-सुमिरन की साधना का चरम विकास हुआ है। सूर, तुलसी से लेकर कबीर, रैदास, नानक, दादू, रज्जब, गरीबदास, सुन्दरदास आदि सभी ने नाम के प्रति अपना असीम श्रद्धा संवलित विश्वास प्रकट किया है। तुलसीदास जी ने नाम-महिमा का गुणगान करते हुए कहा है कि निर्गुण और सगुण-ब्रह्म के दो स्वरूप हैं। ये दोनों ही अकथनीय, अथाह और अनुपम हैं। मेरी सम्मति में नाम इन दोनों से बड़ा है जिसने अपने बल से दोनों को अपने वश में कर रखा है।[1]

---

[1] **अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा। अकल अगाध अनादि अनूपा॥**
मोरें मत बड़ नाम दुहूते। किए जेहिं जुग निज बस निज बूते॥

—द्रष्टव्य रामचरित मानस, बालकाण्ड—२२-२३

सगुण भाव से उपासना करने वाले साधक के पास भगवान् का रूप और उनकी लीलाएँ हैं किन्तु निर्गुण साधक को तो केवल नाम का ही आश्रय है। नाम के प्रति अपनी अनन्य-निष्ठा प्रदर्शित करते हुए सन्त नामदेव कहते हैं—

कहा करौं जाती कहा करौं पांती। राम को नाम जपउं दिन राती॥
भगति-भाव सूं सीवनि सीवौं। राम नाम बिनु घरी न जीवौं॥

+ × +

मोहि लागति तालाबेली। बछरा बिनु गाइ अकेली॥
पानी बिनु ज्यूं मीन तलफै। ऐसे राम नाम बिनु नामा कलपै॥
जैसे ताप ते निरमल घामा। तैसे राम नाम बिनु बापुरो नामा॥

× × ×

साधिक सिद्ध सकल मुनि चाहहिं, बिरले काहू डीठुला।
सकल भवन तेरो नाम बालहा, त्यूं नामे मनि बीठुला॥[1]

संसार के समस्त दुःखों को दूर करने के लिये नाम-सुमिरन एक अचूक औषधि है। सारा संसार विष से भरा हुआ है किन्तु जिसके पास नामरूपी औषधि है, वही निर्विष है। शरीर और मन के विषय को दूर कर उसे निर्मल और सहज बनाने की सामर्थ्य केवल नाम में ही है, किसी दूसरे में नहीं। सन्त दादूदयाल एक सुमिरण के आधार पर जी रहे हैं, यदि कहीं वह हाथ से खो जाय तो उनके दुःख की सीमा नहीं रहेगी। नाम बिसारने का दण्ड भी बहुत बड़ा है। नाम के सहारे साधक कालजयी हो जाता है किन्तु जब राम को भुला दिया जाता है तब काल उस पर टूट पड़ता है, शिर पर 'करवत बहने' लगता है, पग-पग पर प्रलय उपस्थित हो जाता है और जीव प्राण-पिण्ड से हीन होकर सब सुखों से वञ्चित हो जाता है।[2] दादू के मत से सारा संसार निर्धन है। वास्तविक धनी वही है जिसके पास राम-नाम की पूँजी है—सुमिरन को अङ्ग १०७। इसीलिये कबीरदास कहते हैं कि मेरा धन तो यही हरि का नाम है। मैं इसे (अन्य सांसारिक धन की भाँति) गाँठ में बाँधकर नहीं रखता और न इसे बेंचकर पेट भरता हूँ जैसा कि पण्डित-पुरोहित करते हैं। नाम ही मेरी खेती-बारी, धन-दौलत, सङ्गी-साथी, भाई-बाप और सर्वस्व है—

इह धनु मेरे हरि के नाउ। गाँठि न बाँधउ बेच न खाउ॥
नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी। भगति करउ जनु सरनि तुम्हारी॥

---

[1] सन्त सुधासार, नामदेव महाराज, पृष्ठ ४६, ५१, ५३।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १, सुमिरन को अङ्ग ६३, ६४, १०२, १२५-६-७।

नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूँजी । तुमहि छोड़ जानऊ नहि दूजी ॥
नाउ मेरे बँधिउ नाऊ मेरे भाई । नाउ मेरे सङ्गि अन्ति होइ सखाई ॥
माइआ महि जिस राखै उदास । कहि कबीर हउताकौ दास ॥
—सन्त कबीर, रागु भैरउ १

श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में गुरु नानक ने नाम की महिमा का विस्तार के साथ वर्णन किया है । समस्त जीव-खण्ड ब्रह्माण्ड, स्मृति-वेद-पुराण, ज्ञान-ध्यान-आकाश, सारे दृश्यमान आकार नाम के ही बल पर टिके हैं ।[1] नाम से ही सब उत्पन्न होते हैं और नाम ही में सब विलीन हो जाते हैं । नाम ही चारों वेदों का सार और कलियुग का पुरश्चरण है ।[2] मूत्र से जब कपड़े गन्दे हो जाते हैं तो साबुन लगा कर उन्हें धो लेते हैं, इसी प्रकार यदि हमारा तन पापों से मलिन हो जाये तो वह नाम के रङ्ग से स्वच्छ हो सकता है ।[3] तीर्थाटन, तप, दया और पुण्य-दान करने का फल कण-मात्र मिलता है किन्तु जो प्रभु का नाम सुनता है, उस पर चलता है और अन्तःकरण से उसकी भक्ति करता है उसने सारे तीर्थों का स्नान कर लिया और अपने सब पापों को धो डाला—

तीरथु तपु दइआ दतु दातु । जे को पावै तिल का मानु ॥
सुणिआ मंनिआ मनि कन्ता भाउ । अन्तरगति तीरथि मनि नाउ ॥
—जपुजी २१

नाम के बिना प्राणी अन्धों के समान भटकता हुआ बार-बार जन्म-मरण के बन्धनों में बँधता है ।[4] मानव जीवन के सारे कार्य-व्यापार नाम के बिना मृतक के शृङ्गार सदृश हैं । बिना नाम-स्मरण के मनुष्य पशु-पक्षियों से भी गया-बीता है ।[5] जिन्होंने नाम का अभ्यास किया है, वे अपना श्रम सफल कर गये । नानक ! उनके मुख प्रकाशमान् हैं, उनके सत्सङ्ग से कितने ही लोग (भव-बन्धन से)

---

[1] नाम के धारे जगल जंत...नाम के धारे सगल आकार ॥५।१६ —गउड़ी, सुखमयी, महला ५, पृष्ठ २८४ ।

[2] नाम ततु कलि महि पुनहचरना ॥—गउड़ी, बावन अखरी, महला ५, पृष्ठ २५४ ।

[3] मूत पलीती कपड़ु होइ । दे साबुण लईऐ ओहु धोइ ॥
भरीऐ मति पापा कै संगि । ओहु धोपै नावै कै रंगि ॥—जपुजी २०

[4] भरमि भुलावा अंधुला फिरि-फिरि आवै जाइ ॥३।२३।५६; सिरीरागु, महला ३ ।

[5] पसु पंखी तृगद जौनि ते मन्दा ॥—गउड़ी ३।४२।१११, महला ५ ।

मुक्त हो गये।[१] नाम का एक अणु मात्र भी हृदय में आ जाने से करोड़ों कर्मों का जाल क्षण भर में नष्ट हो जाता है परन्तु बिना राम के युग-युगान्तर तक किये गये पुण्य निरर्थक हो जाते हैं।[२] राम नाम की शक्ति अमोघ है। साधक-सिद्ध-मुनि, सब ओर से निराश होकर नाम का आश्रय ग्रहण किया और वे पार हो गये।[३] नाम-धन की महिमा महान् है। न तो इसे अग्नि जला सकती है और न वायु अपने में लीन कर सकता है और न चोर उसके समीप आ सकता है। इसलिये राम-नाम के धन को सञ्चित करना चाहिए, क्योंकि यह धन कहीं नहीं जा सकता।[४] संसार में सारे पदार्थ नश्वर हैं, अविनाशी केवल राम नाम है, अतः कबीर उसी अमर वस्तु की याचना करते हैं—

किया माँगउ किछु थिरु नाहीं। राम नाम रखु मन माहीं॥
कहत कबीर सुनत अवर नहि कामा। हमारे धन राम को नामा॥

—रागु धनासरी ४

इसीलिये वे अपने मन को बारम्बार नाम-सुमिरन करने के लिये कहते हैं, क्योंकि इसके बिना सब डूब जाते हैं। स्त्री-पुत्र, घर-द्वार और सम्पत्ति, ये सब वस्तुएँ तेरी नहीं है। राम नाम रूपी अमृत त्याग कर क्यों विष खाता है? सब प्रकार के भ्रम एवं निषिद्ध कर्मों को छोड़कर क्यों नहीं राम का नाम लेता?[५] कबीरदास जी ने ज्ञान को शाखा और नाम को मूल कहा है। मूल के ग्रहण करने से सब प्रकार का सुख सम्भव है अन्यथा डाल-पात के फेर में पड़कर मूल भी खो जाता है।[६] इस नाम का नशा कभी नहीं उतरता। अन्य नशे क्षण-क्षण में चढ़ते-उतरते रहते हैं किन्तु नाम का नशा दिन-प्रतिदिन सवाया बढ़ता जाता है। नाम का प्याला पीने से द्वैत-भावना नष्ट हो जाती है—

---

[१] जिनी नामु धिआइसा, गए मसक्कति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छूट्टी नालि॥

—गुरु अङ्गद कृत 'माझ की वार'

[२] कबीर ग्रन्थावली, सुमिरण कौ अङ्ग २०।

[३] सन्त कबीर, राग गउड़ी ३७।

[४] वही, राग गउड़ी ५८।

[५] 'मनरे राम सुमिरि राम सुमिरि राम सुमिरि, भाई'

— सन्त सुधासार, पृष्ठ ८३।५६

[६] साखा ग्यान, नाम है मूला॥
मूल गहे ते सब सुख पावै।
डाल पात में मूल गँवावै॥—वही, पृष्ठ १००

नाम-अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन-छिन चढ़ि उतरै, नाम-अमल दिन बढ़ै सवाई॥
देखत चढ़ै सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई॥
जो जन नाम-अमल रस चाखा, तर गइ गनिका सदन कसाई।
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बिन रसना का करै बड़ाई॥

नाम-स्मरण, भाव-भक्ति की साधना का प्रथम सोपान है। बिना नाम के मन में न तो भक्ति का प्रादुर्भाव सम्भव है और न किसी प्रकार की दृढ़ता। कबीरदास कपट भक्ति का वहिष्कार कर अपनी रसना को राम-नाम का स्मरण करने के लिये कहते हैं कि राम नाम 'अमृत सार' है जिसके सहारे भक्त लोग भव-सागर पार किया करते हैं। जिस प्रकार मृग, वीणा के शब्द को सुनते ही बिंध जाता है और मर जाने पर भी उसका ध्यान नहीं टूटता, मछली निर्जीव हो जाने पर भी जल के प्रति अपने सहज स्वभाव को नहीं भूलती और जिस प्रकार कीट भृङ्गी में इतना लीन हो जाता है कि वह अन्त में वहीं बन जाता है, उसी प्रकार—

राम नाम निज अमृत सार।
सुमिरि-सुमिरि जन उतरे पार॥[1]

सन्त कवियों ने अनन्त परमेश्वर के नाम भी अनन्त बताये हैं। वस्तुतः वह किसी विशिष्ट नाम की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। उसका वास्तविक नाम केवल उसकी सत्यता अथवा अस्तित्व का ही प्रतीक हो सकता है। "नाम का स्वरूप ही सापेक्षिक है और उसके 'नामों' के बिना अनुभवगम्य हुए हम उसका व्यवहार कर नहीं सकते, हमारी अनुभूति की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है, अतएव सत्य का जो भी नाम होगा विश्व सापेक्ष्य होगा।[2]" कबीर ने गुरु रामानन्द से राम नाम की दीक्षा ली थी फिर भी उन्होंने परमेश्वर को राम, केशव, कृष्ण, विष्णु, गोपाल, कमलाकान्त, बीठुला, मुरारी, अल्ला, खुदा, साहिब, करीम आदि अनेक नामों से पुकारा है[3] और इन नामों का अनुकरण उनके परवर्ती सन्त-कवियों ने निस्संकोच भाव से किया है।

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद ३६३।

[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ १९६।

[3] कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ८।६, ६।२४, १६१।२१५ (राम) ६।१६, ५०।१, २१८।३६१, २१७।३६०, १२३।११०, मन के मोहन बीठुला, यह मन लागो तोहिरे, १२७।१२३, १०४।५१, ४३।६, ३१।४, २१।७, (क्रमशः)।

सन्त कवि नाम को ग्रहण कर 'नामी' को नहीं स्वीकार करते, क्योंकि किसी अवतार-विशेष या उनकी अलौकिक लीलाओं में सन्तों की आस्था नहीं। असीम के पुजारी सन्त इसीलिये 'अवतार' की सीमा में नहीं समा पाते। निराकार को साकार के किसी आकार-विशेष में नहीं बाँध पाते। सन्त कबीर की मान्यता है—'कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया'—(अष्टपदी-रमैंणी)। वे तो यहाँ तक कहने का साहस करते हैं—

> राम-गुन न्यारो न्यारो न्यारो।
> अबुझा लोग कहाँ लौं बूझें, बूझनिहार विचारो॥
> केते रामचन्द्र तपसी से, तिन यह जग विरमाया।
> केते कान्ह भये मुरलीधर, तिन भी अन्त न पाया॥
> मच्छ-कच्छ औ ग्राह सरूपी, वामन नाम धराया।
> केते बौध कलङ्की केते, तिन भी अन्त न पाया॥
>
> —बीजक, शब्द १८

इस प्रकार अवतार-लीलाओं में मुग्ध भक्त जहाँ 'नामी' के सान्निध्य में पहुँचकर अपना पार्थक्य बनाये रखते हुए पूर्ण तृप्ति का अनुभव करता है वहीं पर सन्त परमतत्त्व के प्रति नाम की डोर से अभेद भाव का अनुभव करते हुए तथा इष्ट के अस्तित्व में स्वयं को सर्वतोभावेन लीन करते हुए भी संसार को छोड़ना उचित नहीं समझता जबकि भक्त को भगवान् के सान्निध्य-सुख के समक्ष जगत् के जञ्जाल में पड़ना अखरने लगता है। सन्त निवृत्ति, पथ का पथिक होते हुए भी प्रवृत्तिमार्गी होने में किसी उलझन का अनुभव नहीं करता किन्तु भक्त, भगवान् की सांसारिक लीलाओं में रस लेता हुआ भी निवृत्ति मार्ग को पसन्द करता है। जहाँ भक्त भगवद्भजन में लीन रहकर अपनी एकान्त वैयक्तिक साधना में आरूढ़ रहते हैं, वहीं सन्त समाज, की पीड़ा को पीते हुए अमृत का दान करते हैं और अपने दयार्द्र परोपकारी स्वभाव के कारण 'सन्त' संज्ञा के अधिकारी होते हैं।

सिख-गुरुओं ने 'नाम' को बहुत अधिक महत्व दिया है। गुरु नानकदेव ने जपुजी (३२) में नाम के प्रति अपनी स्वाभाविक निष्ठा प्रकट करते हुए कहा है कि "एक जीभ की जगह यदि मेरी लाख जीभें हो जायँ और लाख से बीस लाख, तो भी एक जीभ से मैं लाख-लाख बार एक जगदीश्वर का ही नाम जपूँगा।" सिख गुरुओं के निकट परमात्मा की सर्वव्यापी सत्ता का बोधक 'सतिनामु' ही बन्दनीय है। उनका कथन है कि परमात्मा के निकट कोई विशिष्ट शब्द अथवा नाम, कोई विशेष महत्व नहीं रखता। नाम तो केवल आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। अन्तर्यामी होने के नाते वह हमारे आन्तरिक

भावों से भली-भाँति परिचित है, अतः सिख-गुरुओं ने परमात्मा को किसी विशिष्ट नाम से नहीं पुकारा। उन्होंने कबीरादि सन्तों की भाँति अकाल पुरुष, निर्गुण, निरङ्कार, मधुसूदन, दामोदर, माधव, धरणीधर, श्यामसुन्दर, खालिक, रहीम, मौला आदि विभिन्न नामों से प्रभु को विभूषित किया है। गुरुगोविन्दसिंह ने वीर-रस का सञ्चार करने वाले भावों से अपने नामों को अलंकृत किया है जैसे असिकेतु, महाकाल आदि। सिखों में एक नवीन नाम 'वाहिगुरु' भी अत्यधिक प्रचलित है। खालसा पन्थ के निर्माण के समय इसे अत्यधिक मान्यता प्रदान की गई और वह परमात्मा का विशिष्ट नाम समझा जाने लगा। जब कोई सिख-साधक अकाल पुरुष की आश्चर्यमयी भावना का साक्षात्कार करता है तब उस आनन्दमयी स्थिति में पहुँचकर उसके मुँह से अनायास 'वाहिगुरु-वाहिगुरु' की वाणी निकल पड़ती है। इस प्रकार यह नाम अन्य नामों की भाँति अभिव्यक्ति का वाचक न होकर मन की अभिभूत अवस्था का बोधक है जो साधक की आन्तरिक आनन्दमयी आश्चर्यजनित स्थिति का प्रतीक है।

कबीरदास जी ने सर्व साधारण के लिये 'रा' का टोप और 'म' का बख्तर पहनने की शिक्षा दी है क्योंकि ये शरीर के प्रातःकालीन नक्षत्रों की भाँति लुप्त हो जाने पर भी नष्ट नहीं होंगे।[1] रैदास जी काया-माया, पण्डित-बानी, मन्दिर-भोगविलास, सब को थोथा समझकर उसी को पछोरने के लिये कहते हैं जिसमें अन्न-कण हो। उनका मत है -- 'साचा सुमिरन नाम बिसासा। मन वच कर्म कहे रैदासा।[2]' सन्त कवियों ने नाम-स्मरण की साधन को वाह्य साधना का अङ्ग न समझकर आन्तरिक भावना से युक्त माना है। जीभ से यन्त्रवत् मान्त्रिक दुहराने की पद्धति की वे तीव्र-भर्त्सना करते हैं कि जब तक चित्त का आराध्य के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं हो जाता तब तक हाथ में माला और मुँह में जीभ घूमती रहती है और इस प्रकार के जप को कभी सुमिरन की पवित्र संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता।[3] जिस प्रकार जल में दूध और नमक मिल कर एकरूप हो जाते हैं, इस प्रकार मन को हठपूर्वक रोककर राम में केन्द्रित करना ही सच्ची

---

[1] 'रटा करि टोप मभा करि बख्तर ग्यान रतन करि खांगि रे'।—कबीर ग्रन्थावली पृ० २०६। तथा—

परभाते तारे खिसहिं, त्यों इहि खिसै सरीरु।
पै दुह अक्खर ना खिसहिं, सो गहि रहा कबीर॥
—वही, पृष्ठ २५६

[2] रैदास जी की बानी, पृष्ठ २६।

[3] माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवां तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥

सुमिरन-विधि है ।[1] सन्त रज्जब का कहना है कि जिस प्रकार कामिनी, शिर में घड़ा रखकर अपनी सखियों से अठखेलियाँ और बात करती चलती है उसी प्रकार हमें अपना मन राम में लगाना चाहिये, तभी हमें अपने कार्य में सफलता मिलेगी ।[2] जब इस प्रकार की सच्ची नाम-रट लग जाती है तब भक्त भगवान् से मिलकर तद्रूप हो जाता है । उसकी इन्द्रियाँ एक मात्र प्रभु में ही केन्द्रित हो जाती हैं और पवित्र अनुभूति के क्षणों में वह पुकार उठता है—

अब कैसे छूटै नाम रट लागी ।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी । जाकी अङ्ग-अङ्ग बास समानी ।।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा । जैसे चितवत चन्द चकोरा ।।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती । जाकी जोति जरै दिन राती ।।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा ।।[3]

उपर्युक्त पद से इस तथ्य का उद्घाटन होता है कि नाम-स्मरण की प्रेम-साधना का वास्तविक उद्देश्य आराध्य की सुरति के साथ अपने को पूर्ण तादात्म्य कर देना है । जिस प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध चन्दन-पानी, मयूर-घन, चन्द्र-चकोर, दीपक-बाती, मोती-धागा और सोने-सुहागे का होता है, उसी प्रकार का मर्मस्पर्शी आभ्यतरिक प्रेम भगवान् के साथ भक्त की नाम-स्मरण साधना का होता है । यह साधना किसी एक निश्चित समय की अपेक्षा नहीं रखती, अपितु साधक के लिये वह उसकी स्वाभाविक दिनचर्या का अङ्ग बन जाती है । वह कहते-सुनते, उठते-बैठते, खाते-पीते, राम का सुमिरन करता रहता है और इसी में उसका आत्म-कमल विकसित होता है ।[4] धनी धरमदास का कथन है कि भाई, नाम-रस की महिमा अद्भुत है । वह आगे-आगे कर्मों को जलाता जाता है और पीछे हरा होता जाता है । उस नाम-वृक्ष की बलिहारी है जो बन्धन की मूल आसक्ति कट जाने पर मुक्ति-फल लाता है । उसका स्वाद अत्यन्त कडुआ और निपट खट्टा है, अनुराग-रस का अभ्यासी ही उसे खा सकता है—इसे हँसी-खेल समझना नादानी है—

सूँघत के बौरा भये, पोयत के मरि जाई ।
नाम रस्स सो जन पिये, धड़ पर सीस न होई ।।

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, सुमिरन को अङ्ग ७६ ।
[2] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५२८ ।
[3] रैदास जी की बानी, पद ८६ ।
[4] दादूदयाल की बानी, भाग १, सुमिरन को अङ्ग ७५ ।

सन्त जवारिस सो जन पावै, जा को ग्यान परकासा।
धरमदास पी छकित भये हैं, और पिये कोइ दासा।

सन्त सुन्दरदास के मत से लेने लायक वस्तु केवल राम नाम है, जप-तप, दान-व्रत सब उन्हें खारे लगते हैं। राम नाम के पीयूष को त्याग कर मूर्ख व्यक्ति विष अपनाते हैं और सबके आगे हाथ पसारते हैं। अतः अपनी सुरति को समेट कर मन-वच-कर्म से सुमिरन में केन्द्रित करना चाहिये। ऐसे भक्त के अधीन भगवान् शीघ्र हो जाते हैं। एक मात्र नाम-स्मरण के द्वारा शील-सन्तोष और जीवन-मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।[१] इस प्रकार नाम-स्मरण का मुख्य उद्देश्य मन को वाह्य प्रपञ्चों से मुक्त कर आभ्यन्तरिक जीवन की सहज स्थिति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करना है।

सन्त कवियों की नाम-स्मरण की साधना एक ऐसी शाश्वत-साधना है जो उनके स्वभाव का अङ्ग बन चुकी है तथा जो कभी निष्फल नहीं जाती। 'मिस्टीसिज्म' की लेखिका कुमारी अण्डरहिल के कथनानुसार 'रहस्यवादी निरपेक्ष सत्ता के साथ किसी गौण रूप से प्रेम नहीं करता और न वह भावावेश में आकर अपने प्रेम का प्रदर्शन करने लगता है। वस्तुतः उसका प्रेम मर्म को निचोड़कर गम्भीरता के साथ प्रत्येक परिस्थिति में समान भाव से विकसित होता हुआ अपने प्रियतम से तादात्म्य स्थापित करने का तीव्राकांक्षी होता है।[२] सुमिरन की स्थिति वह आभ्यन्तरिक अवस्था है, जिसमें साधक अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को अपने आराध्य की ओर उन्मुख कर लेता है। कबीर ने कहा भी है कि मेरा मन राम का स्मरण कर रहा है और मेरा मन राम में ही रमण कर रहा है। अब अवस्था यह है कि मन राम ही बन गया है, फिर मैं किसके सामने मस्तक झुकाऊँ। उसके नाम-सुमिरन में तू-तू करता हुआ मैं तू ही हो गया। मेरा सारा अहम् नष्ट हो गया। मैं बारम्बार तेरे ऊपर न्योछावर होता हूँ क्योंकि अब मैं जिस ओर अपनी दृष्टि डालता हूँ, उधर तू ही तू दिखाई पड़ता है।[3] दादूदयाल की आन्तरिक अभिलाषा है—

अहनिसि सदा शरीर में, हरि चिन्तत दिन जाइ।
प्रेम मगन लय लीन मन, अन्तरगति ल्यौ लाइ॥
निमिष एक न्यारा नहीं, तन-मन मंझि समाइ।
एक अङ्ग लागा रहै, ता कूँ काल न खाइ॥[४]

---

[१] सन्त सुधासार, पृष्ठ ६३५।

[२] इवीलियन अण्डरहिल—मिस्टीसिज्म, पृष्ठ ८५।

[3] कबीर ग्रन्थावली—सुमिरन कौ अङ्ग ८-९।

[४] दादूदयाल की बानी, भाग १, सुमिरन कौ अङ्ग ४१-४२।

नाम-विस्मरण का दण्ड—वे नाम-विस्मरण के दण्ड से भली-भाँति परिचित हैं। जब जीव राम नाम को भुला देता है तब उस पर असह्य मार पड़ती है, मस्तक के ऊपर आरा चलने लगता है तथा वह यम-पाश में बँध जाता है।[1] सिक्ख गुरुओं की दृष्टि में नाम को विस्मरण करने वाले मनुष्य अत्यन्त हेय एवं त्याज्य हैं। वे दीर्घ आयु पाने वाले सर्प के समान हैं। बिना सुमिरन के मनुष्य के सारे कार्य व्यर्थ हैं, कामी कुत्ते के समान् वे विषय रूपी विष्टा में वास करते हैं तथा वेश्या पुत्र की भाँति बिना पिता के व्यंग्य का जीवन जीते हैं।[2] इसीलिये गुरु नानक ने हरिणी, कोयल, मछली अथवा सर्पिणी जिस किसी भी योनि में जन्म लेने पर किसी भी दशा में परमात्मा के नाम-बिस्मरण के अक्षम्य अपराध को न करने की कामना प्रगट की है।[3] इसीलिये कबीर ने जब तक दीपक रूपी शरीर में चेतना की बत्ती जल रही है तब तक निर्भय होकर राम-नाम का जाप करने की सलाह दी है, क्योंकि जब तेल चुक जायगा और बत्ती बुझ जायगी तब तो दिन-रात सोना ही सोना है।[4] इस सुमिरन में स्मरणकर्ता को किसी बाह्य उपकरण की सहायता नहीं लेनी पड़ती। साधक अपने मन को बाह्य प्रपञ्चों से विरत कर अन्तर्मुखी बना लेता है। कबीर के कथनानुसार सुरति के द्वारा स्मरण करते चलो, मुँह खोलने की आवश्यकता नहीं। बाहर वाली खिड़कियों को बन्दकर अन्तर के पट खोलो। साधक को अपनी एक-एक साँस उसी की अनवरत स्मृति में गिरो रख देनी पड़ती हैं। इसी प्रकार के जप को जहाँ उसकी क्रिया स्वतः चलती रहती है—सन्तों ने 'अजपा जाप' की संज्ञा दी है। इसमें जप करने वाले को मुख से शब्दोच्चारण करने की झंझट मोल नहीं लेनी पड़ती और न माला का प्रयोग करना पड़ता है। उसके हृदय और आत्मा पर उसके आराध्य के प्रेम का एकाकी साम्राज्य स्थापित हो जाता है और उसके रोम-रोम से राम-राम की ध्वनि निकलने लगती है। मस्त मलूकदास अजपाजप की इसी अनिर्वचनीय आत्मान्तिक स्थिति में पहुँच कर बड़ी लापरवाही से कहते है :—

माला जपौं न कर जपौं, जिम्या कहौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया विश्राम॥[5]

---

[1] दादूदयाल की बानी—पृष्ठ १२५।

[2] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—सिरी रागु, महला १, पृष्ठ २१।

[3] वही—पृष्ठ १५७।

[4] कबीर ग्रन्थावली—सुमिरन को अङ्ग १०।

[5] मलूकदास जी की बानी—पृष्ठ ३६।

नाम-सुमिरन की यह साधना पूर्ण निष्काम भाव से चलती है। इसमें साधक बदले में किसी वस्तु के पाने की कामना नहीं करता, क्योंकि उसे अपने प्रियतम के नाम-स्मरण में एक सहज आनन्द की उपलब्धि होती रहती है। वह अपने प्रिय के सिवा किसी दूसरी वस्तु को पाने की स्वप्न में भी कामना नहीं करता। कबीर ने यही कहा कि हे स्वामी ! मैं केवल तुझे चाहता हूँ, केवल तुझे। नानक भाव-विभोर होकर कहते हैं कि हे कर्ता ! तू मेरा यजमान है और मैं तुझसे अपनी दक्षिणा के रूप में तेरा नाम माँगता हूँ।[1] और दादू की निश्शेष भाव से स्वयं को अर्पित कर देने वाली भावना की वाणी है—

तन भी तेरा, मन भी तेरा, तेरा पिण्ड परान।
सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान॥

सत्सङ्गति—सन्त कवियों ने सत्सङ्गति को भक्ति-प्राप्ति के एक आवश्यक सोपान के रूप में ग्रहण किया है। यह साधक को अध्यात्म-पथ में प्रशस्त करने की एक अनिवार्य प्रेरणा है। साधुओं के साथ सम्पर्क होने से एक ऐसे भव्य वातावरण की सृष्टि होती है जिससे चतुर्दिक् आध्यात्मिकता की किरणें फूट निकलती हैं। साधु पुरुष दिक् और काल के बन्धन को तोड़कर मुक्त हस्त से इस प्रकाश का दान करते रहे हैं। योगिराज अरविन्द के विषय में प्रसिद्ध है कि वे एक छोटी चौकी पर बैठ जाया करते थे और जिज्ञासुओं की सारी शङ्काओं का समाधान उनके पास से जाते हुए उनकी दृष्टि मात्र से स्वतः हो जाया करता था। सत्सङ्गति से अमूल्य आध्यात्मिक निधि की प्राप्ति होती है, इसीलिए कबीर भगवान् के अतिरिक्त भक्त के सम्पर्क की कामना करते हैं क्योंकि भगवान् मुक्ति के दाता हैं तो भक्त, भगवान् के नाम का स्मरण कराने वाला—

मेरे सङ्गी दोइ जणां, एक वैष्णौं एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥[2]

साधु की सङ्गति कभी निष्फल नहीं जाती। जिस प्रकार चन्दन का वृक्ष अपने आसपास कडुवे वृक्षों को सुगन्धि एवं शीतलता प्रदान कर अपने समान बना लेता है, उसी प्रकार सन्त जन भी अपने निकट वाले कलुषित व्यक्तियों का अद्भुत आध्यात्मिक परिष्कार कर डालते हैं। इसी से कबीर शीघ्र जाकर साधु पुरुष का साथ करने के लिये कहते हैं क्योंकि सत्सङ्गति से दुर्मति का निवारण होकर सुमति का सञ्चार होता है। चाहे कोई मथुरा जाये, चाहे द्वारिका या जगन्नाथ पुरी, किन्तु बिना सत्सङ्गति एवं भगवद्भक्ति के कहीं भी कुछ हाथ

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, महला १, पृष्ठ ७१६।

[2] कबीर ग्रन्थावली—साध कौ अङ्ग ४।

नहीं लगता। कबीर राम को प्राप्त करने के लिए बन-बन घूमते रहे परन्तु राम के ही समान जब उन्हें राम के भक्त मिल गये तो उनकी सारी कामनाएँ पूरी हो गईं। इसीलिए उनका स्पष्ट कथन है कि जिस दिन सन्तों के दर्शन हों, वही दिन अच्छा है। सन्त को आत्मीयता के साथ पाश में भरकर भेटना चाहिए। उसके स्पर्श मात्र से शरीर की सारी कलुषता मिट जाती है।[१] गुरु-वाणी है कि जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, उसी प्रकार पापी भी सत्सङ्गति से शुद्धात्मा बन जाते हैं। जिस प्रकार काठ के साथ लोहा भी पार हो जाता है, उसी प्रकार सन्तों के सान्निध्य से पापियों का भी उद्धार हो जाता है।[२] क्योंकि किसी से शत्रुता न करना, निष्काम रहना, प्रभु से प्रेम करना एवं विषयों से पृथक् रहना, ये सन्त स्वभाव की स्वाभाविक आचारावली है।[३] वे धरती की भाँति धैर्यशील, आकाश की भाँति विकार-शून्य, सूर्य-चन्द्र की भाँति समदर्शी तथा अग्नि के समान परोपकारी होते हैं।[४] इसीलिए सन्त की देह निराकार के दर्पण की भाँति कही गई है, अलख को वहीं लखा जा सकता है। सन्त दादूदयाल ने साधुजन को इस भव-जाल के बीच नौका के समान कहा है। जिन लोगों ने सन्त-तरणि का आधार ग्रहण किया, वही पार उतर सके। यही नहीं, सत्सङ्गति से परमपद तक हमारे निकट आ जाता है, वहाँ हम सहज-भाव से पहुँच सकते है, उनकी सङ्गति कभी निष्फल नहीं जाती।[५] साधुओं का जहाँ निवास होता है, वह स्थान बैकुण्ठ के समान है।[६] दादू ने इसीलिए कहा है—

> साध नहीं जल राम रस, तहाँ पखाले अङ्ग।
> दादू निर्मल मल गया, साधूजन के सङ्ग॥
>
> —दादूदयाल की बानी १—साध कौ अङ्ग ११

साधुओं की अमृत-वाणी का श्रवण कर एवं उनका शुभ दर्शन कर त्रिविध तापों का शमन हो जाता है। जिस दुर्लभ रस की कामना करते हुए बड़े-बड़े मुनि मर जाते हैं और देवता तथा मनुष्य ललचाते रहते हैं उस राम रस को सत्सङ्गति से सहज ही पाया जाता है। इस विषय-ताप-तापित मन को चन्द्रमा,

---

[१] वही—साध कौ अङ्ग १-३, ५, ६।

[२] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, कानड़ा, महला ४, पृष्ठ १२६७।

[३] कबीरग्रन्थावली साध साषीभूत कौ अङ्ग १।

[४] श्री गुरुग्रन्थ साहिब—मारू, महला ५, पृष्ठ १०१८।

[५] दादूदयाल की वाणी, भाग १, साध कौ अङ्ग ५,१४।

[६] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, सूही, महला ५ पृष्ठ ७४२।

चन्दन और स्वर्ग तक में शीतलता नहीं मिल सकती। यदि कहीं सम्भव है तो साधु की शीतल सङ्गति में—

राम मिलन के कारणे, जे तू खरा उदास।
दादू सङ्गति सोधि ले, राम उन्हीं के पास ॥[1]—दादू

गुरु अर्जुनदेव ने सत्सङ्गति की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि इससे ज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे परमात्मा निकट प्रतीत होने लगता है। सारे बन्धनों से मुक्ति मिलकर नामरूपी रत्न की उपलब्धि होती है। माया के आकर्षण समाप्त हो जाते हैं, सारी दौड़-धूप के मिट जाने से अनुपम शांति एवं स्थिरता आ जाती है।[2]

आत्मनिवेदन—भक्ति के अन्य साधनों में आत्मनिवेदन का अपना एक अनिवार्य महत्व है, क्योंकि इसमें भक्त और भगवान् के बीच का सारा भेद-भाव दूर हो जाता है। वह अपने आराध्य के समक्ष अपना हृदय खोलकर रख देता है और प्रभु के समक्ष स्वयं को निरावरण करते समय अजस्र अश्रुपात से उसके अन्तर का सारा कलुष धुल जाता है। कभी वह गद्गद कण्ठ से भगवान् के गुणों और उनकी पतितपावनी उदारता का बखान करता है तो कभी अपनी दीनता, असमर्थता और कलुषता को। इससे भक्त के हृदय में पवित्रता एवं प्रभुपरायणता की भावना का विस्तार होता है तथा आत्मनिरीक्षण करते-करते उसे अपने मूल स्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है। मानस-मन्थन के कारण पवित्रता का जो नवनीत ऊपर उठ आता है और उसकी स्निग्धता से उसमें एक अनुपम दिव्यत्व आ जाती है। दिव्यता के इस अखण्ड आनन्द-भवन में पहुँचकर वह सब प्रकार की सांसारिक विषमताओं से परे हो जाता है क्योंकि सर्वत्र प्रभु की ही सत्ता व्याप्त होने से मन में किसी द्वेष या दुराव के लिए गुञ्जायश ही नहीं रह जाती। आत्म-निवेदन या विनय भक्ति की भूमिका के आठ भाग माने गये हैं, जिसकी अभिव्यक्ति कबीर ग्रन्थावली के उल्लिखित पदों में मिलती है :—

दीनता—पद ३०५। मानमर्षण—पद ३४२। भयदर्शन—३६८। भर्त्सना—पद ४०१। मनोराज्य—पद ३७२। आश्वासन—पद ३६२। विचारणा—पद ४०२। पश्चात्ताप—पद २४३।

इसके अतिरिक्त भक्ति के अन्य साधनों में गुरु की सेवा, भगवान् की कृपा, श्रद्धा-विश्वास, सदाचरण, सत्य का आचरण और सहजशील की गणना की जा

[1] दादूदयाल की वाणी, भाग १, साध कौ अङ्ग ३४, ३७, ११५।
[2] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, गउड़ी सुखमनी, पृष्ठ २७१-७२।

सकती है। इस सहजशील की स्थिति में पहुँचकर साधक में एक ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि वह संसार में रहता हुआ भी पूर्ण आध्यात्मिक हो जाता है।

भक्ति की सिद्धि—भक्ति के निष्काम होने के कारण उसकी सिद्धि का प्रश्न उठाना ही असङ्गत है, उसकी कोई सिद्धि नहीं, वह स्वतः सिद्धि है। किन्तु भक्ति को एक साधना के रूप में स्वीकार करने पर पूर्ण निष्काम भावना को उसकी उच्चतम भूमिका के रूप में ग्रहण करना होगा। भले ही निष्काम भक्त विनिमय में कुछ न चाहे किन्तु उसकी साधना कभी निष्फल नहीं जाती। इसी भगवद्भक्ति रूपी अमृत-रस का पान कर आत्मा की साधना-यात्रा की सारी श्रान्ति-क्लान्ति दूर हो जाती है और जीवात्मा जन्म-जन्मान्तरों के चक्र में कुम्भकार के कलश की भाँति चढ़ने से छुट्टी पा जाती है—

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पावन कलस कुम्भार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥[1]

●●●

[1] कबीर ग्रन्थावली—रस कौ अङ्ग १।

प्रकरण ५

क- प्रेम —पूर्ववर्त्ती परम्परा और प्रवृत्तियाँ

प्रेम : एक सहज प्रवृत्ति—प्रेम प्राणि-मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हिंस्र सिंहिनी जब अपने नवजात शावक को स्तन-पान कराती है उस समय उसकी क्रूर दृष्टि से पुत्र-वात्सल्य की स्निग्ध पयस्विनि प्रवाहित होने लगती है। कपोत-दम्पतियों का तो पारस्परिक आहारग्रहण का आदान-प्रदान दर्शनीय होता ही है। प्रेम की यह सहजात वृत्ति पशुपक्षियों से लेकर मानव-जाति तक अनेक स्तरों में अपना कार्य-व्यापार करती रहती है। इसमें त्याग और आत्मीयता की जितनी मात्रा है उसी के अनुसार इसके रूप का निर्धारण होता है। क्षुधार्त रन्तिदेव के इक्कीस दिन तक भूखे रहने पर भी करस्थ थाल को मानवता के नाते चाण्डाल को अर्पित कर देने की कथा हम अपने धर्मग्रन्थों में पढ़ते आये है और दूसरी और दुर्भिक्ष काल में ऐसे भी लोम-कम्पित दृश्य देखने को मिल जाते हैं कि पेट की प्रबल जठराग्नि को शान्त करने के लिए भिक्षुणी माँ ने अपने लाल को ही ग्रास बना लिया। इस प्रकार आन्तरिक परिष्कार के साथ ही प्रेम के स्तर-भेदों में उच्चता एवं परिष्कृति की भावना आती है। मानव-मन में प्रेम का स्फुरण नैसर्गिक रूप में होता है और एक अनोखी आत्मीयता एवं त्याग संवलित भावना से युक्त होकर वह अपने को क्रमशः अधिक विस्तृत एवं प्रगाढ़ बनाता जाता है। प्रेम में कुछ ऐसा चमत्कारी प्रभाव होता है कि इस रस का भोक्ता मात्र आस्वाद-अनुभूति से तृप्त न होकर इसकी अभिव्यक्ति से दूसरों को भी रस-स्नात कर देने के लिए लालायित रहता है और जब तक वह 'स्वानुभूति' को 'सहानुभूति' में परिवर्तित एवं प्रसारित नहीं कर देता तब तक एक अनजाने भार से आक्रान्त रहता है। हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति के पश्चात् उसे परम विश्राम की सी कथनातीत तुष्टि मिलती है।

प्रेमाख्यानों की पौराणिक परम्परा—यही कारण है कि प्रत्येक देश का साहित्य प्रेमपूर्ण आख्यानों या कहानियों से परिपूर्ण है। इन प्रेमाख्यानों की परम्परा अति प्राचीन है, लोक-प्रियता की दृष्टि से भी ये कम सौभाग्यशाली नहीं। ये प्रायः वर्णनात्मक इतिवृत्तों के रूप में होते हैं और किसी प्रमुख पात्र के द्वारा 'आत्मपरक' (आप-बीती) शैली में कहे जाते हैं। समय-समय पर सामाजिक विकास के साथ इनके रूप-विधान में भी परिवर्तन होता रहता है। कभी कभी-अनेक प्रक्षिप्त अंशों के जुड़ जाने से इनके मूल स्वरूप में भी किञ्चित् विकार आ जाता है। प्रेमाख्यानों का प्रमुख विषय किसी पुरुष या स्त्री का क्रमशः किसी अन्य सुन्दरी या

सुन्दर पुरुष पर गुण-श्रवण, प्रत्यक्ष-दर्शन तथा चित्र या स्वप्न-दर्शन के माध्यम से प्रेमासक्त हो जाना होता है। उसकी प्राप्ति की दिशा में जो भी बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उसको वह सहर्ष झेलता है। अपने प्रिय का क्षणिक विरह भी उसे असह्य हो उठता है और कभी-कभी उसे उन्माद की स्थिति में पहुँचा देता है। प्रिय-प्राप्ति के लिए प्रेमी यन्त्र-मन्त्र तथा जादू-टोने का भी व्यवहार करने में नहीं चूकता। कभी-कभी तो निम्नकोटि के कामान्ध प्रेमियों के द्वारा छल-कपट, षड्यन्त्र एवं हत्यादिक पैशाचिक कर्म तक किये जाते हैं। प्रेमाख्यानों का समापन प्रेम-पात्रों की उपलब्धि के पश्चात् विवाह सम्बन्ध के सम्पन्न हो जाने पर होता है। भारतीय प्रेमाख्यानों की 'पद्मिनियाँ' तो पातिव्रत-धर्म का पूर्ण पालन करती हुई अपने पति के (पराजय के) साथ सती होकर अपने आदर्श प्रेम-धर्म का निर्वाह करती हैं। भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा वेदों के समय से प्रारम्भ होती है। 'ऋग्वेद' के दशम मण्डल वाले ९५ वें सूक्त में उर्वशी पुरूरवा का प्रेमाख्यान वर्णित है जिसे समस्त विश्व के प्रेमाख्यानों में प्राचीनतम माना गया है।[1] इसी मण्डल के दशम सूक्त में 'यम और यमी' नामक प्रेमाख्यान का परिचय मिलता है जिसमें यमी अपने सगे भाई यम से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने को आमन्त्रित करती है। किन्तु यम शाश्वत नियमों के विपरीत आचरण करने को निषिद्ध ठहराता है। फलतः यमी क्रुद्ध होकर उसे कायर और निर्बल तक कह डालती है। पौराणिक प्रेमाख्यानों में 'नलोपाख्यान' विशेष प्रसिद्ध है जो 'महाभारत' के वन पर्व वाले ५३ वें अध्याय से लेकर ७८ वें अध्याय तक चलता है। नलोपाख्यान के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध पौराणिक प्रेमाख्यान 'शकुन्तलोपाख्यान' है जो महाभारत के —अध्याय ८८-९४ में उल्लिखित है। इसी लघु आख्यान के आधार पर महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की रचना की है। पौराणिक साहित्य के प्रेमाख्यानों में 'हरिवंश पुराण' में वर्णित उषा एवं अनिरुद्ध की प्रेम-कथा भी कम प्रसिद्ध नहीं है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी की प्रेम-कथा 'विष्णु पुराण' और 'हरिवंश पुराण' में अङ्कित है। इस प्रकार 'महाभारत' को अनेक प्रेमाख्यानों का वृहत्कोश कहा जा सकता है।

वैदिक प्रेमाख्यानों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और जो प्राप्त भी हैं वे प्रायः अस्पष्ट और अपूर्ण है। पौराणिक प्रेमाख्यानों की रचना या तो वास्तविक घटनाओं के आधार पर की गई प्रतीत होती है अथवा वह किसी न किसी लोक-परम्परा से सम्बद्ध रही है। इन आख्यानों की संख्या भी निरन्तर बढ़ती गई है और इनमें सामयिक प्रभावों के साथ-साथ परिष्कार भी आता गया है। इस काल के प्रेमाख्यान अधिक स्पष्ट, रोचक और विस्तृत हैं। उनमें प्रेम-भाव के

[1] श्री एन० एम० पिञ्जर—द ओसन आव् स्टोरी, लन्दन १९२४, पृष्ठ २४५।

उद्दीपन के लिए प्रत्यक्ष दर्शन के अतिरिक्त चित्र-दर्शन एवं स्वप्न-दर्शन को भी समाविष्ट किया गया है तथा सन्देशादि के लिए हंसादि पक्षियों को दूत बनाया गया है। कतिपय प्रेमाख्यानों में शुद्ध दाम्पत्य सम्बन्ध का निर्वाह बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है।

लोकगाथात्मक प्रेमाख्यान—राजस्थानी लोकगीतों में वर्णित 'ढोला-मारू' की कथा अपनी रोचकता एवं तीव्रता में आज भी मौखिक-परम्परा से युक्त होकर ग्राम्य-चर्या की शीत-रात्रियों का शृंगार बनी हुई है। अपनी अनुपम विशेषता के कारण इसके विभिन्न रूप हो गये हैं, उदाहरणतः छत्तीसगढ़ी और ब्रजभाषा रूप। वातावरण एवं देश काल के अनुसार इन रूपों में विकृति आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार की एक अन्य प्रेम-कथा लोरिक और मैनावती की है जिसका प्रसार सुदूर बङ्ग देश तक है। इसके भी छत्तीसगढ़ी, दक्षिणी और भोजपुरी रूप प्रचलित हैं। छत्तीसगढ़ी में यही 'लोरिक' और 'चदैनी' की प्रेम-कहानी के नाम से प्रसिद्ध है। बुन्देलखण्ड में प्रचलित ढोला-मारू की कथा का रूप ब्रजभाषा वाली कथा के समान है। इसी प्रकार मुल्ला दाऊद की 'सूफी प्रेम-गाथा' तथा 'चंदायन' का 'लोरक-चन्दा' भी अनुमानतः लोरिक और चन्दा की प्रेम-कहानी पर आधारित है।

सूफ़ी कवियों ने प्रायः विभिन्न जनपदों में प्रचलित लोक-गाथाओं एवं प्रेम-कथाओं को विषय बनाया। उदाहरण के लिए जायसी के प्रसिद्ध प्रेम-काव्य 'पद्मावत' के मूल कथानक के रूप की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है। स्व० पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के कथनानुसार—"पद्मावत की कथा का कलेवर इन ऐतिहासिक तथ्यों पर खड़ा किया गया है कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर छः मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया, वहाँ का राजा रत्नसेन इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि कई सामन्तों सहित मारा गया, उसकी रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी। इस प्रकार चित्तौड़ पर थोड़े समय के लिये मुसलमानों का अधिकार हो गया। बाकी बहुधा सब बातें कल्पना से खड़ी की गई हैं।...यहाँ तक कि सिंहलद्वीप में गन्धर्व सेन नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ।[१]" पद्मावती की प्रेम की ही भाँति एक अन्य प्रेम-कहानी 'सदयवत्स सावलिङ्गा' के नाम से प्रख्यात है। इस प्रेम-गाथा का प्रचार गुजरात, राजस्थान एवं पञ्जाब की ओर विशेष है। उत्तर भारत के गाँवों में यह 'सदाब्रज सारङ्गा' के नाम से बड़े चाव से पढ़ी जाती है। इसी प्रसङ्ग में एक

[१] पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा—राजपूताना का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ४९५, ४९१।

अन्य प्रेम-कहानी 'माधवानल काम-कन्दला' की चर्चा भी आवश्यक है जिसका स्वरूप हिन्दी की लोक-कहानियों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त पञ्जाबी प्रेमाख्यान 'हीर रांझा' एवं पूरन भगत की कथा देश-काल की सीमा तोड़कर प्रेमियों का कण्ठहार बनी हुई है। सूफी प्रेमाख्यानों में मुल्लादाऊद की 'चन्दायन' अथवा 'लोरक व चन्दा', शेख कुतबन की 'मिरगावति', जायसी की 'पद्मावत', नूर मुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' तथा अभारतीय परम्परा में पोषित 'लैला-मजनूँ', 'यूसुफ़-जुलेखा,' 'शीरी-फ़रहाद' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार प्रेमाख्यान का प्रमुख विषय अत्यन्त व्यापक एवं विश्वजनीन होने के कारण उसका वास्तविक रूप केवल एक ही हो सकता है जिसमें प्रेमी एवं प्रेमिका के बीच एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता का आकर्षण होगा, दोनों में से कोई भी एक दूसरे से विमुक्त होकर अधीर और बेचैन हो उठेंगे और सब एक साथ बने रहने की चेष्टा किया करेंगे। हो सकता है कि इस प्रवृत्ति के भीतर काम-वासना भी काम करती हो। यह भी सम्भव है कि इसके कारण दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, अथवा प्रबल विरोध का हिंसात्मक भाव तक जागृत हो उठे जिससे कि उन दो व्यक्तियों की प्रेम कहानी के अन्तर्गत अरुचिकर घटनाओं का भी सम्मिश्रण हो जाय तथा कभी-कभी भयङ्कर विघ्न बाधाओं के आ जाने से उसमें कष्ट अथवा मार्मिक वेदना के प्रसङ्ग भी समाविष्ट किये जाने लगे। किन्तु इनसे उनके प्रेमव्यापारात्मक रूप में कोई अन्तर नहीं आ सकता। ऐसी बातें प्रायः प्रेमियों की अग्नि-परीक्षा लेने, उनकी ऐकान्तिक निष्ठा को दृढ़तर रूप प्रदान करने तथा प्रेम भाव के शुभ उज्ज्वल रूप के चित्रण के लिये, उपयुक्त रङ्गीन पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये प्रस्तुत कर दी जाती हैं। इनके द्वारा उसका स्वरूप अधिक उभरता और निखरता है तथा इनके आ जाने से उसकी कहानी अधिक सरस भी बन जाती है।[१]

सूफ़ियों की प्रेम-गाथाओं की उल्लेखनीय विशेषता अभारतीय कथानकों में भी यथासाध्य भारतीय वातावरण का निर्वाह है। काल्पनिक मूल-स्रोतों अथवा लोक-गाथाओं पर आधारित आख्यानों के विभिन्न रूपान्तर अनेक भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध हैं। इन प्रेमाख्यानों का स्वरूप प्रायः 'इतिवृत्तात्मक' है। जिनका उद्देश्य 'मन बहलाव' अथवा किसी मत-विशेष की मान्यताओं का प्रचार है, अतः इतिवृत्तात्मकता के साथ-साथ 'मनोरञ्जनात्मक' भी इनका एक विशिष्ट गुण है। इनमें वात्सल्य-भाव का चित्रण न होकर यौन-भावनाओं से सम्बन्धित दाम्पत्य-भाव की प्रगाढ़ प्रेमाशक्ति का चित्रण मिलता है।

●●●

[१] पं० परशुराम चतुर्वेदी—भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, पृष्ठ १३५।

ख—सूफ़ी-सम्प्रदाय में इश्क़

सूफ़ी और इश्क़—सूफ़ियों की साधना वस्तुतः इश्क (प्रेम) की साधना है। मारिफत के भावावेगमय रूप का ही नाम प्रेम है। सूफ़ियों का यह प्रेम प्रच्छन्न के प्रति है जो बहुत कुछ व्यक्तिगत रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित है। ईश्वर को प्राप्त करने के जितने साधन बताये गये हैं उनमें प्रेम का स्थान सर्वोच्च है। अबू तालिब का कथन है कि प्रेम से परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन होता है और उसके स्वरूप का परिचय मिलता है। सूफ़ी-साधक अलशिबली के कथनानुसार प्रेम हृदय में अग्नि के समान है जो परमात्मा की इच्छा के सिवा अन्य सभी वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देता है। सूफ़ी-मत की साधना-पद्धति प्रेम पर ही आश्रित है। चित्त की रति रूप रागात्मिका वृत्ति ही प्रेम का रूप धारण करती है। समस्त विश्व उसी प्रेम का परिणाम है। यह दृश्यमान जगत् असत् के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली परम प्रभु की प्रतिच्छवि है। सृष्टि के कण-कण में उसकी रूप-श्री बिखरी हुई है, इसी सौन्दर्य-विभूति में सूफ़ी स्वयं को न्यौछावर कर देता है। वह परमात्मा के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा उससे 'एकमेक' होने के लिये निरन्तर तीव्रभाव से उत्कण्ठित रहता है।

सूफ़ियों की दृष्टि में इस दृश्यमान जगत् में परिव्याप्त एक मात्र वही सत्य है। जामी के कथनानुसार 'वह अद्वितीय, अगोचर, अपरिमित, अपेक्षा-रहित और नानात्व से परे अल-हक्क (परम सत्य) है। वही अपने नानात्व एवं अनेकत्व में समस्त सृष्टि में स्वयं को व्यक्त कर रहा है। वही एकमात्र परम सत्ता है, शेष तो सब मृगतृष्णा है। समस्त जगत् को मुग्ध करने वाला उसका सौन्दर्य अपनी पूर्णता को प्रकाशित करने के लिये सहस्रों दर्पणों में प्रतिभासित हो रहा है। सृष्टि के रोम-रोम में वह अपना जल्वा (सौन्दर्य) दिखा रहा है। परमात्मा ही के माधुर्य की विभूति रूप के रूप में अणु-अणु में छिटक रही है। अतः जहाँ रूप है, वहीं प्रियतम का विलास है। वहीं हमें अपने प्रेम को जगाना है। नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य उसी के सौन्दर्याकर्षण से खिचे उसकी ओर चले जा रहे हैं। उसका विरह-वाण सारे संसार को बेध रहा है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच जो एक बहुत बड़ा व्यवधान आ गया है, उसका स्पष्टीकरण इमाम गजाली द्वारा एक हदीस में करते हुए कहा गया है कि अल्लाह सत्तर हजार प्रकाश और अन्धकारमय पर्दों के भीतर है। यदि वह इन आवरणों को हटा दे और उसका

कोई 'दीदार' कर ले तो वह उसी में रम जायगा। उसके भीतरी पर्दे तो प्रकाश के हैं और दूसरे अन्धकार के। जीवात्मा परमात्मा की ओर जब अग्रसर होता है तब उसे सात मञ्जिलें पार करनी पड़तीं है। प्रत्येक मञ्जिल में वह दस हजार पर्दों को पार करता है। सातवीं मञ्जिल में क्रमशः पहुँचकर वह आत्मा अपने समस्त इन्द्रियगत और भौतिक गुणमूलक अस्तित्व से परे होकर परमात्मा के साथ 'वस्ल' हासिल करता है।

इश्क़-भावना की प्रमुखता—सूफ़ी परमात्मा को प्रियतम कहकर पुकारते हैं और उसके इश्क (प्रेम) में पागल बने घूमते रहते हैं। जब प्रियतम के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी नहीं दिखाई देता और वे अपने माशूक (प्रियतम) में सर्वस्व अहम्भाव समर्पित कर तल्लीन हो जाते हैं तब उन्हें शाश्वत 'बक़ा' का आनन्द मिल जाता है। सूफ़ी आध्यात्मिक प्रेम की उपलब्धि के लिये सांसारिक प्रेम को सोपान के रूप में ग्रहण करते हैं। वे इन्द्रियों द्वारा गृहीत सौन्दर्य को उसी अनन्त सौन्दर्यशाली की एक छटा मानते हैं तथा यत्र-तत्र जो कुछ भी देखते हैं उसमें उनको अपने प्रियतम का सौन्दर्य दिखाई देता है। सूफ़ी साधक स्वयं को पूर्णतया समर्पण कर देने में ही अपनी चरम सार्थकता मानते हैं। आन्तरिक प्रेम-निवेदन सूफियों की आध्यात्मिक जीवनरूपी यात्रा (सफ़र) का एक आवश्यक पाथेय है। सूफ़ी साधक अबू अब्द अल्लाह अल-कुरशी का कथन है कि प्रेम वही है जिसमें परम प्रियतम परमात्मा पर अपना सब कुछ समर्पित कर देना पड़ता है और उसके बाद अपना कहने के लिये साधक के पास कुछ नहीं रह जाता। इस प्रकार 'अहं' का पूर्ण विसर्जन कर चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रेम के अतिरिक्त सूफ़ियों को एक भी साधन ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो उनको मञ्जिल तक 'बक़ा' की स्थिति में पहुँचा दे।

तसव्वुफ़ का सारा महल ही इश्क की बुनियाद पर टिका हुआ है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि वासना, भावना किम्वा धारणा के प्रतिपादन में सूफ़ी चाहे जितना तर्क करें, पर अन्तःकरण से वे सर्वदा प्रेम के पुजारी और इश्क के कायल हैं। इश्क के आधार पर ही उनका सारा श्रेय निर्भर है। प्रेम के पुल पर चलकर ही सूफ़ी भवसागर पार करते हैं। यही उनका अमोघ अस्त्र या परम साधन है।[१] सूफ़ियों का दृढ़ विश्वास है कि प्रेम ही सब रसों का मूल है। 'इश्क' की सर्वव्यापी इयत्ता एवं महत्ता पर प्रकाश डालते हुए एक सूफ़ी के काव्यात्मक उद्गार है—

---

[१] श्री चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, पृष्ठ ९५।

"अगर इश्क़ न होता, इन्तजाम आलमे सूरत न पकड़ता। इश्क़ के बग़ैर ज़िन्दगी बवाल है। इश्क़ को दिल दे देना कमाल है। इश्क़ बनाता है, इश्क़ जलाता है। दुनियाँ में जो कुछ है, इश्क़ का जलवा है। आग इश्क़ की गर्मी है। हवा इश्क़ की बेचैनी है। पानी इश्क़ की रफ्तार है, खाक इश्क की क़ियाम है। मौत इश्क़ की बेहोशी है, जिन्दगी इश्क़ की होशियारी है, रात इश्क़ की नींद है, दिन इश्क़ का जागना है। मुसलिम इश्क़ का जमाल है, क़ाफिर इश्क़ का जलाल है, नेकी इश्क़ की कुरबत है, गुनाह इश्क़ की दूरी है, बहिश्त इश्क़ का शौक़ है।[१]" प्रसिद्ध सूफ़ी अज-हुजवीरी ने कहा है कि परमात्मा के प्रेमी के पास इच्छा नाम की कोई भी भली-बुरी वस्तु शेष नहीं रह जाती क्योंकि जो परमात्मा का प्रेमी है, उसके लिये परमात्मा के सिवा कोई भी वस्तु अभीप्सित नहीं होती। प्रसिद्ध है कि जब प्रख्यात सूफ़ी-साधिका राबिया से परमात्मा से प्रेम और शैतान से घृणा करने की बात पूछी गई तो उसने सरल भाव से कहा कि परमात्मा के प्रेम ने उसके हृदय में शैतान से घृणा करने के लिये जगह ही नहीं छोड़ी। इस प्रकार प्रेम के आलोक में सूफ़ी साधक परमात्मा के वैभव एवं ऐश्वर्य को देखता हुआ मारिफ़ (ज्ञान) की प्राप्ति करता है। ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर प्रेम की समाप्ति नहीं हो जाती अपितु दोनों अपने विशुद्ध रूप में बने रहते हैं। अलसर्राज का कथन है कि परमात्मा से सचमुच वही प्रेम कर सकता है जिसे विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाय और जो सचमुच उससे प्रेम करता है, वही वस्तुतः उसका ज्ञान प्राप्त कर चुका है।

सूफ़ियों का चरम लक्ष्य—सूफ़ियों का चरमलक्ष्य 'अलहक्क' के साथ पुनः 'एकत्व' प्राप्त करना है। उनका विश्वास है कि वज्द (भावावेशमयी स्थिति) ही एक ऐसी स्थिति है जिसमें आत्मा, परमात्मा में मिलकर 'एकत्व' प्राप्त कर सकती है। अमरबिन उस्मान अलमक्की के कथनानुसार यह स्थिति अभिव्यक्ति से परे है क्योंकि यह परमात्मा और उस पर सच्चा ईमान लाने वालों के बीच का रहस्य है। सादी ने इसकी सहज भाव से व्याख्या करते हुए कहा है कि "एक दरवेश से उसके अन्य साथियों ने व्यंग्य करते हुए पूछा कि उस आनन्द की फुलवारी से लौटकर वह कौन-सा उपहार ले आया है। दरवेश ने जवाब दिया कि उस गुलाब की झाड़ी (परमात्मा का दर्शन) के पास पहुँचकर उसकी इच्छा हुई कि बहुत से गुलाब के फूल तोड़ कर ले चलूँ जिसमें कि अपने साथियों को उपहार दे सकूँ, लेकिन जब मैं वहाँ था तब लाब की झाड़ी की खुशबू से इतना मस्त हो गया

---

[१] श्री चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ़ और सूफ़ीमत, पृष्ठ ११६ से साभार उद्धृत।

कि मेरी पोशाक की खूँट जिसमें मैं फूलों को बाँधना चाहता था, मेरे हाथ से छूट गई। जिसने परमात्मा को जान लिया है उसकी जिह्वा में शक्ति नहीं रह जाती कि वह कुछ कह सके।[1]" इस प्रकार भावावेशमयी स्थिति के द्वारा साधक परमसाध्य का साक्षात्कार कर सकने में समर्थ हो जाता है। साधक बहुत आयास के बाद इस स्थिति को प्राप्त करता है, तदनन्तर अनुपम उल्लास की अवस्था में रहता हुआ परमात्मा से एकत्व भाव ग्रहण कर संसार से पूर्ण विरक्त हो जाता है। फिर आगे की मञ्जिलें पार करने पर उसके उल्लास एवं भावावेश का ऊफान स्थिरता पा जाता है और उसमें समाधि की सी शान्ति आ जाती है। भावोल्लास (वज्द) के पश्चात् प्राप्त होने वाली 'वुजूद' की स्थिति (अर्थात् परमात्मा की सत्ता में स्थिति) को सूफी परम प्रभु की कृपापूर्ण देन मानते हैं। साधक परमात्मा के नामस्मरण, ध्यान एवं उपासना में एक अनुपम सुख एवं उत्कट प्रेम का अनुभव करता है, उसके अन्तर का समस्त परिताप अविरल अश्रुपात से निकल कर उसे हल्का बना देता है। कभी वह नाम-रट के साथ किसी अदृश्य छवि-श्री को एकटक देखता हुआ मुस्कराने लगता है और कभी जड़ीभूत हो जाता है। उन्माद की इस अवस्था में पहुँचकर समस्त सांसारिक व्यापारों एवं विषयों से वह विरक्त हो जाता है एवं परमात्मा की सत्ता में इस भाव से घुल-मिल जाता है कि उसका अपने प्रियतम से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

फ़ना और बक़ा—फना सूफ़ी साधक जब समस्त आसक्तियों एवं द्वन्द्वों से अतीत होकर परमात्मा में अपने को लीन कर देता है एवं उसकी अहं की चेतना का पूर्ण तिरोभाव हो जाता है, उस समय वह हर्ष-विषाद से परे हो जाता है। उसकी सारी वासनाओं, और इच्छाओं का अवसान हो जाता है तथा वह अपने प्रियतम में रमण करता हुआ सब प्रकार से निश्चित हो जाता है। निकल्सन ने फ़ना को परिभाषा का परिधान पहनाते हुए कहा है कि "फ़ना आत्मा की वह उन्नत स्थिति है जिसकी पृष्ठभूमि में पहुँचकर उसकी सारी आकांक्षाएँ एवं आसक्तियाँ मिट जाती हैं और इस प्रकार आत्मा स्वचिन्तन से विरत होकर स्वयं परम प्रियतम के चिन्तन का केन्द्र बन जाता है तथा प्रेमी और प्रेमाराध्य का सारा अन्तर दूर होकर दोनों में ऐक्य भाव आ जाता है।[2]"

सूफ़ियों की दृष्टि में आध्यात्मिक जीवन एक यात्रा (सफ़र) है तथा अध्यात्म-पथ पर चलकर प्रियतम को पाने की चेष्टा करने वाले को वे 'सालिक' कहते हैं।

---

[1] श्री रामपूजन तिवारी—सूफी मत : साधना और साहित्य, पृष्ठ ९३।

[2] आर० डी० निकल्सन—द आइडिया आव् परसनालिटी इन सूफ़ी इज़्म, पृष्ठ १८।

साधक अपने समस्त दुर्गुणों का त्याग करता हुआ, निष्कलुष आत्मा से इस पथ पर प्रयाण करता है तथा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता हुआ अपनी आत्मा का लय कर 'फ़ना' की स्थिति में पहुँचता है। लेकिन 'फ़ना' जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है, उसकी मञ्जिले-मकसूद नहीं है। इसके बाद भी एक स्थिति 'बक़ा' की है जिसमें पूर्ण शान्त भाव से उसकी आत्मा परमात्मा में निवास करने लगती है। इस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधक को विभिन्न पड़ाव पार करने पड़ते हैं। जैसे-जैसे वह अपने चरम-लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाता है वैसे-वैसे उसकी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता जाता है। सूफ़ी-साधक प्रेम और मारिफ़ को अन्तिम मञ्जिल के रूप में स्वीकार करते हैं। इन्हीं के माध्यम से उसे अपने प्रियतम का दर्शन होता है और वह उसमें अद्वैतभाव से मिल जाता है। इस सूक्ष्म मार्ग में कोई अहं को साथ लिये नहीं चल सकता। प्रेम की गली बड़ी तङ्ग है जिसमें दो समा ही नहीं सकते। अपनी 'खुदी' को मिटाकर तथा परमात्मा को पाने की इच्छा के सिवाय अन्य सभी वासनाओं को जलाकर भस्म कर देने के पश्चात् ही साधक प्रेम-मार्ग का पथिक बन पाता है। हुजबीरी ने कहा है—"परमात्मा के प्रति मनुष्य का प्रेम एक ऐसा लोकोत्तर गुण है जो परमात्मा पर ईमान लाने वाले पुण्यात्मा के हृदय में श्रद्धा और आलोक के रूप में स्वयं को प्रकट करता है। अतः वह अपने प्रिय को सन्तुष्ट करने एवं पाने के लिए उत्कण्ठित हो उठता है। सर्वदा उसकी याद में बेचैन बना रहता है। उसे छोड़कर वह सबको भुला देता है।[१]"

सच्चे प्रेम का स्वरूप—प्रसिद्ध सूफी अब्दला अल-कुरशी के कथनानुसार सच्चे प्रेम का मतलब है कि "तुम जिस परम प्रियतम से प्रेम करते हो, उसे सब कुछ जो तुम्हारे पास है दे दो, जिसमें कि तुम्हारा अपना कहने को कुछ भी न रह जाय।" अतः प्रेमी केवल सांसारिक वासनाओं का ही त्याग नहीं करता अपितु स्वयं को प्रियतम के प्रति सर्वस्व भाव से समर्पित कर देता है। बिना इस प्रकार का त्याग किये वह उस अलौकिक प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। जलालुद्दीन रूमी ने प्रियतम को पाने की स्थिति एवं सम्भावना पर प्रकाश डालते हुए एक मसनवी में नाटकीय-कौशल से यों वर्णन किया है—प्रियतम के दरवाजे को किसी ने बाहर से खटखटाया। भीतर से आवाज आई 'कौन है'? उसने जवाब दिया—मैं हूँ। भीतर से आवाज आई—'इस घर में तेरे और मेरे दोनों के लिए स्थान नहीं है।' प्रेमी चला गया। उसने एकान्त-सेवन किया, प्रार्थना और

---

[१] श्री रामपूजन तिवारी—सूफी मत: साधना और साहित्य, पृष्ठ ३१०।

उपवास में निरत रहा। एक वर्ष के बाद वह फिर लौटा। उसने पुनः दरवाजा खटखटाया। आवाज आई 'कौन है?' प्रेमी ने उत्तर दिया 'तू है' और तब दरवाजा खुल गया।[१]" अतः जब तक मनुष्य अपने अहं एवं मैं-तू के द्वैत-बन्धनों में बँधा हुआ है तब तक उसका अद्वैत से साक्षात्कार होना असम्भव है।

अवारीफुल मारीफ (क्लार्क द्वारा अँग्रेजी में अनूदित) के कथनानुसार मनुष्य और परमात्मा के बीच जो व्यवधान है, उसे दूर करने के किए सूफ़ी-साधक को चार मञ्जिलों को पार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम साधक परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा द्वारा हृदय के ऊपर पड़े आवरण-पटह को दूर करता है लेकिन परमात्मा के लिए जिस प्रेम का वह अनुभव करता है, उसे वह किसी पर प्रकट नहीं करता। सिवा भावाविष्ट (वज्द) को छोड़कर प्रेम के प्रकटीकरण को वह गुनाह समझता है। तत्पश्चात् वह तफ़रीद (आन्तरिक असङ्गत) का अनुभव करने वाली स्थिति में पहुँचकर प्रिय के प्रेम में पागल बन जाता है। उसके लिए परमात्मा के प्रेम के सिवा और किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं रह जाता। उसका तजरीद (बाह्य व्यापारों) से कोई सरोकार नहीं रह जाता। तीसरी मञ्जिल में वह अपने हृदय के आइने में 'तस्वीरे यार' देखता हुआ उसी के रूप के नशे में छका हुआ मस्त बना रहता है। अन्तिम मञ्जिल में उसकी जिह्वा जिक्र (भगवान् के नाम-स्मरण) में तथा हृदय फ़िक्र (भगवान के ध्यान) में लगा हुआ रहता है। इन दोनों के इस प्रकार प्रवृत्त हो जाने पर साधक की आत्मा मुशाहिदा (परमात्मा की विभूति के दर्शन) में तल्लीन हो जाती है तथा वह (साधक) निर्विकार एवं अस्तित्व ज्ञान शून्य होकर प्रियतम के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है।[२]

सूफ़ी मार्ग की चार मञ्जिलें, मञ्जिलों की चार अवस्थाओं का वर्णन 'सन्त-साहित्य की धार्मिक पृष्ठभूमि' के अन्तर्गत किया जा चुका है, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। सूफी-साहित्य में आत्मा-परमात्मा के प्रेम की व्यञ्जना आशिक और माशूक के रूप में की गई है तथा विरह-मिलन की अनुभूतियाँ, प्रेम की तड़पन एवं छटपटाहट का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण सूफी-साहित्य की मधुर देन है। सूफियों की धारणा है कि जीवात्मा परमात्मा के वियोग में व्याकुल होकर उसी की प्राप्ति के लिए निरन्तर सचेष्ट रहता है। सूफ़ियों की महत्वपूर्ण विप्रलम्भ की दशाओं का सूफ़ियाना-शैली में चित्रण करते हुए पं० चन्द्रबली पाण्डे ने कहा है कि "जीव को अपने प्रियतम का पता उसी की

---

[१] श्री रामपूजन तिवारी—सूफी मत : साधना और साहित्य, पृष्ठ ३११।

[२] वही—पृष्ठ ३२७ के आधार पर।

कृपा से चला। कभी वह उसके साथ था, उससे प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था, अतः उसको पहचानने में देर न लगी। उसका परिचय तो मिल गया, किन्तु वह न मिला। उसी की खोज में सूफ़ी निकल पड़े हैं। खोजते-खोजते जब वे थककर सो जाते हैं तब उनका प्रियतम धीरे से उनके पास आता है और सञ्जीवन-रस छिड़क कर उनको सचेत कर देता है। किन्तु उनको इस उद्बोधन से शान्ति नहीं मिलती, उनका बिरह और भी बढ़ जाता है, आग को आहुति मिल जाती है, फिर तो जहाँ कहीं देखते हैं, प्रियतम ही का रङ्ग दिखाई देता है। परन्तु कभी वह रङ्गी हाथ नहीं आता। अन्त में उनसे कोई कह पड़ता है कि जिसके पीछे तुम मर रहे थे, वह कहीं अन्यत्र नहीं, तुम्हारे ही हृदय में है, जहाँ कहीं तुम देखते हो, उसी की झलक दिखाई देती है, पर वह सदा परोक्ष ही रहता है। कारण, जब तुम नहीं होते, तब वह हो जाता है और जब वह हो जाता है तब तुम नहीं रहते।...बस ख़ुदी मिटी कि ख़ुदा बने।[1]

सूफ़ियों के मानस-सागर में चाहे विविध भावों की कितनी ही तरङ्गें उठें-गिरें, बने-बिगड़ें किन्तु आदि से अन्त तक उन्हें प्रेम-सलिल में ही निमग्न रहना पड़ता है, उसके चारों ओर जहाँ तक उनकी दृष्टि जाती है, प्रेम का पारावार लहराता दिखाई पड़ता है। अतः साधक सब प्रकार के जलावर्तों, वात्याचक्रों एवं विपरीत जल-प्रवाह को साहस के साथ झेलते हुए प्रिय के पथ की ओर अग्रसर होता है जहाँ उसका प्रियतम उसी तीव्रता एवं आकुलता से उसकी प्रतीक्षा करता रहता है। इस दुर्लभ प्रेम की प्राप्ति भगवान् की कृपा पर ही निर्भर है। जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती तब तक साधक के हृदय में प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न ही नहीं होता। साधक चाहे जितनी चेष्टा करे, बिना भगवत्कृपा के प्रेम का पाना असम्भव है। सूफ़ियों का यह प्रेम, पूर्ण निष्काम भावयुक्त केवल प्रेम के लिये होता है। उसकी एक मात्र लालसा प्रिय के रूप सुधा-पान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होती। प्रेम के लिये ही प्रेम करना सूफी साधना का आदर्श है। सूफियों का प्रेमादर्श किसी प्रकार के मुआविजे का मुहताज नहीं। उनका दृढ़ विश्वास है कि जो भगवान् से प्रेम करते हैं, उनसे भगवान् भी प्रेम करता है। विशुद्ध आत्मा, परमात्मा की ही प्रतिच्छवि है, अतएव उसे प्रेम करने का अधिकार देकर परमात्मा मानों अपने को ही अधिकार देता है। बायजीद बिस्तामी ने कहा भी है कि "मैं समझता था कि मैं ही परमात्मा से प्रेम करता हूँ लेकिन गौर करने पर मैंने देखा कि मेरे प्रेम करने से पहले से ही वह मुझसे प्रेम करता है।" इसी के समानान्तर जामी ने भी कहा है—"मैं वही हूँ जिसे मैं प्यार करता हूँ और जिससे मैं प्रेम करता

[1] श्री चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृष्ठ १२२।

हूँ वह मैं ही हूँ। एक ही शरीर में बास करने वाले हम दो प्राण हैं। अगर तुम मुझे देखते हो तो तुम उसे देखते हो और अगर तुम उसे देखते हो तो तुम हम दोनों को देखते हो।[१]" सीमित और मानवीय प्रेम का प्रसार बढ़ते-बढ़ते अपनी विराटता में ब्रह्माण्ड को आवृत कर लेता है और तब साधक सर्वत्र ब्रह्म को व्याप्त जानकर उसकी और आत्मा की पारस्परिक प्रणय-लीला का दर्शन करने लगता है। इस प्रकार सूफियों के सौन्दर्य-बोध की सीमित परिधि का पर्यवसान अन्त में अनन्त सौन्दर्य की असीम भाव-भूमि तक हो जाता है।

भक्ति में प्रेम—भक्ति के अन्तर्गत प्रेम का समावेश होना स्वभावतः सिद्ध है। भक्ति की व्याख्या करते हुए देवर्षि नारद ने उसे 'परम प्रेम रूपा' और 'अमृत स्वरूपा' कहा है अर्थात् ज्ञान, कर्म आदि साधनों के आश्रय से रहित और सब ओर से स्पृहाशून्य होकर चित्तवृत्ति का अनन्य भाव से केवल भगवान् में ही लग जाना भक्ति है। भगवान् में अनन्य प्रेम ही वास्तव में अमृत है। वह सबसे अधिक मधुर है और जिसको यह प्रेमामृत मिल जाता है वह उसे पानकर अमर हो जाता है।[२] सन्तों ने उस अलभ्य प्रेम-रस का आकण्ठ पान किया था और इस रस का भी क्या कहना ? जिसका 'खुमार' कभी खत्म न हो—राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।—क० ग्र०, पृष्ठ १६ । तथा हरि रस पीया जानिये, जे कबहुँ न जाय खुमार। क० ग्र०, पृष्ठ १६ ।

नारद ने भी कहा है—यल्लब्ध्वा पुमान्...तृप्तो भवति —नारद भक्तिसूत्र ४। उनके अनुसार प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय बतलाया गया है। गूँगे के स्वाद की भाँति। प्रेम के गम्भीर सागर में जो डूब जाता है उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है। प्रेम के स्वाद को वह केवल साङ्केतिक ढङ्ग से यत्किञ्चित् व्यक्त कर पाता है, प्रेम रस की मिठास का मन ही मन अनुभव करता हुआ भी वह गूँगे की भाँति उसे व्यक्त करने में स्वयं को असमर्थ पाता है—वही ५१-५२। नारद ने ऐसे प्रेम को प्रतिक्षण बढ़ने वाला, कामना रहित, विच्छेद रहित, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर एवं अनुभव रूप कहा है।[३] प्रेम में कहीं परिसमाप्ति नहीं है, प्रेमी निरन्तर अपने में प्रेम की कमी का अनुभव करता रहता है, उसकी प्रत्येक स्वाभाविक चेष्टा प्रेम को बढ़ाने की होती है। इस विच्छेद रहित प्रेम की सतत् वृद्धि का क्रम कभी टूटता ही नहीं, यह हृदय की गुप्त गुहा में विराजने वाला होने के कारण सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर होता है और केवल अनुभव में ही भेंट पाता है। इस प्रेम को पाकर प्रेमी प्रेम को

---

[१] श्री रामपूजन तिवारी—सूफी मत : साधना और साहित्य, पृष्ठ ३१६ ।

[२] नारदभक्ति सूत्र २, ३ ।

[३] वही—५४ ।

ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[1] इस प्रकार परम प्रेम के दिव्य रस में डूबा हुआ प्रेमानन्द मय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेमपूर्ण रसमय प्रियतम को ही देखता है।

भगवान् के साथ शान्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य सम्बन्धों में अन्तिम को विशेष मनोरम एवं महत्वपूर्ण माना गया है। इसे कान्तारति अथवा मधुरभाव की उपासना के नाम से भी अभिहित किया गया है। सन्त कवियों में इस भाव का परिपाक प्रेमावेश की अवस्था में भगवान् के प्रति मधुर भाव से सम्बन्धित संयोग अथवा वियोगावस्था की उक्तियों में व्यक्त हुआ है। प० चन्द्रवली जी ने भी इस सामान्य मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि उपासना में जितने भाव होते हैं, उन सब का एक मात्र स्रोत रति ही है।[2] भक्ति के क्षेत्र में केवल एक ही स्थायी भाव स्वीकार किया गया है : भगवद्विषयक रति जिसे उपर्युक्त सम्बन्ध के आधार पर पाँच प्रकारों में व्यक्त किया गया है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जड़ जगत् का विषय होने के कारण इनमें शान्ता रति सर्वश्रेष्ठ है और अन्तिम रति कान्ता विषयक होकर शृङ्गार नाम ग्रहण करने के कारण सबसे निकृष्ट मानी गयी है किन्तु छाया दर्पण न्याय के आधार पर जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीची है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृङ्गार रस जो जड़ जगत् में सब में निष्कृट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृङ्गार होने पर मधुर रस हो जाता है[3] जड़ विषयक अनुराग को 'काम' तथा भगवद्विषयक अनुराग को 'प्रेम' कहा गया है। बङ्गाल के चैतन्य सम्प्रदाय वाले वैष्णवों ने 'भागवत्' की गोपियों को आदर्श के रूप में ग्रहण करते हुए भक्ति को रागानुरागरूप दिया है तथा श्री रूप गोस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिरसा-मृतसिन्धु' में भक्ति रस के अन्तर्गत शास्त्रीय पद्धति से अनेक रसों का समावेश करते हुए उन्हें क्रमशः मधुररस में पर्यवसित किया है। परन्तु उन्होंने भी प्रेम का पृथक् परिचय देते हुए बतलाया है कि जिस भाव के द्वारा हमारी अन्तरात्मा स्निग्ध, कोमल एवं निर्मल हो तथा जिस पर ममत्व की गहरी छाप भी लगी हो उसी के प्रगाढ़रूप को प्रेम की संज्ञा से पुकारा जाता है :

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते॥

---

[1] नारद भक्ति सूत्र, ५५।

[2] प० चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृष्ठ ११४।

[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ २५२-३।

प्रेम को भक्ति का चरमोत्कर्ष रूप सिद्ध करते हुए 'चैतन्य-चरितामृत' के रचयिता ने भी कहा है कि "भक्ति की साधना के अभ्यास द्वारा रति अथवा अनुराग का भाव उदय होता है जो गाढ़ा हो जाने पर 'प्रेम' नाम से अभिहित होता है। 'उज्जवल नील मणि' के अनुसार जिस प्रकार बीज क्रमशः ईख, रस, गुण, खाड, शर्करा, मिश्री एवं ओले में परिणत होकर अधिक निर्मल तथा सुस्वादु बन जाता है उसी प्रकार रति का भाव भी क्रमशः परिपक्व होता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भाव में पर्यवसित हो जाता है।...विश्वात्मरूप ईश्वर की ओर केन्द्रित रहने के कारण यह विश्व-प्रेम का भी रूप ग्रहण कर लेता है और ऐसा प्रेमी स्वभावतः निर्वैरी और निष्काम भी बन जाता है।[1]" प्रेम के क्षेत्र में वियोग का अपना एक विशेष स्थान है क्योंकि इसी स्थिति में तो 'प्रेमराशी भवन्ति' की सी स्थिति आती है। नारद ने तो भगवान् का थोड़ा सा भी विस्मरण होने में परम व्याकुल होना ही भक्ति माना है—भक्ति सूत्र १६।

सूफियों के अनुसार भी प्रियतम सबके हृदय में समान भाव से व्याप्त है पर उससे भेंट नहीं हो पा रही है—"पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहाँ केहि रोई॥ धरती सरग मिले हुते दोऊ। को रे मिनार कै दीन्ह बिछोऊ॥" धरती और स्वर्ग तो सदा से मिले हुए थे किन्तु न जाने किसने इन्हें पृथक् कर दिया? आज भी उस वियोग की व्याकुल वेदना से समूची प्रकृति विद्ध है। प्रकृति पर नागमती के भावों का आरोप करते हुए जायसी ने कहा है कि वन में जहाँ-जहाँ वह खड़ी होकर रक्त के आँसू गिराती है वहीं रत्तियों का ढेर लग जाता है, मानो उसके आँसुओं की बूँद-बूँद में जीव है और वे क्रौंच पक्षी की भाँति 'पी-पी' की रट लगा रहे हैं। उसके दुःख से आज भी मजीठ और पलाश के पत्ते जले (लाल) दिखाई दे रहे हैं। उसकी आँख से निकले हुए रक्त के आँसू प्रभातकालीन अरुणिमा में आज भी चमक रहे हैं। बिम्बफल भी उसी के रक्त से रक्तिम वर्ण हो गये। उसी की अत्यधिक वियोग वेदना की ऊष्मा से परवल पक गया और गेहूँ का दाना फट गया।[2] प्रेम की गरिमा एवं महिमा का गान पद्मावत में कई स्थलों में हुआ है। रत्नसेन स्वयं कहता है कि प्रेम का समुद्र इतना अथाह है कि उसका कोई वार-पार नहीं है और कोई उसकी थाह नहीं ले सकता। जो कोई इस प्रेम के समुद्र में पड़ता है वह श्रेष्ठ हंस सरीखा शुद्धात्मा हो जाता है और वही उसे पार कर सकता है।—(पद्मावत :राजा गजपती-संवाद खण्ड १४३)। इसीलिये कहा गया है कि मनुष्य प्रेम से बैकुण्ठवासी हो जाता है अन्यथा वह

---

[1] प० परशुराम चतुर्वेदी—मध्यकालीन प्रेम साधना, पृष्ठ १८०।

[2] जायसी ग्रन्थावली—नागमती वियोग खण्ड ३६९।

एक मुट्ठी भर मिट्टी मात्र ही तो है। प्रेम में ही विरह और रस है, मधु और अमृत है—

मानुस प्रेम भएउ बैकुण्ठी। नाहिं त काह, छार एक मूरठी।।
पेमहि माँह विरह औ रसा। मैन के घर मधु अम्रित बसा।।

वही—मण्डपगमन खण्ड १६६

देवर्षि ने इसीलिये 'परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा' भक्ति को पाने वाले के लिए कहा है—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति—भक्तिसूत्र ४।

प्रेम की अनुभूति और सीमा—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है।[1]" इस रस की अनुभूति अभिव्यक्त्यातीत है। गुरुदेव ने बड़े रोचक ढङ्ग से कहा है कि सुन्दर से सुन्दर कविता की जब हम चीर-फाड़ कर देते हैं तो वह कुछ असङ्गत शब्दों का समूह ही जँचता है। जो उसका रस पहचानते हैं वही इन शब्दों की माला को पिरोने वाले सूत्र का महत्व जानते हैं। देवर्षि ने बहुत समझ-बूझ कर प्रेम के स्वरूप को 'मूकास्वादनवत्' और 'अनिर्वचनीय' कहा था। इस सृष्टि का मूलाधार प्रेम ही है। सारा संसार प्रेम के बन्धन में बँधा हुआ है। ऐसा कौन है जो प्रेम-बाण से विंधा नहीं तथा पागल बनकर घिरनी की भाँति चक्कर नहीं काट रहा? जायसी ने अपनी अमर कृति 'पद्मावत' में प्रेम के आस्वाद, अनुभूति एवं प्रभाव के बारे में विस्तार के साथ लिखा है—

तीनि लोक चौदह खण्ड, सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि।।[2]

रतनसेन तीन लोक चौदहों भुवन में प्रेम के समान अन्य किसी वस्तु को सुन्दर नहीं समझते। उन्होंने इस प्रकार का निर्धारण बहुत कुछ सोच-समझ कर किया है। प्रेम की ही यह अनूठी विशेषता है कि इसकी बाजी चाहे जिस प्रकार भी खेली जाय उसमें कभी हार या हानि की सम्भावना ही नहीं है, जैसे तिल फूलों के साथ पेरे जाने पर भी सुगन्धित तेल के रूप में प्रकट होते हैं।[3] वियोग की आँच में सुलगते हुए जो प्रेमामृत का स्वाद पा जाते हैं, वे मृत्यु की असह्य यन्त्रणा भी हँसते-खेलते सहने के लिये सदैव प्रस्तुत रहते हैं—

दुख भीतर जो प्रेममधु राखा। जग नहिं मरन चहै जो चाखा।।[4]

---

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, पृष्ठ २५६।

[2] जायसी ग्रन्थावली—ना० प्र० सभा, काशी—पृष्ठ ४६।

[3] वही—पृष्ठ २६।

[4] वही—पृष्ठ ४६।

सत्यद्रष्टा खलील जिब्रान ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि प्रोफ़ेट' में प्रेम के 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "प्रेम जिस तरह तुम्हें मुकुट पहनायेगा, उसी तरह शूली पर भी चढ़ायेगा। जिस तरह वह तुम्हारे विकास के लिये है, उसी तरह तुम्हारी काट-छाँट के लिये भी। जिस प्रकार वह तुम्हारी ऊँचाइयों तक चढ़कर सूर्य की किरणों में काँपती हुई तुम्हारी कोमलतम कोपलों की भी देखभाल करता है उसी प्रकार वह तुम्हारी नीचाइयों तक उतरकर, भूमि में दूर तक गड़ी हुई, तुम्हारी जड़ों को भी झकझोर डालता है। अनाज की बालों की तरह वह तुम्हें अपने अन्दर भर लेता है, तुम्हें नङ्गा करने के लिये कूटता है। तुम्हारी भूसी दूर करने के लिये तुम्हें फटकता है, तुम्हें पीसकर श्वेत बनाता है। तुम्हें नरम बनाने तक गूँधता है और तब तुम्हें अपनी पवित्र अग्नि पर सेंकता है जिससे तुम प्रभु के पावन-थाल की पवित्र रोटी बन सको। प्रेम तुम्हारे साथ यह सारी लीला इसलिये करता है कि तुम अपने अन्तरतम के रहस्यों का ज्ञान पा सको और उसी ज्ञान के द्वारा जगजीवन के हृदय का एक अंश बन सको।[1]" इस प्रेम से एक ऐसी अनुपम मिठास उत्पन्न होती है कि उससे सांसारिक सौन्दर्य का वाह्य प्रेम आन्तरिक सौन्दर्य के प्रेम में परिवर्तित हो जाता है।

'इश्क मजाजी' का पर्यवसान' 'इस्क हकीकी' में होने से साधक अन्तर्जगत् की भाव-भूमि पर पहुँचकर ईश्वरीय सौन्दर्य की झाँकी देखने लगता है और तल्लीनावस्था में प्रेमी स्वयं प्रेम रूप हो जाता है। जामी ने ये मञ्जिलें तै की थीं तभी तो उसने लिखा है कि मेरे हृदय रूपी सितार पर प्रेम ने एक ऐसी गति बजा दी है जिसके प्रभाव से मैं आपाद-मस्तक प्रेम ही प्रेम में सराबोर हो गया हूँ। प्रेम-पन्थ के असि धाराव्रत का उल्लेख करते हुए जायसी ने भी कहा है—प्रेम के स्वाद का अनुभव वही कर पाता है जो अपने मस्तक को धड़ से पहले पृथक् कर डाले। प्रेम के उत्तुङ्ग शिखर पर पैरों द्वारा न चलकर सिर के बल चलकर पहुँचना होता है। यह वस्तुतः शूली का मार्ग है जिस पर या तो चोर चढ़ सकता है या फिर हुतात्मा मन्सूर।[2] जिस प्रकार बूँद समुद्र में समा जाय और खोजने पर भी उसका पता न चल सके। जैसे पान रङ्गों में मिलकर अपना अस्तित्व विलीन कर दे। उसी प्रकार प्रेमी ने स्वयं को खोकर प्रेम में मिला दिया। प्रेमी और प्रेम-पात्र में पूर्णैक्य भाव आ गया। जायसी ने प्रेम को एक नित्य, सुन्दर, एकरस एवं ऐकान्तिक आनन्दप्रद वस्तु के रूप में चित्रित किया

---

[1] खलील जिब्रान—दि प्रोफ़ेट, पृष्ठ २१-२२।

[2] जायसी ग्रन्थावली—पृष्ठ ५८।

है। प्रेम की मनोवृत्ति इतनी तीव्र होती है कि उसके कारण प्रेमी का सारा जीवन एक निष्ठता के साँचे में ढल जाता है और आठों प्रहर प्रेम के नशे में चूर रहता है। प्रेम का प्याला पीते ही उसका सारा जीवन ही जैसे बदल जाता है। वह प्रसन्नता के साथ अपना सर्वस्व प्रिय के लिये उत्सर्ग करने को सदैव प्रस्तुत रहता है। अन्त में कवीन्द्र के प्रेम-साधना विषयक कतिपय कथा यहाँ उद्धृत कर देना अप्रसाङ्गिक न होगा :

हमारी आत्मा का विश्वात्मा से विछोह हुआ है, किन्तु यह जुदाई प्रेम की जुदाई है। इसलिये हमारी आत्मा में यह शक्ति रहती है कि वह असत्य, कष्ट और पाप पर विजय लाभ करती है और इन्हें नये शक्ति और सौन्दर्यपूर्ण रूपों में बदलती रहती है।

प्रत्येक वस्तु का, जो भी अस्तित्व रखती है, प्रयोजन प्रेम में ही पूरा होता है अतः प्रेम केवल एक भावना नहीं है, यह सत्य है, यह वह आनन्द है जो प्रत्येक वस्तु के निर्माण का मूल-स्रोत है। यह पूर्ण चेतनता की वह स्वच्छ श्वेतकिरण है जो ब्रह्म से उद्भूत होती है। अपनी चेतनता को प्रेम की ऊँची सतह तक ले जाकर और विश्व भर में इसी प्रेमाप्त चेतनता का विस्तार करके ही हम ब्रह्म-विहार या असीम आनन्द में एकात्मकता प्राप्त कर सकते हैं।

प्रेम में जीवन की सब विरोधी शक्तियाँ स्वयं को मिटा कर एक हो जाती हैं। केवल प्रेम ही ऐसा क्षेत्र है जहाँ एकत्व और द्वित्व विरोध भाव से नहीं रहते। प्रेम स्वयं एक साथ अनेक और एक रूप में होता है।

सृष्टि के इस आश्चर्यजनक उत्सव में, आत्मदान के इस ईश्वरीय महायज्ञ में प्रेमी को निरन्तर आत्माहुति देनी पड़ती है। इस आत्मदान से ही वह प्रेम पाता है। प्रेम ही ऐसा यज्ञ है कि जिसमें आदान और प्रदान इतने समवायि भाव से सम्बद्ध हैं। प्रेम में ससीम और असीम एक हो जाते हैं। आनन्द की प्रतीति तभी होती है जब हम अपनी आत्मा का ससार से और संसार की आत्मा का विराट की आत्मा से एकत्व अनुभव करते हैं।[1]

सन्त-साहित्य में प्रेम-साधना—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि चित्त की एक वासनात्मक वृत्ति रति है जो भिन्न-भिन्न सम्बन्धों के अनुसार प्रेम का रूप धारण करती है। प्रेम का सूत्रपात स्थूल लौकिक माध्यम से शनैः-शनैः सूक्ष्माति-सूक्ष्मतर आध्यात्मिक स्तरों से होता हुआ सूक्ष्मतम परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। सूफ़ी-साहित्य में हमें इसी प्रकार की प्रेम-पद्धति मिलती है। उनके

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर (साधना) अनुवादक—सत्यकाम विद्यालङ्कार, पृष्ठ ८४, ८६, ९२, ९३, ९४।

अनुसार विश्व-प्रेम भी परमात्म प्रेम का ही रूप है, क्योंकि उस अनन्त सौन्दर्यशाली ने अपना सौन्दर्य एवं प्रेम प्रकृति के कण-कण में बिखरा दिया है। सर्वत्र उसके प्रेम का पारावार लहरा रहा है, उसमें निमग्न होकर ही सच्चे आनन्द की उपलब्धि की जा सकती है किन्तु उस उपलब्धि में सांसारिक सम्बन्ध एवं आसक्तियाँ बाधाएँ उत्पन्न करती हैं और जीव, आत्मा को पथभ्रष्ट कर उस अमृत-तत्व से वञ्चित कर देती हैं। इस स्थिति में साधक के अन्तर में प्रभु के प्रति परम विरह की व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है—

> उपजी प्रेम-पीर जेहि आई। परबोधक होइ अधिक सो आई।।
> अमृत बात कहत विष जाना। प्रेम क वचन मीठ कै माना।।
> सुनि धनि! प्रेम-सुरा के पिये। मरन जियन डर रहै न हिए।।
> सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ जाइ परि सोई।।
> जा कहँ होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु ओही चाहा।।
> रातिहु दिवस रहै रस-भीजा। लाभ न देख न देखे छीजा।।[1]

किसकी देन : एक समस्या—सूफ़ियों की इस प्रेम-साधना का प्रभाव सन्त कवियों पर स्पष्ट रूप से पड़ा है, जिसे हिन्दी के दिग्गज विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का भी थोड़ा-बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त का है पर प्रेम तत्व बिल्कुल सूफ़ियों का है। इनमें से दादू, दरिया साहब आदि तो खालिस सूफ़ी ही जान पड़ते हैं। कबीर में 'माधुर्य-भाव' जगह-जगह पाया जाता है।[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दादू के विषय में लिखा है कि "इनके पदों से जहाँ निर्गुण, निराकार निरञ्जन को व्यक्तिगत भगवान् के रूप में उपलब्ध किया गया है वहाँ वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गये हैं। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफ़ी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। सूफ़ियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान् का रूप और जाति बताया है। विरह के पदों में, सीमा का असीम से मिलने के लिये तड़पना सहृदय को मर्माहत किये बिना नहीं रह सकता।[3]"

डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता

---

[1] जायसी ग्रन्थावली—पृष्ठ ५६, १६१।

[2] वही—भूमिका।

[3] डॉ० द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४४।

सूफ़ी मत से ही आयी हुयी ज्ञात होती है।[१]" डॉ० बड़थ्वाल ने भी कहा है कि "निर्गुण काव्य को प्रेम सम्बन्धी रूपक सूफियों से ही मिले हैं।" -- हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६५। इनके अतिरिक्त परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० त्रिगुणायत आदि ने भी उपर्युक्त कथनों के पक्ष का समर्थन किया है। यह भी स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता है कि कबीर के बाद सन्तों में ज्ञान की महत्ता क्रमशः कम होती गयी और प्रेम-साधना का प्रभाव अधिक पड़ता गया। प्रेम की तीव्रता और विरह की उत्तेजना दादू में कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में है। इस मत के विरोध में डॉ० मुन्शीराम शर्मा और पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव हैं। डॉ० शर्मा का कथन है कि कतिपय आलोचकों की सम्मति में प्रभु के विरह से उत्पन्न सूफियों की इस प्रेम की पीर ने हिन्दी-काव्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है। कम से कम निर्गुणिया-सन्तों की रचनाओं में जिस विरह-पक्ष का उद्‌घाटन हुआ है, वह इन आलोचकों के अनुसार सूफी-सम्प्रदाय की ही देन है। निर्गुणिया सन्तों में प्रमुख कबीर पर जो मौलिक प्रभाव पड़े हैं, उनका बीज वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत है। नारदभक्ति सूत्र ८२ में कान्तासक्ति और परमविरहासक्ति का वर्णन है। वे माधुर्य भाव के ही अङ्ग हैं। नारद भक्ति सूत्र का निर्माण ८वीं शताब्दी के पूर्व हो चुका था, फिर कबीर पर सूफी प्रभाव क्यों माना जाय जब वे सीधे वैष्णवों की प्रेमासक्ति से सम्बद्ध दिखाई देते हैं।[२] श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव के अनुसार कबीर की भक्ति में जो प्रेम और विरह तत्व है, वह सूफियों के प्रेम और विरह से कुछ भिन्न प्रकार का है। पहले तो कबीर का परमात्म प्रेम आशिक-माशूक का प्रेम नहीं, कहीं उन्होंने परमात्मा को पिता, कहीं माता और कहीं स्वामी भी कहा है, जो सर्वथा भारतीय भक्ति-भावना के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त जहाँ दाम्पत्य-भाव व्यक्त किया है वहाँ भी उन्होंने भारतीय भावना और पद्धति के अनुसार ही संयोग और वियोग दोनों में अपने को पत्नी और परमात्मा को पति रूप में देखा है, आशिक और माशूक के रूप में नहीं जो कि सूफी प्रेम-पद्धति की विशेषता है, अतः कबीर की भगवत्प्रेम-पद्धति सूफी-मत से ग्रहण की हुयी नहीं कही जा सकती।[3]

निराकरण—यह ठीक है कि सन्त कवियों ने भारतीय परम्परा का अनुकरण करते हुए परमात्मा को पति एवं स्वयं को पत्नी रूप में चित्रित किया है। कबीर

---

[१] डॉ० वर्मा—अनुशीलन, पृष्ठ १०१।

[२] डॉ० मुन्शीराम शर्मा—भक्ति का विकास, पृष्ठ ३६६।

[3] श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव—कबीर साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ १६१।

ने एक मात्र अविनाशी स्वामी का वरण कर लिया है—क० ग्र०, पृष्ठ ८६। दादू की दृष्टि में हम सब उसी एक प्रियतम की पत्नियाँ हैं और उसी के लिये बनाव-शृङ्गार किया करते हैं—'हम सब नारी एक भरतार। सब कोई तन करै सिङ्गार। तथा नानक ने—'सबै कन्त सहेलिया, सगलीआ करहि सिङ्गार' कहकर इसी कथन की पुष्टि की है। दूसरी ओर यदि हम 'पद्मावत' के माध्यम से सूफी प्रेम-पद्धति को देखें तो वह कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है। पद्मावती यदि ब्रह्म है तो क्या ब्रह्म भी जीव से मिलने के लिये तड़पता है? और रत्नसेन के मरने पर पद्मावती का सती होना तो और भी प्रतीक रूप में हास्यास्पद हो जाता है अर्थात् क्या ब्रह्म भी जीव के लिये सती हो गया और नागमती रूपी सांसारिकता भी जीव के साथ जल मरी। सन्त कवियों ने इन्हीं अस्वाभाविकताओं के कारण भारतीय भावना के अनुसार परमेश्वर को पति रूप में ग्रहण किया है। प्रेमिका पक्ष की ओर से स्त्री-सुलभ कोमलता एवं करुणा के कारण जिस मात्रा में प्रेम में तीव्रता एवं मधुरता का सन्निवेश निहित है, वह प्रेमी पक्ष की पुरुषोचित गुरु गम्भीरता में सम्भव नहीं। यह आकर्षण भी सन्तों के लिये कम नहीं था और वस्तुतः इसी में बँधकर उन्होंने 'राम की बहुरिया', 'एक भरतार की नारी' अथवा 'कन्त सहेलिआ' बनने के मधुर लोभ का संवरण नहीं कर सके थे। परन्तु इतना सब होते हुए भी वे अपने चतुर्दिक व्याप्त वातावरण से स्वयं को असम्पृक्त नहीं रख सके थे, ऐसा सम्भव नहीं था। सूफियों के 'इश्क', 'खुमार', प्रेम-पियाले' आदि की मदिर-मादकता से उनकी काव्य-श्री बेसुध है। कबीर गोमती तीर के निवासी किन्हीं सूफी पीताम्बर पीर के गायन पर सौ जान से फिदा हैं—हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहीं पीताम्बर पीर। वाहु-वाहु किआ खूब, गावता है। हरि नामु मेरे मनि भावता है॥—सन्त कबीर, रागु आसा, १३। सूफियों की भाँति ये लोग भी इस्लाम के रूढ़ि तथ्यों—हज, हलाल, काबे, सबूरी, कुरबानी[१] आदि की आलोचना करते हुए अल्लाह को सातवें अर्श पर आसीन सर्व शक्तिमान् एकमात्र खुदा (तौहीद) के रूप में न स्वीकार कर सर्वव्यापी मानते हैं, खुदी (अहंकार) को आध्यात्मिक मार्ग की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं।—वही, रागु भैरउ १४ तथा सूफियों की दृष्टि से मुल्ला, काजी और सुलतान की मौलिक व्याख्या उपस्थित करते हैं।[२] अल्लाह को अलख, निरंजन और प्रेम-रूप बतलाते हैं,[3] इश्क ही उसकी जाति, रङ्ग, अङ्ग, औजूद सब कुछ है।[४] आगे चलकर हमें विस्तार से

[१] सन्त कबीर—सलोकु १८५, १८७, १८२, १८५।

[२] वही—रागु भैरउ ११।

[3] वही—रागु बिभास प्रभाती २।

[४] दादूदयाल की बानी १—विरह कौ अङ्ग १५२।

यह देखने का अवसर मिलेगा कि सन्तों ने सूफियों की पारिभाषिक शब्दावली और प्रेम की पीर को किस चाव से अपनाया है। डॉ० रामरतन भटनागर ने ठीक ही कहा है कि कबीर की कितनी ही उक्तियाँ जलालुद्दीन रूमी और हाफिज की कविताओं की अनुवाद मात्र हैं। शेख इब्राहीम फरीद (लगभग १५४० ई०) की रचनाओं से कबीर की रचनाओं को मिलाने से कबीर के सूफ़ी-तत्व के विषय में हम पूर्णतया निश्चित हो जाते हैं।[१] इतनी स्पष्टता और निश्चितता होते हुए भी उपर्युक्त दो विद्वानों द्वारा कबीर या निर्गुणिया-सन्तों की प्रेम-साधना पर सूफ़ी-प्रभाव न मानना, कुछ न्यायसङ्गत नहीं प्रतीत होता। इधर कुछ दिनों से जैसे फैशन के रूप में 'संस्कृति' की चर्चा बहुत सस्ती हो गयी है। वैसे ही एक और भी कृतज्ञता-हीन अस्वस्थ भावना हमारे मस्तिष्क में घर कर गयी है वह है, आत्म-केन्द्रित होकर स्वयं को सर्वश्रेष्ठ समझना और दुराग्रहपूर्वक तोड़-मरोड़कर विजातीय तत्वों के प्रभाव को न स्वीकार कर उसका अपने किसी प्राचीन स्रोत से सम्बन्ध स्थापित करना। ऐसे लोग दूसरों से कुछ लेने के आरोप में अपना अपमान समझते हैं किन्तु आदान-प्रदान का शाश्वत-क्रम तो नैसर्गिक रूप से चलता रहता है। रूपगर्विता गौरी गङ्गा और श्यामा यमुना के सम्मिलन से पवित्र सङ्गम की सृष्टि हो सकी। गुरुदेव ने 'महामानवता पारावार' भारत देश के पवित्र तीर्थ में श्रद्धा से अपनी आँखें खोलने की कामना की है। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ दुर्वार वेग से बहती हुयी कहाँ-कहाँ से आयीं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गयीं। यहाँ आर्य हैं, अनार्य हैं, तथा द्रविड़ और चीनी वंश के लोग हैं। शक, हूण, पठान और मोगल न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आये और सब के सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गये। सामाजिक संस्कृति भारत की आत्मा है अतः विशुद्धीकरण की असन्तुलित आग्रहपूर्ण भावना से सन्तों पर सूफ़ियों की प्रेम-साधना के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन न करते हुए उसका वहिष्कार करना उचित प्रतीत नहीं होता।

माधुर्य की भावना—अतः ज्ञानमार्गी सन्तों की साधना में हमें जो माधुर्य की भावना दिखलायी पड़ती है, वह सूफ़ियों की ही देन है जो प्रणय में अभिव्यक्त हुयी है। इन कवियों ने अपने अलौकिक प्रेम का परिचय देते हुए अपने से अभिन्न समझकर उसके साथ विभिन्न सम्बन्ध स्थापित किये हैं। उसे अपने पति के रूप में वरण करते हुए उसके प्रति कान्ताभाव से प्रेम और विरह के भाव प्रकट किये हैं और स्वयं को उसके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित कर डाला है। यद्यपि सन्त

---

[१] डॉ० रामरतन भटनागर—कबीर साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १५२।

कवि 'ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै' जैसे अद्वैतभाव के समर्थक थे किन्तु भक्ति के क्षेत्र में मानो वे इस अभिन्नता को विस्मृत कर जाया करते हैं और अपने आराध्य के साथ अद्वैतभाव बनाये रखते हुए भी द्वैतवादी विचारों की अभिव्यक्ति करने लग जाते हैं। वस्तुतः प्रेम, भक्ति और इश्क एक ही अभिन्न प्रेमतत्व हैं। कबीर ने जिस 'नारद भक्ति' में स्वयं को मगन हुआ कहा है, वह साधारण भक्ति-भाव न होकर तीव्रतन्मयतासक्ति है जो सूफ़ियों के 'इश्क' का ही नव रूपान्तर है। यह नारदी-भगति अथवा भाव-भगति (इश्क) ही सन्त कवियों का अन्तिम लक्ष्य है जिसकी उपलब्धि के लिये साधक को सर्वस्व भाव से आत्म-समर्पण करना पड़ता है। इस समर्पण की पूर्णाहुति प्रेमी या प्रियतम के प्रति प्रेमिका द्वारा पूर्ण आत्मसमर्पण भाव पर समाप्त होती है, उस समय प्रेमिका और प्रियतम (जीवात्मा और परमात्मा) में कोई भेद नहीं रह जाता।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि हमारी आत्मा का विश्वात्मा से बिछोह हुआ है, हमारी आत्मारूपी नदी आकुल भाव से विश्वात्मारूपी जलनिधि से मिलने या उसमें अपने स्वरूप को खोकर लीन होने के लिये व्यग्र है। यह व्यग्रता की भावना उसी परम प्रियतम की देन है। वह सौन्दर्यशाली सृष्टि के कण-कण में व्याप्त होकर अपनी दीप्त-छटा से सबको मुग्ध कर रहा है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ग्रह-उपग्रह उसी के प्रेमाकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं। उसी ने चारों ओर प्रेम का बीज बिखेर दिया है और हमारे हृदय में प्रेम की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी है जिसकी मधुर आँच में झुलसते हुए कबीर भी बहुत कुछ कह डाले हैं।

प्रेम की पीर—वियोगिनी (आत्मा) रात भर विरह में क्रौञ्च की भाँति रोती रही, उसका अन्तस्तल वियोगाग्नि से जलता रहा। उसने अपने आकाश-स्पर्शी विलाप की रुदनधारा से सारे तालाबों को भर दिया। राह की गली में खड़ी-खड़ी आकुल प्रतीक्षा से व्यग्र उस मार्ग से जाने वाले पथिकों से दौड़कर पूछती है—"प्रिय का एक शब्द ही सुना दो, वह निर्मोही कब आकर मुझसे मिलेगा? अनन्तकाल से मैं उसके आने की बाट देख रही हूँ। मेरे प्राण उससे मिलने के लिये तरस रहे हैं, मन अशान्त भाव से उमड़-घुमड़कर उसके ऊपर बरस जाने को व्यग्र है। हाय! (लोक-लाज वश) न तो मैं तुम्हारे पास पहुँच सकती हूँ और न तुमको अपने निकट बुला सकती हूँ। तो क्या इसी प्रकार विरह की (ओदी आँच में) जला-जलाकर मेरे प्राण लोगे।[1]" सब प्रकार से विवश होकर वियोगिनी अपने प्रिय प्रियतम के पास 'प्रेम-पाती' भेजने का उपक्रम करती है। शरीर को जलाकर स्याही तथा अस्थिपिञ्जर को लेखनी बनाकर अपनी व्यथा

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—विरह कौ अङ्ग १, २, ५, ६, ११।

लिख-लिखकर प्रिय के पास भेजती है। इस जान लेवा विरह की चोट से सारा शरीर जर्जरित हो रहा है। इस मर्मान्तक पीड़ा को वही जान सकता है जो इसे भोग रहा है या जिसने इस पीड़ा-प्रसाद को दिया है। विरह के द्वारा बजाये गये शरीर रूपी रबाब की धुन या तो प्रभु सुनता है या वियोगी का चित्त, जहाँ से यह सङ्गीत-लहरी नस रूपी ताँतों के मीड़ने से करुण क्रन्दन कर उठती है। उस निष्ठुर की राह देखते-देखते आँखों में झाइँ पड़ गयी और उसको पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गये।[1] निपट असहाय वियोगिनी के निकट अब केवल एक साध शेष रह जाती है—

इन तन का दीवा करौं, बाती मेल्यू जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव॥
कै विरहनि कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मो पै सह्या न जाइ॥[2]

इस प्रेम-भाव की उपलब्धि गुरु की क्षमता पूर्ण कृपा एवं उनके द्वारा दिये गये सदुपदेश पर निर्भर है। कबीर ने इस ऋण को कृतज्ञ भाव से स्वीकार करते हुए कहा है—गुरुदेव ने मेरी भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर (परमात्म प्रेम विषयक) एक प्रसङ्ग कहा जिससे प्रेम के बादलों ने रस वृष्टि कर मेरे सारे शरीर को सिक्त कर दिया, उस अमृत रस को पीकर मेरी अन्तरात्मा तृप्त हो गई और साधना रूपी बनस्थली हरीतिमा-मण्डित हो गयी।[3] गुरु नानक ने भी प्रियतम से साक्षात्कार कराने वाले गुरु की विनती करते हुए कहा है—

करउ बिनउ गुर अपने प्रीतम हरि वरु आणि मिलावै।
सुनि घनघोर सीतलु मनु मोरा, लाल रती गुण गावै॥
बरसु घना मेरा मनु भीना।
अमृत बूँद सुहानी हियरै, गुरि मोहि मनु हरि रसि लीना॥
सहज सुखी वर कानि पिआरी, जिसु गुरवचनी मनु मानिआ।
हरि वरि नारि भई सोहागणि, मनि तनि प्रेम सुखानिआ॥
अवगण तिआगि भई बैरागनि, असथिरु वरु सोहागु हरी।
सोगु विजोगु तिसु कदे न विआपै, हरि प्रभु अपणी किरपाकरी॥
आवण जाण नहीं मनु-निहचलु, पूरे गुर की ओट गही।
नानक राम नामु जपि गुरमुखि, धनु सोहागणि साधु सही॥[4]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली—बिरह कौ अङ्ग १२, १४, २०, २२।
[2] वही—२३, ३५।
[3] वही—गुरुदेव कौ अङ्ग ३३-३४।
[4] सन्त सुधासार—गुरु नानकदेव, पृष्ठ २४४।

गुरु नानकदेव ने सूफियों की भाँति सिर यानी अपने अहं को पैरों के नीचे कुचलकर पूर्ण आत्म-समर्पणभाव से प्रेम की गली में पैर रखने के लिये कहा है—

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ॥
इतु मारगि पैरु धरीजै। सिरु दीजै काणि न कीजै॥[1]

गुरु अङ्गद ने सूफियानी-भावव्यञ्जना से कहा है कि वह आशिकी कैसी जो दुनियाँ की चीजों में उलझा जाये। नानक, तू तो उसी को आशिक कह, जो सदा प्रियतम की प्रीति में लवलीन रहता है। जो मन में ऐसा लाता है कि अच्छा-अच्छा है और बुरा-बुरा है और उसी प्रकार व्यवहार भी करता है, वह सच्चा आशिक नहीं कहा जायगा—

एह किनेही आसकी, दूजे लागै जाइ।
नानक आस कु काढ़ीये, सदही रहै समाइ॥
चङ्गे चङ्गा करि मनै, मन्दै मन्दा होइ।
आसकु एहु न आखीऐ, जि लेखै बरतै सोइ॥[2]

सूफ़ियों के मतानुसार सृष्टि के कण-कण में व्याप्त प्रियतम के साथ एकात्म-भाव की स्पष्ट व्यञ्जना ऊपर की पंक्तियों में हुयी है। सभी उसी प्रियतम के विविध रूप हैं, चतुर्दिक् उसी की सौन्दर्य-राशि रूप-कुरूप रूप में बिखरी हुई है। तो फिर कौन अच्छा और कौन बुरा, कौन सुन्दर कौन असुन्दर? इस स्थिति में मतभेद की गुञ्जायश ही कहाँ रह जाती है? यहीं प्रसिद्ध सूफी साधिका रबिया की वह उक्ति भी सहसा याद आ जाती है कि "परमात्मा के प्रेम ने उसके हृदय में शैतान (बुरे व्यक्ति) से घृणा करने के लिये स्थान ही नहीं छोड़ा है।" सांसारिकता से ग्रस्त प्रभु प्रेम से विस्मृत जीवात्मा को फटकारते हुए गुरु अमरदास कहते हैं कि ओ कामग्रस्ता नारी! तू क्यों इतना अकड़ती (अहङ्कार में डूबी) चल रही है। तू! अपने प्रियतम को पहचानती नहीं, उसे तू अपना मुँह कैसे दिखायेगी? जिन सहेलियों (जीवात्माओं) ने कन्त को पहचान लिया है, वे धन्य हैं। री मूर्ख! इस प्रकार की मिथ्या दुनियाँदारी में सिङ्गार-पटार करते हुए अपना अनमोल समय मत गँवा। गुरु के मार्ग-दर्शन द्वारा उस प्रियतम की प्राप्ति सम्भव है। जो सौभाग्य-हीन अपने प्रियतम को नहीं पहचान सकीं, उनकी सांसारिकता रूपी रात्रि कैसे कटेगी? अहङ्कार से पूर्ण, सांसारिक आसक्ति में अनुरक्त वे भला सुख कैसे पा सकती हैं? जिन्होंने अपना आभा खोकर स्वयं को

---

[1] संत सुधासार—गुरु नानकदेव, पृष्ठ २५३।

[2] वही—गुरु अङ्गद, पृष्ठ २६१।

सर्वस्वभाव से प्रिय को समर्पित कर दिया है, उन्हीं के दिन सुख-सुहाग में बीतते हैं और वही अपने प्रिय की प्यारी बनी रहती हैं। किन्तु अहङ्कारग्रस्ता ज्ञान-वञ्चिता नारियाँ तो परित्यक्ता हैं, प्रियतम उन्हें मिलने का नहीं। प्रियतम जिन पर अपनी कृपा-दृष्टि करता है वही सुहागिनें अपना सर्वस्व सौंपकर उसमें लीन हो जाती हैं और दिन-दिन उनका प्रेम गाढ़ा होता जाता है।[1] मनमुखी जीवात्माओं के प्रति गुरु की उक्ति है—

मन मुखि करम कमावणे जिउ दोहागणि तनि सीगारु।
सेजै कन्त न आवई नित-नित होइ खुआरु॥
पिर का महलु न पावई, ना दीखै घरबारु॥[2]

विरह की वेदना—शेख फ़रीद पहुँचे हुए सूफ़ी फ़कीर माने जाते हैं। दिल्ली के सुप्रसिद्ध हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया इनको अपना गुरु मानते थे। अत: यहाँ उनकी प्रेम-साधना से सम्बन्धित कतिपय उक्तियाँ दे देना आवश्यक है क्योंकि उससे सन्त-साहित्य की प्रेम-साधना में पूर्ण साम्य होने से एक महत्वपूर्ण सूत्र हाथ आता है। इनकी प्रस्तुत उक्तियों में पत्नी भाव से ही प्रियतम को सम्बोधित किया गया है, सूफियों की भाँति आशिक पक्ष से नहीं। फ़रीद की विरह-ज्वाला से उबलती पंक्तियाँ वियोगी हरि द्वारा रूपान्तरित हैं—

"विरह-ज्वर से मेरा अङ्ग-अङ्ग जल रहा है और मैं विवश होकर अपने हाथों को मरोड़ती हूँ।

प्रीतम से मिलन की लालसा ने मुझे बावली बना दिया है।
प्यारे, तू अपने मन में मुझसे रूठ गया था,
सो इसमें मेरा ही दोष था प्यारे, तेरा नहीं।
मेरे स्वामी, मैंने तेरे गुणों को पहचाना नहीं।
मैंने अपना यौवन गवाँ दिया और बहुत पीछे पछताई।
री काली कोयल, तू किस कारण काली हुई?
अपने प्रीतम के विरह में जल-भुनकर अपने प्यारे से विलग होकर
क्या किसी को कभी सुख मिला?
उस प्रभु से मिलना उसी की कृपा से बन सकता है।[3]"

क्या किसी नारी ने, जब उसके केश काले थे स्वामी के साथ रमण न कर तब रमण किया, जबकि उसके केश पक कर श्वेत हो गये। खैर, साईं से तू अब

[1] सन्त सुधासार—गुरु अमरदास, पृष्ठ ३०१।
[2] वही—पृष्ठ ३०२।
[3] वही—शेख फ़रीद, पृष्ठ ४०६।

भी प्रीति कर, जिससे कि तेरे केशों का रङ्ग फिर से नया हो जाये।[1] तू अपने सुहाग को, अपने प्रीतम को खोज रही है, तो तेरे अन्दर जरूर कोई न कोई कमी है, जिसे सुहागिन कहते हैं वह किसी और की तरफ कभी झाँकती भी नहीं। शरीर मेरा तन्दूर की तरह तप रहा है, मेरी हड्डियाँ इंधन की लकड़ी की तरह जल रही हैं, मेरे पैर अगर थक जायें, तो भी मैं अपने प्रीतम से मिलने सिर के बल चलकर जाऊँगी। वह कौन सा शब्द है, वह कौन सा गुण है, वह कौन सा अनमोल मन्त्र है, मैं कौन सा भेष धारूँ जिससे कि मैं अपने स्वामी को बस में कर लूँ। दीनता वह शब्द है, धीरज वह गुण है, शील वह अनमोल मन्त्र है, तू इसी भेष को धारण कर, बहिन, तेरा स्वामी तेरे बस में हो जायेगा।[2] दादूदयाल ने 'प्रेम-प्याले' को पीने की एक अनिवार्य शर्त लगायी है, वह है—

सनमुख सतगुर साथ सूँ, साईं सूँ राता।
दादू प्याला प्रेम का, महा रस्सिमाता॥[3]
आतम चेतन कीजिये, प्रेम रस्स पीवै।
दादू भूलै देह गुण, ऐसे जन जीवै॥[4]

हाय! बेचारी विरहिणी अपने जी की व्यथा किससे कहे, किसके द्वारा उस निठुर के निकट सन्देश भेजे, उसकी बाट जोहते-जोहते तो बेचारी के केश तक बकुल-पङ्खी हो गये। क्रौञ्च की भाँति विरहिणी रात-दिन प्रिय-विरह में तड़पती हुई क्रन्दन करके समय बिताती है, प्रेमी राम से मिलने के लिये उसकी सारी रात आँसुओं में बहती रहती है। बिना प्रिय को भेंटे हृदय का ताप कैसे शमित हो, जब वह अपने प्यारे को देख लेती है तब उसका रोम-रोम सहज पुलक से विभोर हो उठता है। ओ दादू के दिलदार! दादू की एक मात्र अरदास तेरे दीदार की है। लापरवाह महबूब जब फिर भी नहीं सुनता तब बेचारी को विवश होकर अपने इश्क का इजहार करना पड़ता है।

हम को अपणां आप दे, इश्क मुहब्बत दर्द।
सेज सुहाग सुख प्रेम रस, मिलि खेलैं लापर्द॥[5]—दादू

जब तक सीस को न सौंप दिया जाय तब तक इश्क होना सम्भव नहीं। जो प्रेमी मृत्यु से भयभीत न हो वही प्रेम-प्याला पीने का अधिकारी है। अल्लाह

---

[1] सन्त सुधासार—शेख फरीद, पृष्ठ ४१२।
[2] वही—पृष्ठ ४२२-३।
[3] दादूदयाल की बानी, भाग १—पृष्ठ ६।
[4] वही—पृष्ठ २५।
[5] वही—पृष्ठ ३०, ३३, ३४।

का इश्क बड़े सौभाग्य से इस शरीर में प्रकट होता है, क्योंकि इश्क की पवित्र ज्वाला जीवात्मा के ऊपर चढ़े हुए समस्त आवरणों को जलाकर उसे शुद्ध एवं निर्मल बना देती है। लेकिन दर्द तो उस समय होता है जब बेचारी वियोगिनी विलाप करती हुयी विरह की अग्नि में जल मरती है और उसका निर्मोही प्रियतम उसकी खोज-खबर तक नहीं लेता। वह बेचारी क्या करे क्योंकि—

प्रीत जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माँहि।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, दादू दूसर नाँहि॥

और अन्त में मिलन की मङ्गल-बेला भक्ति है, जिसमें सारी द्वैत-भावना समाप्त हो जाती है और प्रेमी, स्वयं प्रिय बन जाता है तथा प्रिय, प्रेमी। बलिहारी है उस विरह की जिसने ऐसा विचित्र रूपान्तर कर दिया—

आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का, अल्लहि आसिक होइ॥
राम विरहिनी ह्वै गया, बिरहिनि ह्वै गई राम।
दादू बिरहा बापुरा, ऐसे करि गया काम॥[1]

दादू ने विरह (इश्क) की इसी महत्ता के कारण उसे अल्लाह की जाति, अङ्ग, औजूद और रङ्ग तक घोषित किया है।

कबीर को अपने पातिव्रत-धर्म-पालन पर गर्व है। तभी तो गर्विता नायिका की भाँति वे अपने प्रियतम पर एकाकी अधिकार चाहते हैं—

नैनां अन्तरि आव तूँ, ज्यूं हौं नैन झँपेउं।
नां देखौं और कूँ, नां तुझ देखन देउं॥[2]

उनके नेत्रों में प्रियतम रमण कर रहे हैं, अतः अन्य के लिये वहाँ कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि जहाँ सिन्दूर की रेखा है, वहाँ काजल नहीं दिया जा सकता।[3] पतिव्रता अपने पति के साथ नरक में भी निवास करना सहर्ष स्वीकार कर लेती है, बिना प्रियतम के उसे स्वर्ग का सुख-वैभव भी नहीं चाहिये। कभी तो वह अपनी हीनता ही में डूबकर मरने लगती है जब कि वह अपनी ओर देखती है और स्वयं में अनेक कमियाँ पाती है क्योंकि मन में न तो प्रभु का विश्वास है और न प्रेम-रस की अनुभूति और न इस शरीर में प्रिय को रिझाने के लिये श्रृङ्गार-सज्जा का कोई सलीका, अतः ऐसी निपट गँवारि कैसे प्रिय के साथ रास-रङ्ग रचाये? लेकिन उसे कोई परवाह नहीं, जब अपना सब बुरा-भला उसने अपने

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ३४।

[2] वही, पृष्ठ ३८, ४३, ४४।

[3] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६।२।

[4] वही, १६।४।

प्रियतम को सौंप दिया है तो फिर उसे क्या लेना-देना ? यदि वह विवस्त्रा रहती है तो उसके पति को ही लज्जा लगेगी ।[१] दादू के लिये तो उसके प्रियतम सर्वस्व हैं। वही उसके पूजा-पाती, तीरथ-तप, योग-भोग, शील-सन्तोष और मुक्ति-मोक्ष हैं। यदि स्वामी से मिलन हो गया तो मानो सबसे मिलना हो गया और यदि उससे मिलने का सौभाग्य न मिल सका तो सारे संसार का मिलना अकारथ है।[२] पतिव्रता तो अपने पति के सङ्केत पर ही उठती-बैठती, आती-जाती, लेती-देती और पहनती-खाती है, तथा अपने घर में रहती हुयी वह पति की सेवा में तत्पर रहती है और जैसे वे रखते हैं वैसे वह रहती है। उसने अपना स्वभाव आज्ञापालन में सदैव तत्पर रहने वाला बना लिया है।[३] उसकी आस्था अडिग है—

पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अङ्ग।
जे जे जैसी ताहि सौं, खेलै तिसही रङ्ग ॥[४]

गरीबदास की वियोगिनी कहती है कि अरे ओ निष्ठुर ! हम तो रात-दिन कभी एक पल के लिये हृदय से तुम्हारी याद नहीं भुलातीं, तुम्हारे वज्रहृदय की बात तुम्हीं जानो परन्तु हमारे नेत्रों से एक क्षण को भी तुम्हारा रूप टल नहीं पाता और अब हमने—

एक मन एक चित दिल को दरद कह्यो,
जान सुजान यार तुम ही विचारिये।
गरीबदास आस तुम बिन कौन पूरै।
एकमेक सुख दीजै दरद निवारिये ॥[५]

मेरी पीड़ा कौन सुनेगा ? किससे कहूँ ? कौन दूसरे की पीड़ा को पहचानेगा ? प्रिय से बिछुड़ी वियोगिनी को ढाढ़स देने वाला कौन है ? आह ! उस सौभाग्यशाली का क्या कहना जो—

पान करै अमरित सुरस, चुगिलै हीरा हाथ।
सो प्यारी पिव आपणै, दूजो सबै अकाश ॥[६]

प्राण-पति नहीं आये। विरहिणी उनके बिना अत्यन्त बेचैन है। बिना देखे अब जैसे प्राण निकल रहे हों। लाल, अब आने में देरी मत करो। कुमुदिनी की

[१] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६।७, २०।१६, १७।
[२] दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ६२।७-११।
[३] वही, पृष्ठ ६३।१८, ६५।३५, ३७।
[४] वही, ६७।५६।
[५] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५०७।
[६] वही, पृष्ठ ५०६।१५-१६।

भाँति तुम्हारे मुख-चन्द्र बिना वियोगिनी कुम्हला रही है। वियोग की व्यथा उसे क्षण-क्षण में तिल-तिल जलाती जा रही है। बिना नीर के मीन जैसे तुम्हारे विरह में वह कुछ देर में तड़प-तड़प कर मर जायगी। पिया-पिया की टेर लगाते-लगाते वह बेहाल हो गयी है। सब नदी-ताल भर गये हैं पर मुझ चातक के लिये क्या? मेरे घन तो तुम हो, ओ स्वाति जल से सलोने आ! तुम्हारे दर्शन के बिना यह 'घन' (वियोगिनी) बेहाल है। रज्जब को अब भी दया करके दर्शन दे दो, तो उसके सारे अरमान पूरे हो जायेंगे। सारी व्यथा दूर हो जायगी।[१] लेकिन जब तक—

दादू नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब बिरह वियोग बिन, कहाँ मिलै सो पीव॥[२]

वषना जी ने प्रिय-दर्शन की उत्कण्ठा एवं उससे उत्पन्न बाधाओं का चित्रण बड़ी सजीव भाषा में प्रस्तुत किया है—

हरि दरसन कारणि हे सखी, म्हारै नैन रह्या जल पूरि।
सो साजन अलगा हुवा, भ्वै भारी घर दूरि॥
पाती प्यारा पीव की, हूँ क्यूँ बाचौं कर लइ।
विरह महा घन ऊमड़्यो, म्हारो नैन न बांचण देइ॥
बटाऊ उहि बाट का, म्हारो संदेसो तिहिं हाथि।
आऊँली नाहीं रहूँ, काहू साधूजन कै साथि॥
ज्यूँ वन के कारणि हस्ती झुरै, चकवी पैले पारि।
यों वषना झुरै राम कूँ, ज्यूँ उलगांणा (परदेशी) की नारि॥[३]

वाजिद जी की सहज-सरल उक्तियों में उनके दिल का सारा दर्द उभर आया है। रात चटकीली चाँदनी में पलँग बिछाया। भरे भादों की भीगी रात में पपीहा पिया-पिया की टेर लगा रहा है। कोयल की मधुर कूक रस की वर्षा कर रही है किन्तु पपीहा की पुकार तो जैसे जले पर नमक लगा रही है। जैसे-जैसे उसकी पुकार मेरे कानों में पहुँचती है वैसे-वैसे कलेजा छलनी होने लगता है। खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। बिना बेदर्दी प्रियतम के फूल, शूल के समान चुभते हैं। एक तो साँपिन सी भयावनी काली रात, उसमें तड़पती हुई पापिन बिजली, ओ प्रीतम! मैं बलिहारी जाऊँ, बिना तुमसे मिले मेरे प्राणों को कैसे चैन मिले? मेरे लिये तीज-त्यौहार मानना कैसा? हे भाई!

---

[१] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५१६।
[२] वही, पृष्ठ ५२७।
[३] वही, पृष्ठ—५४७।

पंछी एक संदेस कहो उस पीव सूँ ।
विरहनि है बेहाल जायेगी जीव सूँ ।।
सींचन हार सुदूर, सूक भई लाकरी ।
हरि हाँ, वाजिद, कोई चतुर सुजान कहे जाय पीव कूँ ।।
जब ते कीनौं गौन भौन नहिं भावही ।
भई छमासी रैन नींद नहिं आवही ।।
मीत, तुम्हारी चीत रहत है जीव कूँ ।
हरि हाँ, वाजिद, वो दिन कैसो होइ मिलौं हरि पीव कूँ ।।[१]

संयोगकालीन सुखद वस्तुएँ भी वियोग में कैसा विपरीत आचरण करने लगती हैं, इसका प्रभावपूर्ण—चित्रण बुल्ला साहब ने प्रस्तुत किया है—

देखौ पिया काली घटा मो पै भारी ।
सुन्नि सेज भयावन लागी मरौं विरह की जारी ।।
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पल छिन नाहिं विसारी ।
चितवत पन्थ अन्त नहिं पायो, जन बुल्ला बलिहारी ।।[२]

प्रिय के वियोग में वियोगिनी की मानसिक स्थिति में कितना परिवर्तन आ जाता है, इसका सवाक् चित्र सुन्दरदास ने उपस्थित करते हुए प्रियतम को लक्ष्य करके कहा है—"विरह रूपी बवण्डर मेरे चित्त को उड़ाकर ले गया, वह तो हे प्रियतम ! तुम्हारे आने पर ही पूर्ववत् लौटकर आ सकता है । दुखदाई विरह ने ऐंठ-मरोड़कर मेरे प्राणों से सारा जीवन-रस निचोड़ लिया, अब मैं कैसे जिऊँ ? सरस बसन्त में सब कोई रङ्गरलियाँ मानते हैं किन्तु बेचारी वियोगिनी उदास है क्योंकि उसका पति उसके पास नहीं है । उसको एक मर्मान्तिक पश्चात्ताप और भी साल रहा है कि जिस प्रकार प्रिय को रिझाकर अपने वश में किया जाता है, वह विधि तो वह अब तक भी नहीं जान सकी और उधर बैरी यौबन तीव्रगति से भागता चला जा रहा है ।[३]" हाय, उस जोगी से कौन मिलन करावे, उसके बिना तो अब रहना दूभर हो गया । मैं प्रियतम की प्यासी हूँ और निरन्तर उसी का नाम रटती फिरती हूँ । अगर वह निर्दयी नहीं मिलता तो मैं अपने प्राण तज दूँगी । ओ प्रियतम ! मैं तेरे दर्शन की प्यासी हूँ । तेरे प्रेम का प्याला पीकर मुझे अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं रही और अब तो—

---

[१] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५५६ ।
[२] सन्त बानी संग्रह, पृष्ठ १७२ ।
[३] सन्त सुधासार, पृष्ठ ६३६ ।

तसवी फेरौं प्रेम की, हिया करौं निवाज।
जहँ तहँ फिरौं दिदार को, उस ही के काज।।
कहैं मलूक अलेख के, अब हाथ बिकाना।
नाहीं खबर वजूद की, मैं फकीर दिवाना।।[1]

दादु की भाँति मलूकदास में भी सूफी शब्दावली की छाप स्पष्ट है। इसका कारण कड़े (मानिकपुर) में सूफियों के सम्पर्क में आना ही कहा जा सकता है। कहीं-कहीं सगुण के से सम्बोधन में पुकारते हुए मलूकदास ने अपने प्रियतम से आग्रह करते हुए और उनकी उपेक्षा को उलाहना देते हुए कहा है कि—"हे दीनदयालु! जब से मैंने तुम्हारे बारे में सुना है तब से मेरे मन में कुछ ऐसी धारणा स्थिर हो गयी है कि तुम्हारा कहलाकर अब मैं और किसी शरण में क्यों जाऊँ? मैंने तुम्हारे प्रेम की पोशाक पहन ली है और अब तो तुम्हीं एक मात्र मेरी उम्मीदों के सिरताज हो। हे मुरारी! मैं यह खुलेआम घोषणा कर रहा हूँ कि यदि मेरी हँसी हुयी तो इसमें मुझ गरीब का कुछ नहीं बिगड़ेगा उल्टे तुम्हारे बड़े नाम पर आँच आयेगी और इस प्रकार तुम हँसी के पात्र बनोगे।[2]" प्रेम के सम्बन्ध में मलूकदास की ये दो-तीन साखियाँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है—

सब बाजे हिरदै बजैं, प्रेम पखावज तार।
मन्दिर ढूँढ़त को फिरै, मिल्यौ बजावनहार।।
करैं परवावज प्रेम का, हृदय बजावै तार।
मनै नचावै मगन होय, तिनका मता अपार।।
जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न सुनाव।
अन्तरजामी जानि है, अन्तरतम का भाव।।[3]

सन्तों की इस प्रेम-साधना को आधुनिक युग के कवि दिनकर ने नयी भाव-व्यञ्जना के द्वारा इस प्रकार (तुलनीय मलूदास) व्यक्त किया है—

बोले प्रेम विकल होता है, अनबोले सारा दुख सह सखि।
तृणावत् धधक-धधक मत जल सखि!
ओदी आँच धुनी विरहिन की, नहीं लपट की चहल-पहल सखि।
अन्तर्दाह मधुर मङ्गल सखि!
प्रीति स्वाद कुछ ज्ञात उसे, जो सुलग रहा तिल-तिल. पल-पल सखि।[4]

---

[1] मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ ७।
[2] वही, पृष्ठ ३२।
[3] वही, पृष्ठ ३५।
[4] कवि दिनकर—रसवन्ती, पृष्ठ १६।

लेकिन हर एक की एक सीमा होती है। सहने की भी एक सीमा होती है। कोई कब तक घुटता हुआ अपनी पीड़ा को पीता रहे। वियोग-व्यथा के इन्हीं तीव्रतम क्षणों में वह प्रियतम को पुकार उठती है।

विरहिणी की कातर पुकार—हे बालम! हमारे घर शीघ्र आओ। तुम्हारे बिना मेरी देह पीड़ा से सन्तप्त हो बहुत दुःख पा रही है। सब लोग कहते हैं कि मैं तुम्हारी परिणीता हूँ किन्तु हाय रे विडम्बना! आश्चर्य है कि मैं जब कि अब तक भी कभी तुम्हारे साथ पर्यङ्कशायिनी नहीं बन सकी, फिर मेरे प्रति तुम्हारा कैसा स्नेह? (क्या केवल मुँह-देखी प्रीति तो नहीं है तुम्हारी) न मुझे अन्न भाता है न नींद, न घर अच्छा लगता है न बन। जैसे कामी को काम और प्यासे को नीर प्यारा लगता है वैसे ही तुम मुझे प्रिय लगते हो। क्या कोई परोपकारी है जो मेरा सन्देश हरि तक पहुँचा दे और उनसे कह दे—'ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाई रे।[1]' ओ माँ! वे सौभाग्यशाली दिन कब आयेंगे जब कि हमारी चिर-प्रतीक्षित साध पूरी होगी और हम प्रगाढ़ आलिङ्गन में भरकर प्रियतम को भेंटेंगी। मेरी एक कामना पूरी कर दो, तुम तो पूर्ण समर्थ हो, क्यों नहीं निर्बन्ध-भाव से मेरे तन-मन-प्राण के साथ खेलते? उदासी भरी घड़ियाँ काटे नहीं कटती, राह देखते-देखते रात बीत चली, बैरिन सेज भी सिंह बन गयी है, जब भी उस पर पौढ़ती हूँ, खाने को दौड़ती है। अब एक छोटी सी विनती कबूल कर लो, मिलन-बेला का सुख देकर तन के ताप को मिटा दो ताकि सखियों को सुहाग के मङ्गल-गीत गाने का अवसर मिले।[2] ओ बेदरदी! अब मेरे, इन रहट से डोलने वाले तन-मन से वेदना का गुरु भार नहीं झिलता—

> तलफै बिन बालम मोर जिया।
> दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया।
> तन मन मोर रहट अस डोलै, सूनी सेज पर जनम छिया।।
> नैन थकित भये पन्थ न सूझै, साईं बेदरदी सुधि न लिया।
> कहै कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।।[3]

सुहाग की बेला—और जब मिलन की सौगात लेकर सुहाग की रात आती है तब चिर काल से जगी आँखों में न जाने कहाँ से नींद उमड़ आती है? प्रियतम तो ढोल बजाते हुए (प्रकाशित रूप से) उसे सनाथ करने के लिये आते हैं किन्तु दुल्हन न जाने किस लाज से भरकर अपना मुख ढाँप लेती है। सिर में सेहरा

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद ३०७।
[2] वही, पद ३०६।
[3] कबीर साहिब की शब्दावली, भाग २, शब्द २८।

बाँधे हाथ में कङ्गन पहने 'बनरी' के आँगन में झूमता हुआ बन्ना आता है और वह बेचारी हाथ में दर्पण लेकर बिना सिङ्गार किये ही स्वयं को उसके प्रति समर्पित कर देती है, वह तो उसकी हो चुकी, उसके मन में जैसा आवै, करे।[१] इस सुहाग-बेला का क्या कहना ? धन्य हो तुम जिसने मुझ गरीबिनी को अनायास सहज सुहाग देकर निहालकर दिया—

> बहुत दिनन में प्रीतम आये। भाग भले घर बैठे पाये॥
> मन्दिर माँह भयो उजियारा। लै सूती अपनो पिय प्यारा॥
> मैं निरास जो नौ निधि पाई। कहा करूँ पिय तुमरी बड़ाई॥
> कहै कबीर मैं कछु नहिं कीन्हा। सहज सुहाग पिया मोहिं दीन्हा॥[२]

दादू के घर जब ऐसे 'पाहुन' आते हैं तो घने आनन्द की लहर दौड़ जाती हैं, चारों ओर मङ्गलाचार की धुन गूँजने लगती है और बधावे बजने लगते हैं। वियोगिनी इतने अयाचित सुख को सम्हाल नहीं पाती। सहज पुलकाकुल-भाव से वह अपनी सखियों से कहती है—'कनक कलस रस माहिं, सखी भरि ल्यावज्यों।' अपने सम्मुख सिरजनहार को पाकर वह कृतार्थ हो गयी। त्रिभुवन-धनी स्वयं आकर उसकी सेज को सुहाग का अक्षय टीका दे गया।[3] उसका स्वप्न सार्थक हो गया—

> पदम कोटि रवि झिलमिलै, अङ्गि-अङ्गि तेज अनन्त।
> बिगसि बदन बिरहनि मिली, घरि आये हरि कन्त॥
> बर आयो बिरहनि मिली, अरस परस सब अङ्ग।
> दादू सुन्दरि सुख भया, जुगि-जुगि यहु रस रङ्ग॥[४]

धनी धरमदास ने अपने 'साहेब' की सेज देखने की साक्षी दी है। लाल महल के लाल कगूँरे हैं और उसमें लाल रङ्ग की खिड़कियाँ लगी हुयी हैं। लाल पलँग का बिछौना भी लाल है और उसमें लाल झालर लगी हुयी है। ऐसे पाटल वर्णी वातावरण में मेरे लाल अनुराग रञ्जित ललित क्रीड़ा कर रहे हैं।[५] कबीर ऐसी ही लाली देखने की कामना से गये थे और स्वयं तद्रूप हो गये थे— 'लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।' ऐसे रसपूर्ण मादक वातावरण में भला गजब की प्यासी सुहागिन प्रियतम से छेड़खानी करने से कैसे बाज न आये—

---

[१] कबीर साहिब की शब्दावली, भाग २, शब्द ८।

[२] वही, शब्द १०।

[3] दादूदयाल की बानी, भाग १, १६६, १६७।

[४] वही।

[५] धनी धरमदास जी की शब्दावली, शब्द १०।

जमुनियाँ की डारि मोरि तोड़ देव हो ।
एक जमुनियाँ के चौदह डारि, सार शब्द लेके मोड़ देव हो ।।
काया कञ्चन अजब पियाला, नाम बूटी रस घोर देव हो ।
सुरत सुहागिन गजब पियासी, अमृत रस में बोर देव हो ।।
धरमदास की अरज गुसाईं, जीवन की बन्दी छोर देव हो ।।[1]

धरनीदास पतिव्रता-स्त्री की भाँति एक अपने प्रियतम से ही अनुरक्त हैं, उनकी दृष्टि में इन्द्र का वैभव भी तृणवत् है । पतिपरायणा की यह हार्दिक इच्छा है कि उसके प्रियतम जिस सिंहासन में आसीन हों, वहाँ आसन बिछाये, बिजना डुलाकर सुख की अनुभूति में डूब जाय । भोजनोपरान्त जब प्रभु शय्या पर जाँय तब उनके चरण-कमलों को हाथ से दबाकर हार्दिक आनन्द में मग्न हो जाय और—

धरनी प्रभु चरनामृत, नितहिं अचइबों हो ।
सन्मुख रहिबों मैं ठाढ़ी, अन्ते नहिं जइबो हो ।।[2]

जब कभी उसे अपने विगत दिनों की याद आती है तो ग्लानि से उसका मन भर जाता है, क्योंकि उसने अपनी बाल्यावस्था (साधना के प्रारम्भिक दिवस) रात-दिन सखियों के साथ खेलने-कूदने (सांसारिकता) में बिता दी । अब प्रियतम से मिलने में बड़ा डर लगता है, किस गौरव के बल पर वह उन्हें मुँह दिखाये । प्रियतम का निवास भी बड़ी ऊँचाई पर है, उस ऊँची अटारी में चढ़ते समय कलेजा काँपने लगता है अर्थात् प्रिय प्राप्ति के लिये उच्चकोटि की साधना अपेक्षित है, उस पथ पर चलने के लिये पर्याप्त शक्ति, धैर्य एवं सम्बल चाहिये । प्रिय-मिलन के रस से परिचित मित्र कहते हैं कि यदि तुम प्रिय का सम्पर्क-सुख चाहती हो तो लज्जा का घूँघट हटाकर उससे आत्मसात्-भाव से मिलो । नैनों में आरती सजाकर उन्हें अङ्क भर कर भेंटो । हे सखी ! जिसमें प्रेम होता है वही प्रिय को जानता है और उसे ही प्यार करता है । तू नाहक काजल पार रही है, बाहरी साज-सिङ्गार अथवा व्यर्थ के दिखावे से वह रसिक प्रियतम रीझने का नहीं ।[3] अरे ओ नादान !

भ्रम का ताला लगा महला रे, प्रेम की कुञ्जी लगाव ।
कपट किवड़िया खोल के रे, यहि विधि पिय को जगाव ।।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, फिर न लगे अस दाव ।

कबीर-वाणी—३८

[1] धनी धरमदास जी की शब्दावली, शब्द २६ ।

[2] वही, शब्द १ ।

[3] कबीर-वाणी, ११ ।

रस-विलास—प्रिय के स्मृति-रस-चिन्तन में डूबी हुई प्रेमिका कभी किसी से प्रेम की पेंग झुलाने का आग्रह करती है और दोनों बाहुओं के खम्भे पर प्रेम के रस से तन-मन को झुलाने का हठ ठानती है। चाहती है कि नैनों की बादरिया झड़ी लगाकर बरसे और हृदय पर श्याम-घटाएँ उमड़-घुमड़ कर छा जायँ और कोई कान के पास आ-आकर प्रिय को व्याकुलता की बात सुना दे।[1] बहुत दिनों के बिछुड़े प्रिय को पाकर वह उन्हें अब किसी कीमत पर जाने नहीं देती, प्रेम-प्रीति में उलझाये रखना चाहती है। तन-मन-धन की बाजी लगाकर प्रियतम से चौसर खेल खेलती है क्योंकि वह दोनों ओर से बेफिक्र है। यदि हार गई तो अपने पिया की हो जायगी और अगर जीत गई तो अपने प्रियतम पर अधिकार पा जायेगी।[2] उसके चतुर सुजान रङ्गरेज प्रियतम ने स्याही (सांसारिक कलुष) का रङ्ग छुड़ाकर मजीठ (प्रगाढ़ अनुराग) का रङ्ग दे दिया है जो धोने से नहीं छूटता और दिन-दिन सुरङ्ग होता जाता है। भाव के कुण्ड में स्नेह के जल में मेरी चुनरी को डुबोकर उन्होंने खूब झकझोर कर उसे रँगा ताकि भीतर-बाहर सब जगह रङ्ग एकदिल हो जाय। मेरे सौभाग्य का क्या कहना? आत्मा को सुवासित करने वाली ऐसी शीतल चूनर ओढ़कर मैं अपने प्रिय के प्यार में मग्न हो गयी।[3] उस आनन्द को कैसे वाणी का ओछा परिधान पिन्हाऊँ क्योंकि—

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिनि मिलि गये, फीकी परी बरात॥—कबीर-वाणी २३३

आध्यात्मिक परिणय के अनन्तर साधक में एक विचित्र परिवर्तन आ जाता है। प्रिय-मिलन के आनन्द-रस में छकी उसकी आत्मा रात-दिन मतवाली बनी रहती है और उसके लिये संसार के सारे अनुपम आकर्षण फीके पड़ जाते हैं क्योंकि प्रीति उसके मन में प्रविष्ट होकर रोम-रोम में बिंध जाती है—

कबीर प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

सुहाग की बेला में दयाल से दिल मिल जाने पर परदे की व्यर्थता दादू ने भी स्वीकार की है—

जब दिल मिला दयाल सौं, तब सब पड़दा दूरि।
ऐसे मिलि एकै भया, बहु दीपक पावक पूरि॥

---

[1] कबीर-वाणी, १००।
[2] वही, १८१, १८२।
[3] वही, २२६।

प्रेम-प्रीति और स्नेह के बिना सारे शृङ्गार अनाकर्षक हैं, भला ऐसे फीके शृङ्गार पर प्रियतम कैसे रीझे ? उस सुन्दरी को क्या कहा जाय जो सदा सोती रही और कभी जागकर प्रिय से रस-विलास कर प्रेम का स्वाद नहीं लिया। वह सुन्दरी धन्य है जो तन से स्वामी की सेवा करती हुई मन से प्रिय में एकान्त भाव से अनुरक्त होकर प्रेम-रस का पान करती है।[1] सचमुच प्रिय के साथ प्रेम-क्रीड़ा का सौभाग्य बड़े भाग्य वाली को ही मिलता है—

सुन्दरि कौं साई मिल्या, पाया सेज सुहाग।
पिय सौं खेले प्रेम रस, दादू मोटे भाग॥

सन्त कवियों की उपर्युक्त प्रगाढ़ शृङ्गारपरक उक्तियों में किसी प्रकार की वासना की गन्ध नहीं मिलती, वरन् उनकी इस प्रेमाकुल पुकार में एक सात्विक सुरभि समायी हुयी है। उनकी आत्मा की आवाज परमात्मा को निविड़ भाव से चाहने की परिचायक है, अतः इसमें अन्य किसी वस्तु के लिये स्थान ही कहाँ ? कबीर ने इस सम्बन्ध में कहा है कि शरीर में प्रभु का प्रेम प्रकाशित हो जाने पर अनन्त योग जग गया अर्थात् चित्तवृत्तियों का स्थायी निरोध हो गया, अतः ऐसी स्थिति में बहुरङ्गी वासना के उदय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सुख का शाश्वत उदय हो गया और प्रिय कान्त की प्राप्ति हो गयी तथा इस शरीर में ही प्रभु का प्रेम प्रकाशित हो गया। अन्तःकरण दिव्य ज्योति से प्रकाशित हो उठा, मुख से कस्तूरी की महक निकलने लगी और वाणी से सुगन्ध की लपटें उठने लगीं—

पिञर प्रेम प्रकासिया, अन्तरि भया उजास।
मुखि कस्तूरी महमही, वाणी फूटी बास॥[2]

निस्सन्देह, सन्तों की प्रेम-साधना उसी आध्यात्मिक कस्तूरिका-गन्ध से गमगमा रही है जहाँ वासना के कीट प्रवेश करते ही संज्ञाहत होकर निर्जीव हो जाते हैं। इसी पूर्व अमृत रस को पानकर कबीर ने कहा था—

जुगन जुगन की तृषा बुझानी, करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै॥

और इसी प्रेम रस के वास्ते दादू ने अपने महबूब से वरदान में इश्क का दर्द माँगा—

हमकूँ अपणां आप दे, इस्क मुहब्बत दर्द।
सेज सुहाग सुख प्रेम रस, मिलि खेलैं लापर्द॥

●●●

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, सुन्दरी को अङ्ग १०, १३, ३१।

[2] कबीर ग्रन्थावली, परचा को अङ्ग १२, १८।

प्रकरण ६

सन्त-साहित्य में प्रतीक-विधान, रूपक और उलटवासियाँ

प्रतीक की आवश्यकता—सन्तों की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक तत्व निहित है। इसी आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा ही परम तत्व की उपलब्धि की जा सकती है। किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये भाषा का माध्यम अत्यन्त अपूर्ण एवं अपर्याप्त है तथा उसके अभिप्रेत-जन्य अभिप्राय को अवगत कर लेना भी कम कठिन नहीं। सत्य तो यह है कि वह असीम, भाषा ऐसे सीमित साधन में बँध नहीं पाता, भाषा के झीने आवरण से निकल कर आध्यात्मिक रस बिखर जाता है। लौकिक कार्य-व्यापारों की अनुभूतियाँ ही भाषा के द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं, आध्यात्मिक अनुभूति को किसी वाणी या भाषा की अपेक्षा नहीं—'गूँगे केरी सर्करा, बैठे मुसकाई।' भाषा के इसी संकीर्णता-दोष के कारण साधकों ने कभी-कभी मौन को ही सर्वोत्तम अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध से एक बार महासत्य के सम्बन्ध में तीन प्रश्न किये गये किन्तु तीनों बार वे मौन रहे, जब उनसे उत्तर न देने का कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा—"मैं उत्तर तो दे चुका हूँ। वह महासत्य मौन की तरह बचनातीत है।" इसी प्रकार एक फ़कीर छै कोस रास्ता पैदल चलकर कबीर से मिलने गये और दोनों जने एक दूसरे का हाथ पकड़कर चुपचाप सारी रात बैठे रहे। दूसरे दिन तृप्त होकर फ़कीर अपनी नाव पर जाने के लिये विदा लेकर चल दिये। सब लोग कबीर से पूछने लगे—"इतनी दूर से आकर वे चुप क्यों रहे और आप भी कुछ बोले क्यों नहीं?" कबीर ने कहा—"हम दोनों में इतनी बातें हुई हैं कि भाषा में वे अँट नहीं सकतीं। मन के भाव को यदि मैं मुख की भाषा में अनुवाद करके बोलता तो उसमें विकार आ जाता। फिर उन बातों को जब वे मन की भाषा में अनुवाद करते, तो और भी विकार होता। इससे असल भाव का कुछ अंश बच रहता है।[1]" फिर भी उस तत्व के साक्षात्कार-जन्य उल्लास को अपने भीतर न पचा सकने के कारण साधक उसकी अभिव्यक्ति आभास या साङ्केतिक रूप में देने लग जाता है। अनिर्वचनीय आध्यात्मिक अनुभूति को सन्तों ने 'गूँगे का स्वाद' बतलाया है। गूँगा किसी वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये केवल सङ्केत मात्र कर सकता है। आध्यात्मिक रस के

[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन—संस्कृति-सङ्गम, पृष्ठ १६४।

उपभोक्ता की इसी विचित्रता की ओर लक्ष्यकर कबीर ने कहा है कि "उस अविगत, असीम एवं अनुपम तत्व को देखता है किन्तु प्रयत्न करने पर भी अपनी उस सम्बोधित अनुभूति को व्यक्त करने में असमर्थ रहता है। मिठाई खा चुकने वाले गूँगे की भाँति वह मन ही मन प्रसन्न होता है और केवल सङ्केत करता है।[1] दादू को भी इस उलझन का सामना करना पड़ा था—

केते पारिख पचि मुये, कीमत कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाइ।।

सन्त अपनी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये इसी सांङ्केतिक भाषा (प्रतीकात्मक पद्धति) का आश्रय ग्रहण किया करते हैं। यद्यपि सङ्केत, साङ्केतिक वस्तु के तात्विक स्वरूप को उपस्थित करने में असमर्थ रहता है, वह मात्र उसका आभास या सङ्केत ही उपस्थित करता है, अतः इस अर्थ में सम्पूर्ण मानवीय भाषा साङ्केतिक है।[2] प्रतीकों की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए आगे चलकर यही महोदय कहते हैं कि जीवन में प्रतीकों का काम निश्चित, संयत एवं पुनरभिव्यञ्जनीय बनकर उसे अपनी भावात्मक कुशलता से पूर्ण बनाना होता है। प्रतीकों के प्रयोग से वर्ण्य-विषय की अभिव्यक्ति में एक अनूठी आभा आ जाती है और वे उसे मूल स्वर तक पहुँचाने में पर्याप्त सहायता प्रदान करते हैं।' प्रायः आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में हमें प्रतीकों की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योंकि वहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्य को स्पष्ट करने, सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य बनाने एवं भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से उसे उपयुक्त बनाकर प्रकट करना पड़ता है। सन्त कवि, वाणी से अगोचर स्वसंवेद्य अनुभूति की अभिव्यक्ति असहाय वाणी को साधन बनाकर करता है किन्तु आध्यात्मिक रस-राशि शब्दों में नहीं अँट पाती अतः वाच्यार्थ की अपेक्षा सङ्केतार्थ का सहारा लेने में उसे कुछ सुगमता एवं सफलता दिखाई पड़ती है। डॉ० बड़थ्वाल का कथन सत्य है कि जीवन के अन्तस्तल तक प्रवेश पाये हुए तथा सूक्ष्म दृष्टि वाले आत्मद्रष्टाओं की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव जाति के उपयोग में तभी आते हैं जब उन्हें गहरे रङ्गों में रञ्जित एवं पूर्ण सौन्दर्ययुक्त प्रतीकों के बने रूपकों का आश्रय मिल जाता है, परन्तु इस साङ्केतिक भाषा को समझने के पहले कुछ न कुछ सीखने की भी आवश्यकता पड़ती है, ऐसा न होने पर प्रतीकों का सच्चा मर्म समझने में भूल हो जाया करती है।[3] सम्भवतः इसी आशङ्का से कबीर ने सांङ्केतिक भाषा को न

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद ६।

[2] श्री ए० एन० ह्वाइटहेड—सिम्बल इज्म, पृष्ठ ७३।

[3] डॉ० बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३८।

समझ पाने वाले व्यक्ति से विचार-विनिमय करने की आज्ञा नहीं दी।[1] इस साङ्केतिक अर्थ को समझने की क्षमता गुरु की कृपा से ही सम्भव है जिसने ऐसे ज्ञान की दीक्षा गुरु के चरणों में बैठकर नहीं ली, भले ही वह नानाविध शास्त्रों में निष्णात हो गया हो, सन्त की दृष्टि में वह भारवाही गर्दभ से अधिक नहीं है। सन्त उसके समस्त ज्ञान की परीक्षा लेते हुए चुनौती के स्वर में कहता है—

> **कहँहि कबीर सुनहु हो सन्तों, जो यह पद अरथावै।**
> **सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भगत कहावै॥**[2]

प्रतीक-विधान की व्याख्या—अतः प्रतीक-विधान वह प्रक्रिया-विशेष है जिसका प्रयोग भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में किया जाता है तथा जो साधन की स्वानुभूतिजन्य भावना को दूसरे के निकट सुबोध बनाने के लिये साधन बनता है। जब निर्गुणवादी अपनी अनूठी आध्यात्मिक अनुभूति को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है—

> **ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कथौं गम्भीरा लो।**
> **भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो॥**
> **बाहर-भीतर सकल निरन्तर, चित्त अचित दोउ पीठा लो।**
> **दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो॥**[3]

—तब अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिये उन लौकिक स्तर की अनुभव-जन्य अभिव्यक्ति-विधाओं को खोज निकालता है जिनकी प्रवृत्तियों के साथ अधिक से अधिक औपम्यमूलक योजना लक्षित होती है। इस प्रकार के अभिव्यक्तिपरक प्रयोगों को 'प्रतीक-विधान' के नाम से अभिहित किया जाता है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने प्रतीक-विधान की पूर्णता के विषय में लिखा है कि 'प्रतीक' से अभिप्राय किसी वस्तु की इङ्गित करने वाला न तो सङ्केत-मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका एक जीता-जागता एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है जब हमारी भाषा पङ्गु और अशक्त सी बनकर मौन धारण करने लगती है और अनुभवकर्ता की विविध भाव-शिला से चतुर्दिक् टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिये मचलने से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी

[1] सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४५।

[2] बीजक, शब्द ५६।

[3] कबीर-बाणी, ९।

यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिये उनके साम्य की खोज अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भावधारा को प्रवाहित कर देते हैं।[१]

जहाँ भाषा संवेदजन्य अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में स्वयं को असमर्थ पाती है तब एक ऐसे कलात्मक युक्ति की खोज की जाती है जो उसकी अशरीरी, सूक्ष्म, भाव-प्रवण अनुभूतियों को वाणी का परिधान पिन्हा सके। कुशल शब्दशिल्पी या कलाकार अपनी अनुभूतियों की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिये जो एक माध्यम चुनता है, उसे 'प्रतीक' की संज्ञा दी जाती है। प्रतीकों की परम्परा बड़ी प्राचीन है। वेद, उपनिषद् एवं पौराणिक ग्रन्थों में प्रतीक के प्रभूत प्रमाण प्राप्य हैं। इस प्रकार प्रतीक-योजना का उद्भव अनुभूति की सबल और अधिक व्यञ्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिये ही हुआ। विस्मय की भावना और आनन्द की कामना का योग प्रतीकों के प्रयोग में अन्तर्निहित है।[२]

प्रतीक-निर्वाचन के लिये हमें अपने दैनिक जीवन पर दृष्टि-प्रक्षेप करनी होती है। प्रतिदिन के विविधकार्य-व्यापारों, उनमें प्रयुक्त होने वाले अनेक उपकरणों तथा विविध भाव सम्बन्धों (दास्य, सख्य एवं दाम्पत्य) को हम प्रतीक रूप में ग्रहण कर लेते हैं। बहुत से प्रतीक तो किसी सम्प्रदाय-विशेष की दीर्घ परम्परा में प्रयुक्त होते आने के कारण किसी अर्थ में रूढ़ि हो जाते हैं और कोई प्रतीक संख्यावाची बन जाते हैं जैसे, पाँच और पचीस—पाँच इन्द्रियों तथा पचीस प्रकृतियों के प्रतीक हैं। तीन की संख्या तीन गुण – सत, रज, तम, मन-पवन-सुरति, तथा इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना तीन नाड़ियों की सूचक होती है। इसी प्रकार आठ से अष्ट दल कमल, नौ से देह के नव-द्वार और दसवें द्वार से ब्रह्मरन्ध्र का बोध होता है कभी-कभी प्रतीकों का प्रयोग अत्यन्त दुर्बोध उलटबासियों में भी किया जाता है जिसका रहस्य ज्ञात न होने से सुनने वाले को कहने वाले का मुँह ताकना पड़ जाता है। उदाहरण के रूप में कबीर की ये उलटबासी लें—

> कैसे नगरि करौं कुटवारी, चञ्चल पुरिष बिचषन नारी।
> बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहे तीन्यूँ साँझ॥
> मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।
> मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पहरइया॥
> निति उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥[३]

[१] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १४२।

[२] हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य में प्रतीक-योजना, पृष्ठ ३८८।

[३] कबीर ग्रन्थावली—पद ८०।

पद के अभिधार्थ के अनुसार वक्ता उस नगर की कोतवाली करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है जिसमें निवास करने वाला पुरुष चञ्चल और स्त्री विचक्षण है। जहाँ पर बैल को प्रसव होता है और गाय बन्ध्या बनी रहती है तथा तीनों समय (सायं, प्रातः, मध्याह्न) बछड़ा दुहा जाता है। मकड़ी के घर की देख-भाल मक्खी करती है और मांस की रखवाली चील्ह। बिल्ली रूपी नौका का खेवनहार चूहा है तथा मेढक के शयन कक्ष का प्रतिहारी सर्प। जहाँ नित्य सियार-सिंह का संग्राम छिड़ा रहता है और इस विचित्र स्थिति की जानकारी किसी विरले को ही हो पाती है। परन्तु प्रतीक की कुञ्जी से खोलने पर हमें एक भिन्न रहस्य का पता चलता है। यदि हम 'नगर' को मानव-शरीर के प्रतीक रूप में स्वीकार कर उसके निवासी पुरुष-स्त्री को क्रमशः मन एवं मन से उद्भूत कामना का प्रतीक समझ लें तो हमें इस विचित्र कार्य-व्यापार में भी एक अनूठापन मिलने लगेगा। विविध संस्कारों के बोझ से आक्रान्त बैल रूप कलुषित मन अनेक प्रकार की दुर्भावनाओं को जन्म देता है किन्तु सात्विक वृत्ति बन्ध्या गाय की भाँति निश्चेष्ट बनी रहती है। ऐसी स्थिति में बछड़ा रूपी इन्द्रियों से मनमाना काम लिया जाने लगता है। इस प्रकार की अराजकता में कामना (मक्खी), माया (मकड़ी) के घर की मालकिन बन बैठती है और चील्ह की भाँति लोलुप दृष्टि वाली बनकर अपने चारों ओर फैले विषयों की रक्षा करने लग जाती है। दुर्बुद्धि रूपी बिल्ली जो प्रायः मन रूपी मूषक पर आक्रमण कर बैठती है, इस समय नाव जैसी बन जाती है जिसका वह कर्णधार बन जाता है अर्थात् मन, दुर्बुद्धि का सञ्चालन करते हुए उससे मनमाना काम करवाने लगता है तथा संशय रूपी सर्प को अपने निकट देखकर भी सुख की नींद में सोने का बहाना करता है। मन की इन कार्यवाहियों से हमारी आन्तरिक वृत्ति निरन्तर अस्थिर बनी रहती है जिससे तङ्ग आकर शृङ्गार रूपी जीव को निरन्तर सिंह रूपी काल से युद्ध करना पड़ता है। इस युद्ध के व्यूह-रचना की जानकारी किसी बिरले सेनापति को ही प्राप्त होती है।

सन्तों ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथों की साधना में प्रचलित उन्हीं प्रतीकों को अपनाया है जिनका सम्बन्ध किसी योगपरक साधना से था। इसी प्रकार उन्होंने वर्णन-शैली में मधुरता लाने एवं प्रेम की तीव्रता के लिये भारतीय परम्परा के अनुकूल प्रतीत होने वाली सूफियों की प्रतीक-पद्धति को निस्संकोच ग्रहण किया है, साथ ही अपने समयोचित भक्तिकालीन वातावरण से भी उन्हें पर्याप्त प्रतीक प्राप्त हुए हैं। प्रतीकों के प्रयोग में उन्होंने सुबोधता एवं स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखा है। हाँ, उन प्रतीकों में अवश्य दुर्बोधता आ गयी है जिसमें वे सम्प्रदाय स्वीकृत मान्यताओं के निराकरण में लग गये थे या उलटवासियों में अपर पक्ष को चुनौती देते हुए पहेलियाँ बुझाने लगे थे।

सिद्धों में प्रतीक-पद्धति—सिद्धों ने सन्ध्या भाषा में ऊपर से शृङ्गारपरक प्रतीत होने वाले पदों में प्रज्ञोपमात्मक कमल-कुलिश योग के गम्भीर अर्थों के सङ्केत समाविष्ट कर दिये थे जिसे टीकाकारों ने प्रतीकों के गुह्य अर्थ की खोज कर उसमें निहित वास्तविक रहस्य का उद्‌घाटन किया। सिद्धों की प्रतीक-योजना प्रज्ञोपायात्मक अथवा नायक-नायिकापरक है। नायक के लिये सिद्धों ने वीर, शबर, हरिण आदि प्रतीक प्रयुक्त किये हैं। वीर की व्याख्या करते हुए 'दोहाकोष' में कहा गया है कि चित्त-वज्र-प्रज्ञोपाय से जो महाराग द्वारा विराग का दमन करता है उसे वीर कहते हैं, यह सुरतवीर इसलिये कहलाता है क्योंकि वह मकरन्द का पान करता है और महासुख चक्र में रमणी महामुद्रा नैरात्मा रूपी नायिका से उत्साहपूर्वक सम्भोग करता है। नायक-नायिका को हरिण-हरिणी का प्रतीक विषयों के प्रति मान कर शीघ्र आसक्त हो जाने की कल्पना मान लिया गया है। गुण्डुरीपा ने योगी की भार्या योगिनी को सम्बोधित कर कहा है कि रे योगिनी, तीनों नाड़ियों को दबाकर मुझे एक प्रगाढ़ आलिङ्गन दो जिससे कमल-कुलिश योग में समय बीत जाय और हमें उसका तनिक भाव न हो। मैं तुम्हारे बिन एक पल भी नहीं रह सकता। आ, मैं तेरे होठ चूमूंगा और कमल-रस का पान करूँगा। डोम्बीपा ने गङ्गा-यमुना की नौका-वाहिका मातङ्गी का वर्णन करते हुए कहा है कि गङ्गा-यमुना के सङ्गम में एक नौका बह रही है और उसमें एक मातङ्गी बैठी है जो सहजभाव से योगियों को पार उतार देती है। ओ डोम्बी, खेती चलो, देर हो रही है। सद्गुरु के उपदेश से हम पञ्चजिनपुर (पञ्चतथागतों का देश) शीघ्र पहुँच जायेंगे। पाँच पतवार इस नाव को खे रहे हैं, पाल बँधे हैं। गगन-शून्य-पात्र से नौका में भर आने वाले जल को मैं उलीच रहा हूँ। संसार के पालों को फैलाने और समेटने के सूर्य और चन्द्र दो चक्र हैं। वाम और दक्षिण इन दोनों कूलों से बचकर स्वच्छन्द मार्ग से चलती चलो। यहाँ गङ्गा-यमुना ललना और रसना नाड़ियों का वाचक है। वाम-दक्षिण तथा सूर्य-चन्द्र से भी इन्हीं का बोध होता है। मातङ्गी या डोम्बी नैरात्मा है। सहजयान ही नौका है जो भवसागर से पार करा देती है। पाँच डांडों का अर्थ चतुर्विध शून्य पञ्च-क्रमोपदेश है। इस प्रकार ललना और रसना को परित्याग कर मध्यम-मार्ग अवधूती को ग्रहण करना ही हठयोग साधना में सहज-पद्धति या मध्यम-मार्ग है जिससे महामुद्रा सिद्ध होती है।[1]

सिद्धों के चर्यापदों में कुछ प्रतीक शैलीगत चमत्कार दिखाने के लिये प्रयुक्त हुए हैं और कुछ उलटवासी शैली में अथवा श्लेष पर आधारित हैं। कहीं प्राणवायु

[1] डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य, पृष्ठ २७७।

के लिये सास, अवधूती के लिये वधू तथा अज्ञानी चित्त को अँधेरे में घूमने वाला चूहा बताया गया है। एक स्थल में शान्तिपा ने कपास धुनने के रूपक में सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान और चित्त के गहन विशोधन को बार-बार कपास धुनने के रूप में निरूपित किया है। एक अन्य प्रतीक वीणापा का वीणावादन सम्बन्धी है जिसमें कहा गया है कि वीणा की सूर्य रूपी तुम्बी में शशि रूपी तन्त्री लगी है, अनाहत का दण्ड दोनों को सम्बद्ध करता है। आली (स्वर) तथा काली (व्यञ्जन) इसके प्राथमिक सरगम हैं। साधक वज्रनृत्य कर रहा है। सहसाधिका योगिनी गा रही है, बुद्ध नाटक का अभिनय हो रहा है। इस रूपक में कई प्रतीक वीणावादन की प्रक्रिया से लिये गये और तत्सम्बन्धी अन्य उपमान ग्रहण कर रूपक को परिपूर्ण बना दिया गया है और वीणापा की वीणावादन-चर्या को आध्यात्मिक रूप दिया गया है।[१]

नाथसाहित्य में प्रतीक और रूपक—नाथपन्थी योगी गर्व के साथ अपने को तीन लोक से न्यारे तथा सही रास्ते पर चलने वाले बतलाते हैं और सारे संसार को भ्रम के कारण उलटे बहे जाने के ऊपर तरस खाते हैं। अपने धर्म का प्रचार करने के लिये उन्होंने जनता को अचम्भे में डाल देने वाली धक्कामार भाषा एवं उक्तियों का प्रयोग किया है। वे लोक-विरोधी चौंका देने वाली उक्तियों का प्रयोग उड़े उत्साह के साथ करते हैं। कहीं 'गो-मांस-भक्षण' और 'वारुणीपान' को कुलीनता का लक्षण बताते हैं, कहीं गङ्गा-यमुना के बीच पवित्र भूमि में निवास करने वाली तपस्विनी बाल-विधवा का बलात्कारपूर्वक ग्रहण विहित बताते हैं और कहीं मन्त्र-तन्त्र की व्यर्थता घोषित करते हुए अपनी गृहिणी के साथ सम्यक् सम्भोग से निर्वाणपद को सुलभ बताते हैं। उपर्युक्त तीनों उक्तियाँ लौकिक दृष्टि में बड़ी ही भ्रष्ट हैं किन्तु किञ्चित् धैर्य के साथ प्रतीकपरक रहस्य का उद्‌घाटन करने से एक गूढ़ अर्थ की सिद्धि होती है। योगियों के अनुसार 'गो' जिह्वा का नाम है और उसे तालु में उलटकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाना ही 'गोमांस-भक्षण' है। तालु के नीचे चन्द्र से स्रवित सोम रस का पान ही वारुणी का पीना है जो प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है। इसी प्रकार गङ्गा इड़ा नाड़ी है और यमुना पिङ्गला, इन दोनों के बीच की नाड़ी सुषुम्ना में कुण्डलिनी नामक बाल-विधवा को बलात् खींच ले जाना ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। अन्तिम उक्ति में घरनी के साथ केलि करने का अर्थ महामुद्रा की साधना है जिसके बिना बोधि प्राप्ति की आशा व्यर्थ है।[२] नाथपन्थी योगियों ने बहुत से साङ्केतिक,

---

[१] डॉ० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृष्ठ २८०-१।

[२] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ८१-८२ से साभार गृहीत।

पारिभाषिक और सङ्ख्यामूलक प्रतीकों का प्रयोग किया है जिसका परवर्ती सन्त-साहित्य में स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, उन्होंने ब्रह्मरन्ध्र के लिये गगन-मण्डल, सुषुम्ना के लिये बङ्क नाल, मूलाधार के लिये सूर्य तथा सहस्रार स्थिति अमृत तत्व के लिये चन्द्र को प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। संख्यामूलक प्रतीकों की चर्चा पीछे की जा चुकी है।

सन्त-साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों, रूपकों और उलटवासियों को समझने के लिये नाथ पन्थियों की साधना में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन आवश्यक है। बिना सङ्केतों की जानकारी के गूढ़ उक्तियों के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता और न वास्तविक अर्थ-प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस दृष्टि से यहाँ विभिन्न योग-ग्रन्थों से प्रसिद्ध साङ्केतिक शब्दों का चयन किया जा रहा है—

टीका के सङ्कलित—अकास (आकाश)—अन्तःकरण, आत्मस्थान, परमात्मा की दिशा, ऊँची स्थिति।

अगनि (अग्नि) विरह या ज्ञान विरह की अग्नि, ब्रह्माग्नि।

अमृत—सात्विक वाणी, परमात्मा का नाम, राम-नाम, राम रस।

ऊँट, कउवा, काइथ, खूँटा, दादुर, भवर, मछ, मींडक, मृग-मन।

जुलाहा, खसम, हंसा-जीव।

चरखा, चोलना, चकवा, चेला-चित्त।

कन्दलि (कदली), कोट, गाँव, किङ्गरी, डोली, भवरी-काया।

कुटंब (कुटुम्ब), गाइ, बछरा, लरिका, सखी, सुरति-इन्द्रियाँ।

माइ, सापणि (सांपिन)—माया।

हंस—परमहंस आत्मा, सन्त।

सूई—सुरति, भक्ति।

डोरा—सांस।

लेज—लौ।

नाममाला से संगृहीत—अग्नि—विकार, षट्-दुर्गुण।

अवधूत, कलाल, कायथ, कौआ, गज, जोगी, पतङ्ग, बगला. मर्कट, मजा, मूसा-मन।

गणिका—माया। कलाली—मलिन मनसा।

बिलाई—कुबुद्धि। बेटी—सुबुद्धि।

गरज, डोरी, धूरि, सूत्र-सुमिरन।

चकवा, चरखा, चातक, चोर, चूल्हा-चित्त।

संख्यावाचक शब्द—एक—ब्रह्म, परमात्मा, प्राण।

दो—गुण (शीत, उष्ण), राग-द्वेष, पाप-पुण्य, लोक-परलोक, द्विदल आज्ञाचक्र।

तीन—तीन गुण सत्व-रज-तम, मन-पवन-सुरति, इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्ना, तीन लोक, तीन देव।

पाँच—(पाण्डव, भैया, लरके, सखियाँ, जन आदि), पञ्च इन्द्रियाँ, पञ्च तत्व, पञ्च प्राण, पञ्चतन्मात्र।

छः—पाँच इन्द्रियाँ एक मन, छः दर्शन, छः दिशा, छः यती, षट्-चक्र, षट्-दल कमल, स्वाधिष्ठान चक्र।

आठ—पाँच तत्व तीन गुण, अष्टदल कमल, पाँच तत्व और तीन गुणों वाली काया।

नौ—देह के नव द्वार, नव खण्ड, नव द्रव्य।

दस—दश दिशाएँ, दशदल कमल, मणिपूर चक्र (नाभि), दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र।

बारह—बारह अङ्गुल परिमाण चलने वाली सांस, द्वादशदल कमल, अनाहत चक्र (हृदय)।

चौदह—१० इन्द्रियाँ + चार मन-चित्त-बुद्धि-अहङ्कार।

सोलह—षोडशदल कमल, विशुद्ध चक्र (कण्ठ)।

पच्चीस—पच्चीस प्रकृति—प्रत्येक तत्व की पाँच पाँच प्रकृतियाँ।

तैंतीस—५ तत्व + ३ गुण + २५ प्रकृतियाँ।

बहत्तर—शरीर में ७२ कोठे।

चौरासी—चौरासी लक्ष योनियाँ। इक्कीस हजार छः सौ जीवन में साँसों की पूरी संख्या।

हठयोग प्रदीपिका से सङ्कलित—अमृत—तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से स्रवित होने वाला सोम (रस) जिसका पान योगी अपनी जिह्वा को उलटकर तालु मूल-विवर में प्रवेश कराके करता है।—हठ प्र० ३।७७

कपाट—सुषुम्ना, मोक्षद्वार, ब्रह्मद्वार (३।१०५)।

कल्पलतिका (बेली) कबीर (उन्मनी तत्व में मन के समाहित होने की अवस्था—(४।१०४)

कुञ्चिका—कुण्डलिनी—जिसके द्वारा योगी सुषुम्ना का द्वार वैसे ही खोलता है जैसे कुञ्जी से बन्द कपाट—(३।१०५)

खग—उन्मनावस्था में परकटे पक्षी की भाँति मन की छिन्नावस्था—(४।६२)

गङ्गा—इड़ा नाड़ी (३।११०) यमुना-पिङ्गला नाड़ी (३।११०)

सरस्वती—सुषुम्ना (३।२४) त्रिवेणी—भूमध्य में तीनों नाड़ियों का सङ्गमस्थल—(३।२४)

सूर्य—नाभिदेश में स्थित सूर्य जो तालुमूल के चन्द्र से स्रवित होने वाले अमृत को सोख लेता है—(३।७७)

सलिल सैन्धव—मन और आत्मा की तादात्म्यावस्था जनित समाधि (लूण विलग्गा पांणिया)—४।५।[1]

उपरिलिखित साङ्केतिक शब्दावली का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर ही सन्त-साहित्य में प्रयुक्त (विशेषतया कबीर-साहित्य में) उलटबासियों और योगपरक रूपक-रहस्य का सूत्र हाथ आ सकता है। इस प्रकार, पूत के (जीव के) पहले बाँझ माता का (माया का) जन्म, बाम्बी का (ब्रह्म नाड़ी का) भुजङ्ग को ग्रास कर जाना (क० ग्र० पद, १६२), किसी विचित्र बेलि का (उन्मनी का) लहलहाना और (विषयवारि से) सींचने पर कुम्हला जाना और आकाश (शून्य-चक्र) में फल देना (वही पृष्ठ ८६।५८-३), चन्द्र (तालु के नीचे) और सूर्य के (नाभि के ऊपर) खम्भों में बङ्कनाल की (कुण्डलिनी की) डोरी बाँधकर झूलती हुयी सखियों की (इन्द्रियों की) क्रीड़ा से दुलिहन का (मन का) आकर्षित होना, नीचे से ऊपर को बहती हुयी गङ्गा-यमुना (इड़ा-पिङ्गला) और उनमें षट्चक्र की गगरी का भरा जाना (क० ग्र० पद १८) धागे के (ध्यान के) टूटने से गगन का (शून्य समाधि का) बिनष्ट होकर और सबद का गायब हो जाना (पद ३२), जहाँ सूर्य और चन्द्र का प्रकाश नहीं जाता वहाँ (अर्थात् सहस्रार-चक्र में) आनन्द रूप का दर्शन पाना (पद ३१), शून्य में अनाहत तूर्य का बजना (पद ७), डाइन का (माया का) कुत्ते पर (मन पर) डोरा डालना, पाँच कुटुम्बियों का (तत्वों का), शब्द का बजना, मृग या शशक का (मन का) पारधी को (जीव को) घेर लेना (पद ६) आदि बातें अत्यन्त सरल हो जाती हैं। (कबीर पृष्ठ ८८)।

सन्त-साहित्य में प्रतीक-विधान—सन्त कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः अद्वैतवादी है। वे तात्त्विक रूप से आत्मा और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। तत्कालीन वातावरण एवं युग की आवश्यकताओं के अनुरूप तथा सूफियों के प्रभाव से सन्त, निराकार उपासना की ओर उन्मुख हुए थे किन्तु निर्गुणिया होने पर भी वे भगवान् के उन्हीं गुणों पर रीझते दिखायी देते हैं जिन पर सगुण भक्त। यह भी सत्य है कि सन्तों की उपासना का केन्द्र-बिन्दु 'निर्गुण-सर्गुण से परे' है किन्तु इतना सब होने पर भी वे उसी व्याकुलता, तन्मयता एवं विभोर-भाव

---

[1] डॉ० रामकुमार वर्मा (सन्त कबीर) संख्या-कोश और श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव—कबीर साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ २६७-७६ से साभार उद्धृत।

से ईश्वर को सम्बोधित करते हैं, जिन सम्बोधनों से सगुण उपासकों ने अपने आराध्य को पुकारा है। उदाहरणार्थ राम, गोविन्द, हरि, मनमोहन, बीठुला, माधव, बनवारी, रघुराइआ, सारिङ्ग पानी, मधुसूदन, मुकुन्द, नारायण, गोपाल आदि। यद्यपि प्रमुख सन्त कबीर ने ज्ञान-साधना पर आश्रित स्वानुभूति का परिचय देते हुए 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' की प्रतिष्ठा की है किन्तु जिस समय सन्त कवि भक्त या प्रेमी के रूप में दास्य, वात्सल्य अथवा दाम्पत्य भाव से भगवान् के साथ अपना निश्छल सम्बन्ध स्थापित करने लग जाते हैं उस समय उनकी उपासना का द्वैतपरक साकार रूप सामने उपस्थित होकर यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि अन्यत्र तो उन्होंने ब्रह्म-निरूपण में कहा था—

अलख निरञ्जन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुनि असथूल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहीं पेखा॥[1]

और इस प्रकार उनकी द्वैतपरक उपासना उनके मौलिक दृष्टिकोण को अनिश्चित बना देती है। दास्य अथवा दाम्पत्य भाव के प्रकाशन में जब वे स्वयं को 'गुसाई का गुलाम' बताकर बेचने का विनम्र आग्रह करते हुए पूर्णतः समर्पण करते हैं अथवा प्रेम की तीव्र स्थिति में 'नैना अन्तर आव तूं, नैन झाँपि तोहि लेउँ। ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देउँ॥'—की अधिकारपूर्ण आत्म-समर्पणमयी घोषणा करते हैं तो उस स्थिति में निर्गुणपरक अभेद भक्ति से सामञ्जस्य स्थापित करना एक समस्या बन जाती है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस ओर सङ्केत करते हुए कहा भी है कि "ऐसी स्थिति में निराकार भावना का रूप स्पष्टता पाकर कुछ-कुछ साकार का आभास देने लगता है। निराकार तभी शुद्ध रह सकता है, जब तक उसमें उपासना का भाव अविछिन्न रूप से वर्तमान रहता है।...जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है, प्रेम की प्रबल प्रवृत्ति समुद्र की भाँति विस्तृत रूप रखकर उठ खड़ी होती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है। उस भाव में व्यक्तित्व का आभास होने लगता है।...ऐसी स्थिति में निराकार ईश्वर अपने को केवल विश्व का नियन्ता न रखकर भक्तों के सुख-दुःख में समान भाग लेने वाला दृष्टिगोचर होने लगता है।"[2]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ३, पृष्ठ २३०।

[2] डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २६४।

सन्त साहित्य की प्रतीक-योजना में सूफियों के प्रतीक-विधान से भी प्रेरणा मिली है। सूफी अपने हृदय के प्रेम की पीर को व्यक्त करने के लिये आत्मा-परमात्मा की एकता दाम्पत्य-भावना के प्रतीकों द्वारा कल्पित करते रहे हैं। इसी से सन्त-साहित्य में दास्य एवं वात्सल्य के अतिरिक्त दाम्पत्य-भाव के प्रतीकों का प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है।

दास्यभाव के प्रतीक—सन्तों द्वारा प्रयुक्त दास्यभाव के प्रतीकों में उनके हृदय की उत्कट विनम्रता, सहजशीलता एवं सर्वस्व भाव से प्रभु के चरणों में स्वयं को समर्पित करने की भावना के दर्शन होते हैं। कबीर की प्रस्तुत साखी में उनके हृदय की सारी दैन्य भावना अहं और अस्तित्व की धुरी से मुक्त होकर अपने स्वामी के सङ्केत पर समर्पित होने को सन्नद्ध है—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥

—क० ग्र०, पृष्ठ २०

कभी वे अपना सर्वस्व समर्पित कर प्रभु से अपने बेचने की कातर प्रार्थना करते हैं। उनका तन-मन-धन सब उसी प्रभु के चरणों पर न्यौछावर है, क्योंकि उसी ने तो जीव को सांसारिक हाट में उतारा है। यह उसकी इच्छा पर है, चाहे बेचे या बचाये रखे। वस्तुतः वह सर्वत्र अपनी सत्ता के साथ विद्यमान है। वही एक मात्र सब कुछ है—खरीदने वाला, बेचने वाला और बेची गयी वस्तु। पार्थक्य की भावना का विकास तो जीव के मन की भ्रान्ति है जिसके दूर होते ही वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप बन जाता है—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसांई। तन मन धन मेरा राम जी के तांई॥
आंनि कबीरा हाटि उतारा। सोई गाहक सोई बेचनहारा॥[1]

गुरु नानक भी स्वयं को प्रभु द्वारा क्रय किया हुआ दास समझते हैं तथा इसमें वे परमसौभाग्य का अनुभव करते हैं, 'मुल खरीदी लाल गोला मेरा नाउ सभागा॥'—श्री गुरुग्रन्थ साहिब—पृष्ठ ६९१। गुरु रामदास तो सचमुच राम के दास ठहरे। वे बड़े दैन्य-भाव से कहते हैं कि मैं तो अपने स्वामी द्वारा खुले बाजार में खरीदा गया सेवक मात्र हूँ। भला उनसे मैं क्या चतुराई कर सकता हूँ? चाहे वे मुझे राज-सिंहासन पर बैठायें अथवा घास बेचने का काम सौंप दे, मैं तो उन्हीं का दास कहलाऊँगा[2]। दादू की कातर उक्ति है :—

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद ११३।

[2] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, पृष्ठ १६६।

क्यों हम जीवें दास गुसाईं। जे तुम छाड़ो समरथ साईं॥
जे तुम जन को मनहिं बिसारा। तौ दूसर कौन सम्भालनहारा॥
जे तुम परिहरि रहो निनारे। तौ सेवत जाइ कौन के द्वारे॥
—दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ ७

इस प्रकार दास्यभाव के प्रतीकों द्वारा सन्तों ने जीव की परवशता एवं परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण जनित तादात्म्यभाव की पुष्टि की है।

वात्सल्य भाव के प्रतीक—इस प्रकार के प्रतीकों में सन्तों ने अपने आराध्य के लिये कभी माँ का सम्बोधन दिया है तो कभी बाप का। स्वयं को 'बालिक' बताने में यद्यपि जीव और ब्रह्म के बीच द्वैतभाव का आ जाना स्वाभाविक है किन्तु प्रतीकों की वर्णन शैली में अद्वैत की भावना स्पष्ट है। एक स्थल में कबीर ने पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित करते हुए, 'हउ पूत तेरा, तूँ बापु मेरा।' कहा है तथा 'बापि दिलासा मेरो कीन्हा। सेज सुखाली मुखि अमृत दीन्हा॥' कहकर उनकी भूरि-भूरि सराहना तथा कृतज्ञता ज्ञापित की है। अन्यत्र हरि को जननी का प्रतीक प्रयान करते हुए उस शब्द में समाविष्ट मातृत्व की ओर सङ्केत किया है जिसके क्रोड में बालक के असंख्य अपराध पलते रहते हैं किन्तु माता उनकी ओर ध्यान तक नहीं देती तथा सहानुभूति की भावना से पुत्र के सारे रोग-दोष स्वयं ओढ़ लेती है। इस प्रकार दोनों दो शरीर रहते हुए भी एक प्राण हो जाते हैं—

हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न अवगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते॥
कर गहि केश करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी, बालक दुखी-दुखी महतारी॥[1]

प० परशुराम चतुर्वेदी ने पुत्र द्वारा किये गये अपराधों को उन संस्कारों का प्रतीक कहा है जिनके कारण हम आवागमन के चक्करों में पड़े रहते हैं और जो अपनी 'जननी' द्वारा अपने प्रति प्रदर्शित स्वाभाविक 'हेत' के न उतारे जाने पर अथवा आत्मभाव बनाये रखने पर, अपने से आप नष्ट हो जा सकते हैं। गुरु अर्जुनदेव की वाणी है कि हरि जी हमारे माता-पिता और रक्षक हैं और हम उनके द्वारा लालित-पालित बालक। वे निरन्तर हमारी निगरानी करते रहते हैं, स्वाभाविक रूप से खिलाते-पिलाते, पहनाते-ओढ़ाते हैं। इसमें वे तनिक भी आलस्य नहीं करते। वे अपने पुत्रों के अपराधों की ओर ध्यान न देकर उन्हें अपने गले से लगाते हैं और जो-जो हम चाहते हैं, हमारी सारी

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद १११।

इच्छाएँ पूरी करते हैं ?[1] सन्त दादूदयाल को अपने उन असंख्य असीम अपराधों पर बड़ा क्षोभ है; वे विवश हैं, उन संस्कारों का परिष्करण तो वही कृपालु पिता कर सकता है—'मैं अपराधी बाप जी, मेरे तुम ही एक अधार' में अपराधजनित क्षोभ एवं कातरता अपराधिनी की भाँति साकार हो गयी है। रज्जब जी तो 'बहुत किये विभचार' के कारण अपने को इस योग्य भी नहीं पाते कि वे अपने को प्रभु का सेवक या पुत्र कह सकें। किन्तु जायें भी तो किसके द्वार ? उन्हें तो अधर्मों का उद्धार करने वाले बस आपका ही सहारा है[2]।

दाम्पत्यभाव के प्रतीक—सन्तों द्वारा वर्णित दाम्पत्यभाव के प्रतीकों में अभेद भक्ति की सन्निकटता का भाव बड़ी मधुरता के साथ संजोया गया है जिससे वर्णन-शैली में एक दिव्य रस की अवतारणा हो गई है। संयोग और वियोग अवस्था के ये हृदयस्पर्शी चित्र आत्मा की रसमयी अलौकिक अभिव्यक्ति के सबल समर्थक हैं। सूफियों की प्रेम-पद्धति से प्रभावित होते हुए भी ये पवित्र चित्र पातिव्रत की वेदी पर उरेहे गये हैं, अतः इनमें वासना की पङ्किलता न होकर आत्मा को निचोड़कर रङ्ग भर देने की ताजगी और अनूठी आर्द्रता है। आत्मा को नव-वधू के प्रतीक रूप में वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि अरी नव वधू, तू ठहर। घूँघट मत काढ़। अन्तिम समय में तेरी रक्षा न हो सकेगी। क्या घूँघट काढ़ने (माया वेष्ठित होने) से तेरे हृदय की आग बुझ सकी। घूँघट काढ़ने का गौरव तो दस-पाँच दिन ही है कि यह बहू अच्छी आयी है। तेरा घूँघट तो तभी सच्चा होगा जब तू (परमात्मा का) गुण गाते हुए (प्रसन्नता से) कूदने और नाचने लगे। नव बधू की सच्ची विजय तो तभी होती है, जब वह हरि का गुण गाते हुए अपना जन्म व्यतीत करती है[3]। नव बधू रूपी आत्मा एक बार परम प्रियतम का वरण कर लेने पर फिर कभी उनसे वियुक्त होने की कामना नहीं करती—

> **अब तोहि जाँन न देहूँ राम पियारे, ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे।**
> **बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घर बैठे आये॥**
> **चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम-प्रीति राखौं उरझाई।**
> **इत मन-मन्दिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै॥**

'बहुत दिनन के बिछुरे' से तात्पर्य जन्मजन्मान्तरों से भटकी हुयी आत्मा से है 'तथा घरि बैठे' प्रियतम को पाना, अपने घट के भीतर उस ब्रह्म-ज्योति को

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, मारूकी वार, महला ५, पृष्ठ ११०१।

[2] सन्त सुधासार, पृष्ठ ५२८-६।

[3] सन्त कबीर, रागु आसा ३४।

आलोकित करना है जिसके उजास में वे अपने मन-मन्दिर में प्रियतम को प्रेम-प्रीति में उलझाये रखें अर्थात् मन उन्मनावस्था में लीन होकर समाधिजन्य आनन्द की अनुभूति करे। गुरु नानक ने अपनी वाणी में जीवात्मा रूपी स्त्री की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं—पहली अवस्था तो वह है जिसमें जीवात्मा रूपी स्त्री परमात्मा रूपी पति से अपरिचित रहती है। उसे अपने परमात्मा रूपी पति का नाम-ग्राम ही ज्ञात नहीं रहता। दूसरी अवस्था में उसे अपने प्रियतम के अस्तित्व का बोध होने लगता है और उसे यह भी प्रतीत होने लगता है कि बिना गुरु की कृपा के उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। तीसरी अवस्था में ससुराल पहुँचकर उसे अपने प्रियतम का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। गुरु की क्षमतापूर्ण कृपा से कामिनी (जीवात्मा भी) अपने प्रिय को प्यारी लगने लगती है। अन्तिम अवस्था में वह प्रियतम के भय और भाव का शृङ्गार करके उसके निकट आती है तथा प्रियतम उसके आत्मिक सौन्दर्य पर रीझकर उसे अङ्गीकार कर लेता है और उससे रमण करने लगता है अर्थात् आत्मा-परमात्मा में पूर्ण ऐक्य भाव की स्थापना हो जाती है[1]। दादूदयाल का ता रोम-रोम प्रियतम को पुकार कर रहा है। अपनी आत्मा परमात्मा से मिलने के लिये सहस्र कण्ठ से विलाप कर रही है—

प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिञ्जर माँहि।
रोम रोम पिउ पिउ करै, दादू दूसर नाँहि॥

उस विरह की बलिहारी जो—

राम बिरहिनी ह्वै गया, बिरहनि ह्वै गई राम।
दादू बिरहा बापुरा, ऐसे करि गया काम॥
बिरहा बपुरा आइ करि, सोवत जगावै जीव।
दादू अङ्ग लगाइकरि, लै पहुँचावै पीव॥[2]

इस प्रकार सन्त कवियों ने आत्मा और परमात्मा के संयोग-वियोगजन्य अनेक सरस-सजल चित्र दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से चित्रित किये हैं। इन सन्तों का दाम्पत्य भाव परकीया-प्रेम से सम्बन्धित न होकर स्वकीया-प्रेम का समर्थक है जिसके आदर्श सती और 'सूरा' हैं।

मानवीय सम्बन्धों के प्रतीकों के अतिरिक्त सन्तों ने जन-जीवन में घटित होने वाले दिनचर्या एवं जीविका के विविध क्षेत्रों से प्रतीकों का चयन किया है, जिनमें जुलाहा, बनजारा, कुम्हार और कायस्थ आदि के कार्य-व्यापारों की विशद चर्चा की गयी है, साथ ही उनकी कविता में भाग, ओला, गुड़िया, सूप, रहटा,

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, आसा, महला १, पृष्ठ ३५७।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग १, बिरह को अङ्ग १३४, १४८, १५०।

गगरो, लेजु, बटुवा, अधारी, हल्दी, हांड़ी, बाजीगर आदि अनेक प्रतीक-रूपकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ कतिपय दृष्टान्त यहाँ दिये जा रहे हैं—

कोरी को काहू मरमु न जानां। सभु जगु आनि तनाइओ तानां॥
धरनि अकास की करगह बनाई। चन्दु सूरजु दुइ साथ चलाई॥
पाई जोरि बात इक कीनी, तह ताँती मनु मानां।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घट ही रामु पछानां॥
कहतु कबीर कारगह तोरी, सूतै सूत मिलाये कोरी॥[1]

अर्थात् (ईश्वर रूपी) जुलाहे का रहस्य किसी ने नहीं जाना जिसने सारे संसार में अपना ताना तान दिया है। उस जुलाहे ने पृथ्वी और आकाश का करघा वनाया तथा चन्द्र-सूर्य को ढरकी बनाकर साथ-साथ चलाया। मैंने पाई जोड़कर (फैले हुए ताने को कूँची से माँजकर) उसे बराबर किया और तब ताँती (राछ) से मैं पूर्ण (सन्तुष्ट) हुआ। अब मुझे जुलाहे ने अपना वास्तविक घर जान लिया और अपने शरीर में ही राम को पहिचान लिया। कबीरदास कहते हैं कि मैंने अपना करघा तोड़ दिया है और अपना सूत (सम्बन्ध) उस (परमात्मा रूपी जुलाहे के) सूत से मिला लिया है।

बाजीगर सो राचि रहा, बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ सांच बाजीगर, जाना मन पतियाना॥

—रैदास जी की बानी पद १०

× × ×

साहिब लेखा माँगिया बनिजरिया, तेरी छाड़ि पुरानी थेहबे।
छाड़ि पुरानी जिह्‌ अजाना, बालदि हाँकि सबेरियाँ बे॥

—वही, पद २८

गुरु नानक ने मनुष्य-जीवन की विविध अवस्थाएँ—गर्भावस्था, वाल्य, यौवन एवं वृद्धावस्था का प्रतीक रूप में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ प्रहर के द्वारा वर्णन किया है—

पहिले पहर रैणि के वणजरिआ, विया हुकमि पइआ गरभासि।
उरध तपु अतरि करे मित्रा खसम सेती अरदासि॥
दूजै पहरै रैणि के वणजरिआ मित्रा बिसरि गइना धिआनु।
हथो हथि नचाइऐ वणजरिआ मित्रा जिउ जसुधा घरि कानु॥
तीजै पहरै रैणि के वणजरिआ मित्रा धन जोबन सिउ चितु।
हरि का नामु न चेतही वणजरिआ, मित्रा बन्धा छुटहि जितु॥

---

[1] सन्त कबीर, रागु आसा, ३६।

चउथे पहरै रैणि के वणजरिआ मित्रा, लावी आइआ खेतु ।
जा जमि पकड़ि चलाइआ मित्रा, किसै न मिलिआ भेतु ॥
भेतु चेतु हरि किसै न मिलिओ, जा जमि पकड़ि चलाइआ ।
झूठा रुदन होआ दोआले खिन महि भइआ पराइआ ॥[१]

चौथे प्रहर (अन्तिम अवस्था) में मृत्यु उसी प्रकार शरीर को पीड़ा देती है जैसे किसान पकी हुई खेती को काटकर धराशायी कर देता है। जब यमदूत बनजारा रूपी जीव को पाश में बाँध कर ले जाते हैं तो कोई भी स्वजन-स्नेही साथ नहीं देता। उसके चारों ओर झूठे आँसू बहाने वाले रहते हैं और क्षण मात्र में यह (कञ्चन-काया) बिरानी हो जाती है। धरनीदास ने अपने जातिगत संस्कारों को सँजोकर प्रतीकरूप में मन से कैथाई (लिखने-पढ़ने का काम) करने को कहा है—

मन तुम यहि विधि करो कैथाई ।
सुख सम्पत्ति कबहुँ नहीं छीजै, दिन-दिन बढ़त बड़ाई ॥
कसबा काया अरु ओहदारी, चित चिट्ठा धरु साधी ।
मोहासिब करि अस्थिर मनुवाँ, बूल मन्त्र अवराधो ॥
तत्त को तोरिज बेरिज बुधि की, ध्यान निरखि ठहराई ।
हृदय हिसाब समुझि कै कीजै, दहियक देहु लगाई ॥
राम को नाम रटो रोजनामा, मुक्ति सों फरद बनाई ।
अजपा जाप अवरिजा करिके, सर्व कर्म बिलगाई ॥
रैयत पाँच पचीस बुझाए, हरि हाकिम रहे राजी ।
धरनी जमा खरच विधि मिलहै, को करि सकै गमाजी ॥[२]

[मोहासिब—न्यायशील हाकिम। तेरिज बेरिज—हिसाब की जमाबन्दी और मीजान। अवरिजा—हिसाब का चिट्ठा। ग़माजी—ग़बन।]

दादूदयाल ने अपने एक पद में जीव को बटोही का प्रतीक कल्पित करते हुए कहा है कि रे बटोही ! आज-कल में हमें यहाँ से चलना है। तू क्यों इतना निश्चिन्त होकर सो रहा है ? चेतता क्यों नहीं ? जैसे वृक्ष में बसेरा लेने के लिये नाना दिशाओं से पक्षी आकर बैठ जाते हैं, ऐसे ही यह संसार रूपी हाट का प्रसार है। सेमल के फूल के समान इस संसार की बाहरी चटक-मटक को देखकर तू मत भूल।[३] अन्यत्र भी उन्होंने परमात्मा को बाजीगर का रूपक देते हुए कहा है—

[१] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, सिरी रागु पहरे, महला १, पृष्ठ ७५।

[२] धरनीदास जी की बानी, शब्द ६।

[३] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद १३५।

भाई रे बाजीगर नट खेला, ऐसे आपै रहै अकेला।
यहु बाजी खेल पसारा, सब मोहे कौतिगहारा।
यहु बाजी खेल दिखावा, बाजीगर किनहुँ न पावा॥
कुछ ऐसा चेटक कीन्हा, तन मन सब हरि लीन्हा।
बाजीगर मुरकी बाहीं, काहू पै लखी न जाईं॥
बाजीगर परकासा, यहु बाजी झूठ तमासा।
दादू पावा सोई, जो इहि बाजी लिपत न होई॥[1]

स्पष्ट है, यहाँ दादू ने उस बाजीगर की नट-लीला (माया) के प्रसार का चित्रण किया है जिसके द्वारा किये गये चुटकी के अदृश्य जादू में सब मुग्ध हो जाते हैं। उसकी सारी कलाबाजी मिथ्या है, यद्यपि ऊपरी दृष्टि से वह सत्य-प्रतीत होती है। सचमुच उस बाजीगर को या उसके रहस्य को वही जान सकता है जो उसकी बाजी में लिप्त न हो। मलूकदास जी ने अपने जातिपरक उपमानों का आश्रय लेकर एक रूपक की रचना की है जिसमें वे राम रूपी पूँजी की रक्षा अपने प्राण के तुल्य करने के लिये कृत-संकल्प हैं—

अब की लागी खेप हमारी।
लेखा दिया साह अपने को, सहजे चीठी प्यारी॥
सौदा करत बहुत जुग बीते, दिन दिन टूटी आई।
अबकी बार बेबाक भये हम, जम की तलब छोड़ाई॥
चार पदारथ नफा भया मोहि, बनिजे कबहुँ न जैहों।
अब डहकाय बलाय हमारी, घर ही बैठे खइहों॥
वस्तु अमोलक गुप्ते पाई, ताती वायु न लावों।
हरि हीरा मेरा ज्ञान जौहरी, ताही सों परखावों॥
देव पितर औ राजा रानी, काहू से दीन न भाखों।
कह मलूक मेरे रामै पूँजी, जीव बराबर राखों॥[2]

उन्होंने परमेश्वर रूपी साह को अपने जीवन में किये गये भले-बुरे कर्मों का लेखा दिया और 'ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया' के अनुसार अपनी निर्मल काया का विसर्जन किया। अनेक जन्म-मरण के चक्र में घूमते हुए इस सौदे में सिवा हानि के उन्हें लाभ नहीं हुआ लेकिन सौभाग्य से उन्हें घर बैठे (घर में ही) भोगने के लिये एक अमूल्य वस्तु (हरि रूपी हीरा) प्राप्त हो गयी है जिसकी भली भाँति परख करने वाला जौहरी स्वयं आत्मज्ञान है। इसी के कारण उन्हें चार पदार्थों

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद ३०६।
[2] मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ ८।

का लाभ स्वतः हो गया तथा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर द्वार-द्वार गट्ठर सिर पर रखकर फेरी करने के सारे श्रम का परिहार हो गया।

इन विविध व्यवहारमूलक प्रतीकों के अतिरिक्त सन्तों ने परम्परागत साङ्केतिक पारिभाषिक एवं संख्यावाची प्रतीकों का प्रयोग किया है और इनमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती नाथ-पन्थी योगियों की पारिभाषिक शब्दावली—गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सूर्य, चन्द्र, सुरति-निरति, त्रिकुटी, त्रिवेणी, चरखा, हँस, डोरा, पाँच-पचीस, शून्य, अजपा, अनहद, गुफा, बङ्कनाल, 'रस निझर', दसवाँ द्वार आदि को निस्सङ्कोच अपनाया है। यहाँ पर उन प्रतीकों के परिचायक कतिपय पद दिये जा रहे हैं—

साङ्केतिक एवं परिभाषिक प्रतीक—

उलटत पवन चक्र खटु भेदे, सुरति सुन्न अनुरागी।
आवै न जाइ मरै न जीवै तासु खोजु बैरागी॥
मेरे मन मन ही उलट समाना।[१]—कबीर

× × ×

नगरी एकै नउ दरवाजे धावतु बरजि रहाई।
त्रिकुटी छूटै दसवाँ दर खुल्है ता मन खीवा भाई॥[२]—कबीर

अर्थात् शरीररूपी नगरी के नौ दरवाजों में दौड़ते हुए जो अपने को रोक सकता है और त्रिकुटी को छोड़कर जो अपना दसवाँ द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) खोल सकता है, वही सच्चा मनुष्य (मनखीवा) है।

जब लग गगन जोति नहीं पलटै, अबिनासी सूँ चित नहीं चिहुटै॥
जब लग त्रिकुटी सन्धि न जानैं, ससिहर के घर सूर न आनैं॥
सोलह कला सम्पूरण छाजा, अनहद कै घरि बाजै बाजा॥
सुषमन कै घरि भया अनन्दा, उलटि कवल भेटे गोव्यन्दा॥[३]

× × ×

अरध उरध की गङ्गा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं सङ्गम बाट॥
नाद व्यन्द की नावरी, रांम नांम कनिहार।
कहै कबीर गुंण गाइ लै, गुर गंमि उतरौ पार॥[४]

---

[१] सन्त कबीर, रागु गउड़ी ४७।
[२] वही, रागु केदारा ४७।
[३] कबीर ग्रन्थावली, पद २०२।
[४] वही, पद ९८।

संख्यावाची प्रतीक—

केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।—वही घ० २

इहु मन पञ्च तत्त को जीउ।—ग० ७५

पांचउ लरिका जारिकै, रहै राम लिव लागि।—स० ४२

दुआदस दल अम अन्तरि मन्त।—मै० १६

सोलह मधे पवन झकोरिया।—रा० ६

दम छ सै सहस इकइस हर दिन खजाने थें जाहि वे।[1]

—रैदास २१००० श्वास

चन्द सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई।

सहज सुन्न में भाठी सरवे, पावै रैदास गुरमुख दरवे॥[2]

उलटी गङ्ग जमुन में लावौ, बिन ही जल मञ्जन ह्वै पावौं।[3]

उलटिओ कमलु ब्रहमु बीचारि। अम्रृत धार गगनि दस दुआरि।

त्रिभवणु बेधिया आपि मुरारि॥—नानक, श्री गुरुग्रन्थ, पृ० १५३

अनहद सबदु बजे दिन राती। अविगत की गति गुरमुखि जाती।

सुन्न समाधि सहज मनु राता। तजि हउ लोभा एको जाता॥

—वही, पृ० ६०४

नउ दरवाजै काइया, कोटु है दसवै गुपतु रखीजै।

बजर कपाट न खुलनी, गुर सबदि खुलीजे॥—श्री गुरुग्रन्थ०, पृष्ठ ६५४

इसु गुफा महि अखुर भण्डारा। तिसु विचि वसै हरि अलख अपारा॥—वही, पृ०१२

साईं कूं मिलिबे के कारण, त्रिकुटी सङ्गम नीर नहाई।

अनहद बाजे बाजण लागे, जिभ्या हीणे कीरति गाई॥

कहा कहौं कुछ बरणि न जाई, अबिगति अन्तरि जोति जगाई।

दादू उन की मरम न जाणै, आप सुरङ्गे बेन बजाई॥[4]

मन पवना ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सौ लहै।

पञ्च बाइ जे सहजि समावै, ससिहरि के घरि आणै सूर॥

सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद बजावै तूर।

बङ्क नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवा कहीं न जाइ॥

बैसि गुफा में जोति बिचारै, तब तेंहि सूझै त्रिभुवन राइ॥[5]

---

[1] रैदास जी की बानी, पद ३६।

[2] वही, पद ४०।

[3] वही, पद ५६।

[4] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद ७२।

[5] वही, पद ४०५।

सबद अनाहद उपजै जहाँ, सुखमन रङ्ग लगावै तहाँ।
सरवर तहाँ हंसा रहै, करि असनान सबै सुख लहै॥
पीवै अमृत नीझर नीर, बैठे तहाँ जगत-गुर पीर।
तहँ अनहद बाजे अद्भुत खेल, दीपक जलै बाती बिन तेल॥
श्री-अस्थान निरन्तरि निरधार, तंह प्रभु बैठे समरथ सार।
बलु हंसा तहं चरण समान, तहं दादू पहुँचे परिवान॥[1] —दादू

सब्द अनाहद होत जहाँ तें, तहाँ ब्रह्म कर बासा।
गगन मण्डल में करत कलोलै, परम जोति परगासा॥[2] —मलूकदास

× × ×

गगन गुफा में बैठ कै, देखै जगमग जोती।
सिव नगरी आसन किया, सुन ध्यान लगाया।
तीनों दसा बिसार कै, चौथा पद पाया॥

× × ×

सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई।
चेला गुरु दोउ सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई॥[3]

इस प्रकार सन्त कवियों ने साकार का-सा आभास देने वाले ब्रह्म के लिये भावात्मक प्रतीक तथा निर्गुण के लिये व्यक्तित्व सम्पन्न प्रतीकों की दास्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य-भाव से सुन्दर योजना की है। साकार का-सा आभास देने वाले ब्रह्म का विशद विवेचन 'ब्रह्म-निरूपण' वाले प्रकरण में किया जा चुका है। जन-जीवन के नित्यप्रति के काम-काज से एवं अपने व्यावसायिक चर्या से प्रेरणा ग्रहण कर जिन प्रतीकों की अवतारणा सन्तों द्वारा की गई है, उससे उनके जीवन की रस-ग्रहण के साथ जीने की प्रवृत्ति एवं सहजशील एवं स्वाभाविकता की बानगी मिलती है। साङ्केतिक एवं पारिभाषिक प्रतीकों के लिये ये सन्त अपने पूर्ववर्ती नाथों के अवश्य उपकृत रहे हैं, फिर भी उन्होंने परम्परागत यौगिक प्रतीक-शब्दावली में सरसता का सञ्चार करने की चेष्टा की हैं—

अष्ट कंवल दल भीतरा, तहाँ श्री रङ्ग केलि कराइ रे।
—क० ग्र०, पृष्ठ ८८

अनहद सबद होत झुनकार। जिह पउढ़े प्रभु श्री गोपाल।
दुआदस दल अम अन्तरि मन्त। जह पउड़े श्री कमलाकन्त॥[4]

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद ४०६।
[2] मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ १७।
[3] वही, पृष्ठ २१, २३।
[4] सन्त कबीर, रागु भैरउ १६।

संक्षेप में परम्परा एवं परिस्थितियों से प्रभावित किन्तु प्रेम-भाव पूर्ण व्यक्तित्व से सम्पन्न सन्तों के प्रतीक-विधान का यही स्वरूप है।

रूपक – सन्त कवियों ने धर्म-दर्शन की गूढ़ बातों को जन-साधारण के अर्थ-बोधगम्य बनाने के लिए रूपकों का सहारा लिया है। सन्तों द्वारा प्रयुक्त रूपकों की परम्परा अविच्छिन्न भाव से सिद्धों और नाथों की परम्परा से संयुक्त है। पिछले पृष्ठों में परम्परागत प्रतीकों (उपमानों) की एक विस्तृत सूची संलग्न है। इन प्रमुख उपमानों के अतिरिक्त भी बहुत से उपमान इनके साथ रूपक की पूर्ति करने के लिए गौण रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं जैसे करघा, भाटी (भट्ठी), मण्डप, सेज, सूत, चदरिया, ताना-बाना आदि। कुछ ऐसे उपमान जो सिद्धों, नाथों और सन्तों द्वारा समान रूप से प्रयुक्त किये जाने के कारण मध्यकालीन भारतीय मनीषा की सम्मिलित सम्पत्ति मान लिये गये हैं, वे हैं—रज्जु, सर्प, आकाश कुसुम, वंध्या सुत, शश, शृङ्ग आदि। परन्तु रूपकों को समझने के लिये इतने ही शब्द पर्याप्त नहीं हैं। द्विवेदी जी ने सङ्केत किया है कि वस्तु-धर्म के साथ जिस किसी भी उपमान का साधर्म्य हो सकता है उसे ही अतिशयोक्ति अलङ्कार की शैली पर उस वस्तु का वाचक मान लिया गया है। उदाहरणार्थ, चित्त चञ्चल है इसलिये हरिण-मच्छ आदि कई चाञ्चल्य-धर्मी उपमानों को चित्त का वाचक मान लिया गया है। इसी प्रकार संसार के लिये विषयी लोगों को डुबाने एवं पद-पद पर हिंस्र जन्तुओं के समान कुप्रवृत्तियों का भय होने के कारण 'सागर' एवं 'वन' पर्यायवाचियों का प्रयोग किया गया है।...जिसका परिणाम यह हुआ है कि टीकाकारों की कल्पना को यथेष्ट स्वाधीनता मिल गयी है। एक ही पद में आये हुए एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में ग्रहण किया है।[1]

एक मन के लिये मृग, भींड़क, मछ, कउवा, भवर, ऊंट आदि अनेक उपमानों का प्रयोग किया गया है। सन्त स्वभाव से कवि नहीं थे, किन्तु किसी भी विषय को किस प्रकार से व्यक्त करके उसे भावोद्दीप्त का साधन बनाया जाता है, इससे वे भली-भाँति परिचित थे। अतः जहाँ प्रस्तुत वस्तु स्वतः इतनी प्रभावोत्पादक एवं भावों की जागृति करने में समर्थ होती है वहाँ उन्होंने उसकी अभिव्यक्ति के लिये अप्रस्तुतों की योजना करना अनावश्यक समझा है किन्तु जहाँ प्रस्तुत विषय विशेष प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है वहाँ अप्रस्तुतों की सहायता ईप्सित भावाभिव्यञ्जना के लिये अनिवार्य हो जाती है। सन्तों ने इसीलिये अप्रस्तुतों की योजना कर वैराग्य एवं योग के नीरस वातावरण में भी सरसता एवं

[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृष्ठ ८४-५।

मनोहारिता का सञ्चार किया है। ईश्वर कण-कण में व्याप्त है, स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता के माध्यम से ही उसकी उपलब्धि की जा सकती है किन्तु इतना कहने भर से विषय की सम्यक् अभिव्यक्ति एवं भावोद्बोधन नहीं हो पाता। वही बात जब सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना द्वारा खाण्ड के रूपक के रूप में व्यक्त की जाती है तो उससे कथन में एक स्पष्टता और पूर्णता आ जाती है—

हरि है खांडु रेत मँहि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, चींटी होइके खाई॥

—सन्त कबीर, स० २३८

सन्तों ने परम्परा से चले आ रहे—कलाली, जुलाहे, विवाहादि रूपकों को ग्रहण कर उनका प्रयोग औपम्यमूलक अथवा विरोधमूलक पद्धति से किया है किन्तु उपमानों की पूर्वागत पद्धति को अपनाते हुए भी उन्होंने उपमेय पक्ष में बौद्ध के स्थान पर हिन्दू रूप को ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—

काण्हपा—चर्यापद १६, बारात का रूपक—

भव—पटह। निर्वाण-बादल। मन-पवन—शोर गुल करने (या बर्राने) वाले बाराती। डोम्बी—बधू। अनुत्तर—दहेज।

कबीर—सन्त कबीर पृष्ठ ११४—

पाँच तत्व—बाराती। राम—वर। आतमा—बधू। इन्द्रियाँ—गाने वालियाँ। चक्रस्थ ब्रह्म—पुरोहित। इस प्रकार कबीर ने पूर्वागत परम्परा से चलते आने वाले इन रूपकों में युगीन संशोधन किये हैं, फिर भी सन्तों द्वारा प्रयुक्त रूपक और उनके पूर्ववर्ती सिद्धनाथों की रूपक-योजना में कभी-कभी भ्रम में डालने वाला पूर्ण साम्य मिल जाता है, जिनकी मात्र उपमान योजना एक सी नहीं रहती वरन् पूरा पद एक सा प्रतीत होता है।

सन्त-साहित्य में प्रयुक्त रूपक—सन्तों ने प्रायः ऐसे रूपकों का प्रयोग किया है जिनमें उपमान क्रिया, परिस्थिति या चित्र के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें किसी वस्तु के साङ्गोपाङ्ग वर्णन से एक पूरी बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। कबीर के हठयोग सम्बन्धी रूपक तथा आँधी, चौपड़, जुलाहा, एवं जोगी के रूपक इसी कोटि में आते हैं। इन रूपकों में तत्सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रिया का पूर्ण चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। सन्त-काव्य में वर्णित अधिकांश रूपक अध्यवसित हैं जिनमें रूपकातिशयोक्ति की भाँति उपमेयों का बिलकुल कथन ही नहीं किया जाता है तथा परम्परागत की अपेक्षा साङ्केतिक उपमानों को प्रयुक्त किया जाता है। कबीर द्वारा वर्णित दुर्ग का रूपक इसी कोटि का है, जिसमें उपमान परम्परागत न होकर प्रतीकात्मक हैं। इन रूपकों

की एक अन्य विशेषता यह भी है कि ये पूर्ण मौलिक होते हुए सामान्य जीवन से सम्बन्धित हैं। सन्तों ने गूढ़ से गूढ़ एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिये जीवन में घटित होने वाले साधारण कार्य-व्यापारों को चुना है। जन-जीवन से इनका घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण ये सरलता से हृदय-ग्राह्य हो जाते हैं। कबीर द्वारा वर्णित रूपकों में आटा, आम, आरती, काजल की कोठरी, किसान, कुम्हार, गगरी, गाँव, चक्की, चोर, चौपड़, थैली, नाव, न्यायालय, पनिहारी, बाजीगर, बनजारा विवाह, बधू की बिदा, विरहिणी, वैद्य, हल्दी, तथा चूने आदि का प्रयोग किया गया है जिनके चिर-परिचित कार्य-व्यापारों के माध्यम से सूक्ष्म से सूक्ष्म दार्शनिक बातों को जन साधारण के लिये सुबोध एवं सुकर बना दिया गया है। नीचे कुछ प्रमुख सन्त कवियों के रूपकों का विवरण दिया जा रहा है—

जगु कागज की कोठरी, अंध परे तिस माहि।
हउ बलिहारी तिन्हकउ, पैसि जु नीकसि जाहि॥
—सन्त कबीर, सलोकु २६

बेड़ा जरजरा, फूटै छेक हजार।
हरुये-हरुये तिरि गये, डूबे जिन सिर भार॥— वही, ३५

कबीर परदेशी के घाघरे, चहुदिसि लागी आगि।
खिथा जलि कुइला भई, तागे आंच न लागि॥—वही, ४७

यहाँ क्रमशः काजल की कोठरी, नौका एवं परदेशी के रूपकों का प्रयोग किया गया है। काजल की कोठरी कबीर ने संसार को माना है जिसमें लिप्त मनुष्य ही अन्धे हैं और बेदाग बचकर निकल जाने वाले सन्त। इसी प्रकार नौका के रूपक में जर्जर नौका—शरीर, छिद्र—शिथिल इन्द्रियाँ, हल्के व्यक्ति—पुन्यात्मा एवं भाराक्रान्त व्यक्ति पापियों के प्रतीक रूप में व्यक्त किये गये हैं। परदेसी के रूप में संसार से विरक्त व्यक्ति को परदेसी कहा गया है। घाघरा से तात्पर्य शरीर, आग से माया-मोह, खिन्था से बाह्य वेष एवं तागा से आत्मा का बोध होता है। कबीर के रूपकों में हठयोग एवं विवाह के रूपक भी विशेष उल्लेखनीय हैं :—

गङ्ग जमुन के अन्तरे, सहज सुन के घाट।
तहा कबीरै मठु कीआ, खोजत मुनि जन बाट॥
—सन्त कबीर, सलोकु १५२

इसमें गङ्गा-यमुना—इड़ा-पिंगला की प्रतीक, सङ्गम—सुषुम्ना नाड़ी का,

शून्य का घाट—आज्ञा चक्र का एवं मठ—साधना को केन्द्रभूत करता है। बाट से तात्पर्य साधना-पथ में प्रशस्त होने से है।

तनु रैनी मनु पुनरपि करिहउ पांचउ तत्त बराती।
राम राइ सिउ भावरि लैहउ आतम तिह रङ्गराती॥
गाउ-गाउ री दुलहनी मङ्गल चारा।
मेरे ग्रिह आये राजाराम भतारा॥[1]

इसमें बराती—पांचों तत्व, स्वामी—(भर्तार) राम, बधू—आत्मा, मङ्गल गीत गाने वालियाँ—इन्द्रियाँ हैं। विरहिणी के रूपक में भी बड़ी पूर्णता मिलती है—

थरहर कम्पै बाला जीउ। ना जानउ कि आ करसी पीउ॥
रैनि गई रात दिनु भी जाइ। भवर गये बग बैठे आइ॥
काचै करवे रहै न पानी। हंसु चलिआ काइआ कुमलानी॥[2]

इसमें विरहिणी—आत्मा, प्रियतम—ईश्वर, रात्रि—यौवन, दिन—वृद्धावस्था, भ्रमर—काले केश, बक—श्वेत केश, कच्चा घड़ा—शरीर, पानी—आयु एवं हंस—जीव के रूप में प्रयुक्त हुआ है। गुरु नानक ने एक आध्यात्मिक रूपक में नारी के सहज शृङ्गार एवं गुणों की झाँकी उपस्थित करते हुए कहा है—

मनु मोती जे गहणा होवै, पउणु सूत-धारी।
खिमा सींगारु कामणि तन पहिरै रावै लाल पिआरी॥[3]

अर्थात् प्रियतम की पर्यङ्कशायिनी होने का सौभाग्य उसी सौभाग्यवती को प्राप्त हो सकता है जो निश्छल मन रूपी मोती का आभूषण धारण कर तथा क्षमा का शृङ्गार कर, आने-जाने वाली प्रत्येक साँस के द्वारा परमात्मा के जप रूपी तागे में मन रूपी मोती को गूँथे। गुरु अर्जुनदेव ने भी एक अन्य रूपक में जीवात्मा रूपी स्त्री की कल्पना की है जो अनन्य भाव से परमात्मा रूपी पति में आसक्त है—

गुन अवगुन मेरा कछु न बीचारो। नह देखिओ रूप रङ्ग सींगारो।
चज अचार किछु विधि नहीं जानी। बाँह पकरि प्रिअ सेजै आनी॥[4]

धन्य है वह सुहागिन जिसके प्रिय पति ने उसके गुण-अवगुणों की चिन्ता न करके, उसकी बाहरी चटक-मटक में न भूमकर, आचार-व्यवहार की भी परवाह न करके उसके आन्तरिक सौन्दर्य को अङ्गीकार किया और बाँह पकड़कर उसे सुहाग की सेज पर ले आया। रैदास जी ने भी कतिपय रूपकों का

---

[1] सन्त कबीर, राग आसा २४।
[2] वही, राग सूही २।
[3] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, आसा, महला १, पृष्ठ ३५९।
[4] वही, महला ५, पृष्ठ ३७२।

स्वाभाविक प्रयोग अपनी बानी में किया है। उनका 'चटसाल' का एक रूपक द्रष्टव्य है—

चल मन हरि चटसाल पढ़ाऊँ।
गुरु की साटि ज्ञान का अच्छर, बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊँ॥
प्रेम की पाटी सुरति की लेखनि, ररौ ममौं लिखि आँक लखाऊँ॥
कागद कंवल मति मसि करि निर्मल, बिन रसना निसदिन गुन गाऊँ।
कह रैदास राम भजु भाई, सन्त साखि दे बहुरि न आऊँ॥[1]

इनके रूपक कबीर की भाँति प्रतीकपरक न होकर उपमेय को उपमान रूप में कल्पित करके दिखाये गये हैं। प्रस्तुत रूपक इसी प्रकार की सहज-सरल शैली का एक सुन्दर प्रयोग है—

हरि को टाँडो लादे जाइ रे, मैं बनिजारो राम को।
राम नाम धन पाइयो, ता ते सहज करूँ ब्योहार रे॥
औघट घाट घनो घना रे, निरगुन बैल हमार रे।
राम नाम धन लादियो, ता ते विषय लाद्यो संसार रे॥[2]

सिद्धों द्वारा प्रयुक्त पवन-बन्ध का रूपक ताला-कुञ्जी के उपमानों से प्रस्तुत किया गया है—'पवण गमण दुआरे दिढ ताला विदिज्जइ।'—दोहाकोष पृष्ठ ४४। वे पवन-बन्ध को अध और उर्ध्व मार्ग में ताला लगाने के रूपक द्वारा व्यक्त करते हैं। नाथों में भी ताला-कुञ्जी के रूपक द्वारा पवन-बन्ध या नाद जागरण द्वारा उसे अन्तर्मुखी बनाने का वर्णन मिलता है :—

अरधै उरधै लाइले कूँची थिर होवे मन तहाँ थाकी ले पवणाँ।
दसवा द्वार चीन्हिले, छूटै आवागवनाँ।—गोरखबानी, पृष्ठ १७१

कबीर में प्राण-पवन के बन्धन के अर्थ में ताला-कुञ्जी का प्रयोग कुम्भक द्वारा त्रिकुटी में ध्यान को केन्द्रित करने के रूप में प्राप्त है—

खट नेम करि कोठड़ी बाँधी बसतु अनूप बीच पाई।
कुञ्जी कुलफु प्रान करि राखे करते बार न लाई॥
अब मनु जागत रहु रे भाई।
गाफलु होइ के जनम गवाइओ चोरु मुसै घरु जाई॥
—सन्त कबीर, रागु गउड़ी, पृष्ठ ७३

दादू दयाल ने गुरु-सबद की कुञ्जी से ज्ञान के कपाट खोलकर तत्व की प्राप्ति करने का वर्णन किया है :—

---

[1] रैदास जी की बानी, पद ७०।
[2] वही, पद ७२।

दादू देव दयाल को, गुरु दिखाई बाट ।
ताला कुञ्जी लाइ करि, खोले सबै कपाट ॥[1]

चोर के रूपक द्वारा भी दादू ने इसी को दुहराया है—

इत घर चोर न मूसे कोई । अन्तरि है जे जानै सोई ॥
जागहु रे जन तत्त न जाइ । जागत है सो रह्या समाइ ॥
जतन-जतन करि राखहु सार । तसकरि उपजै कौन विचार ॥[2]

इसी प्रसङ्ग में सन्तों ने राम-भक्ति रूपी धन की सतर्कता से रक्षा करने की चर्चा की है । कबीर ने कहा है—'राम नाम धनु करि संचउनी तसकरि नेरि न आवै ।' क्योंकि योग-साधना में पवन-विरोध द्वारा ताला-कुञ्जी की सुरक्षा में रखे जाने पर भी तत्व रूपी धन को चुरा ले जाने की आशङ्का बनी रहती है । किन्तु रामभक्ति रूपी अद्वितीय धन तो ऐसा है :—

राम धन खात न खूटे रे ।
अपरम्पार पार नहिं आवे, आधि न टूटै रे ॥
तसकरि लेइ न पावक जारै, प्रेम न छूटै रे ।
चहुँ दिसि पसर्यौ बिन रखवाले, चोर न लूटै रे ॥
हरि-हीरा है राम रसाइण, सरस न सूकै रे ।
दादू और आधि बहुतेरी, तुस नर कूटै रे ॥
—वही, पद ५१

दादूदयाल के इस कलाली के रूपक में परम्परागत वस्तु-विधान का साङ्गोपाङ्ग चित्रण मन पर एक अमिट प्रभाव छोड़ जाता है—

भाव-भगति माठो भई, काया कसणी सारो रे ।
पीता मेरे प्रेम का, सदा अखण्डित धारो रे ॥
ब्रह्म-अगनि जीवन जरै, चेतनि चितहि उजासो रे ।
सुमति कलाली सारवे, कोई पीवै बिरला दासो रे ॥
आपा-धन सब सौंपिया, तब रस पाया सारो रे ।
प्रीति पियाले पीवहीं, छिन-छिन बारम्बारो रे ॥[3]

× × ×

सहज सन्तोष सील जब आया । तब नारी नाह अमोलिक पाया ॥[4]

× × ×

[1] दादूदयाल की बानी भाग १, गुरुदेव कौ अङ्ग ६ ।
[2] वही, भाग २, पद ४४ ।
[3] वही, पद ६० ।
[4] वही, पद ६४ ।

बेर-बेर समझायो रे जियरा, अचेत न होई गँवारे।
यहु तन है कागद की पुड़िया, कछु एक चेत बिचारे॥[1]

× × ×

दरबार तुम्हारे दरदवन्त पिव पीव पुकारे।
दीदार-दरूनै दीजिये, सुनि खसम हमारे॥[2]
घटा गुरु-आलौज की, स्वाति-बूँद सत बैन।
सीप सुरति सरधा सहित, तहँ मुकता मन ऐन॥
—रज्जब जी की बानी, साखी १३५

मन हस्ती मैमन्त सिर, गुरु महावत होइ।
रज्जब रज डारे नहीं, करै अनीति न कोइ॥ —वही, ११०
मन हस्ती मैला भया, आप वाहि सिर धूरि।
रज्जब रज क्यूँ ऊतरै, हरिसागर जल दूरि॥ —वही, १
विरह केतकी पैठि करि, मन-मधुकर ह्वै नास।
रज्जब भुगते कुसुम बहु, मरै न तिनकी बास॥ —वही, ४३
घर-दीपक बाती पवन, ज्ञान जोत सु उजास।
रज्जब सोधे तेल लै, प्रभुता पुष्टि प्रकास॥ —वही, ७६
विरह-बघूरा लै गयौ, चित्तहिं कहूँ उड़ाइ।
सुन्दर आवै ठौर तब, पीय मिलै जब आइ॥
सुन्दर सुवचन-तक्र तैं, राखै दूध जमाइ।
कुवचन-काजी परत ही, तुरत फाटि करि जाइ॥ —सुन्दरदास
मन मिरगा बिन मूड़ का, चहुँ दिस चरने जाय।
हाँक ले आया ज्ञान तब, बाँधा तात लगाय॥
सन्ध्या तर्पन सब तजा, तीरथ कबहुँ न जाउँ।
हरि-हीरा हिरदै बसै, ताही भीतर न्हाउँ॥ —मलूकदास

उलटवासियाँ—मन-वाणी से अगम-अगोचर आध्यात्मिक अनुभूति की अनिर्वचनीयता के कारण कभी-कभी परस्पर लोक-विरोधी उक्तियों द्वारा उल्टे ढङ्ग से व्यक्त करने की पद्धति साधक द्वारा अपनायी जाती है और बड़े अटपटे कथनों से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है जिनके गूढ़ आशयों से अनभिज्ञ श्रोता हतबुद्धि-सा रह जाता है। 'बैल बियाय, गाय भई बाँझ, बछरा दूहे तीनों साँझ' ऐसे लोक-विरोधी कथनों के कारण इन्हें उलटवासी कहा जाता है।

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद २६।
[2] वही, पद ८५।

इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गूढ़ शैली का प्रयोग कबीरादि सन्तों ने किया है जिसमें साधारण अर्थों के विपर्यय के अतिरिक्त अन्य पद्धति से भी अर्थ को जान-बूझकर दुरूह और जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया जान पड़ता है। इसी दुरूहता के बल पर कबीर ने इनको बूझने के लिये ज्ञानी, पण्डित और अवधूत को चुनौती तक दी है क्योंकि उनका विश्वास था कि तत्व-ज्ञान से अपरिचित व्यक्ति कभी भी कोई ज्ञान या पाण्डित्य से रहस्य के तल तक नहीं पहुँच सकता—

सोई पण्डित सो तत ग्याता। जो इहि पदहि बिचारै।

—क० ग्र० पद ९

कहै कबीर सोइ गुर मेरा। आप तिरै मोहि तारै॥
अवधू सो जोगी गुर मेरा। जो या पद का करै निबेरा॥

—वही, पद १६५

उलटवासियों की परम्परा के सूत्र विद्वानों ने वैदिक साहित्य तक में खोज निकाले हैं। ऋग्वेद ५।४७।५ के अनुसार नदियाँ बहती हैं और जल स्थिर रहता है। कठ में भी कहा गया है—'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः' —(१-२-२०) अर्थात् वह बैठा हुआ भी दूर चला जाता है और शयन करता हुआ भी गतिशील रहता है। श्वेताश्वर ३।१९ के आधार पर 'वह बिना हाथ-पैर का होता हुआ भी वेगवान् और ग्रहणशील है। बिना आँख के देखता है और कानों के न होने पर भी सुनता है।' किन्तु इतनी दूर न जाकर हमें सिद्ध और नाथ-साहित्य में ही उलटवासियों की प्रचुर सामग्री मिल जाती है। सहजयानी सिद्धों में इस प्रकार की उल्टी उक्तियों को 'सन्ध्या-भाषा' की संज्ञा दी गयी है। सन्ध्या-भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों के विविध मत रहे हैं। म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री के मत से 'सन्ध्या-भाषा' से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आये और कुछ अस्पष्ट लगे पर ज्ञान के दीपक से जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाश के बीच की सन्ध्या की भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बतायी गयी है। एक अन्य विद्वान् के अनुसार यह सन्धि देश की भाषा है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बङ्गाल की पश्चिमी सीमा मिलती है। इसको डॉ० द्विवेदी ने बेबुनियाद बतलाया है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बिहार और बङ्गाल के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं। म० म० प० विधुशेखर भट्टाचार्य के मत से यह शब्द मूलतः 'सन्धा' भाषा है और इसका अर्थ अभिसन्धि सहित या अभिप्राय युक्त भाषा है। इन्होंने 'सन्धा' शब्द को संस्कृत सन्धाय (अभिप्रेत) का अपभ्रंश रूप माना है। डॉ० रामकुमार

वर्मा के कथनानुसार सन्ध्या भाषा का सीधा-सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के सन्ध्या काल या 'समाप्त होने वाले काल' में लिखी गयी। 'सन्ध्या-काल' का प्रयोग किसी अवस्था के अन्तिम भाग की सूचना देने के लिये होता ही है, अतः इस शब्द को साधारण अर्थ में ही लेना चाहिये।[१] कुछ विद्वान् इसे एक ऐसी अभिव्यक्ति प्रणाली मानते हैं जिसकी योजना लेखक जान-बूझकर करता है और जिसके अभिधामूलक अर्थ को महत्व न देकर किसी अन्य साङ्केतिक अर्थ की अपेक्षा की जाती है। सम्भवतः इस विवाद के रहस्य का सूक्ष्म सङ्केत कबीर की प्रस्तुत साखी में मिल जाय—

बोली हमरी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय।
हम को तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥ —बीजक, पृष्ठ २९८

यहाँ 'पूर्व' के अर्थ में विद्वानों ने कबीर की भाषा को पूर्वीपन से युक्त बतलाया है और उसे भोजपुरी सिद्ध किया है किन्तु वास्तव में यहाँ बोली से उनका तात्पर्य शैली से है और पूर्व के माध्यम से वे आध्यात्मिक साधना की साङ्केतिकता की ओर लक्ष्य करते हैं। 'धुर पूरब' से तात्पर्य तत्तद् साधनाओं में निष्णात होने से है। नाथों और सन्त कवियों की साधना-पद्धति में भी चन्द्र और सूर्य को पूर्व-पश्चिम का मध्य मार्ग बताया गया है 'गुह्यात्पश्चिमपूर्व-मार्गमुभयं रुद्धानिलम् मध्यमम्'[२] तथा सुषुम्ना को इन दोनों की सन्धि कहा गया है। सन्तों की कविता में 'सन्धि' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। बीजक में इसी पूर्व के समीप सन्धि का स्थान बताया गया है—

पूरब दिसा हंस गति सोई। है समीप सन्धि बूझै कोई॥
—बीजक २०५

कहहिं कबीर सुनो सन्तो भाई। इहै सन्धि काहु बिरले पाई॥
—बी० श० ३९

कबीर-पन्थी साहित्य में तो सन्धि को विशेष महत्ता प्रतिपादित की गयी है। बिना उसकी सहायता के हंस (आत्मा) का पार उतरना कठिन बताया गया है—

सन्धि छाप मोहि देहु बताई। पुरुष नाम मोहि देहु सुझाई।
बिना सन्धि जो उतरै घाटा। सो हंसा नहिं पावै बाटा॥[३]

---

[१] डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ६७।

[२] सिद्ध सिद्धान्त संग्रह, सप्तमोपदेश, पृष्ठ ३६।

[३] अनुराग सागर, पृष्ठ ६६।

गुरु नानक ने पूर्व दिशा में प्रवेश कर पश्चिम की ओर मुड़ने वाले सुषुम्ना-मार्ग को विषय-सन्धि कहा है—

आगासी सरु भरिआ नीरु। तामंहि कमल बहुत बिस्थीरु।
भौंरा लुबधातां की गन्ध। नानक लै विषमी सन्धि॥

किह् बिधि चन्दु भवनि आवै इहु भानु। किह् विधि मरदइ मनाक मान।
पूरब फिरि पच्छिम को तानै। त्रिजपा जाप जपै मनु मानै॥[1]

इस भाँति सिद्धों की 'सन्ध्या', 'सन्धि' का ही पर्याय है। साधना के क्षेत्र में इड़ा और पिङ्गला के बीच सुषुम्ना के मार्ग को 'सन्धि' के नाम से अभिहित किया गया है। वस्तुतः वहीं सूर्य-चन्द्र, मन-प्राण, सुरति निरति, धरती-गगन तथा आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है। इसी को प्रतीकों में व्यक्त करने वाली शैली सन्ध्या या सन्धि युक्त शैली कही जाती है। कबीर ने अपने 'धुर पूरब' शब्द प्रयोग द्वारा इसी साधना-पथ की ओर सङ्केत किया है। कतिपय विद्वानों ने सन्धि को सेंध की भाषा अर्थात् चोरों के से गूढ़ सङ्केत देने वाली भाषा कहा है। किन्तु यह कथन उपहास्य है। इसे आध्यात्मिक अनुभूति को वाणी प्रदान करनेवाली गङ्गा-यमुना अथवा सूर्य-चन्द्र या त्रिकुटी-सन्धि की भाषा कहना सुसङ्गत प्रतीत होता है।

जब लगि त्रिकुटी सन्धि न जानै। ससिहर के घरि सूर न आनै॥
—क० ग्र० पद २०२

मन मञ्जन करि दसवै द्वारि। गङ्गा जमुना सन्धि बिचारि॥
—वही पद ३२६

उलटवासियों की परम्परा—सन्त-साहित्य में प्रयुक्त उलटवासियों का सम्बन्ध उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और नाथों से जोड़ा जाता है, क्योंकि सन्तों को अभिसन्धि युक्त प्रतीकात्मकशैली परम्परागत रूप में इन्हीं के भाषा-साहित्य से प्राप्त हुयी है। सन्त कवियों के प्रतीक एवं उपमानों में सिद्धों और नाथों के उपमानों की छाप स्पष्ट है—

तरुवर—काया, चित्त, सृष्टि विस्तार (काया) काया तरुवर पञ्चविडाल।
—चर्यापद १

तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप पत्ररस भरीआ।
—सन्त कबीर, पृष्ठ १८१

शृगाल—(मन) निति निति सिआला सिहे सम जुझअ।
—चर्यापद ३३

---

[1] प्राण सङ्गली १३३, १३५।

निति उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै ।

—क० ग्र०, पृष्ठ ११३

जलधि—(भव) तरित्ता भव जलधि जिस करिमाग्र सुइणा ।

—चर्यापद १३

विषम भयानक भौजला तुम बिन भारी होइ ।

—दादूदयाल की बानी, पद १४

सिद्ध-साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती के शोध के आधार पर सिद्धों की उपलब्ध काव्य-सामग्री में केवल एक ही उलटवासी मिली है (ढेण्ढणपा, चर्यापद ३३ ।[1]) उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—बैल ब्याता है, गाय बन्ध्या रहती है और पीठक तीनों समय दुहा जाता है, जो चोर है वही साधु भी है, शृगाल रोज सिंह से झगड़ता रहता है । ढेण्ढणपा के इस गति को कोई बिरला ही समझ सकता है—

बलद बिआअल गविआ बाँझे । पिटा दहिअउ ते तिनि साँझे ।।
जो सो बुधी सो धनि बुधी । जो सो चोर सोइ सावी ।।
निति निति सिआल सिहे सम जुझअ । ढेढण पाएर गीत बिरले बुझअ ।।

किञ्चित् परिवर्तन के साथ ऐसा ही भाव कबीरदास की एक रचना में व्यक्त होता है—

बैल बियाइ गाय भई बाँझ । बछरा दूहै तीन्यूं साँझ ।
नित उठ स्याल स्यन्ध सूँ झूझै । कहै कबीर कोइ बिरला बूझै ।।

—क० ग्र०, पृष्ठ ११३

ढेण्ढणपा के अतिरिक्त काण्हपा और कुक्कुरीपा ने भी उलटवासियों का प्रयोग किया है—

काण्हपा—मारि शासु नणन्द घरे शाली । माअ मारिआ कान्ह भइल कपाली ।

—चर्यापद ११

कुक्कुरीपा—दुहि दुहि पिटा धरण न जाइ । रूखेर तेन्तलि कुम्भी रे खाइ ।

—चर्यापद २

अर्थात् कच्छपी का दोहन करके उसे भाण्डे में नहीं रखा जाता और पेड़ पर की इमली को मगर खा लेता है । 'गोरखबानी' में गुरु गोरखनाथ की कुछ उलटवासियों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, जिनकी छाया परवर्ती सन्त-साहित्य में स्पष्ट है ।

नाथ-साहित्य—१. तत्वरूपी बैल को गोरख जानते हैं जिसकी शाखाएँ,

---

[1] डॉ० भारती, सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ४६६ ।

जड़, फूल, छाया कुछ भी नहीं है और जो बिना पानी दिये बढ़ती रहती है। —गोरखबानी, पृष्ठ १०६।

२. यह वैल (माया) काटे नहीं कटती। जितने प्रयत्न इसे बलात् नष्ट करने के किये जाते हैं उतने ही यह कोंपले फेंकती जाती हैं, परन्तु यदि इसे ज्ञानामृत चन्द्र-स्राव से सींचिए तो कुम्हाला जाती है।—वही, पृष्ठ १०८।

३. हे पडिण्त ! ब्रह्म ज्ञान को समझो, सुजान गोरखनाथ ब्रह्म ज्ञान कहता है। परब्रह्म की बिना बीज के उत्पत्ति हुयी है, वह बिना मूल का वृक्ष है, बिना पत्तों और फूलों के फल जाता है। वह बन्ध्या का बालक है, बिना आकाश का चन्द्रमा है और बिना ब्रह्माण्ड का सूर्य, बिना (मैदान के) युद्ध। इस परमार्थ को जो जानता है उसके शरीर में अर्थात् भीतर परम ज्ञान का उदय हो जाता है। —वही, पृष्ठ १०६।

४. बाँझ (माया) ने पुरुष (ब्रह्म) से सङ्ग करना तो दूर रहा, दृष्टि स्पर्श के बिना पुत्र (ब्रह्मानुभव) उत्पन्न किया। लकड़ी डूब जाती है (भवासक्ति में पड़े पुरुष नष्ट हो जाते हैं) और पत्थर (निर्लिप्त) तिरते रहते हैं। मछली (मन) पहाड़ (डूंगर) यानी ऊँची दशा पर पहुँच जाती है। शशक (माया) जल में (भवसागर में) मिल जाता है। पानी में आग लग जाती है और शूल से कांटा नष्ट हो जाता है।—वही, पृष्ठ ११२।

इस प्रकार चींटी की आँखों में हाथी समा जाता है—अर्थात् सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप में स्थूल भौतिकरूप लीन हो जाता है। गाय के मुँह में बाघिन बिया जाती है अर्थात् इसी भौतिक जीवन में उसको नाश करने वाला आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।—वही, पृष्ठ १२६।

५. नाथ अमृत वाणी बोलता है—कम्बली—दैहिक मानसिक कर्म जो सामान्यतया जोगी को अमृत की वर्षा में भीगने से बचाते रहते हैं अब शुद्ध होकर अमृत—मय-कर्मों के रूप में (जल बिन्दु निर्मित अस्तित्व के ऊपर) बरस रही है। पड़रवा को गाड़कर उसमें खूँटे को बाँधो अर्थात् माया जो जीव को बाँधने के खूँटे का काम करती है, उसमें पड़रवा रूपी अविवेक को अन्तर्युक्त कर माया का निरोध करो। दमामा (अनहद नाद) चलता (निरन्तर सुनाई दे रहा) है और उँट (स्थूल मन) बजता है (उस पर चोट पड़ रही है)। कौवे (अविवेकी मन) की शाखा (ऊँची अवस्था) पर पीपल (पवित्र ब्रह्मानुभूति) बैठा है। चूहे (सूक्ष्म अन्तर्मुख जीवन) का शब्द सुनकर बिल्ली (माया) भाग रही है। बटोही (ज्ञान मार्ग) चलता है और बाट थकती है। डुकरिया अर्थात् माया अब तक जो आध्यात्मिक जीवन की खाट बनाकर उसे दबाकर सो रही थी, अब स्वयं निर्बल पड़ गयी है और अब उसे ठौर (लेटने की जगह) बनाकर आत्मा (जो पहले खाट

बना था) उसके ऊपर बैठ गया है (अब तक मन कुत्ते की तरह रखवाली कर रहा था और आत्म-ज्ञान को चोर की तरह भागता रहता था।) अब वहीं कुत्ता (द्रोहीं मन) छिप गया है और उसका स्थान ज्ञान ने ले लिया है। घड़ा नीचे है और पनिहारिन ऊपर है। आत्मा (पनिहारिन) का निवास ब्रह्मरन्ध्र है और कुण्डलिनी (गागर) जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रस का अनुभव होता है वह नीचे (मूलाधार में) है। लकड़ी में पड़कर स्वयं चूल्हा जल रहा है, रोटी अपने पकाने वाले को खाती जा रही है अर्थात् पोने वाली (माया) को रोटी (जीव) खा रही है। सामान्य अवस्था में अंगीठी (त्रय ताप से जीवात्मा) जलती है और कामिनी (माया) तापती है। किन्तु अब (ब्रह्म साक्षात्कार के कारण) कामिनी (माया) जल रही है और अंगीठी ताप रही है (जीवात्मा को ब्रह्मसुख प्राप्त हो रहा है)।—जलती हुई माया ब्रह्माग्नि में थर-थर काँप रही है क्योंकि उसे पूर्णतया नष्ट होने का भय है।[1]

उलटवासियों के अर्थबोध की समस्या—इस प्रकार की उक्तियों के साथ सन्त-साहित्य में प्रयुक्त उलटवासियों की तुलना करने पर हमें उनकी परम्परागत अविच्छिन्नता का स्पष्ट ज्ञान होता है। किन्तु सामने प्रश्न चिह्न यही उभरता है कि उलटवासियों में निहित गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किस प्रकार हो? यद्यपि बहुत सी उलटवासियाँ पहेली सी प्रतीत होती हैं किन्तु विषय एवं शैलीगत दृष्टिकोण से वे पहेली नहीं कही जा सकतीं। उनमें साधर्म्य के विपरीत विरोध के आधार पर अनेक अलङ्कारों की अवतारणा की गयी है। उलटवासियों में निहित अभिप्राय को समझने के लिये परम्परागत प्रतीकात्मक पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अपेक्षित है। उपमानों की अनेकता के कारण टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की हैं। डॉ० द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' के पृष्ठ ६१ में साङ्केतिक शब्दों के अभिप्राय को जानने के लिये विश्वनाथ, विचारदास और शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त अर्थों का एक मनोरञ्जनपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन किया है जिससे टीकाकारों की स्वतन्त्र-प्रवृत्ति का पता स्पष्ट चल जाता है। द्विवेदी जी का यह कथन सत्य है कि वस्तुत: जिन शब्दों का साङ्केतिक अर्थ शास्त्रीय परम्परा से समर्थित है उनके ही विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है, बाकी जितने भी सङ्केत-शब्द हैं उनका तद्गत धर्म के अनुसार ऐसा कोई भी अर्थ किया जा सकता है (और किया भी गया है) जो प्रसङ्ग के अनुकूल हो और कबीरदास के सिद्धान्त के विरुद्ध न हों।[2]

---

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गोरखबानी, पृष्ठ १४१-१४३।

[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृष्ठ ६२।

सन्त-साहित्य में प्रयुक्त उलटवासियाँ—कबीरदास की कुछ उलटवासियाँ तो केवल प्रतीकपरक अथवा पारिभाषिक शब्दों पर आधारित हैं और कुछ का सम्बन्ध असङ्गति, विरोध, विभावना, रूपक तथा अतिशयोक्ति से है—

आङ्गणि बेलि अकासि पाल अरणव्यावर का दूध।[1]

—असङ्गति

समन्दर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मन्छी रूखां चढ़ि गई॥[2]

—विरोध

तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलाँ फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा॥[3]

—विभावना

कबीर—प्रतीकपरक उलटवासियों का अध्ययन आगे उपस्थित किया जा रहा है। कबीरदास जी ने अपने उलटवासियों में सांसारिक प्रपञ्च, सहजानुभूति, ज्ञान विरह, आत्मतत्वान्वेषण, माया, काल, सृष्टि तथा मन आदि विषयों का गूढ़ विवेचन किया है और गृह, बन, शरीर, प्राकृतिक कार्य-व्यापार एवं व्यावसायिक प्रतीकों को माध्यम बनाया है। यदि कहीं दही के धोखे में पानी मथने का विचित्र कार्य चल रहा है तो कहीं पशुओं के विराट संगीत नृत्य-समारोह का आयोजन किया गया है जिसमें हाथी रवाब बजाता है, बैल पखावज और कौआ करताल। गधा लम्बा वस्त्र पहन कर नृत्य करता है और सिंह सबके खाने के लिये ताम्बूल-बीटक प्रस्तुत कर रहा है, चूहे का बच्चा घर-घर मङ्गल-गीत गा रहा है, कछुवा शंख ध्वनि कर रहा है क्योंकि आज जीवात्मा का व्याह होने वाला है। नीचे कबीर की कुछ उलटवासियाँ साङ्केतिक रहस्योद्‌घाटन सहित उद्धृत की जा रही हैं—

पहिला पूतु पिछै री माई। गुरु लागो चेले की पाई॥
एकु अचम्भउ सुनहु तुम भाई। देखत सिन्धु चरावत गाई॥
जल की मछुली तरवरि बिआई। देखत कुतरा लै गई बिलाई॥
तलौ रे वैसा ऊपरि सूला। तिस कै पेडि लगे फल फूला॥
घोरे चरि भैंस चरावन जाई। बाहरि बैलु गौनि घरि आई॥
कहत कबीर जु इस पद बूझै। राम रमत तिसु सभु किछु सूझै॥[4]

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, बेली कौ अङ्ग ४।

[2] वही, ग्यान विरह कौ अङ्ग १०।

[3] वही, पद १६५।

[4] सन्त कबीर, रागु आसा २२।

पुत्र के पश्चात् माता का उत्पन्न होना, गुरु का चेला के चरण छूना, गाय का सिंह को चराना, मछली का वृक्ष में प्रसव करना, मुर्गे द्वारा बिल्ली का खा लिया जाना, पेड़ के जड़ ऊपर और नीचे पत्ते लगना आदि सारे कार्य व्यापार लोक-विरुद्ध है, इसकी विपरीतता ही तो उलटवासी की सार्थकता है किन्तु साङ्केतिक परम्परा के अनुसार—पुत्र—जीव। माता—माया। गुरु—शब्द। चेला—जीवात्मा। सिंह—ज्ञान। गाय—वाणी। मछली—कुण्डलिनी। तरुवर - मेरुदण्ड। कुतरा—अज्ञानी। बिल्ली—माया। पेड़—सुषुम्ना नाड़ी। फल-फूल—चक्र और सहस्रदल कमल। घोड़ा—मन। भैंस—तामसी वृत्तियाँ। बैल—पञ्च प्राण और गोनि स्वरूप की सिद्धि के प्रतीक हैं जिन्हें ग्रहण करने के बाद अर्थ-बोध में सुलभता आ जाती है और इस अनुपम रहस्य के उद्घाटन होने से सचमुच साधक या समझने वाला सुखद अनुभूति में डूबकर राम में रमण करता हुआ त्रिकालज्ञ हो जाता है।

शब्दों में निहित अभिप्राय को समझने के लिये हमें अभिधा की अपेक्षा लक्षणा का ही अधिक सहारा लेना पड़ता है। 'मछली का वृक्ष में चढ़कर प्रसव करने में' लक्षणा का प्रयोजन है—मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को मेरु दण्ड में स्थित षट्चक्रों को बेधते हुए सहस्रार (वृक्ष) में ले जाकर लीन (प्रसव) करना। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा हुई। जहाँ प्रयोजन अज्ञात होता है वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती हे जैसे गङ्गा-यमुना (इड़ा-पिङ्गला)। त्रिवेणी मनहिं न्हवाइए।—क० ग्र०, पद ४ में सादृश्य तो है ही क्योंकि जैसे त्रिवेणी में गङ्गा-यमुना और सरस्वती का सङ्गम होता है उसी प्रकार इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाड़ियों का सम्मिलन त्रिकुटी में होता है। अतः उलटवासियों के अर्थ-बोध के लिये हमें साम्प्रदायिक अर्थ सङ्केत एवं लाक्षणिकता से सहारा लेना पड़ता है। कहीं-कहीं प्रसङ्गानुसार हम स्वतन्त्रतापूर्वक अभीष्ट अर्थ को लक्षणा द्वारा उपलब्ध करने का जब प्रयत्न करते हैं वहां हमें किञ्चित् सतर्क इसलिये रहना पड़ता है कि कहीं उक्त साधना-पद्धति से हम दूर न हट जायें। कबीर की उलटवासियों को समझने में हम प्रायः उपर्युक्त पद्धति का अनुगमन करते हैं। उनकी एक अन्य उलटवासी है—

जब लग सिन्धु रहै बन माहि। तब लगु बन फूलै ही नाहि।
जब ही सिओरु सिन्धु कउ खाइ। फूलि रही सगली बनराइ॥[1]

अर्थात् जब तक सिंह (बलशाली मन) इस बन (शरीर) में रहता है तब तक वह फूलता-फलता नहीं। यानी उसकी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास नहीं होता

[1] सन्त कबीर, रागु भैरउ १४।

किन्तु जब सियार (गुरू का शब्द) उस सिंह (मन) को खा लेता है तो समस्त वन-राजि (शरीर के चक्र और कमल) प्रफुल्लित हो उठते हैं। इसी प्रकार का कबीर का एक अन्य पद है जिसमें कहा गया है कि हे अवधू, जो लोग नाव पर चढ़े (भिन्न-भिन्न इष्टदेवों का आधार लेकर बढ़े) वे समुद्र (भव-सागर) में डूब गये किन्तु जो सब प्रकार से साधन-हीन थे वे पार (मुक्त) हो गये। जो बिना पद का अवलम्बन करके चले वे नगर (परमपद) तक पहुँच गये किन्तु जिन्होंने मार्ग (अन्धानुकरण लोकाचार) का सहारा लिया वे लुट गये अर्थात् अध्यात्म-वैभव से शून्य हो गये। (माया) के बन्धन में सभी बँधे हुए हैं, किसे बद्ध कहा जाय और किसे उन्मुक्त? जो उस मन्दिर (परम पद) में प्रवेश पा गये, वे सर्वात्म-भाव से ईश्वरीय प्रेम में भीग कर सराबोर हो गये किन्तु जो बाहर रह गये वे पूर्णतया सूखे (वञ्चित) हैं। वही सुखी हैं जो प्रिय के विरह-बाण से विद्ध हैं अथवा—'सद्गुरु मारचा बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि। अङ्गि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ॥'—किन्तु जिन्हें उसकी चोट नहीं लग सकी, वे दुखी हैं। अन्धे (जिनकी आखें संसार की ओर से बन्द हैं) सभी कुछ देखते हैं (उस दिव्यदर्शन का आनन्द लेते हैं) किन्तु आँख वाले (संसारी) कुछ भी नहीं देख पाते। सचमुच कबीर को ऐसा कुछ प्रतीत होने लगा है कि सारा संसार एक विचित्र गोरखधन्धा है।[1] हठयोग से सम्बन्धित एक अन्य उलटवासी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

उलटी गङ्ग समुद्रहि सोखै, ससिअौ सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यम्ब प्रभासै ॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सूधे सों जल भरिया।
जेहि कारन नल भिन्न करु, गुरु परसादे तरिया ॥[2]

हठयोगियों का कथन है कि प्राणायाम द्वारा ब्रह्माण्ड में चढ़ाई हुई श्वास रूप गङ्गा नाना शोक सन्ताप रूप समुद्र को सुखा देती है और वही उल्टी गङ्गा चन्द्र (इड़ा) और सूर्य (पिङ्गला) को भी ग्रस लेती है अर्थात् सुषुम्ना के चलने से उक्त चन्द्र और सूर्य का लय हो जाता है। तत्पश्चात् योगी नव द्वारों को बन्द करके निश्चल (समाधि में लीन) हो जाते हैं। इस प्रकार स्थिर चित्त के जलाशय में ब्रह्म की ज्योति प्रतिविम्बित हो उठती है। जब तक हमारी वृत्तियाँ औंधे घड़े की भाँति वहिर्मुखी बनी रहती हैं तब तक उनमें चिर प्रतिबिम्ब का पड़ना असम्भव है किन्तु जब सीधे घड़े के रूप में वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं तभी वे चिद्वस्तु के

---

[1] **कबीर ग्रन्थावली, पद १७५।**

[2] **कबीर बीजक, सबद २।**

द्वारा सर्वत्र ओतप्रोत हो पाती हैं और इसके लिये हमें भिन्न-भिन्न साधनाओं को करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह तो केवल सद्गुरु की कृपा मात्र से सम्भव हो जाती है। माया का लीला-विहार प्रदर्शित करने वाली कबीर की यह उलटवासी भी कम रोचक नहीं है—

> सन्तो अचरज एक भौ भारी। पुत्र भइल महतारी॥
> पिता के सङ्गे भई है बावरी। कन्या रहलि कुमारी॥
> खसमहि छाड़ि ससुर सङ्ग गवनी। सो किन लेहु विचारी॥
> भाइ के सङ्गे सासुर गवनी। सासुहि सावत दीन्हा॥
> नन्द भउजि परिपञ्च रचो है। मोर नाम कहि लीन्हा॥[1]

पुत्र—जीव। महतारी—माया। पिता—ईश्वर। कन्याकुमारी—माया। खसम—ईश्वर। ससुर—अज्ञान। भाई—अविवेक। ससुराल—संसार। सासु—बञ्चक लोगों की वाणी। ननन्द-भौजाई—कुमति और अविद्या। एक और—

> पानी माँहि तलफि गै भूँभुरि, धूरि हिलोरा देई।
> धरती बरसै बादर भीजै, भींटि भये पौराऊ॥
> हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिन्धा पाऊ॥[1]

अर्थात् वञ्चक गुरुओं के उपदेश से जीवों की चित्त-वृत्ति रूपी मछली निजानन्द-रूप पानी में तड़पने लगी अर्थात् परम शान्ति रूप ठण्डा पानी उसको सन्तापकारी मालूम होने लगा और भूँभुरि (त्रितापकारिणी विषयवासना) उसमें तरङ्गायित होने लगी अर्थात् आत्म-सुख से विमुख होकर विषय-सन्ताप में पड़ गयी। धरती (बुद्धि) जो धारण करने वाली है, वह बरसती है अर्थात् बुद्धि नाना मतों का निश्चय करती है और बादल (अज्ञानी जीव) बरसने वाला उस पानी से भीजता है। यानी जीवात्मा नाना मतों में अनुरक्त होकर उन्हीं को धारण करता है। जीवों के मन के उदात्त विचार (भींट) संशय रूपी जल में डूब गये, यहाँ तक कि वे तैरने लायक हो गये हैं। हंस (जीव) जब शरीर को छोड़कर चला गया, तब ताल (शरीर) सूख गया किन्तु हंस का पैर उड़ते समय वासना के पङ्क में विंध गया इसलिये वह पूर्ण स्वतन्त्र न हो सका। भाव यह है कि यह हंस (जीव) नाना भोगों में आसक्त होकर नाना योनियों में भ्रमण करता ही रहता है। जब तक सद्गुरु की शरण में आकर अपने शुद्ध रूप को नहीं पहचानता है तब तक उसका भव-चक्र से निस्तार कठिन है। 'सहज योग विहङ्गम मार्ग' का निरूपण कबीर ने एक उलटवासी में यों किया है—

---

[1] कबीर बीजक, सबद ६।

[2] वही, सबद ३१।

देखि देखि जिय अचरज होय, ई पद बूझै बिरला कोय।
धरती उलटि अकासहिं जाय, चिउँटी के मुख हस्ति समाय।
बिनु पवने जो परबत उड़े, जिया-जन्तु सब बिरछा बूड़े।
सूखे सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करै किलोल।
बैठा पण्डित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करै बखान।
कहहिं कबीर जो पद को जान, सोई सन्त सदा परवान।[१]

योगियों के दो मार्ग प्रख्यात हैं—पिपीलिका और विहङ्गम। प्राणायाम द्वारा षट्चक्रों को बेधकर शनैः शनैः प्राणों को सहस्रार-चक्र में चढ़ाना पिपीलिका मार्ग है और जिस प्रकार पक्षी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष में बिना किसी आयास के पहुँच जाता है, इसी प्रकार सुरति द्वारा मन का निग्रह कर सत्य-लोक में पहुँच जाना विहङ्गम मार्ग है। सुरति योग की प्रक्रिया का निरूपण इन प्रतीकों के द्वारा किया गया है—

धरती—सुरति। उलटकर—अन्तर्मुखी बनाकर। अकास—सहस्रार-चक्र। चिंउटी—सुरति। हाथी—मन। पवन—प्राण (वायु)। परबत—पर्वत के समान फैला मन। सूखे सरोवर—निस्सार संसार। चकवा—जीवात्मा।

उक्त प्रकार की सुरति-साधना करने वाले तो थोड़े हैं, अधिकांश तो सुनी-सुनाई कहने वाले मिथ्यापुराण पाठी हैं जो स्वयं भी तत्व से अपरिचित हो भटकते हैं और दूसरों को भी मिथ्या उपदेश दे कर भटकाते हैं। कबीरदास जी के मत से आत्म-तत्व को जानने वाले समस्त प्रपञ्चों से रहित होकर जीव-मुक्त हो जाते हैं और सच्चे अर्थ में वे ही सन्त कहे जाने के योग्य हैं। इस प्रकार ऊपर की उलटवासियों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द विभिन्न विषयों के प्रतीकों का कार्य करते-करते रूढ़ि तक बन गये हैं।

कबीर की अपेक्षा अन्य सन्तों ने उलटवासियों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम किया है। विचित्र प्रकार की पहेली बुझाते हुए पण्डित वा अवधूत को चुनौती देते रहने की आदत का मेल सन्तों के विनम्र व्यक्तित्व से नहीं बैठता। 'सिर से पैर तक मस्त मौला, बेपरवाह, दृढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर' ऐसा सर्वतोमुखी व्यक्तित्व कबीर का ही था। अतः दादू की बानी में केवल एक पद उलटवासी के रूप में मिलता है।

दादू—मुझे आश्चर्य होता है कि चींटी (अर्थात् सुरति ने सद्गुरु के उपदेश से पुष्ट होकर) हस्ती रूपी मन को खा डाला। जो चतुर (मन) था वह तो हार मानकर बैठ गया और भोली सुरति ने उसे बहका लिया। जो मन चञ्चलता

[१] कबीर बीजक, सबद १०१।

छोड़कर पङ्गुल हो गया वहीं ऊँचे पर पहुँच गया। उसके हाथ को कौन रोके। नन्हीं सुरति गुरु-उपदेश का बल पाकर इतनी विराट् हो गयी कि अब वह त्रिकुटी में भी नहीं समा पाती। इस रहस्य को तो वही जानता है जिसमें निरख-परख कर देखने की अन्तर्दृष्टि है। मन्मुख जीव वह मर्म नहीं जानते जिसका बिना जीभ के उच्चारण होता है—

मूनें येह अचम्भो थाये।
कोड़ी ये हस्ती बिडार्‌यो, तेन्हें बैठी खाये।
जाता हुतौ ते बैठो हारे, अजाण तेन्हें ता वाहै॥
पांगुलौ उजावा लाग्यौ, तेन्हें कर को साहै।
नान्हौ हुतौ ते मोटौ थयो, गगन मण्डल नहि माये॥
ते जाणे जे निरखी जोवै, खोजी ने बलि माहैं।
दादू तेन्हो मरम न जाणें, जे जिभ्या बिहूणों गाये॥[1]

सुन्दरदास ने इस प्रकार की रचनाओं को 'विपर्यय' या उल्टा ख्याल कहा है। उनकी साखियों और सवैयों में विपर्यय के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं जो साहित्यिक सौन्दर्य से युक्त हैं। यहाँ तक कि 'सुन्दर-विलास' का एक पूरा अध्याय ही विपर्ययों से पूर्ण है। कबीर के ही स्वरों में स्वर मिलाते हुए सुन्दरदास ने कहा है —

कुंजरकूं कीरी गिल बैठी, सिंघई खाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि माहिं सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल॥
पंगु चढ्‌यो परवत के ऊपर, मृतकहिं डेराने काल।
जा का अनुभव होय सो जानें, सुन्दर उल्टा ख्याल॥[2]

कीरी—जीवात्मा। कुञ्जर—संसार या माया। सिंह—मन। स्याल—जीवात्मा। मछली—आत्मा। अग्नि—ज्ञान। पानी—माया। पङ्ग—इन्द्रियों के भोग से असम्पृक्त। पर्वत—आत्मानुभूति की उच्च दशा। मृतक—जीवन्मृत।

प० परशुराम चतुर्वेदी ने इन उलटबासियों के प्रयोग-विधि की उपयोगिता के बारे में कहा है कि इस प्रकार के पद्यों का गूढ़ आशय सोचते-सोचते मन को एकाग्र करने का स्वभाव पड़ता है, इससे कल्पना एवं अनुमान से काम लेने की शक्ति का विकाश होता है और बुद्धि-विनोद भी होता है।[3] अस्तु, यह तो

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद २१३।

[2] पौड़ी हस्तलेख, पृष्ठ ३२३ (डॉ० बड़थ्वाल) हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३०३ से साभार उद्धृत।

[3] प० परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ ११९।

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त धारणा से परिचालित होकर सन्तों ने उलटवासियों की रचना की है किन्तु अपर-पक्ष के गूढ़ रहस्य को जानने के लिए ललकारते हुए चुनौती देने की प्रवृति अधिकांश उलटवासियों में स्पष्ट है। यों तो इसकी एक दीर्घ-परम्परा रही है और उसी परम्परा को सन्त कवियों ने कतिपय मौलिक प्रतीक-प्रयोगों से आगे बढ़ाया है। उलटवासियों का व्यापक प्रचार वङ्ग देश तक हुआ है। बाउल फकीरों की 'उलटा बाउल रचनाएँ' उलटवासियों की ही पर्याय हैं।

●●●

प्रकरण ७

सहज-भाव

सहज—सहज का लोक प्रचलित अर्थ है—सरल, स्वाभाविक, ऋजु। व्युत्पत्ति मूलक अर्थ 'सहजायते इति सहज:' के आधार पर उत्पत्ति के साथ-साथ उत्पन्न होने वाला अर्थात् किसी भी वस्तु के स्वाभाविक रूप का बोध होता है। किसी भी धर्म की साधना में सहज का महत्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है क्योंकि साधना के सहज (स्वाभाविक) होने की अपेक्षा और कौन सा बड़ा लक्ष्य हो सकता है।[1]

सिद्ध-साहित्य में सहज-भाव—सहजयान का प्रवर्तन बौद्ध-धर्म के पाखण्डपूर्ण अस्वाभाविक जीवन की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ। इसके प्रवर्तक नालन्दा विश्वविद्यालय के भूतपूर्व आचार्य सिद्ध सरहपाद माने जाते हैं। उनकी सबसे बड़ी देन सहज या नैसर्गिक जीवन पर जोर देना है। उन्होंने जीवन के भोगों को त्याज्य न मानकर 'धर्म विरुद्ध काम' को अपनी साधना में स्थान दिया। जो सहज से इन्द्रियोपभोग की धारा में अपने को अबाध गति से छोड़ देने का भाव लेते हैं, वे घोर तामसिकता के उपासक सहज को समझते ही नहीं। कालान्तर में यही नासमझी सहजयान की शत्रु बनी। सरहपाद ने कभी आसक्तियों को ग्रहण करने की स्वीकृति नहीं दी। उनका कथन है—"वैसे रहो जैसे बालक रहता है। आसक्ति और छल पाखण्ड से दूर रहो। विषयों में रमण करते विषयों में लिप्त न हो यानी निकालते हुए पानी को न छुओ। जगत सहज आनन्द से भरा हुआ है। नाचो, गाओ, अच्छी तरह विलास करो।[2]" सहजयानियों के अनुसार साधना का स्वरूप स्वाभाविक एवं सरल होना चाहिये। वे चित्त को हठपूर्वक काबू में करने के विरोधी थे। वे चित्त को क्षुब्ध कर देने वाली साधना से दूर रहते थे। उनकी मान्यता थी कि चित्त रत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि की प्राप्ति दुर्लभ है। चित्त के सम्बन्ध में सरह ने कहा है—संसार और उसका निरोध निर्वाण दोनों चित्त से ही स्फुरित होते हैं, चित्त सबका बीज है। वह चिन्तामणि रूप है। उसकी सेवा करो। वह इच्छा फल प्रदान करेगा। मन या चित्त को मुक्त करना ही परम कर्त्तव्य है—आदमी कर्म से बन्धन में पड़ता है। कर्म से मुक्त होने पर मन मुक्त हो

---

[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन—संस्कृति-सङ्गम, पृष्ठ १२७।

[2] महा० राहुल सांकृत्यायन—दोहा कोश, पृष्ठ ९८।

जाता है और फिर तुरन्त ही परम निर्वाण पा जाता है। चित्त को बलात् काबू में नहीं रखा जा सकता। इस चञ्चल तुरङ्ग (मन) को उसके स्वभाव पर छोड़ देने से वह निर्मल होकर स्थिर हो जाता है—'चित्तहिं चित्त जइ लक्खण जाइ। चञ्चल मण पवण थिर होइ ॥१२०॥' जग में उत्पन्न होने से यदि दुःख बहुत है तो सुख का सार भी वहीं है। जग को सहजानन्द से पूरित बतलाते हुए उन्होंने कहा—नाचो, गाओ, विलसो, चित्त रूपी गजेन्द्र को मुक्त कर दो। गगन (शून्य) रूपी गिरि-नदी के जल को पी के उसके तट पर उसे स्वछन्द बैठने दो। ऋजु मार्ग, यही सहज मार्ग है जिसमें जीवन को अपने नैसर्गिक रूप में बिताना पड़ता है। मुक्ति सरह की दृष्टि में स्वतः सिद्ध वस्तु है। उन्होंने ब्रह्म या किसी सनातन एक रस तत्व को नहीं माना, न जगत् के भोगों को झूठा और त्याज्य कहा। जगत् की क्षणिक किन्तु मूल्यवान् स्थिति को स्वीकार करते हुए उन्होंने जगत् के महत्व को कहा और नकद को छोड़ उधार या प्रत्यक्ष को छोड़ परोक्ष के पीछे दौड़ने को मूर्खता बतलाया। उनकी दृष्टि में परम पद मन की एक विशेष अवस्था है। मन की शङ्कायुत स्थिति हट जाने पर उसकी चञ्चलताओं के मिट जाने पर परम महासुख की स्थिति आती है।[1]

सरहपाद ने वज्रयानियों की स्त्रीन्द्रिय एवं पुंसेन्द्रिय संयोग द्वारा की जाने वाली कमल-कुलिश की साधना को अधम कोटि की सांसारिक साधना कहा जिसे संसारी जीव अपनी पाशविक वासना तृप्ति के लिये प्रयोग में लाते हैं। वास्तव में इसके द्वारा निर्मल परम महासुख के आनन्द का एक अंश मात्र ही क्षणिक उत्तेजना के रूप में प्राप्त होता है। वास्तविक रहस्य तो सभी लक्ष्य व लक्षणों से रहित है।[2] सरहपा ने कहा है कि यदि साधक ध्यानहीन और प्रव्रज्या से रहित भी होकर अपने घर पर भार्या के साथ निवास करता हुआ तथा भली भाँति विषय-भोग में लीन रहते समय अपने बन्धन का परित्याग नहीं कर सका, तो उसका मोक्ष होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता।[3] सहजोपलब्धि के लिये चित्त-शुद्धि की साधना अनिवार्य है क्योंकि भव और निर्वाण दोनों का जन्मदाता एक चित्त ही है। चित्त ही जीवों को बन्धन में डालता है और वही मुक्ति दिलाता है। सिद्ध अनङ्ग बज्र के कथनानुसार जब चित्त अनेक संकल्प-विकल्प के अन्धकार से आच्छन्न रहता है तथा आँधी के समान उन्मत्त, बिजली के समान अस्थिर एवं राग-द्वेषादि मलों से अवलिप्त रहता है तब उसी को 'संसार' के

---

[1] महा० राहुल सांकृत्यायन—दोहा कोश, पृष्ठ २९, ३१, ३५।

[2] सरहपाद, दोहा कोष, पृष्ठ ४९।

[3] वही, पृष्ठ १८।

नाम से पुकारा जाता है परन्तु जब वही प्रकाशमय होकर समस्त कल्पनाओं, आसक्तियों एवं द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है तब उसे 'निर्वाण' की संज्ञा दी जाती है। अतः इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये चित्त को खसम अर्थात् आकाश के समान (शून्य) बना देना चाहिये। जब वह अपने चञ्चल स्वभाव का परित्याग कर मन के विपरीत स्वभाव का आचरण करने लगता है तब वह सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए सिद्ध तिलोपा ने कहा है कि "चित्त जिस समय खसम रूप धारण कर सम सुख अवस्था में प्रवेश कर जाता है उस समय वह इन्द्रियजन्य आस्वाद से अतीत और द्वन्द्वभाव से परे हो कर 'अद्वय' बन जाता है।"[१]

सिद्धों ने 'सहज' को उजूवाट (ऋजुमार्ग) अर्थात् सीधा रास्ता के रूप में वर्णित किया है तथा ऐसे सरल मार्ग को छोड़कर बङ्क मार्ग को ग्रहण करना विवेकशून्यता का द्योतक माना है। सरहपा ने कहा है कि जब बोधि नित्य अपने निकट वर्तमान है तब उसके लिये लङ्का (दूर) जाने की आवश्यकता नहीं। जब हाथ में कङ्कण है तो दर्पण ढूँढ़ने का श्रम व्यर्थ है। सहजमार्ग ग्रहण करने वाले के लिये ऊँचा-नीचा, बाँया-दाहिना, सभी एक भाव हो जाते हैं। इस मार्ग की प्रक्रिया चाहे सीधे चित्त-शुद्धि के ढङ्ग से की जाय अथवा बोधि चित्त एवं नैरात्म के पारस्परिक मिलन वा समरस के रूप में, दोनों ही दशाओं में वह स्वयंवेदन अथवा एक प्रकार की स्वानुभूति ही कही जा सकती है।[२] सिद्ध शान्तिपा के अनुसार 'इस मार्ग में बाम व दक्षिण नामक दोनों पार्श्वों का परित्याग कर आँखों देखी हुयी राह से (वा आँख मूँदकर) सीधे चलना है, क्योंकि इस प्रकार अग्रसर होने में तृण-कण्टकादि वा ऊबड़-खाबड़ स्थलों की अड़चनें किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकतीं। ऐसा सहज मार्ग अन्त में एक विशुद्ध सात्विक जीवन का मार्ग बन सकता है और उसके द्वारा, इस प्रकार, विश्व-कल्याण तक की आशा की जा सकती है।[३]

सहज को परम तत्व के रूप में भी कल्पित करते हुए सिद्ध काण्हपा ने कहा है कि "जिसे मैं जानता हूँ वह 'सहज' एक मात्र परमतत्व है किन्तु बहुत से शास्त्रादि का पठन-पाठन करने और सुनने-सुनाने वाले पण्डित उसे नहीं जान पाते।"[४] इस सहज स्वरूप परमतत्व में स्थित होकर जिस अमृत रस की प्राप्ति

---

[१] **तिलोपा दोहा कोष, पृष्ठ ३।**

[२] **प० परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ४७ से साभार अवतरित।**

[३] **वही।**

[४] **बा० दोहा कोष, पृष्ठ ४६।**

होती है, उसे कौन किससे कहे ? क्योंकि न गुरु उसे कह सकता है और न शिष्य उसे समझ सकता है।[1] यही सहज नैरात्म ज्ञान के रूप में भावाभाव की भावना को वर्जित करता है। उसमें भव और निर्वाण का भी स्थान नहीं है। न सहज-भाव स्वभाव है न अभाव स्वभाव। यदि भाव स्वभाव हो तो वही बन्धनकारी संसार हो जायगा, यदि अभाव रूप है तो वह उच्छेद है, अनस्तित्व है।[2] इसी शून्यता ज्ञान रूपी सहज ज्ञान को प्राप्त कर चित्त सहज चित्त हो जाता है, क्योंकि वह सहज द्वारा शुद्ध किया जाता है। इस सहज स्वरूप में चित्त की स्थिति को सहज स्वभाव कहते हैं जिसमें चित्त और अचित्त दोनों का शमन हो जाता है। इस सहज की स्थिति पाप-पुण्य, मन-पवन, रवि-शशि आदि के प्रवेश से परे है। सरह इसी गहन स्वरूप में अपने चित्त को स्थित करने का उपदेश देते हैं। इस स्थिति में स्थित होने से साधक की चर्या सब प्रकार के कल्मष-क्लेशादिकों से मुक्त होकर निस्तरङ्ग सहज रूप में पाप-पुण्य से विवर्जित हो जाती है।[3] सिद्धों के द्वारा सहज को इतना अधिक महत्व दिया गया कि वे अपनी साधना से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के साथ सहज का विशेषण जोड़ने लगे यथा—सहज ज्ञान, सहज तत्व, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज पथ, सहज समाधि। वे बुद्ध को भी सहज संवर और शून्यता या नैरात्म को सहज सुन्दरी के नाम से पुकारने लगे।[4]

नाथ-साहित्य में सहज-भाव—नाथपन्थियों द्वारा 'सहज' शब्द उसी अर्थ में व्यवहृत नहीं किया गया जिसमें सिद्धों ने किया था। सिद्धों ने सहज रूपी परमतत्व में प्रज्ञा तथा उपाय का पूर्ण अद्वय हो जाना माना है। वे इसे मध्य-मार्ग के नाम से भी पुकारते हैं क्योंकि इसमें साधक प्रज्ञा या उपाय, इन दोनों में से किसी एक को न ग्रहण कर दोनों का अद्वैत या युगनद्ध सम्पन्न कर लेता है। किन्तु नाथ योगी, सिद्धों की प्रज्ञोपाय पद्धति का तिरस्कार करते हैं तथा त्रिकुटी में शून्य समाधि द्वारा मन को प्रसन्न बनाने और अमृत पान कर चित्त को दृढ़ बनाने की साधना करते हैं। शैव-पद्धतियों ने ११वीं शती में ही अर्थ बदलकर सहज शब्द को स्वीकार कर लिया था। सहज शब्द का 'स्वाभाविक' अर्थ में प्रयुक्त होने की परम्परा का विश्लेषण करते हुए डॉ० भारती ने कहा है कि सहज का इस अर्थ में प्रयोग बहुत पहले से धर्म साधनाओं में होता आ रहा था और इस बात की पूरी सम्भावना है कि बौद्ध तथा शैव दोनों प्रकार की

---

[1] बा० दोहा कोष, पृष्ठ १०४।

[2] वही, पृष्ठ ८६।

[3] वही, पृष्ठ १५४।

[4] बा० चर्यापद, पृष्ठ १४६।

पद्धतियों ने इस शब्द को किसी तीसरी परम्परा से ग्रहण किया हो। मत्स्येन्द्र के योगिनी कौल-मार्ग तथा वज्रयानी सिद्धों के सहजाम्नाय की तुलना करने से यह ज्ञात होता है कि दोनों में ही सहज शब्द का प्रयोग स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग के अतिरिक्त ऐसी साधना-पद्धति के अर्थ में होता था जिसमें पुरुषतत्व तथा शक्तितत्व का समागम किया जाय। ये दोनों तत्व, बौद्ध पद्धतियों में प्रज्ञा तथा उपाय और योगिनी कौलमार्ग में शक्ति तथा शिव के नाम से प्रख्यात थे।[१] योगिनी कौलमार्ग और नाथ-सम्प्रदाय की घनिष्ठता असन्दिग्ध है। काल-ज्ञान निर्णय के अष्टम पटल में सहजा, कुलजा, अन्त्यजा और महादेवी, इन चार शक्तियों का उल्लेख किया गया है जिनमें सहजा स्वकीया या गृहिणी रूप में चित्रित की गयी है और कहा गया है कि साधना में इस सहज शक्ति को शरीरस्थ कर अन्दर ही उपलब्ध करना चाहिये—'कुरुते देह मध्ये तु सा शक्तिः सहजा प्रिये।'[२] सम्भवतः नाथपन्थियों को इस सहज-भाव की प्राप्ति शैवों से ही हुयी होगी क्योंकि उन्होंने सहज को सदैव शक्ति और शिव के सङ्गम रूप में प्रयुक्त किया है, साथ ही उन्होंने उसे देहस्थ शक्ति या खेचरी मुद्रा की सिद्धि के अर्थ में भी व्यवहृत किया है। गोरखबानी में हमें सहज का प्रयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कई स्थलों में मिलता है। सहज जीवनचर्या कैसी होनी चाहिये, इस पर प्रकाश डालते हुए गोरखनाथ ने कहा है :—

हसिबा खेलिबा रहिबा रङ्ग। कांम क्रोध न करिबा सङ्ग।
हसिबा खेलिबा गाहिबा गीत। दिढ़ करि राषि आपनां चीत ॥[३]

एक दूसरे स्थल में प्रश्नोत्तर रूप में कहा गया है :—

चापि भरै तो बासण फूटै, बारै रहै तो छीजै।
बसत घणेरी बासण ओछा, कहो गुर क्या कीजै ॥[४]

अर्थात् बर्तन में खूब दबाकर भरने से बर्तन फूट सकता है, बहुत ठूँस करके शिष्य में ज्ञान भरने से वह उसके अनुसार कार्य न कर सके और समस्त मार्ग ही को छोड़ दे और यदि कुछ बाहर रहने दिया तो जितना अंश बाहर रहेगा वह नष्ट हो जायगा। वस्तु है अधिक, बर्तन है छोटा। कहो हे गुरु ! क्या उपाय किया जाय ? उत्तर में गुरु का कथन है :—

---

[१] डॉ० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य पृष्ठ ३६८।
[२] कौलज्ञान निर्णय, पृष्ठ २२।
[३] गोरखबानी, ७।
[४] वही, संख्या २५५।

अवधू सहजै लैरा सहजै दैरा सहजै प्रीती ल्यौ लाई।
सहजै सहजै चलैगा रै अवधू, तौ बासरा करैगा समाई॥[1]
हबकि न बोलिबा हबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पांव।
गरब न करिबा सहजे रहिबा, भरात गोरख राव॥[2]

इस प्रकार सहज लेन-देन, सहज प्रीति एवं सहज-रहनी, नाथों को समान रूप से ग्राह्य है। इसका प्रभाव आगे चलकर सन्त कवियों पर विशेष रूप से पड़ा है।

नाथ-साहित्य में परमतत्व, परमज्ञान, परमस्वभाव तथा तन-मन को सुस्थिर करने एवं द्वैत-भाव का विसर्जन करने के लिये सहज का सहारा लिया गया है।[3] यह सहज रूप भावाभावविवर्जित है और इसी के माध्यम से अविनाश-तत्व की प्राप्ति सम्भव है। हठयोगियों ने सहज पद्धति को शिव-शक्ति के मिलन अथवा जोगी-जोगिनी की परिराय-भूमिका में भी रखकर चित्रित किया है। ये शक्ति और शिव वस्तुत: नाद और विन्दु हैं जिनका वासस्थल ऊपर नीच बताया गया है—'सक्ति रूपी रज आछे, सिव रूपी व्यन्द।[4] अवधू अरधै बसै सक्ती उरधै बसै सीव।'[5] जोगी-जोगिन के परिराय रूप में सहज समागम को चित्रित करते हुए कहा गया है—

"हमारा तो बैरागी जोगी (मन) रात-दिन भोग में निरत रहता है। वह कभी भी जोगिन का साथ नहीं छोड़ता। मानसर (मन) में मनसा (इच्छा) मस्त होकर झूलती आती है और गगन-मण्डल (ब्रह्मरन्ध्र) में मढ़ी बना लेती है। उस जोगिन के सास-ससुर नाभि (मणिपूर चक्र) में रहने वाले हैं। जोगी ब्रह्मरन्ध्र का निवासी है। इडा-पिङ्गला प्राणायाम के द्वारा जोगिन (कुण्डलिनी) से भेंट हुई और सुषुम्ना में जोगी (मन) को वास मिला।[6]"

अत: नाथ-साहित्य में सहज-भाव का प्रयोग सहज-जीवन पद्धति अथवा 'सहज रहिबा' के अतिरिक्त शक्ति और शिव के सङ्गम रूप में, परमतत्व रूप में, परम-स्वभाव, परमपद, परमसुख अथवा सहज समाधि के रूप में हुआ है।

सहजिया-सम्प्रदाय—वैष्णवों का सहजिया-सम्प्रदाय बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रभावित होता हुआ भी अपनी मौलिक विशेषता रखता

---

[1] गोरखबानी, संख्या २५६।
[2] वही, २७।
[3] वही, पृष्ठ १८६, १६०, १६१, १६५, १६६, १६८, १६६।
[4] वही, पृष्ठ १००।
[5] वही, पृष्ठ १६६।
[6] वही, पृष्ठ १०५।

है। जहाँ बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय का साधक 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कराते हुए नैरात्मा के काल्पनिक आलिङ्गन की रहस्यमयी अनुभूति को सहजावस्था की संज्ञा देता है, वहाँ वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय का उपासक राधा-कृष्ण की रहस्यमयी केलि की जय मनाते हुए स्वयं भी प्रेम के सागर में डूब जाता है। चण्डीदास के शब्दों में इस प्रेम रसमयी सहजानुभूति की साधना कोई हँसी खेल नहीं। जो सुमेरु पर्वत के शिखर को एक धागे में लटकाने अथवा मकड़ी के तन्तु-जाल से मतवाले हाथी को बाँध लेने की सामर्थ्य रखता हो, वही इस प्रेम-रस के अनुभव का सच्चा अधिकारी हो सकता है। इस प्रेम-रस के स्वाद के आगे साधक को मोक्ष का भी आकर्षण नहीं खींच पाता—

ये जन चतुर सुमेरु शेखर सुताय गांथिते पारे।
माकड़ सार जाले मातङ्ग बांधिले, ए रस मिलये तारे ।।[1]

अतः इस दुस्तर साधना को एकदम सरल, साध्य एवं सस्ती समझने वाले अविवेकी साधकों को फटकारते हुए चण्डीदास ने कहा था—

सहज सहज सबाइ कहय, सहज जानिबे के।
तिमिर अन्धकार ये है याछे पार, सहज जेने छे से ।।[2]

अर्थात् सहज-सहज की रट तो सभी लगाया करते हैं किन्तु उसके वास्तविक रहस्य से कौन परिचित रहता है? वस्तुतः जिसने मानसिक विकारों से उत्पन्न अन्धकार को पार कर लिया है, वही सहज के गूढ़ भाव को जान सकता है। चण्डीदास की भाषा और भावों में ही आगे चलकर होने वाले सन्त कबीर ने फैशनवादी सहज की पुकार लगाने वालों के प्रति तीव्र व्यंग्य करते हुए कहा—

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पाञ्चू राखै परसती, सहज कहीजे सोइ ।।[3]

सहजिया सम्प्रदाय के उपासक मानव को परमात्म-तत्व का ही मूर्त्त स्वरूप मानते हैं। उसका सारभूत तत्व प्रेम है और उसका पाया जाना प्रत्येक मानव-हृदय में निसर्गतः सिद्ध है। यह प्रेम लौकिक-वासना से परे शुद्ध-बुद्ध अध्यात्म-जगत् की उपलब्धि है। इसी भूमिका में स्थित होकर चण्डीदास ने अपनी प्रेमिका रामी धोबिन को सम्बोधित करके कहा है—

रजकिनि रूप किशोरी स्वरूप, काम गन्ध नाहि ताय।
ना देखिले मन करे उचाटन, देखिले पराणजुड़ाय ।।

---

[1] डॉ० डी० सी० सेन, बंगाली लांग्वेज एण्ड लिटरेचर, पृष्ठ ४०।

[2] वही, पृष्ठ ३६।

[3] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२।

तुमि रजकिनी आमार रमणी, तुमि हओ मातृ-पितृ।
त्रिसन्ध्या याजन तोमारि भजन, तुमि वेद माता गायत्री ॥[1]

सहजिया वैष्णव रागानुगा प्रेमाभक्ति के अनुयायी होने के कारण वैधी-भक्ति को विशेष महत्व नहीं देते। मनुष्य परमात्मा का ही रूप है और प्रेम ही परमात्मा का सहज धर्म है जिसे मनुष्य भगवान् की विभूति होने के कारण स्वतः धारण करता है। भगवान् का अंश होने के कारण मनुष्य सहज रूप से प्रेम को धारण करता है। इसी प्रेम के द्वारा वह अपना अखिल भुवनव्यापी प्रसार करके प्रत्येक जीव के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता है तथा परम-पुरुषार्थ को प्राप्त करता है। इसीलिये सहजिया वैष्णव मनुष्य के रूप-विश्लेषण को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर 'स्वरूप' और 'रूप' नामक दो विभिन्न कोटियों के स्वभाव विद्यमान रहते हैं जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वैष्णव सहजिया साधकों के सिद्धान्तानुसार श्रीकृष्ण परमतत्व रूप हैं और राधा उनके नैसर्गिक प्रगाढ़ अनुराग की आह्लादिनी शक्ति। वे दोनों एक दूसरे में संश्लिष्ट हैं, सम्पृक्त हैं। उनके वियोग की कल्पना तो भगवान् के द्वारा भक्तों के लिये लीला-विलास की योजना है। परमात्मतत्व का प्रतिमूर्त्त होने के कारण मानव भी इस लीला-विलास में भाग लेने का अधिकारी है। यही कारण है कि सहजिया कवियों ने रसिक नटनागर की दैनन्दिनी प्रेम-लीलाओं का स्वयं उपभोग करते हुए उस अनुभूति के द्वारा आत्मविस्मृति की स्थिति में बने रहने का बड़ा ही सरस एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है—

एमन पिरीति कभु देखि नाइ शुनि, पराणे पराणे बांधा आपनि आपनि ॥
दुहुँ कोड़े दुहुँ कान्दे विच्छेद भाविया, तिल आध न देखिले याय ये मारिया ॥

× × ×

बन्धु तुमि से आमार प्रान।
देह मन आदि तोंहारे सपेछि, कुल शील जाति मान ॥
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिये, योगीर आराध्य धन।
पीरिति रसे ते ढालि प्राण मन, दियाछि तोमारे पाय।
तुमि मोर गति तुमि मोर पति, मन नाहि आन-भाय ॥
सती बा असती तो माते बिदित, भाल मन्द नाहि जानि।
कहै चण्डिदास पाप पुण्य मम, तोमार चरण खानि ॥[2]

---

[1] कविता-कौमुदी (सातवाँ भाग) बङ्गला, पृष्ठ २१६।

[2] वही, पृष्ठ २१४।

सहजिया साधकों के कथनानुसार प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक तत्व वर्तमान है जिसको 'स्वरूप' कह सकते हैं और इसके साथ ही उसमें एक निम्नतर स्तर का भौतिक तत्व भी है जिसे उसी प्रकार केवल 'रूप' कह सकते हैं। इसके सिवाय प्रत्येक स्त्री के अन्तर्गत भी ठीक वैसे ही 'स्वरूप' एवं 'रूप' की कल्पना की जा सकती है। ये 'स्वरूप' एवं 'रूप' पुरुष तथा स्त्री को क्रमशः श्रीकृष्ण एवं राधा के पार्थिव आविष्करणों में परिणत कर देते हैं। फलतः प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री को अपने 'रूप' को विस्मृत कर देना चाहिये और अपने 'स्वरूप' की स्थिति में श्रीकृष्ण अथवा राधा बन जाना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री को अपने ही 'रूप' के ऊपर 'स्वरूप' का आरोप कर लेना चाहिये और उसी की सहायता से अपने पार्थिव प्रेम को भी अपार्थिवता प्रदान कर देना चाहिये। (क्योंकि) बिना 'रूप' की सहायता के 'स्वरूप' की उपलब्धि कदापि सम्भव नहीं है और इसी के अनुसार उक्त अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिये किसी परकीया के साथ प्रेम की साधना में निरत होना भी परमावश्यक है।[१]

सहज मानुष—सहजिया मनुष्य को ही विशेष महत्व देते हैं। कारण स्पष्ट है कि मनुष्य यदि अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले तो उसके हृदय में अविलम्ब भाव से प्रेमाभक्ति का उदय होना निश्चित है। इस मार्ग के अनुसार 'सहज मानव' ही मानव-समाज के लिये आदर्श है। सहज मानव रजोगुण और तमोगुण की अतिरेकता से अतीत रहता है। उसमें शुद्ध सात्विक भाव की ही प्रधानता रहती है। वह अपने से भिन्न संसार के इतर प्राणियों में किसी प्रकार के भेद-भाव को नहीं स्वीकार करता। शुद्ध सत्व में प्रतिष्ठित मानव ही सहजिया साधकों की दृष्टि में आदर्श मानव है। रस-रत्नसार में कहा गया है—

शुद्ध सत्वं जीव एई सदा निष्ठा शील। सहजे अभेद भावे देखे ये अखिल॥
विषयेर दास्ये येई न काटाय काल। नयनेर दृष्टि यार चित्त चिरकाल॥
भाल मन्द नाहि जाने, नाहि करे द्वेष। अन्तरे नियत हेरे आपन महेश॥

नाथ-सम्प्रदाय और सहजिया-सम्प्रदाय की साधना पद्धति में एक स्पष्ट अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम अन्तिम लक्ष्य के रूप में विविध सिद्धियों को स्वीकार करता है वहाँ द्वितीय अपने अन्तिम लक्ष्य के अन्तर्गत किसी प्रकार की भी सिद्धियों का समावेश नितान्त गर्हित समझता है क्योंकि वे इसे केवल चमत्कार प्रदर्शन मात्र मानते हैं। सहजानन्द जो मानव जीव का चरम लक्ष्य है, के साथ इस प्रकार की ओछी भौतिक शक्तियों का कोई सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। नाथ-

[१] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेमसाधना, पृष्ठ ३०।

पन्थियों की भाँति सहजिया साधक भी काया-साधना को अपनी साधना में स्थान देते हैं किन्तु उसके माध्यम से अमरत्व प्राप्ति की अभिलाषा न रखकर वे शुद्ध अलौकिक प्रेम की प्राप्ति के लिये ही सचेष्ट रहते हैं। प्रेम के प्रति इनका सहज आकर्षण इतना तीव्र एवं प्रगाढ़ होता है कि वे स्वयं को ही प्रेम का लक्ष्य बनाकर, न केवल प्रेम के विविध व्यापारों की मौखिक व्यञ्जना करते हैं अपितु उसको अपने जीवन में उतार करके भी प्रेम को अपार्थिव रूप प्रदान करते हैं।

सहजिया साधकों ने परकीया के दो भेद करते हुए गौण परकीया को जहाँ शारीरिक-मिलन तक सीमित रखा है वहीं परकीया का स्वरूप मानसिक बतलाया है। उसको वे अन्य सम्बोधन जैसे मर्म, अन्तरङ्ग व अप्राकृत भी प्रदान करते हैं। उनकी मान्यता है कि अन्तरङ्ग परकीया की साधना में परमात्म-तत्व में पूर्ण पारङ्गत होते हुए उसके प्रति स्वयं को समर्पित कर देना पड़ता है। कभी-कभी साधक प्रेम के प्रगाढ़ राग में रञ्जित होकर स्वयं को प्रेमिका के रूप में परिकल्पित कर लेता है। सहजिया साधक राधा और कृष्ण के प्रेमादर्श को साम्प्रदायिक दृष्टि से न ग्रहण कर उसे केवल प्रतीकों के रूप में स्वीकार करते हैं। वे इन दोनों तत्वों को प्रेम-तत्व का सार स्वरूप मानते हैं और उनको आलम्बन बनाकर रस-तत्व और लीला-तत्व की विविध योजनाएँ कार्यान्वित करते हैं। वे इस युगुल प्रणयी की प्रेमालिङ्गन-क्रीड़ा के माध्यम से विश्व की लीला को सञ्चालित हुआ मानकर मानव-जाति के मानसिक विकास में अपूर्व योग देते हैं। वे इस विश्व में मनुष्य की महात्ता के क़ायल हैं। सब के ऊपर, सबको छाप कर विराजने वाला मनुष्य ही है, उससे बढ़कर कोई नहीं। आज के इस यान्त्रिक-युग में जहाँ मनुष्य इस दानवी यन्त्रशाला में एक नगण्य यन्त्र मात्र रह गया है और उसका मूल्य तुच्छ कीट-पतङ्गों से अधिक नहीं आँका जाता, प्रसिद्ध सहजिया-साधक चण्डीदास का यह प्रेरणाप्रद उद्बोधन विशेष महत्व रखता है और मनुष्य की जय-यात्रा में एक प्रकाश-स्तम्भ का काम करता है। मनुष्य के विषय में सभी चर्चा करते हैं किन्तु उसके वास्तविक रहस्य को सब नहीं जान पाते। मनुष्य, रत्न-स्वरूप है और वही सृष्टि का जीवन भी है तथा वही सबका सर्वस्व और उत्तम पदार्थ है। बहुत से लोग उसके वाह्य रूप के प्रेम में पड़कर उसके अन्तरङ्ग रहस्य से अपरिचित रह जाते हैं जो मनुष्यत्व का सार है। मनुष्य का निर्माण प्रेम से हुआ है—वह प्रेम जो इस जगत् का न होकर लोकोत्तर है। मनुष्य कहे जाने वाले प्राणी को इसके वास्तविक रहस्य से परिचित रहना चाहिये। आदर्श मनुष्य वह है जिसका जीवन जीते जो मृतक के समान है। उसे प्राकृत-भावों से परे अलौकिक महाभावों को धारण करने की क्षमता अपने में उत्पन्न करनी चाहिये क्योंकि सृष्टि के यावत् विरल पदार्थ मनुष्य के भीतर निहित हैं।

इस प्रकार सहजिया साधक मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य की आराधना में आस्था नहीं रखता। वह एक सच्चा मानवतावादी उपासक है। वह न केवल शुद्ध प्रेम की अनुभूति अपने भीतर उत्पन्न करने का आकांक्षी है वरन् अपनी माधुर्य भाव की उपासना द्वारा इस विश्व को स्वर्ग बनाने के लिये भी कटिबद्ध है।

बाउलों की प्रेमपूरित सहज-साधना—बाउल साधक भी सहजिया के ही एक उपभेद माने जाते हैं, यद्यपि इनकी साधना-पद्धति में सहजिया साधना से कञ्चित् अन्तर प्रतीत होता है। जहाँ वैष्णव सहजिया साधकों का प्रेम राधा और कृष्ण के आलम्बन की अपेक्षा रखता है वहाँ बाउलों की प्रेम-पूरित सहज साधना 'मनेर मानुस' के प्रति रहती है अर्थात् वह सहजभाव से अपना प्रेम प्रत्येक व्यक्ति के भीतर वर्तमान किसी अपार्थिव प्रेम पात्र के प्रति ही प्रदर्शित करता है।

'बाउल' शब्द की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। कोई इसे हिन्दी के बाउर (गूँगा, बावला) का रूपान्तर मानते हैं और कोई 'वायु' के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित करके 'श्वास-प्रश्वास' के समानार्थी बतलाते हुए योगपरक व्याख्या करते हैं। किसी के मत से यह 'वातुल या व्याकुल' का अपभ्रंश रूप है जो इनकी आध्यात्मिक उपलब्धि की अधीरता का परिचायक है। किन्तु हमें विद्वानों के मतभेदपरक वहिस्साक्ष्यों की शरण न लेकर इसके स्पष्टीकरण के लिये बाउलों की ही उक्तियों को ग्रहण करके अधिक विश्वसनीय जानकारी मिल सकेगी। नरहरि नामक बाउल की इस उक्ति में बाउल और उनकी प्रेम-साधना सम्बन्धी तथ्यों का प्रामाणिक परिचय मिल जाता है—

"अरे भाई, मैं बाउल इसलिये कहलाता हूँ कि न तो मैं किसी का प्रतिबन्ध स्वीकार करता हूँ और न किसी स्वामी के आदेशों में बद्ध हूँ। मुझे आचार-विचार अथवा विधि-निषेध का भी बन्धन मान्य नहीं। मुझे मानव-समाज के भीतर प्रचलित पारस्परिक भेद-भावना भी प्रभावित नहीं कर पाती। मैं तो निरन्तर अपने आत्मगत-प्रेम के प्रभाव में (स्वच्छन्द भाव से) आकण्ठ डूबा रहता हूँ क्योंकि यहाँ किसी प्रकार का पार्थक्य न होकर निरन्तर सम्मिलन का भाव बना रहता है और मैं सबके साथ मिलकर आनन्द के गीत गाने और उल्लासपूर्ण नृत्य में अनुरक्त और भाव-विभोर बना रहता हूँ।[1]" इस प्रकार उक्त कथन से बाउल साधकों की स्वच्छन्द वृत्ति एवं प्रगाढ़ प्रेमानन्द की भावना परिलक्षित होती है

[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन—मिडीवल मिस्टीसिज्म आव् इण्डिया, पृष्ठ २०३ से साभार उद्धृत एवं रूपान्तरित।

जिसकी मस्ती में आकर वे सांसारिक मर्यादा एवं अनुशासन को तोड़ते हुए स्वच्छन्द विचरण करते दृष्टिगत होते हैं। इनकी भ्रमणशील प्रवृत्ति, ढीला-ढाला पहनावा और प्रेमरसपूर्ण रोमाञ्चकारी वार्तालाप भी इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सबल साक्षी है। परिचय पूछने पर तो इनका उत्तर और भी गूढ़ और विचित्र होता है। ये कहते हैं कि हमारी गणना मानव जाति में होनी ही नहीं चाहिये। हम तो गगनविहारी विहग-वृन्द हैं जो पृथ्वी पर भ्रमण करने की अपेक्षा असीम आकाश के ओर-छोर नापना ही अधिक पसन्द करते हैं। इस कथन से भी उनकी विराट स्वच्छन्द भावना का परिचय मिलता है। इन बाउल-साधकों में शीराज साई, शेख मदन, पागला कन्हाई, लालन शाह, गङ्गाराम आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्मश्रु-जटायुक्त सूफियों-सी वेषभूषा वाले ये बाउल पश्चिमी बंगाल में नदिया के निकटवर्ती प्रदेशों में एकतारे के समान एक बाजे को बजाकर भिक्षा मागते हुए आज भी मिलते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा इनके पदों का एक अपूर्ण संग्रह मुहम्मद मंसरुद्दीन ने 'हारामणि' नाम से प्रकाशित करवाया है।

'मनेर मानुष' की साधना—बाउलों की साधना पर वैष्णव अथवा सूफियों की अपेक्षा बौद्ध प्रभाव ही अधिक दिखाई पड़ता है। सिद्धों के काया-तीर्थ की भाँति ये भी मानव-शरीर को एक पवित्र मन्दिर मानते हैं और उसमें 'मनेर मानुष' अथवा हृदयस्थित मानव की प्रतिष्ठा करते हैं। उनके अनुसार यह मानुष अथवा ईश्वरीय मानव प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में अवस्थित है किन्तु अज्ञान के कारण उसे उसकी स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती। उनका कथन है कि हमारा वास्तविक प्रियतम हमारे अन्तस्तल में स्थित है जो हमारे उच्चतम और आदर्श मानवीय गुणों का प्रतीक है। ये उसी के प्रति भाव-विभोर होकर अपने प्रेमोद्गार प्रकट किया करते हैं। ये स्वयं को विशेष भाव से उसके प्रति अर्पित कर देते हैं और किसी प्रकार की औपचारिक व्यावहारिकता को नहीं आने देते। इनकी प्रेम-साधना वस्तुतः सभी देश एवं काल के अनुकूल विशुद्ध मानवीय धर्म की साधना कही जा सकती है। 'मनेर मानुष' को बाउल अनुपम सौंदर्य की राशि तथा प्रेम के सहज स्वरूप के रूप में स्वीकार करते हैं। यह उनके अनुसार तात्विक दृष्टि से पूर्ण 'ब्रह्म कमल' है जो निरन्तर अपने दलों को विकसित और प्रफुल्लित करता रहता है। बाउलों की साधना का प्रमुख लक्ष्य उसे अपने प्रत्यक्ष अनुभव में उतार लाना है। इसके लिये वह कभी आतुरभाव से गाने लगता है—

कोथाप पाव तारे, आमार मनेर मानुष ये रे।
हाराये सेई मानुषे तार उद्देशे देश विदेश बेड़ाई घूरे॥

और कभी वह प्रेम-भावना की विशिष्टता का बखान करते हुए कहता है—

युग-युग से हमारा हृदय-कमल खिलता चला आ रहा है। उसमें तुम भी बँधे हो और मैं भी बँधा हूँ। मुक्ति का उपाय कहाँ है ? कमल निरन्तर विकसित होता जाता है, उसके विकास का कभी अन्त नहीं है। इस कमल के भीतर विद्यमान मधु की अपनी मिठास है। बेचारा भ्रमर उस मधु-माधुरी के स्वाद को चखकर अन्यत्र कहाँ जाय। हमारे-तुम्हारे लिए मुक्ति कहीं नहीं है, हम दोनों प्रेम-बन्धन में बँधे हैं—

हृदय कमल चलते छे फुटे कतौ युग धरि।
ताते तुमिओ बांधा, अमिओ बाँधा, उपाय की करी ॥
फुटे फुटे कमल फुटार न हय शेष।
एइ कमलेर ये एक मधु ये ताय विशेष ॥
छेडे येते लोभी भ्रमर पारो ना ये ताई।
ताते तुमिओ बांधा अमिओ बांधा मुक्ति को थाय नाई ॥[1]

प्रस्तुत-पद में जीव की ब्रह्म के प्रति अद्वैतपूर्ण परस्पर प्रेम-भावना एवं आकर्षण की अदम्य आकांक्षा कितनी स्वाभाविकता के साथ व्यक्त हुई है। बाउलों की साधना में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। बाउल साधक अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में, अपने चारों ओर गुरु की क्षमतापूर्ण छाया की झाँकी पाता है किन्तु यह गुरु पञ्चतत्वों से निर्मित न होकर पूर्णतया अशरीरी है। सम्पूर्ण ज्ञान के उद्गम-गुरु को वह अपने अन्तः में स्थित पाता है और इसीलिये कभी-कभी उन्हें 'शून्य' की संज्ञा देने में भी नहीं हिचकता। जिस प्रकार स्फुरणशील नवीन अङ्कुर के लिये पृथ्वी की अपेक्षा विस्तृत नीलाकाश अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, उसी प्रकार शून्यवत् गुरु का भी महत्व शिष्य के लिये असन्दिग्ध है। इस शून्य की भावना बाउलों में बौद्धों से आई हुई ज्ञात होती है, वे बौद्धों के सहजवाद से भी प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। सुख और दुख से विवर्जित चित्त की स्थिति एवं नित्य, एकरस, निर्मल जीवन-क्रम जिसमें विधि-निषेध की सहज भाव से अस्वीकृति रहती है, बाउलों की साधना का मेरुदण्ड है।

बाउल अपनी प्रेम-साधना को अन्य प्रचलित समकालीन साधना-पद्धतियों से भिन्न बताते हुए कभी-कभी उसे 'विपरीत' तक कह देते हैं। उनका कथन है कि जो व्यक्ति सच्चे भावों का भावुक एवं वास्तविक प्रेम का प्रेमी होगा उसकी रहन-सहन सर्वथा भिन्न होगी और किसी भी दूसरे को उसके आचरण एवं व्यवहार का रहस्य ठीक-ठीक विदित नहीं हो सकेगा। वह प्रेम की ज्योति जगाकर उसके निकट रात-दिन बैठा रहा करता है और उसका मन सदा भावों के गम्भीरतर

---

[1] पण्डित बलदेव उपाध्याय, भागवत-सम्प्रदाय, पृष्ठ ४८४।

सागर में निमग्न रहता है। उसके हाथों में सुखोपलब्धि की कुञ्जी रहा करती है किन्तु वह उसके फेर में कभी नहीं पड़ा करता। उसे जिस प्रकार का आनन्द चन्दन के लेप में मिलता है वैसा ही पङ्क में लिप्त होने पर भी मिल सकता है। वह किसी प्रकार के यश की अभिलाषा नहीं करता और न अपने और पराये में कभी भेद का अनुभव किया करता है। चाहे चौदहों भुवन जल कर भस्म हो जायँ, वह अपना महल सदा आकाश में बनाता ही रहेगा। बाउलों की यह उल्टी रीति अन्यत्र दुर्लभ है।[1] वैष्णव सहजिया साधकों की भाँति बाउलों को 'रूप' का 'स्वरूप' में आरोप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वे 'मनेर मानुष' के प्रति सीधे प्रेम करने के अभिलाषी होते हैं। इस प्रकार बाउलों की प्रेम-साधना आत्म-साधना की कोटि में रखी जा सकती है।

यद्यपि बाउलों का आराध्य तत्व-स्वरूप परमब्रह्म न होकर 'मनेर मानुष' के रूप में मानव-हृदय में स्थित आदर्श मानव ही है फिर भी वे साकार के से सम्बोधनों में उसका गुण-गान करते हैं। एक बाउल का कथन है कि हे प्रियतम! मन्दिर और मस्जिदों ने तेरे मार्ग को अवरुद्ध कर रखा है, मैं तेरी पुकार सुन लेता हूँ किन्तु (ये सांसारिक) गुरु और मुर्शिद बीच में आकर खड़े हो जाते हैं और मुझे तेरी ओर बढ़ने से रोक देते हैं। प्रेम की पीड़ा से व्यथित कोई बाउल चीख कर कहता है—एक अज्ञात विचित्र वेदना से मेरा मानस-मन्थन चल रहा है। एक आवाज अन्तर्गुहा से उठती है और कहती है कि 'मैं यहाँ हूँ, तेरे भीतर ही समाई हूँ।' मुझे यह प्रतीत होता है कि मेरे हृदय के आकाश में कोई छाया मेरे निकट आती है, चलती, बोलती, खेलती, इठलाती और नाना विधि की क्रीड़ाएँ रचाती हैं और मैं चाह कर भी उससे पृथक् नहीं हो सकता। बाउल प्रेमी कभी अनजाना पक्षी कहकर उसके प्रति व्यथित होता है—

आमाय दिये फांकि रूपेर पाखो, कोथाय लुकालो।
आमी घुरे व्याड़ाइ द्याखा न पाइ, उड़िया ये पालालो।

हे सौन्दर्य-विहग! तुम मुझे छलकर आकाश के किस निभृत कोने में छिप गये। मैं चतुर्दिक् भटकता फिरता हूँ फिर भी तुम्हें कहीं नहीं देख पाता। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने लक्ष्य किया है कि उपर्युक्त 'अचिन पाखी' वा 'रूपेर पाखी' को आत्मसात् कर पाना और स्वानुभूति का उपलब्ध करना, दोनों एक ही बात है। इसके द्वारा व्यक्तिगत मानव एवं शाश्वत मानव के बीच का व्यवधान सर्वथा लुप्त हो जाता है और मानव देवत्व की दशा में आ जाता है जिसका एक सबसे बड़ा परिणाम यह होता है कि 'स्व' एवम् 'पर' में कोई अन्तर नहीं रह जाता और

[1] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, पृष्ठ ४४।

सारा विश्व आत्म-स्वरूप जँचने लगता है।[1] इसीलिये बाउल साधकों का यह कथन सत्य है कि विचारपूर्वक देखने पर सर्वत्र 'स्व' की अनुभूति ही होती जान पड़ती है। मुझसे ही परमात्मा और पैगम्बर का अस्तित्व है, मुझसे ही आकाश और पृथ्वी है। जग्गा बाउल का कहना है कि तुम्हारे ही भीतर अगाध सागर है जिसके रहस्य से तुम अपरिचित हो। उसका कोई विधि-निषेध द्वारा निर्मित किनारा नहीं है। उसके तलहीन एवं कुलहीन विस्तृत क्षेत्र पर साम्प्रदायिक नियमों के सहारे तुम्हें मार्ग नहीं मिल सकता फिर भी तुम्हें उसे पार करना है अन्यथा तुम्हारा मानव-जीवन व्यर्थ हो जायगा। यदि तुम अपने द्वार को खोलकर विश्व के साथ अपना सम्बन्ध जान लो और सद्गुरु की कृपा से तुम्हारे सामने की बाधाएँ छिन्न-भिन्न हो जायँ तो तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो जाय। संक्षेप में यही बाउलों की 'मनेर मानुष' की साधना एवं मर्मस्पर्शी आध्यात्मिक उद्गारों का सार हैं।

सन्तों का सहज-भाव—सन्त कवियों ने एक स्वर से सहज-भाव युक्त साधना पर बल दिया है। वे दैनन्दिन जीवन की साधना के साथ चरम साधना का सामरस्य चाहते हैं। धर्म की साधना में सहज-भाव का महत्वपूर्ण स्थान है जैसा कि आचार्य जी ने सङ्केत किया है कि साधना के सहज (स्वाभाविक) होने की अपेक्षा और कौन सा बड़ा लक्ष्य हो सकता है? रामानन्द, कबीर, नानक, दादू प्रभृति सभी सन्तों ने साधना के सहज होने की इच्छा की है किन्तु दुर्भाग्य-क्रम से मनुष्य ने अपने निर्मल पवित्र मानव-धर्म को भूलकर, अपने को पशुधर्मी समझ कर उस सहज-भाव की ही मन में कल्पना की है। विशेषकर बंगाल में यह दुर्गति घटी है। सहज के नाम पर इन्द्रियों को स्वच्छन्द विचरण करने देना घोर तामसिकता है। आत्मकल्याण एवं सर्वकल्याण के द्वारा स्वयं को संयमित करने पर जब कामना का पाशविक बन्धन मिट जायगा, जब जीव शिवभावापन्न होगा, उसी समय अपने को उस विश्व चराचर व्यापी भागवत सहज धारा में छोड़ देने से काम चल सकता है। काठ को धारा में बहता हुआ देखकर यदि लोहा लघु न होकर भी जल में अपने को बहाये तब उसका नाम आत्मघात नहीं तो और क्या?[2]

स्पष्ट है कि स्वाभाविक वृद्धि के रूप में सहज का प्रयोग प्राचीन काल से होता आया है। सिद्धों ने प्रज्ञोपाय युगनद्ध के सिद्धान्त रूप में इसे ग्रहण किया है तथा नाथ योगियों ने शिव और शक्ति अथवा नाद-विन्दु के सङ्गम के रूप में

---

[1] प० परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, पृष्ठ ४६।

[2] आचार्य क्षितिमोहन सेन, संस्कृति सङ्गम, पृष्ठ १९८।

स्वीकार किया है। सन्त कवियों तक आते-आते सहज की मिथुनपरक व्याख्या का लोप होने लगता है और युग के स्वाधीनचेता कबीर सहज को समस्त मतवादों की सीमाओं से परे परमतत्व के रूप में मनुष्य की सहज स्वाभाविक अनुभूति मानते हैं जिसकी प्राप्ति एक सहज सन्तुलित जीवनचर्या द्वारा ही सम्भव है। इसके लिये साधक को किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता वरन् सारी साधना स्वयमेव सम्पन्न होती चलती है। कबीर ने कहा भी है—'सहजे होय सो सोय।'[१] इस सहज भाव का मूल सिद्धान्त बताते हुए उन्होंने 'सहजै रहै समाय न कहुँ आवै न जाय' की स्थिति घोषित की है। कबीर ने अन्यत्र इस स्थिति को 'सहजसील' की संज्ञा देते हुए उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

सती सन्तोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थे, सहज सील मत सार॥[२]

उनके विचार से सतीत्व के लिये शुद्ध भावना और एकान्तनिष्ठा, सन्तोष के लिये भावना में अटूट विश्वास और पूर्ण निर्भरता, सावधानी के लिये संयमी, त्यागी और निःशङ्क होना तथा सबद भेदी के लिये 'सबद' के समस्त रहस्यों से परिचित होना परम अपेक्षित है। सुविचार की भावना सदसद के विवेक को उत्पन्न कर सारग्राहिता की वृत्ति को जगाती है। इसी के बल पर जागरूक साधक सांसारिक छलनाओं में न पड़कर सहज आत्म-तत्व की उपलब्धि करने में समर्थ होता है—

सन्तो देखत जग बौराना।
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठहि जग पतियाना।
नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करहि असनाना।
आतम मारि पषानहि पूजहि, उनिमहं किछउ न ज्ञाना॥
हिन्दू कहहि मोहि राम पियारा, तुरुक कहहि रहिमाना।
आपस में दोउ लरि मूये, मरम न कोई जाना॥
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सभ भरम भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहि मानै, सहजै सहज समाना॥[३]

इस प्रकार यह सहज-तत्व सब प्रकार की द्वैत-भावना और सङ्कीर्णता से परे है जो सीमाओं में बँध नहीं पाता। इस सहज-तत्व में सहज द्वारा ही प्रवेश सम्भव है। इस सहज भाव की सबसे बड़ी विशेषता एक यह भी है कि इसमें

---

[१] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६९।

[२] वही, पृष्ठ ६३, साखी २।

[३] बीजक, पृष्ठ ११६।

साधक की निरायास भाव से जीवनचर्या ऐसी हो जाती है कि संसार में रहता हुआ भी वह अध्यात्म-भावना की आकाशगङ्गा में विहार करता रहता है। आचार्य सेन महोदय ने भी सङ्केत किया है कि उस सहज अवस्था में पहुँच जाने पर साधना केवल धर्म-कर्म एवं आचार और अनुष्ठान में बद्ध नहीं रह जाती है, उस समय सांसारिक जीवन-यात्रा से होकर ही एकबारगी साधना क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिये और हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से निरन्तर सहज-साधना चलेगी। उस समय उसके लिये कहीं खींचातानी नहीं रह जायगी। साधना के लिये हमें अपनी जीवन-यात्रा को ही सहज करनी होगी।[1] सहज-भाव की उक्त स्थिति में पहुँचकर हृदय का सारा कलुष घुल जाता है और अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। वाह्य और अन्तर, कथनी और करणी, में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रह जाता। साधक की वाणी के अनुरूप उसकी दिनचर्या भी हो जाती है और वह निरन्तर परमात्मा के नैकट्य भाव से स्वयं को पुलकित अनुभव करता रहता है—

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल॥[2]

उसी सहजावस्था में पहुँचकर साधक 'पाँचू राखै परसती' की उच्च स्थिति का अनुभव करने लगता है। पाँचों इन्द्रियों के पूर्णतः वशवर्ती हो जाने पर उसे परमात्मा की प्रत्यक्षतः अनुभूति होने लगती है, अन्तःकरण एक दिव्य आलोक से जगमगा उठता है, प्रेम ध्यान की तारी लग जाने से सारी वेदना सुख में परिवर्तित हो जाती है और सारा संसार अपना-सा प्रतीत होने लगता है। समस्त सृष्टि के साथ आत्म-तत्व की भावना जगने पर पाती में ब्रह्मा, पुष्प में विष्णु और फल में महादेव के दर्शन होने लगते हैं तथा साधक इस द्विधा में पड़ जाता है कि सर्वत्र, सब में वही एक तो रम रहा है और पूज्य, पूजा करने वाला तथा पूजा सब तो वही है, फिर कौन किसकी पूजा करके जग दिखावे की रस्म अदा करे। सचमुच साधक की यह पूर्ण विकसित अवस्था है जिसमें पहुँचकर वह 'सन्त' संज्ञा का अधिकारी हो जाता है।

सन्त रैदास का कथन है कि मैं सेवा-पूजा, गीत और नृत्य तथा चरण-प्रक्षालनादि से ऊब चुका हूँ क्योंकि जो कुछ भी मैं करता हूँ वही बन्धन बनकर मुझे बाँधने लगते हैं। अतः मैंने षट्कर्म-पूजा विधान, सेवा तथा ज्ञान-ध्यान सब कुछ त्याग दिया है क्योंकि—

---

[1] आचार्य सेन, संस्कृति सङ्गम, पृष्ठ १२८।

[2] कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८, साखी २।

चलत चलत मेरो निज मन थाक्यो, अब मोसे चलो न जाई।
साई सहज मिलो सोइ [सनमुख, कह रैदास बड़ाई ॥[1]

सन्तों का विश्वास है कि भेद-भावना रख करके जो भी साधना की जाती है वह अपरिपक्व है। एक मात्र सहजभाव की साधना ही लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है, इसीलिये वे साईं से सहज भाव से मिलने की कातर प्रार्थना करते हैं तथा अज्ञात-नाम स्थानशील ब्रह्म की आराधना करने में तत्पर होते हैं :—

जोइ जोइ पूजिय सोइ सोइ काञ्ची, सहज भाव सत होई।
कह रैदास मैं ताहि को पूँजू, जाके ठांव नांव नहिं होई।[2]

रैदास जी तो यहाँ तक कहने लगते हैं कि बिना सहज के सिद्धि हो ही नहीं सकती। जब मन को कीट-भृङ्ग की भाँति लवलीन करके उन्मनि-अवस्था में पहुँचा दिया जाता है तभी सहजावस्था आती है। किन्तु उसको कैसे अभिव्यक्त किया जाय और यदि जोड़-बटोर कर कहा भी जाय तो इस पर कौन विश्वास करेगा ? इसीलिये मैं तो 'अजान-भाव'—मूर्खों की अज्ञानताजन्य स्थिति नहीं वरन् सर्वज्ञता से उत्पन्न मूक-भाव—से सहज में समा गया हूँ।[3]

सन्तों ने सहज को स्वाभाविक वृत्ति के रूप में स्वीकार करके भी योग-साधनाओं को इस सहज-साधना का एक आवश्यक अङ्ग माना है और उसके अन्तर्गत सहजयोग, सहज जप, सहज ध्यान एवं सहज समाधि की चर्चा की है। इस प्रकार वे सहज के स्वाभाविक मानवीय अर्थ को ग्रहण करते हुए भी उसके योगपरक अर्थ को भी बिल्कुल विस्मृत नहीं कर दिया। सन्त कवियों ने सहज का प्रयोग सहज तत्व, सहज ज्ञान तथा स्वभाव, सहज साधना-पद्धति और सहज समाधि के रूप में किया है। कबीर ने सहज तत्व के विषय में कहा है कि इसकी विचित्र कथा कही नहीं जा सकती। वहाँ वर्षा और सागर, धूप और छाया, उत्पत्ति और प्रलय, जीवन एवं मृत्यु, दुःखानुभूति-सुखानुभूति तथा शून्य की जागृति और समाधि की निद्रा कुछ भी नहीं है। न वह तौली जा सकती है, न वह छोड़ी जा सकती है, न वह हलकी है न भारी।...न वहाँ जल है न पवन और वहाँ अग्नि भी नहीं है। वह अगम है, इन्द्रियों से परे है, केवल गुरु की कृपा से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है।[4] सन्तों की साधना में भक्ति-तत्व की प्रमुखता होने के कारण उनकी सहज की परमतत्व वाली भावना में वैयक्तिकता का

---

[1] रैदास जी की बानी, पृष्ठ ३।
[2] वही, पृष्ठ ४।
[3] वही, पृष्ठ २१।
[4] सन्त कबीर, रागु गउड़ी ४८।

आग्रह स्पष्ट है। सन्तों की परम्परा में सहज स्वरूपी राम का महत्व अङ्कित किया गया है यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख नाथों की बानियों में भी एक स्थल में प्राप्य है—

एही राजाराम आछै सबै अङ्ग बासा, एही पाँचो तत बाबू सहज प्रकाशा।
—गोरख०, पृ० १०

किन्तु इन पंक्तियों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। डॉ० भारती का मत है कि ये पंक्तियाँ कबीर के बहुत बाद की मालूम होती हैं और निर्गुण राम की सहज रूप में जो कल्पना सन्त-साहित्य में विकसित हुयी, उसी से प्रभावित प्रतीत होती हैं।[1] कबीर ने सहज-समाधि के द्वारा उन्मुनि अवस्था के जागृत होने पर रघुराई का सहज-भाव से मिलना बताया है—'सहज समाधी उन्मुनि आगे, सहज मिलै रघुराई।'[2] यही 'रघुराई' भक्तों को अनायास 'सहज सुहाग' देकर उन्हें कृतार्थ कर देते हैं—

कहत कबीर मैं कछु नहिं कीन्हा। सहज सुहाग पिया मोहिं दीन्हा॥

सहजतत्व में समाहित होने के लिये मन को सहज स्वरूप बनाना नितान्त आवश्यक है और यह केवल सहज ज्ञान द्वारा सम्भव है। यह ज्ञान दो पक्षों के मध्य का ज्ञान है। कबीर ने द्वैत-भाव के भ्रम का त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाली मनीषा को सहज ज्ञान कहा है:—

जां तिसु भावै ता लागे भाइ, भरम भुलावा बिचहु जाइ।
उपजै सहजु गिआन मति जागै, गुर प्रसाद अन्तरि लिव लागै॥[3]

सिक्ख गुरुओं के अनुसार सहज-भाव या सहजावस्था अथवा जीवन्मुक्ति या तुरीयावस्था प्रायः सब समान है। इस स्थिति को वे दशम द्वार की उपलब्धि मानते हैं जिसमें साधक सब प्रकार के गुणों, सुख-दुःख, भूख-प्यास एवं राग-विराग आदि के जागतिक द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है और नामामृत की वासस्थली आत्मानन्द की अवस्था में पहुँच जाता है। इस वर्णनातीत सहजावस्था का वर्णन गुरु-वाणी में इस प्रकार उपलब्ध है—

गुर मुखि अन्तरि सहजु है मनु चड़िआ दसवै आकासि।
तिथै ऊँघ न भूख है हरि अमृत नामु सुख वासु।
नानक दुखु-सुखु विआपति नहीं जिथै आतमराय प्रगासु॥[4]

---

[1] डॉ० भारती, सिद्ध-साहित्य, पृष्ठ ३७५।

[2] कबीर बीजक, पृष्ठ ११६।

[3] सन्त कबीर, सिरी रागु १।

[4] श्री गुरु ग्रन्थसाहिब, सलोक वारां से वधीक, महला ३, पृष्ठ १४१४।

गुरुओं ने 'दैनिकगति के साथ शाश्वत गति के योग वाले' सहज-भाव में अपना सर्वस्व (योग, भक्ति, प्रेम, ध्यान, समाधि) समर्पित कर दिया है। इसी में निरत रहकर वे मृत्युञ्जयी बन अपने सारे कार्य करते हैं—

सहजे ही भगति ऊपजै सहजि पिम्रारि वैरागि।
सहजे ही ते सुख सान्ति होइ बिनु सहजे जीवणु वादि ।।
सहजे कालु विडारिम्रा, सच सरणाई पाइ।
सहजे हरिनामु मन बसिम्रा, सची कार कमाइ ।।
से बड़ भागी जिनी पाइम्रा सहजे रहे समाइ ।।[1]

इस सहज-भाव को पाने के लिये गुरुओं ने सद्गुरु की कृपा एवं भक्ति-भावना की प्रधानता को साधन रूप में स्वीकार किया है। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और अमित विश्वास रखते हुए उसके आदेशों से अपने जीवन को सब प्रकार से निष्कलुष, निर्मल एवं निष्काम बनाकर परमात्मा के नाम-सुमिरन में दृढ़ आस्था रखने से इस भाव की उपलब्धि साधक को सहज ही में हो जाती है। नाम की महिमा का गान करते हुए गुरु अमरदास ने स्पष्ट कहा है कि नाम ही से सब कुछ सम्भव है किन्तु जब तक सद्गुरु की कृपा नहीं हो जाती तब तक नाम में आस्था नहीं पैदा होती। गुरु का 'सबदु' रूपी महारस अत्यन्त स्वादिष्ट है, बिना चखे उस स्वाद की काल्पनिक अनुभूति व्यर्थ है, जिसने उसका स्वाद नहीं लिया, उसने अपना अनमोल जीवन कौड़ी के बदले में व्यर्थ गँवा दिया। गुरुमुख होने पर ही साधक को नामामृत की प्राप्ति होती है और अहङ्कारादि से निवृत्ति होती है।[2] गुरुओं ने अनेक स्थानों में इस दुर्लभ किन्तु सहज सुलभ सहज-भाव या सहजावस्था के आनन्द का वर्णन करते हुए कहा है—

मिलि जलु जलहि खटाना राम। सङ्गि जोति मिलाना राम ।।
समाइ पूरन पुरख करते आपहि जाणीये।
तह सुख सहजि समाधि लागी एकु एकु बखाणिये ।।
आपि गुपता आपि मुकता, आपि आपु बखाना।
नानक भ्रम भै गुण बिनासे, जलु जलहि खटाना ।।

जैसे जल, जल से और ज्योति-ज्योति से मिलकर तद्रूप हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिलकर तदाकार होती है और उसकी समस्त नाम-उपाधि उसी परम में लीन हो जाती है। जीव परमात्मस्वरूप हो जाने पर स्वयं ही अपने को जान सकता है, इस स्थिति को चाहे शून्य कहिये या सहज समाधि,

---

[1] श्री गुरुग्रन्थ साहिब, सिरी रागु, महला ३, पृष्ठ ६८।

[2] वही, सूही, महला १, पृष्ठ ७५३।

दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा स्वयं गुप्त-मुक्त एवं अपना परिचय आप देने वाला बन जाता है और उसके सारे भ्रम, भय एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति का पूर्णतया विनाश हो जाता है। कबीर के शब्दों में—'फूट कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कहा गयानी।' कहते हैं।

गुरु नानक ने सहज स्वभाव को सर्वोपरि स्वभाव बताया है और उसके लिये उन्होंने एक सहज हाट की भी कल्पना की है जिसमें मन सहज स्वभाव से स्थित रहता है—

सहज हाटि मन कीआ निवासु। सहज सुभाब मनि कीआ परगासु॥
सहज सुभाव कौ जै जै कारा। सहज नाथु हरि लगै पिआरा॥
जो कुछ करै सो सहज सुभाय। सहज सहज हरि के गुन गाय॥[1]

सन्त दादू का सहज-साधना के सम्बन्ध में कथन है—नदी की तरह अपने को दैनिक और शाश्वत साधना के क्षेत्र में सहज ही छोड़ दो। साधना के लिये संसार के कृत्यों को बाधा देकर, रोक कर, शक्ति सञ्चय करते न जाना क्योंकि ऐसा करने से वह कृत्रिम और मिथ्या हो जायगी। नदी की तरह सब को तृप्त करने के द्वारा ही नित्य सहज योग के आनन्द से भीतर ही भीतर पूर्ण हो उठो और परमानन्द लाभ करो।[2]—(दादू-माया को अङ्ग १०५, १०६ साखी का सार मर्म)। सहज से सम्बन्धित दादू के ये कथन भी द्रष्टव्य हैं—

साचा सहजैं ले मिलै, सबद गुरु का ज्ञान।
दादू हम कूँ ले चल्या, जहँ प्रीतम का अस्थान॥

× × ×

ज्ञान गहै गुरदेव का, दादू सहजि समाइ।

× × ×

लोहा पारस परसतां, सहज समाना सोइ।

× × ×

दादू सहजे देखिये, साहिब का दीदार।

× × ×

एता कीजै आप थैं, तन मन उनमुनि लाइ।
पञ्च समाधी राखिये, दूजा सहज सुभाइ॥[3]

सहज-तत्व के रूप में दादू की बानियों में राम का उल्लेख कई स्थलों में मिलता है।

---

[1] प्राण सङ्गली, पृष्ठ १४७।

[2] आचार्य क्षितिमोहन सेन, संस्कृति-सङ्गम, पृष्ठ १२२।

[3] दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ३, ५, ६, ६।

राम सबद मुख लै रहै, पीछे लागा जाइ।
मनसा बाचा कर्मना, तेहि तत सहज समाइ॥
सहजै सुमिरण होत है, रोम रोम रमि राम।
चित्त चहूल्या चित्त सौं, यौं लीजै हरि नाम॥[१]

सहज की सहज ज्ञान या सहज स्वभाव के रूप में विस्तृत व्याख्या करते हुए दादू ने उसे अपने स्वामी का स्वभाव बताया है और इसे पृथ्वी-आकाश, धूप-छाया, पवन-पानी, चन्द्र-सूर्य, सुख-दुख तथा पाप-पुण्य से परे कहा है—

तहँ धरती अम्बर नहीं, तहं धूप न दीसै छांही।
तहं पवन न चालै पाणी, तहं आपै एक बिनाणी॥
× × ×
तहं पाप पुण्य नहिं कोई, तहं अलख निरञ्जन सोई।
तहं सहज रहै सो स्वामी, सब घटि अन्तरयामी॥[२]

इसी द्वैतभाव से विवर्जित, जागतिक द्वन्द्वों से परे सहज स्वरूप स्वामी का अनुकरण सेवक (मन) को करना इष्ट है—

बाबा को जन ऐसा जोगी।
अञ्जन छाड़ै रहै विवर्जित सहज सदा वियोगी॥[3]

जब मन की सारी द्वैतता तिरोहित हो जाती है और वह सहज रूप हो जाता है तब उसे सम स्वभाव वाला कहा जाता है जिसमें उष्ण और शीत में एक-सी स्पर्शानुभूति पाते हुए साधक सम भाव को ग्रहण करता है—

सहज रूप मन का भया, जब द्वै द्वै मिटी तरङ्ग।
ताता सीतल सम भया, तब दादू एकै अङ्ग॥[४]

सहज स्वभाव के अन्तर्गत दादू ने दोनों पक्षों का त्याग कर मध्यम मार्ग वाली स्थिति (हिन्दू और मुसलमान इन दोनों पक्षों के मध्य) को स्वीकार किया है और इस निष्पक्षता को सन्त स्वभाव की संज्ञा दी है—

हिन्दू तुरुक न होइबा, साहिब सेती काम।
षट दरसन के सङ्ग न जाइबा, निर्पष कहिबा राम॥
करणी हिन्दू तुरुक की, अपणी-अपणी ठौर।
दुहुँ बीच मारग साध का, सन्तों की रह और॥[५]

---

[१] दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २१, ६३।
[२] वही, भाग २, पृष्ठ ८६।
[3] वही, पृष्ठ ८६।
[४] वही, पृष्ठ १७०।
[५] वही, पृष्ठ १७३-४।

यही सहज स्वभाव सन्तों द्वारा भक्ति-भावना के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है और इसी भक्ति-भाव को आनन्दमयी आतमबेलि से दादू का आकाशी वास-स्थल घिरा हुआ है—

बेली आनन्द प्रेम समाइ।
सहजै मगन राम रस सींचे, दिन दिन बहती जाइ॥
सतगुरु सहजै बाही बेली, सहजि गगन घट छाया।
सहजै सहजै कुपल मेल्है, जाणै अवधू राया॥
आतम बेली सहजै फूलै, सदा फूल फल होइ।
काया बाड़ी सहजै निपजे, जाणै बिरला कोइ॥
मन हठ बेली सूकण लागी, सहजैं जुगि जुगि जीवै।
दादू बेलि अमर फल लागैं, सहजि सदा रस पीवै॥[1]

इस प्रकार सन्तों के सहज स्वभाव का पर्यवसान भक्ति-भावना या भक्त-स्वभाव में हुआ है जिसमें साधक राम के प्रति अटूट निष्ठा रखते हुए स्वयं को समर्पित कर द्वैत-भावनाओं से विवर्जित होकर सहज स्वभाव को ग्रहण करता है।

सहज साधना पद्धति और सहज समाधि के रूप में सन्त कवियों के प्रयोग की चर्चा प्रकरण २ और ३ में सहज समाधि और सन्त-साहित्य में योग-साधना का विवेचन करते हुए की जा चुकी है, अतः इसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनपेक्षित है।

इस साधना में सहज जीवन-पद्धति पर विशेष बल दिया गया है। प्रकारान्तर से सन्तों की यह सहज-साधना एक प्रकार से सहज जीवन पद्धति की ही साधना है। जीवन के प्रत्येक पल में हमें इसका व्यावहारिक प्रयोग अपेक्षित है। न तो हमें किसी से वाद-विवाद करने की आवश्यकता है और न विषयों में लिप्त होना ही हमारा धर्म है। संसार के विषय-कषायों के बीच निर्लिप्त भाव से निवास करते हुए आत्मविचार पूर्वक समदृष्टि की साधना करनी चाहिए—

वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहि जगत थे न्यारा।
सम दृष्टि सुभाइ सहज मैं, आपहि आप बिचारा॥[2]

संसार में व्याप्त व्यर्थ का वाद-विवाद, झगड़ा-टण्टा और कलह-कोलाहल इसी एक समदृष्टि के असम-भाव के कारण हैं। संसार के प्रति समदृष्टि की भावना आत्मा में ऐक्यबोध की उपलब्धि होने पर ही सम्भव है। पहले अन्तर में व्यष्टिपरक समदृष्टि के आने से पश्चात् समष्टिपरक विश्वात्मक ऐक्य बोध की प्रतीति होती है। साधक अपने अन्तर में इसी तात्विक सौन्दर्य की झाँकी

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, पद २०३।
[2] वही, पृष्ठ २६।

देखकर मुग्ध हो जाता है। दादू ने उस दिव्य सौन्दर्य की साक्षात्कारजन्य साक्षी देते हुए कहा है—

मधि नैन निरखौं सदा, सो सहज स्वरूप।
देखत ही मन मोहिया, है सौ तत्व अनूप॥[1]
सेवक स्वामी सङ्गि रहै, बैठे भगवाना।

अर्थात् उस अलौकिक स्थान में सेवक और स्वामी एक साथ विराजते हैं। अन्तश्चक्षुओं से मैं उस सहज स्वरूप को निहार रहा हूँ। उस अनुपम तत्व के सहज सौन्दर्य को देखकर मेरा मन मुग्ध हो गया। इस चरम उपलब्धि के लिये केवल प्रेम की ऐकान्तिकता अपेक्षित है। इसमें वाह्यानुष्ठान, साधना-सिद्धि अथवा उपाय की कोई सार्थकता नहीं। साधक के लिये एक मात्र हरि का सहारा रहता है, वही उसके तारण-तरण हैं। न तो उसके पास वाक्य-ज्ञान की पूँजी है न विवेक और तत्व-ज्ञान, न भविष्य की अन्तस्तलवेधिनी प्रज्ञा है और न सौन्दर्य-शृङ्गार, न तपोबल है न इन्द्रिय-निग्रह। उसके पास तीर्थ-भ्रमण, केवल-पूजा, ध्यान धारणा, योग-युक्ति, उपचार-चिकित्सा किसी का तो कुछ भी संबल नहीं है। वह तो सर्वस्वभाव से गोविन्द का आश्रय ग्रहण कर चुका है और अपने प्राणों को प्रभु से प्रत्यय कराने के लिये कार्यशील है।[2]

उस सहज-तत्व की खोज अपने घर से बाहर वाह्य कर्म-काण्डों एवं अनुष्ठानों में करनी व्यर्थ है। सद्गुरु ने खोज करके उसका सही पता-ठिकाना बता दिया है। दादू ने उस दुर्लभ-तत्व की प्राप्ति घर बैठे की है। उनको घर में ही घर (परम विश्राम) मिला। क्योंकि सहज-तत्व का निवास उसी में है। उसी अन्तर-साधना (बाउलों का मनेर मानुष) की ओर लौटने पर उन्होंने स्वयं के दर्शन किये। महल के कपाट खोलकर उन्होंने ही स्थिर स्थान को दिखा दिया जिसके दर्शन-मात्र से समस्त भय-भेद और भ्रम दूर भाग गये और मन उस सत्य में जाकर समाविष्ट हो गया। काया और स्थूल के परे जहाँ जीव गमन करता है, वहीं वह 'सहज' समाया हुआ है। वह नित्य स्थिर एवं निश्चल रहता है, निखिल सृष्टि में वही विद्यमान है, उसी से मेरा मन लगा हुआ है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी (द्वैत-तत्व) नहीं है। उस घर का न आदि है न अन्त। अब मन उसी एक के रङ्ग में रङ्ग जाने पर अन्यत्र नहीं जाना चाहता। उसी में समाहित हो गया है।[3] अन्तर में जो ऐक्य और योग की भावना गुम्फित है, उसमें ही

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ८७।

[2] वही, पृष्ठ ९२।

[3] वही, पृष्ठ ३०।

परमानन्द का निवास है। इसकी उपलब्धि ही साधक का चरम लक्ष्य है। दादू ने ज्ञानी मन से ऐसे ही ज्ञान की बातें कहने के लिये कहा है। इसी अन्तर में ही तो सहज आनन्द प्रतिष्ठित है। सहज आत्म-समर्पण, सतत स्मरण एवं निःस्वार्थ सेवा के सङ्गम-स्थल रूपी सहजतीर्थ में स्नान करना चाहिये—

सहज समर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तह संगम सपरा।—राग गौड़ी, ६२

अन्तरस्थित सहज की इसी त्रिवेणी में स्नान करने से मुक्ति की प्राप्ति अनायास हो जाती है। दादू ने उसकी प्रत्यक्षानुभूति के विषय में कहा है—

काया अन्तर पाइया, त्रिकुटी के रे तीर।
सहजैं आप लखाइया, व्यापा सकल शरीर॥
काया अन्तर पाइया, निरन्तर निसधार।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा समरथ सार॥
काया अन्तर पाइया, अनहद बेन बजाइ।
सहजैं आप लखाइया, सुन्न मण्डल में जाइ॥
काया अन्तर पाइया, सब देवन का देव।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव॥[1]

त्रिकुटी के तट पर अन्तर में सहज भाव से स्वयं को उसने प्रकाशित किया और सारे शरीर में व्याप्त हो गया। उस अत्यन्त सामर्थ्यवान् ने सहज में अपने को प्रकाशित किया और उस निरन्तर निराधार की उपलब्धि आत्मा में ही हुयी। उस अलख अनिर्वचनीय देवाधिदेव ने काया के अन्तर में स्वयं को प्रकाशित किया।

प्रिय की प्राप्ति, अहं का समूल उच्छेदन कर निश्शेष भाव से स्वयं को अर्पित करके ही की जा सकती है। जिस विश्व के कारणभूत में अहम् की उत्पत्ति होती है, वहीं से सहज की पहचान करनी चाहिये। मैं, मेरा आदि स्वार्थपूर्ण तुच्छ भावों को सहज में तिरोहित करके ही निर्मल दर्शन की आशा की जा सकती है।[2] जिस प्रकार सुप्तप्राय जागृत मनुष्य का मन शरीर को छोड़ देता है उसी प्रकार साधक इस दृश्य-जगत् की उपेक्षा करके नित्य ही सहज के साथ लौ लगा सकता है—

यौं मन तजै शरीर कौ, ज्यौं जागत सो जाइ।
दादू बिसरै देखतां, सहजै सदा ल्यौ लाइ॥[3]

मध्य युग के सन्तों की सहज-साधना पर विचार व्यक्त करते हुए आचार्य

---

[1] दादूदयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ४६।

[2] वही, पृष्ठ २०३।

[3] वही, पृष्ठ ६१।

क्षितिमोहन सेन महोदय ने कहा है कि अनुभव के अनिर्वचनीय सङ्गीत की जहाँ सृष्टि होती है, भाषा वहाँ हार जाती है। इसीलिये दादू कहते हैं—ज्ञान-लहरी जहाँ से उठती है वहीं वाणी का प्रकाश होता है। अनुभव जहाँ नित्य उत्पद्यमान है, वहीं सङ्गीत ने वास किया है। उसी में डूबकर सहज होना होगा। हम लोग स्वयं समझ-बूझकर बोलने जायेंगे, वहीं कृत्रिम हो जायगा। भगवान् के निकट अपने को मिटा देने पर हमारे भीतर से जब वे अन्तर के भाव ढाल देते हैं तभी यथार्थ सङ्गीत उत्पन्न होता है। बंशी जिस प्रकार अपने को सूनी करके ही उनके निश्वास को बजा देने का अवसर पाती है, उसी तरह साधक अपने भीतर की अहमिका को लोप करके ही अपने को उनके सङ्गीत-प्रकाश का योग्य आधार बना देता है।[1]

पूर्ण ब्रह्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि कल्पना और कामना के मार्ग से न होकर सहज-तत्व को माध्यम बनाकर ही सम्भव है, इसी मार्ग से चलकर तट पर पहुँचा जा सकता है—

काम कलपना कहै न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पन्थि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहजि सम्भारा॥[2]

उस रूप-अरूप, गुण-अवगुण से परे भगवान् की उपलब्धि काम और कल्पना से शून्य होकर निर्मल नेत्रों के बिना असम्भव है, इसीलिये दादू ने मनुहार करते हुए कहा है कि हे मेरी अन्तरङ्ग सखी ! उसे तुम सहज, स्वच्छ नेत्रों से निहारो और उसका सहज-भाव स्पर्श करो—

सहज सहेलड़ी है तू, निर्मल नैन निहार।
रूप-अरूप गुण-निर्गुण मैं, त्रिभुवन देव मुरार॥
सहजै सङ्गि परसि जगजीवन, आसणि अमर अकेला।
सुन्दरि जाइ सेज सुख सोवै, ब्रह्म जीव का मेला॥[3]

उस सहज-सत्य के उत्तुङ्ग शृङ्ग तक पङ्क मिथ्या की पहुँच हो ही नहीं सकती और न उसे किसी प्रकार कलङ्कित किया जा सकता है। उस तत्व में चित्त समाहित हो जाने पर सारे असत्य स्वतः विलीन हो जाते हैं।[4] कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा जाने पर भी सहज का बन्धन काटे नहीं कटता अपितु सहज के बँध जाने पर सारे कर्म-बन्धन अपने आप कट जाते हैं, अतः सहज के साथ

---

[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन, संस्कृति-सङ्गम, पृष्ठ १२६।

[2] दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ २६।

[3] वही, पृष्ठ ८८।

[4] वही, पृष्ठ ८१।

सम्बद्ध होने की साधना ही सच्ची साधना है।[1] सेन महोदय ने शाश्वत-सङ्गीत चर्चा करते हुए पुन: कहा है कि निखिल सामञ्जस्य के मूल में ही विश्व-सङ्गीत अन्तर्हित है। इस सङ्गीत के योग के बीच ऐक्य का सामञ्जस्य है। निद्रा की अचेतना से वह भोग ऐक्य का सामञ्जस्य हो जाता है। क्षुद्रता और खण्डता के सङ्कीर्ण मोह में ही सभी निद्रित हैं। उस सङ्गीत को सुनकर ही शून्य सहज में सभी जाग पड़ते हैं।[2] दादू ने इसीलिये कहा है कि उस एक 'सबद' के श्रवण मात्र से ही जीव का उद्धार हो जाता है। शून्य सहज में नाम उठता है। अन्तस्तल उसी एक के साथ लीन हो जाता है और साधक मूक-भाव से सङ्गीत में निमज्जित होकर परमात्मा के सामने स्थित रहता है।[3] वह सहज-शून्य विश्व-सङ्गीत से ओत-प्रोत है उसके निकट पहुँचने पर साधक को किसी प्रकार की जप-साधना के जञ्जाल में फँसने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय उसका नख से शिख तक रोम-रोम का जाप अखिल छन्द के साथ निबद्ध होकर सहज भाव से प्रवाहित होने लगता है। इस प्रकार अखिल छन्द के साथ छन्दमय होना ही सहज-साधना है। इसके लिये साधक स्वयं को शान्त, स्थिर और निर्मल बनाता हुआ पाँचों इन्द्रियों को स्वाधीन रखता है। उनके साथ निस्सङ्ग भाव से रहता हुआ सहज-रस का पान करता है। प्राणों के प्राण अखण्ड अनन्त स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति सहजभाव से स्वयं को प्रेम एवं दया से परिपूर्ण बनाने से होती है। उसकी उपलब्धि के लिये साधक निस्सार वस्तुओं से परिपूर्ण भीतरी संसार को शून्य करना पड़ता है क्योंकि तभी सहज रस से भरपूर उसकी छटा को निहारा जा सकता है। इस रस सरोवर में ही आत्म-कमल खिल उठता है और जो अपनी सहज सुवास से साधक की आत्मा में एक दिव्य गन्ध-चेतना को उड़ेल देता है। संक्षेप में सन्तों के सहज-भाव का यही स्वरूप एवं विश्लेषण है।

●●●

[1] दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ ३२।

[2] आचार्य सेन, संस्कृति-सङ्गम, पृष्ठ १३६।

[3] दादूदयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ ७१।

प्रकरण ८

सन्त-साहित्य में साधना-पद्धति का समन्वित रूप

साधना-पद्धति में योग-भक्ति-प्रेम का समन्वय—किसी उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिये स्थिर भाव से की जाने वाली अविच्छिन्न क्रिया को साधना कहा गया है। आत्म-स्वरूप की सम्बोधि, ससीम में असीम की अनुभूति एवं व्यष्टि और समष्टि के बीच पूर्ण ऐक्य-भाव की अन्तस् प्रज्ञा—यही साधना के कतिपय सोपान हैं, जिन पर क्रमिक आरोहण करता हुआ साधक अपने लक्ष्य के उत्तुङ्ग शिखर पर पहुँचता है। साधना की एकाकी उपलब्धि वाह्य जगत् एवं उसके बन्धनों से मुक्त होकर अन्तर्मुखी बनना है। साधना के प्रति अटल निष्ठा एवं अटूट अनुराग की भावना सँजोते हुए अपने भीतर दिव्य और पवित्र चेतना की स्फुरणा उत्पन्न करनी है। सामान्य रूप से हमारी चेतना अधोमुखी जल-धारा की भाँति बहिर्मुखी होती है। हम योग-साधना के द्वारा चतुर्दिक् बिखरी चेतना को समेट कर आत्म-केन्द्रित करते हैं। योग के आठ अङ्गों की सहायता से हम मनोनिग्रह करते हैं और इस मानसिक एकाग्रता की अन्तिम परिणति उस परमतत्व अथवा 'राम-रस' की उपलब्धि है। योग की साधना सन्तों की दृष्टि में अपने आप में साध्य न होकर साधन स्वरूपा है। बिना राम की भक्ति के यौगिक-क्रियाओं की महत्ता शारीरिक व्यायाम से अधिक नहीं।

भक्ति की साधना बिना युक्ति (योग) के सम्भव नहीं, क्योंकि जब तक मन स्वच्छन्द भाव से वाह्य विषयों में भटक रहा है तब तक बिना एकाग्रता के भक्ति, क्या किसी भी साधना की सिद्धि दुर्लभ है। वकुल-वृत्ति, भले ही वह मछलियों के अपहरण के लिये हो, लेकिन एकाग्रता की अनुकरणीय भूमिका का निर्माण करती है। यही कारण है कि भक्ति की सिद्धि के लिये सन्तों के द्वारा योग की अनिवार्य आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। नाथ पन्थियों के उत्तराधिकारी होने के नाते सन्तों को योग की प्रभूत-पूँजी सहज ही मिल जाती है। किन्तु सन्तों की साधना में योग की वही भूमिका नहीं है जो नाथ-पन्थियों की यौगिक-साधना में थी। उन्होंने युगानुकूल परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी साधना के स्वरूप का निर्माण किया है। नाथों ने जहाँ योग को अपनी साधना में सर्वोच्च स्थान दिया है, वहाँ सन्तों की साधना का चरम प्रतिपाद्य योग न होकर भक्ति है, संन्यास न होकर गृहवास है, विरक्ति न होकर अनुरक्ति है। भले ही सन्तों के प्रारम्भिक पदों में, साधना की अपरिपक्व अवस्था में यौगिक क्रियाओं का विस्तृत वर्णन मिलता हो और बड़ी आस्था के साथ वे कुण्डलिनी-

परिणति हठयोग के जटिल विधानों का बहिष्कार कर भक्ति-रस पूर्ण सहज योग जागरण, षट्-चक्र-भेदन एवं ब्रह्मरन्ध्र की गुफा से स्रवित रस-पान की चर्चा करते हों किन्तु अपनी साधना के उत्तरोत्तर विकसित होने पर वे योग के मार्ग से हटकर भक्ति की ओर उन्मुख होते गये हैं, योग से उनका सम्बन्ध रहा भी है तो केवल सहज-योग के रूप में, जिसमें सारी क्रियाएँ स्वतः होती हैं, उसके लिये साधक को किसी प्रकार की कष्ट साध्य एवं इन्द्रियों को बलपूर्वक वश में करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती। योगियों की भाँति सन्त भी समस्त चराचर को ससीम और असीम की क्रीड़ा-भूमि मानते हैं, शिव और शक्ति का लीलागार समझते हैं, निर्गुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र परिकल्पित करते हैं। सन्त कवियों ने प्राण-अपान, चित्-अचित्, रूप-अरूप आदि नाना भावों से इस तत्व का विश्लेषण किया है। सीम और असीम का द्वन्द्व सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है और जिस समय इनमें समरसता आ जायगी उस समय सारा द्वन्द्व स्वतः समाप्त हो जायगा। सारे दुःखों एवं क्लेशों का मूल कारण संसारी जीवों की इन्द्रियगत बहिर्मुखता है। द्विवेदी जी ने कहा है—"सारा भ्रमजाल और कर्म-कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है।...इस से निरत होकर अन्तर्मुख होने की प्रकृति का नाम ही निरति है और भीतर बैठने का और मन और पवन को समरस करने का नाम समाधि है। 'सुरति' मूल रूप में अन्तरतर में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की स्मृति है। बिरले ही योगी उसे पहचान पाते हैं। अगर निर्भय निश्शङ्क भाव से उस आयासलभ्य और साधनागम्य परम प्राप्तव्य को पाना है तो सुरति को प्रेम-रूपा बनाना होगा। अगर उस प्रिय की सुरति (स्मृति) से सु-रति (परमा प्रीति) नहीं प्राप्त होती तो जन्म और मरण का भय बना रहेगा। निरति निराधार है और सुरति साधार है। निरति और सुरति का या प्राण-मन को अन्तर्मुख करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। यह लक्ष्य है प्रिय-समागम। योग-साधना, केवल पाँच इन्द्रियों, मन और प्राण के बहिर्मुख की रोक है। सही लक्ष्य है प्रिय समागम। उस प्रिय की पुकार का ही फल है कि मनुष्य साधन-मार्ग की ओर अग्रसर होता है—

कर्म और मर्म संसार सब वस्तु है, पीव को परख कोइ सन्त जानै।
सुरत और निरत मन पवन को पकरि के, गङ्ग औ जमुन के घाट आनै॥
पाँच कौ नाथ करि साथ सोऽहं लिया, अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
कहै कबीर सोइ सन्त निर्भय धरा, जन्म और मर्न का मर्म मानै॥

सुरति-साधना स्थायी सिद्धि-प्रीति-प्रदान करती है।[१] योग-साधना की अन्तिम

[१] **हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क)—सन्त-साधना में सीमा और असीम, पृष्ठ ४८६।**

परिणति हठयोग के जटिल विधानों का वहिष्कार कर भक्ति-रसपूर्ण सहज योग में होती है। सभी सन्त प्रायः यौगिक क्रियाओं की सार्थकता अपने परम काम्य राम से मिलन में ही मानते हैं। जब तक मन अपनी कुटिलता का परित्याग कर हरि के प्रति सच्चा नहीं हो जाता तब तक चाहे कितने ही यौगिक-प्रपञ्च किये जायँ, उनसे कुछ बनने का नहीं। समस्त योगाचार और अनहद नाद का श्रवण आदि सब फोकट के हैं एक निकष-कसी टकसाली साधना नक़द धर्म के रूप में केवल राम की भक्ति ही है। कबीर ने इसीलिये बड़े आश्वस्त-भाव से कहा था कि अरे भाई ! जब तक तुम 'भाव-भगति' की साधना नहीं करोगे तब तक तुम्हारा इस दुस्तर भवसागर से कैसे निस्तार होगा ? बिना भाव-भक्ति और ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास के संशय-ग्रन्थि का उच्छेदन असम्भव है और जब तक संशय की—जन्म जन्मान्तरों के नाना कर्म विकारों की गाँठ नहीं खुलती तब तक मुक्ति की स्वप्न में भी आशा करना व्यर्थ है। यह सारी हिचक और सङ्कोच इसी से है कि भीतर 'भङ्गार' भरी हुयी है, चित्त में मलीनता के पटावरण-घन छाये हुए हैं, जब तक इन स्थूल-स्तरों को फाड़कर आलोक की किरण फूट नहीं पड़ती, ज्ञान का जो दीपक अपनी मन्दस्मिति से आत्म-प्रकोष्ठ को उजागर किये हुए है, देहरी-दीपक की भाँति बाहर-भीतर प्रकाश की अजस्र-वृष्टि कर वासना-दग्ध मन को शीतल नहीं कर देता तब तक 'मैलीधण' का 'ऊजला पिव' से कैसे मिलन हो सकता है ? जब तक वह अपने तन-मन की सारी मलीनता नाना भावों के साधनों का अभ्यास कर धो नहीं डालती तब तक प्रिय की चरण-पीठिका तक उसका पहुँचना असम्भव है। योग-साधना की शब्दावली में इसे यों भी कहा जा सकता है व्यष्टि में अन्तरस्थित कुण्डलिनी जन्म-जन्मान्तरों के मल के भार से नीचे दबी हुयी सुप्त प्राय है। जब तक सद्गुरु की सीख से निष्ठापूर्वक साधना एवं वायु-संयमन के द्वारा नाड़ियों का संशोधन होते हुए सुषुम्ना का मार्ग जिसे अवरुद्ध कर वह परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई है, नहीं खुल जाता तब तक उस मैली 'धण' (जीवात्मा) की मलीनता से मुक्ति असम्भव है। साधक प्रायः स्थूलरूपा कुण्डलिनी की साधना सम्पन्न करके एवं सिद्धियों के आकर्षण-पाश में बँधकर रुक जाते हैं। अज्ञान के भार से आक्रान्त होने के कारण वे उसके सूक्ष्म रूप को—जो परासंवित् माहेश्वरी शक्ति है, नहीं जान पाते और बिना उसके ज्ञान के परमपद का मिलना नितान्त दुर्लभ है। द्विवेदी जी का कथन है कि शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को 'पिण्ड ब्रह्माण्डैक्य' भी कहते हैं—तो योगियों की परमकाम्य कैवल्य अवस्था वाली 'सहज समाधि' प्राप्त होती है जिससे बढ़कर और आनन्द नहीं है।[1] इस प्रकार

[1] हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क)—सन्त साधना में सीमा और असीम, पृष्ठ ४८८।

सन्तों की योग-साधना की अन्तिम परिणति भक्ति में होती है। सिक्ख गुरुओं के भी मत से चित्त की चञ्चल वृत्तियों का बलपूर्वक संयमन करने से काया को कष्ट भले ही मिले किन्तु मन में रस अथवा आनन्द की अनुभूति नहीं होगी। उस परमरस की उपलब्धि तो नाम-सुमिरन से ही सम्भव है। दादू ने 'प्राण-पवन' के द्वारा त्रिकुटी के सङ्गम में मन को केन्द्रित कर पाँचों इन्द्रियों को प्रियतम के चरणों में बाँधने के लिये कहा है। वे उसी को आदर्श योगी समझते हैं जो एकाकी रमण करता हुआ परमपुरुष से मिलाप करने का सौभाग्य पा सके। इसीलिये वे 'झिलमिल सेज' में प्रियतम के साथ प्राणों की कौतुक-क्रीड़ा देखकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं। उनकी साधना का पर्यवसान प्रेम संयुक्त भक्ति में होता है। उनके तन-मन में अहर्निश हरि की चिन्तना जगती रहती हैं, तथा मन, प्रेम में मग्न होकर लीन बना रहता है और अन्तर की डोर अक्षुण्ण भाव से प्रिय के प्रति लगी रहती है। अन्त में एक ऐसी अद्वैत स्थिति आती है कि जैसे दूध में जल और जल में नमक अपने स्वरूप का विसर्जन कर 'एकमेक' हो जाता है वैसे ही साधक दलित द्राक्षा की भाँति स्वयं को निचोड़ कर प्रिय के प्रति निश्शेष भाव से आत्मार्पित हो जाता हैं।

आचार्य द्विवेदी ने बड़ी ही सहज और जीवन्त भाषा में प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा है—"माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्मसमर्पण की लालसा दिख जाती है तो इस रूप का आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिये जब कोई अपने को धधकती हुयी अग्नि में, विस्फूर्जित तरङ्ग-वारि-धारा में या ऐसे ही किसी सङ्कटापन्न स्थान में अनायास फेंक देने के उल्लास से चञ्चल हो उठता है तो भगवान् के निर्मल प्रेम रूप का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम और स्नेह में दया, माया और त्याग-तप में उस दिव्य-ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य मिलता है।...प्रतिक्षण प्रति वस्तु में, प्रतिक्रिया में उसे देखा जा सकता है। अभागे-से-अभागे मनुष्य के जीवन में कोई न कोई क्षण ऐसा आता है जिसमें वह उस दिव्य-ज्योति की झलक पा जाता है, प्रेम स्निग्ध आचरण में उस महिमा की झलक मिल जाती है, कृतज्ञता के आँसू में वह अपार पारावार उमड़ आता है और प्रफुल्ल प्राणों में वह आनन्द का महासमुद्र हिलोरें लेते हुए देख लिया जा सकता है। अन्तरतर में बैठे हुए परमदेवता के साथ जब तक प्रीति सम्बन्ध का भाव उदित नहीं होता, तब तक सिंहद्वार बन्द ही रहेगा और उस महाप्रेमिका का

भक्त हृदय के अन्तःपुर में प्रवेश करना कठिन ही रह जायेगा। इसीलिये सिंहद्वार का खुलना आवश्यक है।[1]"

सुरति निरति परचा भया, तब खुलि गया स्वयं दुवार।

सन्तों की साधना को कभी-कभी लोगों ने 'सर्वाङ्ग साधना' के नाम से भी अभिहित किया है। जिसका अभिप्राय यह हो सकता है कि इस प्रकार की साधना द्वारा साधक में निहित सारी शक्तियों का भरपूर विकास हो जाता है। हृदय एवं बुद्धि पक्ष के यथेष्ट विकास और समुचित सन्तुलन द्वारा उसके जीवन में आमूल काया पलट आ जाता है और इस प्रकार पूर्णसिद्धि की स्थिति हो जाती है। सन्त कवियों की रचनाओं पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने पर इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि उनकी बानियों में हृदय के सच्चे उद्‌गार मुखरित हुए हैं। वे अपने आराध्य के प्रति बड़ी तन्मयता के साथ नाम-सुमिरन के माध्यम से भक्ति-भाव प्रदर्शित करते हैं। भले ही उनकी मानसिक भक्ति में सगुणवादियों की भाँति विग्रह-पूजन-अर्चन का कोई विधान न हो और न वे अपनी इस सहज-साधना में किसी प्रकार के आयास या अभ्यास की ही आवश्यकता समझते हैं। यह तो अपने आप सम्पन्न होती चलती है, उसके लिये साधक को कहीं आने-जाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वे तो यहाँ तक कहते हैं—'राम हमारा जप करै, हम बैठे आराम।' सन्तों की साधना अपने इष्टदेव के प्रति पूर्ण आत्मैक्य स्थापित करती हुयी, अपने भीतर और बाहर उसे ओत-प्रोत समझकर उसके साथ पूर्ण सामरस्य स्थापित कर लेती है जिसके कारण आराध्य और आराधक में किसी प्रकार का सेव्य-सेवक भाव न रहकर उसमें शुद्ध स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है। अपनी इस साधना को सम्पन्न करने के लिये साधक को सद्‌गुरु की कृपा एवं साङ्केतिक प्रेरणा प्राप्त करना परम अनिवार्य है। गुरु की अनुग्रहदायिनी 'जुगुति बल' से वह भव-चक्र के बीच भी निर्लिप्त भाव से अपनी साधना की ज्योति जलाये रखता है, उसे अपनी भक्ति-साधना में निरन्तर एकतानता बनाये रखनी पड़ती है। इस प्रकार की 'भगति भावना' मात्र भजन या भावावेशजनित क्षणिक उपासना की साधना नहीं वरन् **समग्र जीवन की सर्वाङ्गपूर्ण साधना** है जिसमें सिद्धि प्राप्त कर लेने वाला साधक परमात्म-तत्व के साथ अपने आत्म-तत्व का पूर्ण विसर्जन कर तद्रूप हो जाता है—'ज्यों जल में जल पैसि न निकसै यों ढरि मिल्या जुलाहा।'

सन्त-त्रय कबीर, नानक और दादूदयाल की साधना-पद्धति की तुलना—'जे पहुँचे ते कहि गए, तिनकी एकै बात' के अनुसार यद्यपि इन तीन

[1] हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क) - पृष्ठ ४८६, ४८८।

प्रमुख सन्त कवियों की साधना-पद्धति में कोई मौलिक असमानता दृष्टिगत नहीं होती क्योंकि इन तीनों के समक्ष एक ही विराट लक्ष्य था, एक ही समस्या थी—आत्म-तत्व की सहज भाव से उपलब्धि। इन तीनों सन्त कवियों ने अपनी वैयक्तिक दृष्टि एवं क्षमता से उस पर चिन्तन करने एवं उसे सुलझाने का अथक प्रयत्न किया। यत्किञ्चित् मत-वैभिन्य का कारण उन सन्तों की समसामयिक परिस्थितियों को ठहराया जा सकता है—उदाहरण के लिये नानक का ऐक्य-सङ्गठन पर अत्यधिक बल देना एवं दादूदयाल द्वारा अपने पूर्ववर्ती सन्तों की अपेक्षा अनुपात से कहीं अधिक सूफी-मत के ज्ञान की चर्चा करना। वैसे ये तीनों कवि प्रायः अशिक्षित अथवा अल्प शिक्षित थे और यह अल्पज्ञता ?) उनके लिये बरदान बन गयी। अतः शास्त्रीय प्रमाणों की उपेक्षा कर उन्होंने आत्मानुभूति की तुला पर तौलकर ही अपनी व्यावहारिक ज्ञान राशि का मुक्त-भाव से वितरण पदों और साखियों के रूप में (साक्षी देते हुए) किया तथा तीनों एक ही लक्ष्य-बिन्दु पर पहुँचे कि मानव-मन में पोषित भेद-भाव, पारस्परिक कटुता एवं दुर्भावना का मूल कारण उसका वास्तविक सत्य के प्रति अज्ञान एवं अपूर्ण सत्य के प्रति अन्ध-श्रद्धा है जो लोकाचार एवं उसकी अन्ध-भक्ति के कारण संस्कारों के साथ उसके मन में बहुत गहरे जमी हुयी है। वह उसके साथ झुक नहीं सकता, भले ही टूट जाय और इतिहास के अधिकांश पन्ने इसी धर्मान्धता-जनित रक्तपात से सने हुए हैं। अतः सन्तों ने अपनी निर्मल-नीर सी वाणी के द्वारा समाज एवं जाति के उस दूषित रक्त-पात को धोने का प्रशंसनीय प्रयास किया। उनकी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि सर्वप्रथम उसी बुनियादी समस्या पर गयी जिसकी कुक्षि से अनेक प्रश्न-चिह्नों के नटखट शिशु जन्म लेते हैं और वयस्क होकर अपने जन्म देने वाले के अस्तित्व पर ही एक प्रश्न चिह्न बनकर छा जाते हैं। अतः मानवता के सच्चे हितैषी सन्तों ने अमानवीयता के तत्वों को अङ्कुरित करने वाले उन बीजों को ही निर्ममतापूर्वक कुचलने की चेष्टा की। उन्होंने बड़ी ही तेजस्वी वाणी में कहा—

माटी एक अनेक भाँति करि, साजी साजनहारे।
ना कछु पोच माटी के भांडे, ना कछु पोच कुम्हारे॥
सम महि साचा एको साईं, तिसका कीआ सभकछु होई।
हुकमि पछाने सु एको जाने, बन्दा कहीऐ सोई॥

जब सब एक ही कुम्भकार के द्वारा गढ़े गये विभिन्न भाण्ड हैं, एक ही परम-तत्व के विभिन्न स्वरूप हैं तो फिर छोटे या बड़े, नीच और ऊँच अथवा मूर्ख या पण्डित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह जो बाह्य विभिन्नता दिखाई पड़ती है, वह वास्तविक न होकर मिथ्या है, अतः मनुष्य को बाहर की ओर न देखकर

भीतर देखना चाहिये। इन सन्तों ने अपने आचरण एवं वर्चस् से इस बात की प्राण-प्रतिष्ठा करने का पूर्ण प्रयत्न किया कि उस बुनियादी-तत्व के रहस्य को जानकर उसका अनुभव आत्मवत् करना परम आवश्यक है। इस प्रकार उस अनुभव को आचरण का अङ्ग बना कर सन्त अपने जीवन में एक अद्भुत काया-पलट ले आते हैं। 'मरजीवा' बनकर वे जीते जी ही मृत्यु की अगम सरिता को पार कर जाते हैं। वे ऐसा 'मरणां' मरते हैं जिससे फिर पुनः न मरना पड़े। सन्त काया-कष्टों का त्याग करके सहज जीवन के उपभोक्ता हैं। उनकी मान्यता है कि अपनी दैनिकचर्या को सहज-भाव से युक्त कर लेने पर अनेक जटिल समस्याएँ स्वतः सुलझ जाती हैं और जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है। सन्त-प्रज्ञा संसार से तटस्थ रहकर मुक्ति की अभिलाषिणी नहीं अपितु गार्हस्थ-जीवन की विस्फूर्जित लोल-लहरियों के थपेड़े खाती हुई उस पार स्थित तत्व-चिन्तामणि को हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील है।

यद्यपि सामान्यतया उपर्युक्त तीनों सन्तों की विचारधारा, साधना पद्धति और प्रेरणा-स्रोत का उद्गमस्थल एक ही है किन्तु वैयक्तिक रुचि की भिन्नता एवं सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप इनकी विचार-प्रणाली में कुछ सूक्ष्म अन्तर आ गया है। उदाहरणतः कबीर की विशेष आस्था यदि आत्म-विश्वास में दृढ़ है तो नानक आत्मविकास की ओर विशेष उन्मुख हैं और दादूदयाल का विनम्र व्यक्तित्व आत्मोत्सर्ग से ओत-प्रोत है। इस प्रकार आत्मसंवलित-विश्वास, विकास और उत्सर्ग की पावन त्रिवेणी सन्त-साहित्य में लहरा रही है। इन तीनों सन्त कवियों ने अपनी वैयक्तिक मनीषा से परमतत्व को निरूपित किया है एवं उसे नित्य, अद्वितीय और सहज स्थिति की विभिन्न भावनाओं के अनुसार कतिपय विशिष्ट विशेषताओं के साथ देखा है। अतः इनकी साधना का स्वरूप भी तदनुसार विवेकपरक, निष्ठापरक एवं प्रेमपरक हो गया है। कबीर की साखियों एवं पदावलियों को पढ़ते समय निगूढ़-तत्व को व्यञ्जित करने वाली उनकी विवेकशीलता पर पाठक मुग्ध हो जाता है। 'आपुहिं आपु विचारिये तब केता होय अनन्द रे' की बात उन्होंने मिथ्या नहीं कही है। सचमुच चिन्तन के गहन-गभीर-रस का आकण्ठ पान करके वे तृप्त हो चुके थे। दूसरी ओर नानक की पंक्तियों में प्रियतम के प्रति जिस अदम्य निष्ठा का परिचय मिलता है, वह कम स्पृहणीय नहीं—

एह किनेही आसकी, दूजै लग्गै जाइ।
नानक आसकु कांढ़ीऐ सदही रहै समाइ॥

अर्थात् वह आशिकी कैसी जो दुनियाँ की चीजों में उलझ जाये ? नानक, तू तो उसी को आशिक कह जो सदा प्रियतम की प्रीति में लौलीन रहता है।

और दादू ने तो प्रेम (इसक) को अल्लाह की जाति, रङ्ग, अङ्ग, औजूद सब कुछ कह दिया है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि कबीर या नानक में प्रेम-तत्व का अभाव है अथवा दादू में विचारों की शिथिलता है। वस्तुतः ये तीनों तत्व एक दूसरे से गुँथे हुए चलते हैं। यदि कहीं अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति लुप्त हो गये हैं तो कहीं मुखर।

सुरत शब्द योग का समर्थन करते हुए भी तीनों सन्त-कवियों की साधना का समापन क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग और लययोग में होता है। सामाजिक उपादेयता की भूमिका में रखकर विचार करने से भी इन तीनों की उपलब्धियों में एक सूक्ष्म अन्तर प्रतीत होता है। जहाँ कबीरदास 'विचार स्वातन्त्र्य एवं निर्भयता' के सबल समर्थक हैं वहीं गुरु नानक ने परिस्थितियों के प्रसाद से 'समन्वय एवं ऐक्य सङ्गठन' पर विशेष बल दिया है और सन्त-साहित्य का नवनीतोपम व्यक्तित्व दादूदयाल तो 'सेवा और सद्भावना' में अपनी साधना का सार खोजता है। इस प्रकार मनोवृत्तियों की समग्रता एवं पूर्णता के बावजूद वैयक्तिक विशेषताओं, युगजनीन परिस्थितियों एवं अवस्था-भेद के कारण इन सन्तों की साधना-पद्धति में किञ्चित् वैषम्य परिलक्षित होता है।

उपसंहार और निष्कर्ष—हिन्दी सन्त-साहित्य, 'महामानव समुद्र' भारत के हृदय-देश की धड़कन का, यहाँ के जन-जीवन की आशा-आकांक्षा का तथा हास्य-रुदन और हर्ष-विषाद का साहित्य है। सन्त-साहित्य की साधना लोक-धर्म की संस्थापिका और प्रतिष्ठापिका है। भारतीय जनता की आशा-निराशा, प्रेम-घृणा अथवा उल्लास-उदासी का जैसा मूर्तिमान प्रतिबिम्ब सन्त-साहित्य के परिमार्जित दर्पण में उजागर हो उठा है, वह अन्यत्र कम ही सुलभ है। सन्त-दृष्टि भारत के अन्तःकरण की सबसे मृदु और सबसे सशक्त भावनाओं की धरोहर है। वह उसकी मानवीय संवेदनशीलता, लोक-जीवन में दृढ़ आस्था एवं उज्ज्वल भविष्य की माङ्गलिकता की मिठास है। यह लक्ष-लक्ष हिन्दी-भाषी जनता की ठेठ दूध की भाषा का, केसरी किलकारियों का, उफनते पौरुष का, मृण्मय जरावस्था का और यहाँ तक कि अष्टयाम चौसठ घड़ी की दिनचर्या का, उसकी भूल-चूक और सुख-दुख का सच्चा साथी है, मुक्ति की मञ्जिल का मीत है।

सन्त-साहित्य की विचारधारा और साधना-पद्धति अथवा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उपलब्धियों की खोज-बीन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रायः सभी सन्तकवि अल्पाधिक मात्रा में एक अलौकिक प्रतिभा एवं सत्यानुभूति से युक्त थे। उनका सारा जीवन सत्यान्वेषण एवं सत्य के प्रयोगों में बीतता था। अन्तरतम की गुहा में निहित जिस दुर्लभ निगूढ़ तत्व की अनुभूति

उनको आत्म-चिन्तन के द्वारा खण्ड-सत्यों के रूप में होती थी, उनको वे जन-सामान्य की भाषा में साखी-शब्दी के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करते थे। सचमुच असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर कुछ वाणी के अगोचर पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। 'कबीर ने उस अवाङ्मनसगोचर को रूपायित करने के दुस्साहस पर प्रकाश डालते हुए कहा भी है—

साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाँहि।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाँहि।

—सन्त कबीर, पृष्ठ ६८

सन्त-कवियों ने उस अपरूप को रूप देने की भरसक चेष्टा की है। भाषा-भाव, साखी-सबद एवं पदों के अधूरे माध्यम से उस गन्तव्य तक पहुँचने का स्तुत्य प्रयास किया है किन्तु अद्वैत (साध्य) की उपलब्धि के पश्चात् इन साधनों (द्वैत) की व्यर्थता स्वतः प्रमाणित हो जाती है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाँहि।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माँहि॥

इन निम्नकुलोद्भव अल्पशिक्षित सन्तों में गजब की प्रतिभा रही है। मसि कागद से अस्पृश्य कबीर की तत्वग्राहिणी सूक्ष्मदृष्टि, धारणा-शक्ति एवं अभिव्यञ्जना-कौशल को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। ज्ञान की बारीक कताई करने में वे उपनिषद्कारों की सी क्षमता रखते हैं। दुरूह से दुरूह एवं जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाते हुए वे सहज-भाव से सत्य के सिरे को पकड़ लेते हैं। 'विदिया न परउ वाद नहि जानउ' की विनम्र अनभिज्ञता का ज्ञापन करते हुए भी वे दर्शन और योग की ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों की चर्चा करते हैं कि सुनने या पढ़ने वाला उनकी ओर बस एकटक देखता रह जाता है। 'व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।' उनको 'वाणी के डिक्टेटर' की उपाधि से विभूषित करना सचमुच न्याय-सङ्गत है।

सन्तकवि स्वानुभूति-प्रातिभ ज्ञान से ऐसे विराट् एवं अलौकिक लोक की चर्चा करते हैं जो सर्वसाधारण की सीमित दृष्टि एवं बौद्धिक पहुँच से परे है। वे अपने को उस आनन्दमय लोक का निवासी बताते हैं जहाँ बारह मास ऋतुराज बसन्त बना रहता है, प्रेम की अजस्र वृष्टि से हृदय-कमल विकसित रहता है, तेज-

उनको आत्म-चिन्तन के द्वारा खण्ड-सत्यों के रूप में होती थी, उनको वे जन-सामान्य की भाषा में साखी-शब्दी के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करते थे। सचमुच असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर कुछ वाणी के अगोचर पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। 'कबीर ने उस अवाङ्मनसगोचर को रूपायित करने के दुस्साहस पर प्रकाश डालते हुए कहा भी है—

साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाँहि।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाँहि।

—सन्त कबीर, पृष्ठ ६८

सन्त-कवियों ने उस अपरूप को रूप देने की भरसक चेष्टा की है। भाषा-भाव, साखी-सबद एवं पदों के अधूरे माध्यम से उस गन्तव्य तक पहुँचने का स्तुत्य प्रयास किया है किन्तु अद्वैत (साध्य) की उपलब्धि के पश्चात् इन साधनों (द्वैत) की व्यर्थता स्वतः प्रमाणित हो जाती है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाँहि।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माँहि॥

इन निम्नकुलोद्भव अल्पशिक्षित सन्तों में गजब की प्रतिभा रही है। मसि कागद से अस्पृश्य कबीर की तत्वग्राहिणी सूक्ष्मदृष्टि, धारणा-शक्ति एवं अभिव्यञ्जना-कौशल को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। ज्ञान की बारीक कताई करने में वे उपनिषद्कारों की सी क्षमता रखते हैं। दुरूह से दुरूह एवं जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाते हुए वे सहज-भाव से सत्य के सिरे को पकड़ लेते हैं। 'विदिया न परउ वाद नहि जानउ' की विनम्र अनभिज्ञता का ज्ञापन करते हुए भी वे दर्शन और योग की ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों की चर्चा करते हैं कि सुनने या पढ़ने वाला उनकी ओर बस एकटक देखता रह जाता है। 'व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।' उनको 'वाणी के डिक्टेटर' की उपाधि से विभूषित करना सचमुच न्याय-सङ्गत है।

सन्तकवि स्वानुभूति-प्रातिभ ज्ञान से ऐसे विराट् एवं अलौकिक लोक की चर्चा करते हैं जो सर्वसाधारण की सीमित दृष्टि एवं बौद्धिक पहुँच से परे है वे अपने को उस आनन्दमय लोक का निवासी बताते हैं जहाँ बारह मास ऋतुराज बसन्त बना रहता है, प्रेम की अजस्र वृष्टि से हृदय-कमल विकसित रहता है, ते

पुञ्ज का प्रकाश छिटका रहता है, अमृत रस का निर्झर झरता रहता शीतल जल से भीगकर भव-ताप-तापित क्लान्तियों से छुटकारा परमानन्द लाभ करते हैं। फिर भी 'वे उस आत्म विस्मृतिकारी परम साक्षात्कार के समय भी दैनन्दिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के पर जमे रहते हैं, उनके महिमा समन्वित और आवेगमय विचार, और सजीव बुद्धि तथा सहज-भाव द्वारा नियन्त्रित होते रहते हैं जो कवियों में ही मिलते हैं।' इवीलिमन अण्डरहिल ने बड़ी ही सच्चाई के साथ सन्त-कवियों की लोकोन्मुखी अलौकिक साधना-पद्धति के पक्ष किया है।

सन्त-साहित्य और उसकी साधना में मानव मात्र की समानता बन्धुत्व की भावना एक मूलसूत्र की भाँति अनुस्यूत है। यद्यपि व्यक्तिगत साधना के सबल हिमायती थे, किन्तु उनकी व्यष्टि समष्टिगत परिष्कार एवं सर्वधर्म समन्वय के व्यावहारिक प्रयोगों की करती। सन्तों की व्यक्तिगत साधना वस्तुतः सहज-भाव से प्रेरित से प्रारम्भ होती है, गुरु-मार्ग-दर्शन से उसे बल मिलता है और अन्ति प्रेम में होती है। प्रेम की स्थिति में पहुँच जाने पर साधक की तीन जाती हैं। प्रथम स्थिति में तो वह 'गूंगे के गुड़' की भाँति अनिर्व का आश्रय ग्रहण करके स्तम्भित-सा रह जाता है, जब वह मन में वाले आनन्द को आश्चर्यजनक कौतुकपूर्ण उलटबासियों में येन-के व्यक्त करने का प्रयास करता है तब वह दूसरी स्थिति में पहुँचता है आनन्दानुभूति की स्थिति में तो वह उल्लासपूर्ण स्वरों में कहने 'दुलहिनी गावहु मङ्गलाचार, हमरे घर आये राजा राम भरतार।' साथ मन-रति के समापन के पश्चात् द्वैतभाव का पूर्ण समाहार हो ज जीवात्मा स्वयं परमात्मा बन जाती है। सचमुच इसी मन-कहनी कं प्रयास कबीर ने यों किया है—

> लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी बात।
> दुलहा-दुलहिनि मिलि गये, फीकी पड़ी बरात।

रेखा-चित्र के माध्यम से सन्तों की व्यक्तिगत साधना का निरूपण से किया जा सकता है—
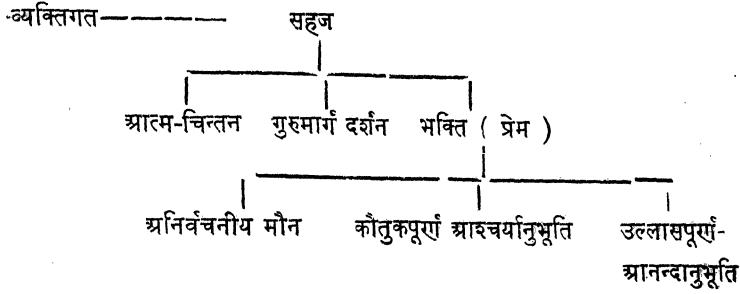
सन्त कवियों की वैयक्तिक साधना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक है। उसने गृहस्थाश्रम को त्यागने की कभी सलाह नहीं दी वरन् घर के सारे काम-धन्धों को निपटाते हुए हरि रूपी हीरे को प्राप्त करने की सतत चेष्टा पर जोर दिया है। उसने धर्म के विकृति पक्ष—पाखण्ड, वाह्याडम्बर, छूआछूत तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव आदि का तीव्रता के साथ खण्डन करते हुए धर्म के सामान्य तत्वों की स्थापना की तथा भक्ति, प्रेम, अहिंसा, सदाचरण, सत्यव्रत एवं जीव-मात्र में उसी अद्वैत की झाँकी देखने पर विशेष बल दिया। सन्त-परम्परा में पूर्ण सङ्गठित एवं आज भी उत्तरोत्तर विकसित सिक्ख धर्म-साधना की एक वैयक्तिक विशेषता जो इसे अन्य पन्थों (कबीर पन्थ, दादू पन्थ, रैदासी पन्थ) से ऊपर उठाकर एक ऐतिहासिक भूमिका पर खड़ा कर देती है, वह है इसकी विकासोन्मुखी प्रवृत्ति। धर्म के सामान्य तत्वों को अविकल भाव से ग्रहण करते हुए भी इस पन्थ ने समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप सदैव अपने वहिरङ्ग को तदनुरूप ढालने में कभी प्रमाद नहीं किया। यही कारण है कि जहाँ इसके पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती अन्य पन्थों का प्रसार एक सङ्कुचित सीमा में ही सिमट गया, वहीं इस पन्थ का व्यापक विस्तार समय एवं स्थान, दोनों दृष्टियों से निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है एवं सिक्ख-धर्म का एक सुसङ्गठित रूप हमें देखने को मिलता है। इस धर्म ने जनता-जनार्दन में आशा, विश्वास एवं पौरुष की एक बुझने वाली मशाल जलाई एवं उसकी निराशा विश्वासहीनता एवं कायरता पर करारी चोट की।

मानव-जीवन के महान् मूल्य को आँकने में गुरुओं ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया। मनुष्य के भीतर एक दिव्य ज्योति की प्रभा आलोकित है, अतः कोई मनुष्य नगण्य नहीं, हेय नहीं, त्याज्य तो वह हो ही नहीं सकता। उसका पवित्र शरीर परम पिता की वासस्थली है, अतः कोई क्यों स्वयं को अपराधी या अस्पृश्य समझे? किन्तु इस प्रकार की भावना अहङ्कारमूलक न होकर पूर्णतया विनम्रतामूलक होनी चाहिये। गुरु अर्जुनदेव के साक्ष्य पर—

होहु सभना की रेणुका, तउ आउ हमारे पासि।

गुरुओं ने धर्म के ध्वंशात्मक पक्ष को न अपनाकर उसके क्रियात्मक पक्ष को ही ग्रहण किया है। यह प्रवृत्ति उनकी अदम्य सृजनशीलता की परिचायक है। उन्होंने किसी भी धर्म की निन्दा नहीं की, केवल उसी ओर सङ्केत किया है जिसे धोखे से लोगों ने धर्म समझ लिया था और उसके सार भाग को न ग्रहण कर छिलके के लिये छीना-झपटी मचा रहे थे। ऐसे पथ-भ्रष्ट लोग स्वभावतः गुरुओं की मर्मभेदिनी सूक्ष्म दृष्टि से नहीं बच पाये। गुरुओं ने अपनी सार-ग्राहिणी समझ से सभी धर्मों की उत्तम बातों को अपने में मिलाया है। विजातीय इस्लाम-धर्म की स्पृहणीय सङ्गठन शक्ति, बन्धुत्व-भाव एवं परस्पर खान-पान की स्वच्छन्दता की भावना को सिक्ख धर्म ने बड़े मनोयोग से अपने में आत्मसात् कर लिया है और इन्हीं उदार मान्यताओं के कारण इस धर्म की आशातीत वृद्धि एवं विकास हुआ है। मानव-धर्म के सच्चे अनुयायी सन्त-कवियों ने बार-बार दुहराया है कि अनेकानेक विभिन्न धर्मों, जातियों एवं वर्णों में विभक्त मानव-समुदाय मूलतः एक है, सभी मनुष्य भाई-भाई हैं, एक परमपिता की औरस सन्तान हैं फिर पारस्परिक भेद-भाव और वैमनस्य कैसा ? जड़ता और दुराग्रह के कारण जिन पाषाण हृदयों से कलह और संघर्ष की स्फुलिङ्ग निकल पड़ती है वहीं से पयस्विनि की प्रतनु-धारा भी तो फूट पड़ने को व्याकुल है। पाषाणी वज्र-कारा को तोड़कर ही दुग्ध-धवल-तन्वङ्गि निर्झरिणी उदित होती है, जो चिटखती चिनगारियों की प्रज्वलनशीलता एवं भस्मीभूतता को चुनौती देती हुयी उसे शीतल शीकरों में आत्मसात् कर लेती हैं। सन्त दृष्टि एवं उसकी साधना भी उसी प्रकार क्षुद्र स्वार्थ-भावना, मानसिक कालुष्य एवं श्वान प्रवृत्ति सी युद्ध-लोलुप लिप्सा को मिटा कर भूतल पर स्वर्ग का निर्माण करने के लिये सचेष्ट है, सङ्घर्ष रहित विश्व समाज की स्थापना की दिशा में प्रयत्नशील है। बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय की श्रेयस्करो भावना से अनुप्राणित सन्त-साधना शोषण से त्रस्त सर्वसाधारण की अभिलाषा को, युगों-युगों से सँजोयी इस अमर साध को प्रकट करता है कि एक ऐसे वर्ग-विहीन नव-समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, ईश्वर के प्रतिनिधि अन्यायी शासकों की स्वर्णमुद्राओं पर क्रय किये गये धर्म की व्यवस्था देने वाले त्रिपुण्डधारी पुरोहित न हों, सवर्ण-असवर्ण सब शिशुओं को उस परम कृपालु पिता की गोद में किलकने-मचलने की सुविधा मिले और सामाजिक व्यवस्था का आधार प्रेम हो। सन्तों की साधना-पद्धति एक ऐसे ही वर्गहीन समाज के निर्माण के लिये नयी दृष्टि देती है।

लेखा-जोखा के वणिग्वृत्ति प्रधान युग में सन्तों की साधना सम्बन्धी उपलब्धियों का निरीक्षण किया जाना अस्वाभाविक नहीं। यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि इनकी साधना-पद्धति एवं अनमोल वाणियों का उनके पावन उपदेशों

का संसार पर क्या प्रभाव पड़ा ? आज भी उद्दाम भोग लिप्सा लहरा रही है, दूसरों को जलाकर और स्वयं द्वेष-दाह में दग्ध होता हुआ मानव अब भी उसी पुरानी बर्बर राह पर चला जा रहा है, वही अपहरण, शोषण, कुत्सित अभियान एवं दूसरों को नष्ट कर स्वयं का निर्माण सतत गति से हो रहा है तथा शील, सौजन्य, विनम्रता, परोपकारिता एवं सहनशीलता की साँस अवरुद्ध है। तो फिर इन सन्तों ने मानव जाति के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान में क्या योग दिया ? जब सारी सांसारिक बुराइयाँ ज्यों की त्यों निश्शेष हैं तो फिर इनके द्वारा विश्व को क्या प्रत्यक्ष लाभ पहुँचा ? इस असाधारण प्रश्न का उत्तर साधारण ढङ्ग से इस प्रकार दिया जा सकता है कि यहाँ राम-कृष्ण, गौतम-गाँधी, ईसा-मुहम्मद, जरथुस्त्र-कनफ्यूशियस आदि सन्त-महात्मा आये और सब अपना सन्देश सुनाकर चले गये। समय की श्यामपट्टिका पर वे सन्देश अङ्कित किये गये। बड़े चाव से, उत्साह-अनुराग से तथा भावावेश से संसार ने उनको पढ़ा और उनके आगे अपना गर्वोन्नत माथा झुकाकर मात्र वाचिक सम्मान देकर फिर अपनी पुरानी राह पकड़ ली। गलदश्रु भावुकता और अन्ध-श्रद्धा के उद्दाम उफान को काल-देवता के कुछ छींटों ने शान्त कर दिया, नक्षत्र-खचित से जगमग सन्देश धूमिल पड़ गये। संसार की अनवरत गतिशीलता एवं तद्युगीन सन्देशों की सीमाओं के कारण वे आज बासी हो गये। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने अपने देश-काल की सीमाओं में बँधकर ही अपने चिन्तन एवं कार्यक्रम की पद्धति का निर्धारण किया। ऐसा करना उचित भी था। प० परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा है कि "वे सभी किसी न किसी आदर्श विश्व की कल्पना करते और तदनुकूल सुधार एवं परिवर्तन लाने का परामर्श और उपदेश दिया करते थे। ऐसी दशा में किसी एक सर्वजनीन एवं सर्वसुलभ उपाय के द्वारा विश्व की सारी कमियों की पूर्ति का सफल प्रयत्न करना कोई सरल काम नहीं था।" अस्तु, सन्त कवियों ने अपनी तपःपूत साधना-पद्धति के भव्य-कुटीर का निर्माण शोषित शास्त्रीयता एवं दलित दार्शनिकता के ईंट-गारे से न कर जीवन की नींव पर सोंधी माटी का शृङ्गार करते हुए अपने रक्त-स्वेद से सिञ्चित करके किया है। वह जन-जीवन की स्वीकृति का साहित्य है। उसमें मानव-जीवन का लास-उल्लास अङ्कित है, वह आवेश-आक्रोश, जिजीविषा-जिज्ञासा और प्रगाढ़ राग-विराग के चित्रों से चित्रित है। इन चित्रों के रङ्गों की ताजगी को सुखा देने की शक्ति समय-देवता की क्रुद्ध-विक्षुब्ध-विस्फूर्जित श्वासानिल में नहीं है। यह रम्य चित्रावली सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की परस्पर अविच्छिन्नता से युक्त है। सन्त कवि की चिन्तना में सत्य, सौन्दर्य और शिव, परस्पर विभिन्न न होकर एक ही व्यापक परमतत्व के अनेक स्वरूप हैं। तत्त्ववाद

की दृष्टि से वही ब्रह्म सत्य, अनुभूति के विचार से शिव एवं सौन्दर्य-बोध की धारणा से सुन्दर है। सन्त कवि को परमतत्व का यही तत्ववाद ग्राह्य है।

इस शाश्वत, सर्वयुगीन विराट् सन्तसाहित्य एवं उसकी साधना-पद्धति की महत्ता निर्विवाद है। शोषण और उत्पीड़न की पतनोन्मुख संस्कृति के ध्वंशावशेषों पर जब नव-युग की जनवादी संस्कृति का निर्माण होगा तब उस नवीन शोषण मुक्त समाज की रचना-प्रक्रिया में सन्त-साहित्य की देन और भी अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। भले ही सन्त-साहित्य की सीमाएँ गत-युग के सम्पुट में सिमट जायँ किन्तु उसके गतिशील तत्वों का अनुभूत्यात्मक प्रकाश-पुञ्ज भावी संस्कृति का सच्चा रहनुमा बनकर उसे अमित युगों तक राह दिखाता रहेगा।

●●●

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

हिन्दी और अपभ्रंश

अनुराग-सागर—युगलदास ।

अनुशीलन—डॉ० रामकुमार वर्मा ।

अशोक के फूल—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

आत्म-विद्या—हरिगणेश गोडवोले, अनुवादक—माधव राव सप्रे ।

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—प० परशुराम चतुर्वेदी ।

कविता-कौमुदी—स० रामनरेश त्रिपाठी, सातवाँ भाग (बङ्गला) ।

कवितावली—तुलसीदास ।

कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

कबीर ग्रन्थावली—सम्पादित डॉ० श्यामसुन्दर दास ।

कबीर साहिब की शब्दावली—चारों भाग (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग) ।

कबीर वचनामृत ।

कबीर वचनावली—हरिऔध द्वारा सम्पादित ।

कबीर-वाणी—क्षितिमोहन सेन ।

कबीर की विचार धारा—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ।

कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा ।

कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव ।

कबीर साहित्य की परख—प० परशुराम चतुर्वेदी ।

कबीर साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर ।

कामायनी—जयशङ्कर प्रसाद ।

कुरान शरीफ़ (तर्जुमा)—बशीर अहमद, एम० ए० ।

गीताञ्जलि—रवीन्द्रनाथ ठाकुर (अनुवाद, जगतशङ्खधर)

गुरुग्रन्थ साहिब—(नागरी लिपि) शिरोमणि गुरु द्वारा कमेटी, अमृतसर ।

गुरु ग्रन्थ-दर्शन—डॉ० जयराम मिश्र ।

गोरखबानी—डॉ० बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित ।

जायसी ग्रन्थावली—रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित ।

तसव्वुफ और सूफीमत—चन्द्रबली पाण्डे ।

तिलोपा दोहा कोष ।

दादूदयाल की बानी, भाग १, २ (वेलवेडियर प्रेस) इलाहाबाद ।

दोहा-कोष (संस्कृत छाया सहित)—डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ।
धनी धरमदास जी की शब्दावली—(वे० प्रेस) इलाहाबाद ।
धरनीदास जी की बानी—(वे० प्रे०) इलाहाबाद ।
नाथ सिद्धों की बानियाँ—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
नाथ-सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
परमात्म प्रकाश—रामचन्द्र जैन, शास्त्रमाला, बम्बई ।
प्राण-संगली—गुरु नानक ।
पाहुड़ दोहा—रामसिंह ।
पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास—डॉ० अवधविहारी पाण्डेय ।
बीजक (कबीर)—विचारदास ।
बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरत सिंह उपाध्याय ।
भक्तमाल—नाभादास ।
भक्ति का विकास—डॉ० मुन्शीराम शर्मा ।
भगवान् बुद्ध —धर्मानन्द कौसम्बी ।
भागवत-धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय ।
भागवत सम्प्रदाय—बलदेव उपाध्याय ।
भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय ।
भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा—प० परशुराम चतुर्वेदी ।
भारतीय लोक-नीति और सभ्यता, पहला खण्ड—श्रीकृष्ण व्यङ्कटेश पुणतांबेकर ।
भारतीय संस्कृति—साने गुरु जी
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—सत्यकेतु विद्यालङ्कार ।
मध्यकालीन धर्म-साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
मध्यकालीन प्रेम साधना—प० परशुराम चतुर्वेदी ।
मध्ययुग का इतिहास—डॉ० ईश्वरी प्रसाद ।
मराठी सन्तों का सामाजिक कार्य—डॉ० वि० भि० कोलते ।
मूलकदास जी की बानी —(वेल० प्रेस), इलाहाबाद ।
महायोगी—श्री रङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर ।
मानुषेर धर्म —रवीन्द्रनाथ ठाकुर, (अनुवादक, रघुराज गुप्त) ।
मुस्लिम सन्तों के चरित, प्रथम भाग—श्री गोपाल नेवटिया ।
योग-प्रवाह—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ।
रसवन्ती—श्री रामधारी सिंह, 'दिनकर' ।
राजपूताना का इतिहास, भाग २—प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ।

हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा।
हिन्दुओं का जीवन-दर्शन—सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन्।
हिन्दुस्तान की कहानी—प० जवाहरलाल नेहरू।

हिन्दी—पत्रिकाएँ

आलोचना (त्रैमासिक)—अङ्क १०।
कल्याण—भक्ति-विशेषाङ्क, मानवता-विशेषाङ्क, सन्त-विशेषाङ्क, साधना-विशेषाङ्क।
पाटल—सन्त साहित्य विशेषाङ्क—परिशिष्टाङ्क।
विश्वभारती—खण्ड ५, अङ्क ४, खण्ड, अङ्क २।
हिन्दुस्तानी—अक्तूबर १९३२।
हिन्दी-अनुशीलन—जनवरी-दिसम्बर १९५६।
हिन्दी अनुशीलन—धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क १९६०।
ज्ञानोदय—अप्रैल १९५९।

संस्कृत

अथर्ववेद। अहिर्दुध्न्य संहिता। ईशावास्योपनिषद्।
ऐतरेय आरण्यक। कठोपनिषद्। केनोपनिषद्।
कौलज्ञान निर्णय—डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित।
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह—सं० गोपीनाथ कविराज।
घेरण्ड संहिता। नारद पाञ्च रात्र। नारद भक्ति सूत्र। प्रश्नोपनिषद्।
पातञ्जल योग दर्शन—हरिहरानन्द आरण्य कृत भास्वती-भाष्य का हिन्दी रूपान्तर, लखनऊ विश्वविद्यालय।
वृहदारण्यक उपनिषद्।
भक्ति-रसामृत सिन्धु—श्री रूपगोस्वामिपाद विरचित।
मछीन्द्र गोरख बोध।
महाभारत संक्षिप्त—गीताप्रेस।
योग-दर्शन—महर्षि पतञ्जलि कृत, गीताप्रेस, गोरखपुर।
सर्वदर्शन संग्रह। सिद्ध सिद्धान्त संग्रह। श्वेताश्वतर उपनिषद्। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र। शिव-संहिता। श्रीमद्भगवद्गीता।
श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्म योगशास्त्र—बाल गङ्गाधर तिलक।
श्रीमद्भागवत। हठयोग प्रदीपिका।

दि पीपुल ऑव् इण्डिया—सर हर्बर्ट रिजले ।

दि आइडिया ऑव् परसनालिटी इन सूफ़ी-इज़म—आर० डी० निकल्सन ।

दि प्रोफेट—खलील जिब्रान ।

दि ओसेन ऑव् स्टोरी—एन० एम० पिञ्जर ।

थी-इज़म इन मेडिवल इण्डिया—कारपेण्टर ।

वैष्णविज़म, शैविज़म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स—डॉ० आर० सी० भण्डारकर ।

युगनद्ध—डॉ० हर्बर्ट ।

●●●

अनुक्रमणिका

———